GL H 294.59212 DAY 121563 LBSNAA	ाञ्चाञ्चाञ्चाञ्चाञ्चाञ्चाञ्चाञ्चाञ्चाञ्च
#00000 #00000	मसूरी हैं MUSSOORIE ह
Scincinc	पुस्तकालय हैं LIBRARY 121563 हैं
ट्ट्र अवाप्ति संख्या है Accession No	12953
हैं वर्ग संख्या हैं Class No	91H294.59212
है पुस्तक संख्या है Book No	DAY देशीन हैं



श्रीमद्यानन्दसरस्वतीस्वामेना निर्मिता

संस्कृतार्थ्यभाषाभ्यां समन्विता ॥

अजमेरनगरे

वैदिकयन्त्रालये

मुद्रिता.

संवत् १६८४ दयानन्दजन्माब्दः १०४.

द्भि० श्रावणकृष्णा

छ्डीबार) ४००० (

म्ल्यम् ११८)

अथ ऋग्वेदादिमाष्यभूमिकाविषयसूचीपत्रम् ॥

पृष्ठ से	पृष्ठ तक	विषयाः	
१	=	ईश्वरप्रार्थनाविषय:।	१
3	२७	वेदोत्पत्तिवि० ।	२
२८	કક	वेदानां नित्यत्वविचारिष० ।	3
ં કર	ದರ	वेदविषयविचारवि० श्रस्यावयवभूत(विषया: ।	ક
કક	85	विश्वानकाएडवि०।	¥
8=	ದಚ	कर्म्म कार्यंडे मुख्यतया यज्ञावि०।	६
६३	30	देवताविषय: ।	S
30	≕ಚ	मोत्तमूलरविषयकखगुडनविषयः ।	5
ב ሂ	६२	वेदसंज्ञाविचारवि० ।	3
£ 3	६६	ब्रह्मविद्यावि० ।	१०
2 3	१२१	वेदोक्तधर्मवि० ।	११
१२२	१४४	सृष्टिविद्यावि० ।	१२
१२४	१४३	सहस्रशीर्षेत्यारभ्य पुरुषस्कृत्याख्यावि० ।	१३
१४४	१४८	पृथिव्यादिलोकभ्रमण्वि० ।	१४
१४८	१४२	धारगाकर्षगविषयः ।	१४
१४३	१४४	प्रकारयप्रकाशकवि०।	१६
१४४	३५६	गणितविद्यावि०।	१७
३५६	१६७	प्रार्थनायाचनासमर्पण्वि०।	१८
१६७	x39	उपासनाविधानवि० ।	3 8
१६६	२०४	मुक्तिविषय: ।	२०
२०४	२१४	नौविमानादिविद्यावि० ।	२ १
२१४	२१७	तारविद्यावि० ।	२२
२१७	२१८	वैद्यकशास्त्रमूलोद्देश्यवि०।	२३
२१८	ર રપ્ર	पुनर्जन्माविषयः ।	રક
२२४	२२७	विवाहवि०।	રપ્ર
२२⊏	२३३	नियोगवि० ।	२६
२३३	२४२	राजप्रजाधम्मेविषय:	२ ७
२४२	२४६	वर्णाश्रमवि०।	१⊏

पृष्ठ से	पृष्ठ तक	विषयाः	
२४६	२४⊏	ब्रह्मचर्य्याश्रमवि०।	38
२४⊏	२६१	गृहाश्रमविषयः ।	३०
२६१	२६३	वानप्रस्थाश्रमवि०।	38
२६३	२६४	संन्यासाश्रमवि०।	३२
२६६	२६५	पञ्चमहायश्ववि० ।	33
२६६	२७१	द्यग्निहोत्रविषय: ।	इ४
२७२	२८६	पितृयञ्जविषय:।	34
२⊏६	२६३	बितवैश्वदेववि०।	३६
२६४	२६४	श्चतिथियञ्चविषय: ।	३७ ं
२६४	३३४	ग्रन्थ प्रामाग्याप्रामाग्यवि० ।	३८
२६५	३०२	उत्तमिकृष्टग्रन्थगग्रनावि० ।	3 £
३०२	३०४	प्रजापतिदुहित्रोः कथावि० ।	೪೦
३०४	३०६	गोतमाऽहृत्ययोः कथावि०।	४ १
३०६	३११	इन्द्रवृत्रासुरकथावि० ।	કર
३११	३१४	देवासुरसङ्ग्रामकथावि० ।	४३
३१४	३२४	कश्यपगयादितीर्थकथावि०।	કક
३२४	३२⊏	मूर्त्तिपूजानिषेधवि०।	8૪
३२६	३३४	नवग्रहमन्त्रार्थवि०।	४६
३३४	३३⊏	श्रधिकारानधिकारवि०।	છ
३३६	३४६	पठनपाठनवि० ।	४=
३४६	३६६	भाष्यकरणशङ्कासमाधानवि०।	કદ
३४६	३६६	म हीधरकृतभाष्यखग्डनसत्यकथयोर्वर्णनवि०।	ķ٥
३६६	३६⊏	प्रतिक्षाविपय:।	× e
३६८	इ७७	प्रश्नोत्तरविषयः ।	४२
३७७	३७६	वैदिकप्रयोगवि० ।	४३
308	इद्र०	स्वरव्यवस्थावि०।	४४
३८०	३६३	ब्याकर ण् नियमवि० ।	XX
३६३	३६६	म्रासङ्कारभेदवि०।	४६
३६६	338	ग्रन्थसङ्केतवि०।	×0



श्रोरम् मह नाववतु मह नौ भुनकु। मह वीर्य्य करवावहै। तैज्ञस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ॥ श्रोरम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥ तैत्तिरीय श्रारण्यके । नवमप्रपाठके प्रथमानुवाके ॥

ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृद्द सत्यं परं शाश्वतं, विद्या यस्य सनातनी निगमभूवेधर्म्यविष्वंसिनी । वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा,
तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमितना भाष्यं तु तन्तन्यते ॥ १ ॥ कालरामाङ्कचन्द्रेव्दे
भाद्रमासे सिते दले । प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया ॥ २ ॥ दयाया
श्रानन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः, सरस्वत्यस्याग्रे निवसति हिता हीशशरणा । इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा वेदमननाऽस्त्यनेनदं भाष्यं रचितिमिति
बोद्धव्यमनघाः ॥ ३ ॥ मनुष्यभ्यो हितायेव सत्यार्थं सत्यमानतः । ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते ॥ ४ ॥ संस्कृतप्राकृताभ्यां यद्धापाभ्यामन्वितं शुभम् । मन्त्रार्थवर्णनं चात्र कियते कामधुङ्भया ॥ ४ ॥ श्रार्थ्याणां ग्रन्यृपीणां या
व्याख्यारीतिः सनातनी । तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नात्यथा ॥ ६ ॥
येनाधुनिकभाष्येयें टीकाभिर्वेदद्षकाः । दोषाः सर्वे विनश्येगुरन्यथार्थविवर्णनाः ॥ ७ ॥ सत्यार्थश्र प्रकाशयेत वेदानां यः सनातनः । ईश्वरस्य सहायेन
प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम् ॥ = ॥

भाषार्थ

(सह नाव ०) हे सर्वशिक्तमन ईश्वर ! श्वाप की कृपा, रज्ञा श्रीर सहाय में हम लोग परस्पर एक दूसरे की रज्ञा करें, (सह नौ भु०) श्रीर हम सब लोग परमप्रीति से मिल के सब से उत्तम ऐश्वर्य श्रर्थात् चक्रवर्त्ति राज्य श्रादि सामग्री से श्रानन्द को श्राप के श्रमुग्रह से सदा भोगें, (सहवी०) हे कृपानिधे ! श्रापके सहाय से हम लोग एक दूसरे के सामर्थ्य को पुरुषार्थ से सदा बढ़ाते रहें, (तेजस्व०) श्रीर हे प्रकाशमय सब विद्या के देनेवाले परमेश्वर! श्राप के सामर्थ्य से ही हम लोगों का पढ़ा श्रौर पढ़ाया सब संसार में प्रकाश को प्राप्त हो श्रौर हमारी विद्या सदा बढ़ती रहे, (मा विद्विषा०) हे प्रीति के उत्पादक! श्राप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग परस्पर विरोध कभी न करें किन्तु एक दूसरे के मित्र होके सदा वर्तें। (श्रों शान्तिः०) हे भगवन्! श्रापकी करुणा से हम लोगों के तीन ताप एक (श्राध्यात्मिक) जो कि ज्वरादि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है, दूसरा (श्राधिभौतिक) जो दूसरे प्राणियों से होता है श्रौर तीसरा (श्राधि-दैविक) जो कि मन और इन्द्रियों के विकार, श्रशुद्धि श्रौर चञ्चलता से क्रेश होता है। इन तीनों तापों को श्राप शान्त श्रर्थात् निवारण कर दीजिये, जिससे हम लोग सुख से इस वेदभाष्य को यथावन् बना के सब मनुष्यों का उपकार करें। यही श्रापसे चाहते हैं, सो कृपा करके हम लोगों को सब दिनों के लिये सहाय कीजिये।। १।।

(ब्रह्मानन्त ०) जो ब्रह्म अनन्त आदि विशेषणों से युक्त है, जिसकी वेदविद्या सनातन है. उसको अत्यन्त प्रेम भिक्त से मैं नमस्कार करके इस वेदभाष्य के बनाने का त्र्यारम्भ करता हूं।। १।। (कालरा०) विक्रम के संवत् १६३३ भाद्रमास के शुक्ल पत्त की प्रतिपदा, रविवार के दिन इस वेदभाष्य का त्र्यारम्भ मैंने किया है ।। २ ।। (द्याया०) सब सज्जन लोगों को यह बात विदित हो कि जिनका नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती है उन्होंने इस वेदभाष्य को रचा है ॥ ३ ॥ (मनुष्ये०) ईश्वर की कृपा के सहाय से सब मनुष्यों के हित के लिये इस वेदभाष्य का विधान मैं करता हूं।। ४ ।। (संस्कृतप्रा०) सो यह वेदभाष्य दो भाषात्रों में किया जाता है एक संस्कृत श्रौर दूसरी प्राकृत, इन दोनों भाषात्रों में वेदमन्त्रों के द्यर्थ का वर्णन मैं करता हूं ।। ५ ।। (त्र्यार्थ्याणां०) इस वेदभाष्य में त्रप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है, किन्तु जो ब्रह्मा से ले के व्यासपर्यन्त मुनि श्रीर ऋषि हुए हैं उनकी जो व्याख्यारीति है उससे युक्त ही यह वेद्भाष्य बनाया जायगा ।।६।। (येनाधु०) यह भाष्य ऐसा होगा कि जिससे वेदार्थ से विरुद्ध श्रव के वने भाष्य श्रीर टीकाश्रों से वेदों में भ्रम से जो मिथ्या दोषों के श्रारोप हुए हैं वे सब निवृत्त हो जायंगे ।। ७ ।। (सत्या-र्थश्च०) श्रीर इस भाष्य से वेदों का जो सत्य श्रर्थ है सो संसार में प्रसिद्ध हो, कि वेदों के सनातन ऋर्थ को सब लोग यथावत जान लें, इसिलये यह प्रयत्न मैं करता हूं सो परमेश्वर के सहाय से यह काम अच्छे प्रकार सिद्ध हो यही सर्वशाकिमान पर-मेश्वर से मेरी प्रार्थना है।। ८॥

विश्वांनि देव सवितर्दुरितानि परासुव । य<u>ङ्ग</u>द्रं त<u>ञ</u>्च श्रासुव ॥१॥ यजुर्वेदे । श्रध्याये ३० । मन्त्रः ३ ॥

भाष्यम्

हं सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप ! हे परमकारुणिक ! हे अनन्तिवद्य ! हे विद्याविज्ञानप्रद (देव) हे सूर्यादिसर्वजगिबद्याप्रकाशक ! हे सर्वानन्दमद ! (सिवतः) हे सकलजगदुत्पादक ! (नः) अस्माकम् (विश्वानि) सर्वाणि (दुरितानि) दुःखानि
सर्वान्दुष्टगुणांश्च (परासुव) दूरे गमय, (यद्भद्रंः) यत्कल्याणं सर्वदुःखरिहतं सत्यविद्याप्राप्त्याऽभ्युदयिनःश्रेयससुखकरं भद्रमिस्त (तन्नः) अस्मभ्यं (आसुव) आ समन्तादुत्पादय कृपया प्रापय । अस्मिन् वेदभाष्यकरणानुष्ठाने ये दुष्टा विष्नास्तान्
प्राप्तेः पूर्वमेव परासुव दूरं गमय, यच्च शरीरबुद्धिसहायकौशालसत्यविद्याप्रकाशादि
भद्रमस्ति तत्स्वकृपाकटाचेण हे परब्रह्मन् ! नोऽस्मभ्यं प्रापय, भवत्कृपाकटाचसुसहायप्राप्त्या सत्यविद्योज्ज्वलं प्रत्यनादित्रमाणासिद्धं भवद्रचितानां वेदानां यथार्थं भाष्यं
वयं विद्यीमिह । तिददं सर्वमनुष्योपकाराय भवत्कृपया भवत् । अस्मिन् वेदभाष्ये
सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धयाऽत्यन्ता शीतिर्यथा स्यात् तथेव भवता कार्यमित्यो हम्॥

भाषार्थ

हे सत्यस्वरूप! हे विज्ञानमय! हे सदानन्दस्वरूप! हे अनन्तसामध्येयुक ! हे परमकृ-पालो ! हे अनन्तविद्यामय! हे विज्ञानविद्याप्रद! (देव) हे परमेश्वर! आप स्यादि सव जगत् का और विद्या का प्रकाश करने वाले हो तथा सव आनन्दों के देने वाले हो, (सिवत:) हे सर्वजगदुत्पादक सर्वशिक्षमन्! आप सव जगत् को उत्पन्न करने वाले हो, (नः) हमारे (विश्वानि) सब जो (दुरितानि) दुःख हैं उन को और हमारे सव दुष्ट गुणों को कृपा से आप (परासुव) दूर कर दीजिये अर्थात् हम से उन को और हम को उन से सदा दूर रिखये, (यद्भद्रं) और जो सव दुःखों से रिहत कल्याण है, जो कि सब सुखों से युक्त भोग है, उस को हमारे लिये सब दिनों में प्राप्त कीजिये। सो सुख दो प्रकार का है एक जो सत्यविद्या की प्राप्ति में अभ्युद्य अर्थात् चक्रवर्ति राज्य इष्ट मित्र धन पुत्र स्त्री और शरीर से अत्यन्त उत्ताम सुख का होना और दूसरा जो निःश्रेयस सुख है कि जिस को मोच्च कहते हैं और जिस में ये दोनों सुख होते हैं उसी को भद्र कहते हैं। (तन्न आसुव) उस सुख को आप हमारे लिये सब प्रकार से प्राप्त करिये और आप की कृपा के सहाय से सब विन्न हम से दूर रहें, कि जिससे इस वेदमाध्य के करने का हमारा अनुष्ठान सुख से पूरा हो। इस अनुष्ठान में हमारे शरीर में आरोग्य, बुद्धि, सज्जनों का सहाय, चतुरता और सत्यिवशा का प्रकाश सदा बढ़ता रहे। इस भद्रस्वरूप सुख को आप अपनी सामर्थ्य से ही हम को दीजिये, जिस कुपा के सामर्थ्य से हम लोग सत्यिवशा से युक्त जो आप के बनाये वेद हैं उन के यथार्थ अर्थ से युक्त भाष्य को सुख से विधान करें। सो यह वेदमाध्य आप की कुपा से संपूर्ण हो के सब मनुष्यों का सदा उपकार करनेवाला हो और आप अन्तर्यामी की प्रेरणा से सब मनुष्यों का इस वेदमाध्य में श्रद्धासिहत अत्यन्त उत्साह हो, जिससे वेदमाध्य करने में जो हम लोगों का प्रयत्न है सो यथावन् सिद्धि को प्राप्त हो। इसी प्रकार से आप हमारे और सब जगत् के ऊपर कुपादि करते रहें, जिससे इस बड़े सत्य काम को हम लोग सहज से सिद्ध करें।। १।।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चीधितष्ठिति ॥ खर्यस्यं च केवेलं तसी उग्रेष्ठाग्र ब्रह्मणे नमेः॥१ ॥ यस्य भूमिः प्रमान्तरित् मुतोदरेम्। दिवं यरचके मूर्द्धानं तसी उग्रेष्ठाग्र ब्रह्मणे नमेः ॥२॥ यस्य सूर्यश्च- च्रेरचन्द्रमारच पुनर्णवः। श्रुगिंन यरचक श्रास्यं तसी उग्रेष्ठाग्र ब्रह्मणे नमेः॥३॥ यस्य वातः प्राणापानौ चचुरिह्नरसोभेवन्। दिशो य-रचके प्रज्ञानीस्तसी उग्रेष्ठाग्र ब्रह्मणे नमेः॥४॥ श्रथवेवेदसंहिता-याम्। कार्ण्ड १०। प्रपाठके २३। श्रमुवाके ४। मूके ५। मं०१। तथा मूके ७। मं०३२। ३३। ३४॥

भाष्यम्

(यो भूतं च०:) यो भूतभविष्यद्वर्तमानान् कालान् (सर्वं यश्राधि०) सर्व जगच्चाधितिष्ठति, सर्वाधिष्ठाता सन् कालाद्ध्वं विराजमानोस्ति । (स्वर्य०) यस्य च केवलं निर्विकारं स्वः सुखस्वरूपमस्ति, यस्मिन् दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति, यदा-नन्द्घनं ब्रह्मास्ति, (तस्मै ज्ये०) तस्मै ज्येष्ठाय सर्वोत्कृष्टाय ब्रह्मणे महतेऽत्यन्तं नमोस्तु नः ॥ १ ॥ (यस्य भू०) यस्य भूमिः ममा यथाधिज्ञानसाधनं पादाविवा-स्ति, (अन्तिरिच्छु०) अन्तिरिद्धं यस्योद्रतुल्यमस्ति, यश्च सर्वस्माद्ध्वं सूर्यरिष्टमम्का-शमयमाकाशं दिवं मूर्ज्ञानं शिरोवचके कृतवानस्ति, तस्मै०॥ २ ॥ (यस्य मू०) यस्य स्र्यश्चन्द्रमाश्च पुनः पुनः सर्गादौ नवीने चनुषी इव भवतः, योग्निमास्यं धुखवचके कृतवानस्ति, तस्मै०॥ ३ ॥ (यस्य वातः०) वातः समष्टिवीयुर्यस्य

ईश्वरमार्थनाविषयः ॥

प्राणापानाविवास्ति, (श्रङ्गिरसः) श्रङ्गिरा श्रङ्गारा श्रङ्गना श्रश्चना इति निरुक्ते श्र॰ ३ । खं० १७ ॥ प्रकाशिकाः किरणाश्रश्चर्षा इव भवतः, यो दिशः प्रज्ञानीः प्रज्ञापिनीर्व्यवहारसाधिकाश्चर्ते, तस्मै ह्यनन्तविद्याय ब्रह्मणे महते सततं नमोम्तु ॥ ४ ॥

भाषार्थ

(यो भूतं च ॰) जो परमेश्वर एक भूतकाल जो व्यतीत होगया है, (च) श्रनेक चकारों से दूसरा जो वर्त्तमान है (भव्यं च) श्रीर तीसरा भविष्यत् जो होनेवाला है, इन तीनों कालों के बीचमें जो कुछ होता है उन सब व्यवहारों को वह यथावत् जानता है, (मर्वे यश्चाधितिष्ठति) तथा जो सव जगन् को अपने विज्ञान से ही जानता रचता पालन लय करता और संसार के सब पदार्थों का ऋधिष्ठाता ऋर्थात स्वामी है. (स्वर्यस्य च केवलं) जिस का सुख ही केवल स्वरूप है, जो कि मोच श्रौर व्यवहार-मुख का भी देने वाला है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) ज्येष्ठ अर्थान् सब से बड़ा सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है उस को श्रात्यन्त प्रेम से हमारा नमस्कार हो। जो कि सब कालों के ऊपर विराजमान है, जिस को लेशमात्र भी दुःख नहीं होता उस त्र्यानन्दचन परमेश्वर को हमारा नमस्कार प्राप्त हो ।। १ ।। (यस्य भूमिः प्रमा०) जिस परमेश्वर के होने ऋौर ज्ञान में भूमि जो पृथिवी ऋादि पदार्थ हैं सो शमा ऋर्थात् यथार्थज्ञान की सिद्धि होने का दृष्टान्त है तथा जिसने ऋपनी सृष्टि में पृथिवी को पा-दस्थानी रचा है, (अन्तरिज्ञमुतोदरम्) अन्तरिज्ञ जो पृथिवी और सूर्य के बीच में आ-काश है सो जिसने उदरस्थानी किया है, (दिवं यश्चकं मूर्द्धानम्) श्रौर जिसने अपनी मृष्टि में दिव ऋर्थान् प्रकाश करनेवाले पदार्थों को सब के ऊपर मस्तकस्थानी किया है श्रर्थात् जो पृथिवी से लेके सूर्यलोकपर्यन्त सब जगत् को रच के, उसमें व्यापक होके, जगत् के सब अवयवों में पूर्ण होके सब को धारण कर रहा है (तस्मै०) उस पर-ब्रह्म को हमारा अत्यन्त नमस्कार हो ।। २ ।। (यस्य सूर्यश्चनुश्चन्द्र०) श्रीर जिसने नेत्रस्थानी सूर्य ऋौर चन्द्रमा को किया है, जो कल्प २ के ऋादि में सूर्य ऋौर चन्द्रमादि पदार्थों को वारंवार नये २ रचता है, (ऋग्नि यश्चक ऋगस्यम्) ऋगैर जिसने मुखस्थानी अगिन को उत्पन्न किया है (तस्मै०) उसी ब्रह्म को हम लोगों का नमस्कार हो।। ३।। (यस्य वातः प्राणापानी) जिसने ब्रह्माएड के वायुं को भाग ऋौर ऋपान की नाई किया है, (चज़ुरङ्गिरसोऽभवन्) तथा जो प्रकाश करनेवाली किरण हैं वे चज्रु की नाई जिस-

ने की हैं अर्थात् उनसे ही रूप प्रहण होता है, (दिशो यश्चके प्रज्ञानीस्त) और जिस-ने दश दिशाओं को सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली बनाई हैं ऐसा जो अनन्त विद्यायुक्त परमात्मा सब मनुष्यों का इष्टदेव है उस ब्रह्म को निरन्तर हमारा नमस्कार हो ।। ४ ।।

य त्रात्मदा बेलुदा यस्य विश्वं उपासंते प्रशिष्ं यस्यं देवाः। यस्येच्छायामृतं यस्यं मृत्युः कस्मै देवायं हृविषां विधेम ॥ ५ ॥ यज्जु॰ त्रा॰ २५ । मं॰ १३ ॥

चौः शान्तिर्न्तिरं जुँशान्तिः पृथिवी शान्तिराषः शान्तिरोषे-धयः शान्तिः। वनस्पतियः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्वह्मशान्तिः स-र्वे अशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥६॥ यतौ यतः समीहंसे ततौ नो अभयङ्कर। शर्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पृशुभ्येः॥७॥ यजु० अ०३६। मं०१७। २२॥

यस्<u>मित्रृचः साम्</u> यर्जू<u>रेष</u> यस्मित् प्रतिष्ठिता रथ<u>नाभाविवाराः ।</u> यस्मिरिचत्तर् सर्वमोते प्रजानां तन्मे मर्नः शिवसैकल्पमस्तु ॥ ८ ॥ यज्जु० अ० ३४ । मं० ४ ॥

भाष्यम्

(य त्रात्मदाः) य त्रात्मदा विद्याविज्ञानप्रदः, (वलदाः) यः शरीरेन्दियप्राणात्ममनसां पृष्ट युत्साहपराक्रमदृढत्वप्रदः, (यस्य०) यं विश्वेदेवाः सर्वे
विद्वांस जपासते यस्यानुशासनं च मन्यन्ते, (यस्यच्छाया०) यस्याश्रय एव
मोन्नोऽस्ति, यस्यच्छायाऽकृपाऽनाश्रयो मृत्युर्जन्ममरणकारकोस्ति, (कस्मै०) तस्मै
कस्मै प्रजापतये "प्रजापतिर्वैक" स्तस्म हविषाविधेमेति । शतपथन्नाह्मणे । काएडे ७।
त्रा० ३ ॥ सुखस्वरूपाय ब्रह्मणे देवाय प्रेमभिक्तरूपेण हविषा वयं विधेम, सततं
तस्यैवोपासनं कुर्वीमहि ॥ ४ ॥ (द्योः शान्तिः०) हे सर्वशक्तिमन् परमेश्वर !
त्वद्धक्रचा त्वत्कृपया च द्यौर,न्तरिन्तं,पृथिवी, जलमो,षधयो वनस्पतयो, विश्वेदेवाः
सर्वे विद्वांसो, ब्रह्म वेदः, सर्व जगच्चास्मदर्थं शान्तं निरुपद्ववं सुखकारकं सर्वदास्तु ।
त्रात्मुक्लं भवतु नः । येन वयं वेदभाष्यं सुखेन विद्धीमहि । हे भगवन् ! एतया
सर्वशान्त्या विद्याबुद्धिविज्ञानारोग्यसर्वीत्तगसहायैभवान् मां सर्वथा वर्धयतु तथा
सर्व जगच्च ॥ ६ ॥ (यतो य०) हे परमेश्वर! यतो यतो देशान्वं सभीहसे, जगद्रच-

नपालनार्थां चेष्टां करोषि, ततस्ततो देशान्नोऽस्मानभयं क्रुरु, यतः सर्वथा सर्वेभ्यो देशेभ्यो भयरिता भवत्कृपया वयं भवेम, (शन्नः कु०) तथा तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मानमयं कुरु । एवं सर्वेभ्यो देशेभ्यस्तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मान् शं कुरु, धर्मार्थकाममोन्नादिसुखयुक्तान् स्नानुप्रदेश सद्यः संपादय ॥ ७॥ (यस्मिन्नु०) हे भगवन् कृपानिधे ! यस्मिन्मनित ऋचः सामानि यज्ञंषि च प्रतिष्ठितानि भवान्ति, यस्मिन् यथार्थमोन्नविद्या च प्रतिष्ठिता भवित, (यस्मिश्च०) यस्मिश्च प्रजानां चित्तं स्मरणात्मकं सर्वमोतमस्ति सत्रे मिण्गणवत्प्रोतमस्ति, कस्यां क इव १ रथनाभौ त्र्या इव, तन्मे मम मनो भवत्कृपया शिवसंकन्पं कल्याण्प्रियं सत्यार्थप्रकाशं चास्तु, येन वेदानां सत्यार्थः प्रकाश्येत । हे सर्वविद्यामय सर्वार्थविन् ! मदुपरि कृपांविधेहि, यथा निर्विच्नेन वेदार्थभाष्यं सत्यार्थं पूर्णं वयं कुर्वीमिहि, भवद्यशो वेदानां सत्यार्थं विन्तारयेमिहि। यं दृष्वा वयं सर्वे सर्वोन्त्रपृण्णा भवेम । ईदृशीं करुणामस्माकपुपरि करोतु भवान् । एतद्र्थं प्रार्थ्वते । त्रमया प्रार्थनया श्रीघ्रमेवानुगृह्णातु । यत इदं सर्वोपकारकं कृत्यं सिद्धं भवेत् ॥

भाषार्थ

(य आत्मदाः०) जो जगदीश्वर अपनी छपा से ही अपने आत्मा का विज्ञान देने वाला है, जो सब विद्या और सत्य सुखों की प्राप्ति करानेवाला है, जिस की उपासना सब विद्वान् लोग करते आये हैं और जिसका अनुशासन जो वेदोक्त शिचा है उस को अत्यन्त मान्य से सब शिष्ट लोग स्वीकार करते हैं, जिस का आश्रय करना ही मोच्चुख का कारण है और जिसकी अकृपा ही जन्ममरणरूप दुःखों को देनेवाली है अर्थात् इंश्वर और उसका उपरेश जो सत्यविद्या सत्यधर्म और सत्य मोच्च हैं उनको नहीं मानना और जो वेद से विरुद्ध हो के अपनी कपोलकल्पना अर्थात् दुष्ट इच्छा से बुरे कामों में वर्त्तता है उस पर ईश्वर की अकृपा होती है वही सब दुःखों का कारण है और जिसकी आज्ञापालन ही सब सुखों का मृल है (कस्मै०) जो सुखस्वरूप और सब प्रजा का पित है उस परमेश्वर देव की प्राप्ति के लिये सत्य प्रेम भिक्ररूप सामग्री से हम लोग नित्य भजन करें, जिससे हम लोगों को किसी प्रकार का दुःख कभी न हो ॥ १ ॥ (द्यौः शा०) हे सर्वशिक्तमन् भगवन् ! आप की भिक्त और कृपा से ही (द्यौः) जो सूर्यादि लोकों का प्रकाश और विज्ञान है यह सब दिन हमको सुखदायक हो तथा जो आकाश में पृथिवी जल आष्टि वनस्पित वट आदि वृच्च, जो

संसार के सब विद्वान, ब्रह्म जो वेद, ये सब पदार्थ श्रीर इनसे भिन्न भी जो जगत है वे सब सुख देनेवाले हम को सब काल में हों कि सब पदार्थ सब दिन हमारे श्रातुकुल रहें, जिससे इस वेदभाष्य के काम को सुखपूर्वक हम लोग सिद्ध करें । हे भगवन् ! इस सब शान्ति से हम को विद्या बुद्धि विज्ञान श्रारोग्य श्रौर सब उत्तम सहाय को क्रपा से दीजिये तथा हम लोगों श्रीर सब जगत् को उत्तम गुण श्रीर सुख के दान से बढ़ाइये ।। ६ ।। (यतो य०) हे परमेश्वर ! त्र्राप जिस २ देश से जगत् के रचन श्रीर पालन के श्रर्थ चेष्टा करते हैं उस २ देश से भय से रहित करिये श्रर्थात किसी देश से हम को किञ्चित भी भय न हो (शन्नः कुरु०) वैसे ही सब दिशास्रों में जो श्राप की प्रजा श्रौर पशु हैं उन से भी हम को भयरहित करें, तथा हम से उनको सुख हो और उनको भी हम से भय न हो तथा आप की प्रजा में जो मनुष्य और पशु आदि हैं उन सबसे जो धर्म अर्थ काम और मोच्च पदार्थ हैं उनको आपके अनु-प्रह से हम लोग शीघ्र प्राप्त हों जिससे मनुष्यजन्म के धर्मादि जो फल हैं वे सुख से सिद्ध हों ।।७।। (यस्मिन्नुच:०) हे भगवन् कृपानिधे ! (ऋच:) ऋग्वेद (साम)सामवेद (यजूँषि) यजुर्वेद ऋौर इन तीनों के ऋन्तर्गत होने से ऋथर्ववेद भी ये सब जिस में स्थिर होते हैं तथा जिसमें मोच्चिवद्या त्र्यर्थात् ब्रह्मविद्या त्र्यौर सत्यासत्य का प्रकाश होता है (यस्मिँश्वि०) जिसमें सब प्रजा का चित्त जो स्मरण करने की बृत्ति है सो सब गँठी हुई है जैसे माला के मिएएं मूत्र में गेंठे हुये होते हैं त्रीर जैसे रथ के पहिये के बीच के भाग में त्रारे लगे रहते हैं कि उस काष्ट्र में जैसे अन्य काष्ट्र लगे रहते हैं ऐसा जो मेरा मन है सो श्रापकी कृपा से शुद्ध हो तथा कल्याण जो मोत्त और सत्य धर्म का श्रान-ष्ठान तथा त्रमत्य के परित्याग करने का संकल्प जो इच्छा है इससे युक्त सदा हो, जिस मन से हम लोगों को आपके किये वेदों के सत्य अर्थ का यथावत् प्रकाश हो। हे सर्वविद्यामय सर्वार्थवित जगदीश्वर ! हम पर त्राप कृपा धारण करें जिससे हम लोग विघ्नों से सदा श्रलग रहें श्रीर सत्य श्रर्थ सहित इस वेदभाष्य को संपूर्ण बना के श्रापके बनाए वेदों के सत्य अर्थ की विस्ताररूप जो कीर्ति है उसको जगत् में सदा के लिये बढ़ावें और इस भाष्य को देख के वेदों के अनुसार सत्य का अनुष्ठान करके हम सब लोग श्रेष्ठ गुणों से युक्त सदा हों इसलिये हम लोग त्रापकी प्रार्थना प्रेम से सदा करते हैं। इसको त्राप कृपा से शीघ सनें। जिससे यह जो सबका उपकार करनेवाला वेदभाष्य का श्रनुष्ठान है सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो ।। इतीश्वरप्रार्थनाविषय: ॥

अथ वेदोत्पत्तिविषयः॥

44

तस्मां ग्रज्ञात्सर्वेहुत् ऋचः सामानि जिज्ञिरे। छन्द्रिसी जिज्ञिरे तस्याचजुस्तस्मादजायत ॥ १॥ यज्ज० अ०३१। मं०७॥

यस्माद्द्यो अपार्तज्ञन् यजुर्यस्माद्रपार्कषन् । सामान्ति यस्य लोमा-न्यथर्वाङ्गिरम्रो मुर्खम् । स्क्रम्भं तं ब्रीह् कनुमः स्विदेव सः ॥ २ ॥ स्रथर्व० कां० १० । प्रपा० २३ । स्रनु० ४ । स्रू० ७ । मं० २० ॥

भाष्यम्

(तस्माद्यज्ञात्स०) तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलच्चणात्पूर्णात्पुरुपात् सर्वेहु-तात्सर्वपूज्यात्सर्वोपास्यात्सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः, (यजुः) यजुर्वेदः, (सामानि) सामवेदः, (बन्दा श्रंसि) त्रथर्ववेदश्च (जिन्नरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम् । सर्वेहुत इति वेदानामि विशेषणं भवितुमईति, वेदाः सर्वहुतः । यतः सर्वमनुष्येहीतुमादातुं ग्रहीतुं योग्याः सन्त्यतः । जिन्नरे त्रजायतेति क्रियाद्ययं वेदानामनेकविद्यावच्चद्योतनार्थम् । तथा तस्मादिति पर्-क्रयमीश्वरादेव वेदा जाता इत्यवधारणार्थम् । वेदानां गायत्र्यादिच्छन्दोन्वितत्वा-त्युनश्बन्दासीतिपदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्ति ज्ञापयतीत्यवधेयम् । यज्ञो वै विष्णुः ॥ श० कां० १ । स्र० १ । ब्रा० २ । कं० १३ । इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेघा निद्धे पदम् ॥ य० ऋ० ५ । मं० १५ । इति सर्वजगत्कर्तृत्वं विष्णौ परमे-श्वर एव घटते नान्यत्र । वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः परमेश्वरः ।।१।। (यस्माद्यो॰) यस्मात्सर्वशक्तिमतः ऋयः ऋग्वेदः (अपात्त्वन्) अपा-तचत् उत्पन्नोस्ति, यस्मात् परब्रह्मणः (यजुः)यजुर्वेदः अपाकषन् पादुर्भृतोस्ति, तथैव यस्मात्सामानि सामवेदः (त्राङ्गिरसः) त्र्रथवेवेदश्रोत्पन्नौ स्तः, एवमेव यस्येश्वरस्याङ्गिरसोऽथर्ववेदो मुखं मुखवन् मुख्योस्ति, सामानि लोमानीव सन्ति, यजुर्यस्य हृद्यमृत्रः प्राण्थेति रूपकालङ्कारः । यस्माच्चत्वारो वेदा उत्पन्नाः स कतमः स्विदेवोस्ति तं त्वं ब्रुहीति पश्चः ? अस्योत्तरम् (स्कम्भं तं०) तं स्कम्भं सर्वजगद्धारकं परमेश्वरं त्वं जानीहीति, तस्मात्स्कम्भात्सर्वाधारात्परमेश्वरात् पृथक् कश्चिद्प्यन्यो देवो वेदकर्ता नैवास्तीति मन्तव्यम् ॥ २ ॥ एवं वा ऋरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद्यवेदो यज्ञवेदः सामवेदोऽथर्वाक्रिरसः ॥ श० कां० १४। ऋ० ५ । द्या० ४ । क० १० ॥ ऋस्यायमिमायः । याज्ञवल्वयोभिवदति । हे मैत्रेयि ! महत आकाशादिप बृहतः परमेश्वरस्यैव सकाशाद्यवेदादिवेदचतुष्ट्यं (निःश्वसितं) निःश्वासवत्सहजतया निःसृतमस्तीति वेद्यम् । यथा शरीरा-च्छ्वासो निःसृत्य पुनस्तदेव मविशति तथैवेश्वराद्येदानां मादुर्मावतिरोभावौ भवत इति निश्चयः ॥

भाषार्थ

प्रथम ईश्वर को नमस्कार श्रौर प्रार्थना करके पश्चात् वेदों की उत्पत्ति का विषय लिखा जाता है कि वेद किसने उत्पन्न किये हैं। (तस्मात् यज्ञात्स०) सत् जिसका कभी नाश नहीं होता, चित् जो सदा ज्ञानस्वरूप है जिसको अज्ञान का लेश भी कभी नहीं होता, त्रानन्द जो सदा सुखस्वरूप और सब को सुख देने वाला है इत्यादि लच्चणों से युक्त पुरुष जो सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है, जो सब मनुष्यों को उपासना के योग्य इष्टदेव और सब सामर्थ्य से युक्त है उसी परब्रह्म से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) य-जुर्वेद (सामानि) सामवेद और (छन्दांसि) इस शब्द से श्रथर्व भी ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं, इसालिये सब मनुष्यों को उचित है कि वेदों का प्रहण करें श्रीर वेदोक्त रीति से ही चलें । (जिज्ञरे) और (अजायत) इन दोनों कियाओं के अधिक होने से वेद अनेक विद्याओं से युक्त हैं ऐसा जाना जाता है। वैसे ही (तस्मात्) इन दोनों पदों के श्राधिक होने से यह निश्चय जानना चाहिये कि ईश्वर से ही वेद उत्पन्न हुए हैं, किसी मनुष्य से नहीं । वेदों में सब मन्त्र गायज्यादि छन्दों से युक्त ही हैं फिर (छन्दांसि) इस पद के कहने से चौथा जो अथर्ववेद है उसकी उत्पत्ति का प्रकाश होता है। शतपथ श्रादि ब्राह्मण श्रीर वेदमन्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि यज्ञ शब्द से विष्ण का श्रीर विष्णु शब्द से सर्वव्यापक जो परमेश्वर है उसी का महए। होता है, क्योंकि सब जगत् की उत्पत्ति करनी परमेश्वर में ही घटती है अन्यत्र नहीं ।। १ ।। (यस्माद्यो अपा०) जो सर्वशक्तिमान परमेश्वर है उसी से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः)यजुर्वेद (सामानि) सामवेद (श्राङ्गिरसः) श्रथवंवेद ये चारों उत्पन्न हुए हैं । इसी प्रकार रूपकालङ्कार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि श्रयवंवेद मेरे मुख के समतुल्य, सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान श्रार ऋग्वेद प्राण की नाई है।

(मूहि कतमः स्विदेव सः) कि चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं सो कौनसा देव है उसको तुम मुम से कहो । इस प्रश्न का यह उत्तर है कि (स्कम्भं तं०) जो सब जगत् का धारण-कर्त्ता परमेश्वर है उसका नाम स्कम्भ है, उसी को तुम वेदों का कर्त्ता जानो और यह भी जानो कि उसको छोड़ के मनुष्यों को उपासना करने के योग्य दूसरा कोई इष्ट-देव नहीं है, क्योंकि ऐसा अभागा कौन मनुष्य है जो वेदों के कर्त्ता सर्वशिक्षमान् परमेश्वर को छोड़ के दूसरे को परमेश्वर मान के उपासना करे ॥ २ ॥ (एवं वा अरेस्थर को छोड़ के दूसरे को परमेश्वर मान के उपासना करे ॥ २ ॥ (एवं वा अरेस्थर को उपदेश करते हैं कि हे मैत्रेथि ! जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर है उससे ही ऋक् यजुः साम और अथर्व ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं, जैसे मनुष्य के शारिर से खासा बाहर को आ के फिर भीतर को जाती है इसी प्रकार मृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में प्रकाश करता है और प्रलय में संसार में बेद नहीं रहते, परन्तु उसके ज्ञान के भीतर वे सदा बने रहते हैं, बीजाङ्कु-रवत्। जैसे बीज में अङ्कुर प्रथम ही रहता है, वही वृत्तरूप हो के फिर भी बीज के भीतर रहता है, इसी प्रकार से वेद भी ईश्वर के ज्ञान में सब दिन बने रहते हैं, उनका नाश कभी नहीं होता, क्योंकि वह ईश्वर की विद्या है, इससे इनको नित्य ही जानना।

श्रत्र केचिदाहुः । निरवयवात्परमेरवराच्छब्दमयो वेदः कथमुत्पद्येतेति ? श्रत्र भूमः । न सर्वशाक्रिमतीरवरे शक्केयमुपपद्यते । कुतः । मुख्यणादिसाधनमन्तरापि तस्य कार्य कर्जुं सामर्थ्यस्य सदैव विद्यमानत्वात् । श्रन्यच्च यथा मनिस विचारणावसरे परनोत्तरादिशब्दोच्चारणं भवति तथेरवरेपि मन्यताम् । योस्ति खलु सर्वशक्तिमान् स नैव कस्यापि सहायं कार्य्यं कर्जुं गृह्णाति । यथास्मदादीनां सहायंनि विना कार्यं कर्जुं सामर्थ्यं नास्ति । न चैवमीरवरे । यदा निरवयवेनेरवरेण सकलं जगद्रचितं तदा वेदरचने का शङ्कास्ति । कुतः । वेदस्य सूच्मरचनवज्जनत्यपि महदारचर्यभूतं रचनमीरवरेण कृतमस्त्यतः ।

भाषार्थ

इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसा प्रश्न करते हैं कि ईश्वर निराकार है उससे शब्द-रूप वेद कैसे उत्पन्न हो सके हैं ? इस का यह उत्तर है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान है, उस में ऐसी शङ्का करनी सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि मुख और प्राणादि साधनों के विना भी परमेश्वर में मुख श्रोर प्राणादि के काम करने का श्रनन्त सामर्थ्य है, कि मुख के विना मुख का काम श्रोर प्राणादि के विना प्राणादि का काम वह श्रपने सामर्थ्य से यथावत् कर सका है। यह दोप तो हम जीव लोगों में श्रासका है कि मुखादि के विना मुखादि का कार्य नहीं कर सकते हैं, क्योंकि हम लोग श्रल्प सामर्थ्य वाले हें। श्रोर इसमें यह दृष्टान्त भी है कि मन में मुखादि श्रवयव नहीं हैं तथापि जैसे उसके भीतर प्रभोत्तर श्रादि शब्दों का उचारण मानस व्यापार में होता है वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिये। श्रोर जो सम्पूर्ण सामर्थ्य वाला है सो किसी कार्य्य के करने में किसी का सहाय महण नहीं करता क्योंकि वह श्रपने सामर्थ्य से ही सब कार्य्यों को कर सकत है। जैसे हम लोग विना सहाय से कोई काम नहीं कर सकते वैसा ईश्वर नहीं है। जैसे देखों कि जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था उस समय निराकार ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् को बनाया, तब वेदों के रचने में क्या शङ्का रही। जैसे वेदों में श्रत्यन्त सूदम विद्या का रचन ईश्वर ने किया है वैसे ही जगत् में भी नेत्र श्रादि पदार्थों का श्रत्यन्त श्राश्चर्यरूप रचन किया है, तो क्या वेदों की रचना निराकार ईश्वर नहीं कर सकता।

ननु जगद्रचने तु खल्वीश्यरमन्तरेण न कस्यापि सामर्थ्यमस्ति वेदरचने त्वन्यस्यान्यग्रन्थरचनवत् स्यादिति । अत्रोच्यते । ईश्वरेण रचितस्य वेदस्याध्ययन्तानन्तरमेव ग्रन्थरचने कस्यापि सामर्थ्य स्यात्र चान्यथा । नैव कश्चिद्पि पठन-अवर्णमन्तरा विद्वान् मवति । यथेदानीं किश्चिद्पि शास्त्रं पठित्वोपदेशं श्चत्वा व्यवहारं च दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति । तद्यथा । कस्यचित्सन्तानमेकान्ते रच्चियत्वाऽक्यानादिकं युक्तचा द्यात्तेन सह भाषणादिव्यवहारं लेशमात्रमपि न कुर्योद्यावत्तस्य मरणं न स्यात् । यथा तस्य किंचिद्पि यथार्थं ज्ञानं न भवति । यथा च महारण्यस्थानां मनुष्याणामुपदेशमन्तरा पश्चवत्त्रवृत्तिभेवति । तथैवादि-सृष्टिमारम्याद्यपर्यन्तं वेदोपदेशमन्तरा सर्वमनुष्याणां प्रवृत्तिभेवते । पुनर्ग्रन्थरचनस्य तु का कथा ।

भाषार्थ

प्रश्न-जगत् के रचने में तो ईश्वर के विनाकिसी जीव का सामर्थ्य नहीं है, परन्तु जैसे व्याकरण आदि शास्त्र रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य होता है वैसे वेदों के रचने में भी जीव का सामर्थ्य हो सकता है। उत्तर-नहीं, किन्तु जब ईश्वर ने प्रथम वेद रचे हैं उनको पढ़ने के पश्चात् प्रन्थ रचने का सामर्थ्य किसी

मनुष्य को हो सकता है, उसके पढ़ने श्रौर ज्ञान से विना कोई भी मनुष्य विद्वान नहीं हो सकता। जैसे इस समय में किसी शास्त्र को पढ़ के, किसी का उपदेश सुनके श्रौर मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों को देख के ही मनुष्यों को ज्ञान होता है अन्यथा कभी नहीं होता। जैसे किसी मनुष्य के बालक को जन्म से एकान्त में रखके उसको श्रम्न श्रौर जल युक्ति से देवे, उसके साथ भाषणादि व्यवहार लेशमात्र भी कोई मनुष्य न करे, कि जब तक उसका मरण न हो तब तक उसको इसी प्रकार से रक्खे तो मनुष्यपने का भी ज्ञान नहीं हो सकता। तथा जैसे बड़े बन में मनुष्यों को विना उपदेश के यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किन्तु पशुश्रों की नाई उनकी प्रवृत्ति देखने में श्राती है, वैसे ही वेदों के उपदेश के विना भी सब मनुष्यों की प्रवृत्ति हो जाती, किर प्रन्थ रचने के सामर्थ्य की तो कथा क्या ही कहनी है। इससे वेदों को ईश्वर के रचित मानने से ही कल्याण है, अन्यथा नहीं।

मैवं वाच्यम् । ईश्वरेगा मनुष्येभ्यः स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं, तच सर्वग्रन्थेभ्य उत्कृष्टमस्ति, नैव तेन विना वेदानां शब्दार्थसम्बन्धानामपि ज्ञान भवितुमईति, तदुन्नत्या ग्रन्थरचनमपि करिष्यन्त्येव, पुनः किमर्थं मन्यते वेदोत्पादनमीश्वरेण कृतमिति । एवं शप्ते वदामहे । नैव पूर्वीकायाशिचितायैकान्ते राचिताय बालकाय महारएयस्थेभ्यो मुजुष्येभ्यश्रेश्वरेण स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं किम् ?, कथं नास्मदाद-योप्यन्येभ्यः शिक्षाग्रहणमन्तरेण वेदाध्ययनेन च विना पिएडता भवन्ति ? तस्मात्, किमागतम् १ न शिक्तया विनाध्ययनेन च स्वाभाविकज्ञानमात्रेण कस्यापि निर्वाहो भवितुमईति । यथास्मदादिभिरप्यन्येषां विदुषां विद्यत्कृतानां ग्रन्थानां च सका-शादनेकविधं ज्ञानं गृहीत्वैव ग्रन्थान्तरं रच्यते, तथेश्वरज्ञानस्य सर्वेषां मनुष्याुणा-मपेत्तावश्यं भवति । किञ्च न सृष्टेरारम्भसम्ये पठनपाठनक्रमो ग्रन्थश्र कश्चिद्प्या-सीत्तदानीमीश्वरोपदेशमन्तरा न च कस्यापि विद्यासम्भवो बभूव, पुनः कथुं कश्रिज्जनो प्रन्थं रचयेत् । मनुष्यार्णां नैमित्तिकज्ञाने स्वातन्त्र्याभावात् । स्वाभा-विकज्ञानमात्रेगौव विद्यापाप्त्यनुपपत्तेश्र । यच्चोक्नं स्वकीयं ज्ञानग्रुत्कृष्टमित्यादि तद्प्यसमञ्जसम् । तस्य साधनकोटौ भविष्टत्वात् । चर्जुर्वत् । यथा चर्जुर्मनः साहित्येन विना ह्याफिन्चित्करमस्ति। तथान्येषां विदुषामीश्वरज्ञानस्य च साहित्येन विना स्वाभाविकज्ञानमप्यकिञ्चित्करमेव भवतीति ।

भाषार्थ

प्र०-ईश्वर ने मनुष्यों को स्वाभाविक ज्ञान दिया है सो सब प्रन्थों से उत्तम

क्योंकि उसके बिना वेदों के शब्द ऋर्थ ऋौर सम्बन्ध का ज्ञान कभी नहीं हो सकता त्रौर जब उस झान की क्रम से घाद्धे होगी तब मनुष्य लोग विद्या-पुस्तकों को भी रच लेंगे पुनः वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से क्यों माननी ?। उ०-जो प्रथम दृष्टान्त बालक का एकान्त में रखने का ऋौर दुसरा वनवासियों का भी कहा था क्या उनको स्वाभाविक ज्ञान ईश्वर ने नहीं दिया है ? वे स्वाभाविक ज्ञान से विद्वान क्यों नहीं होते ? इससे यह बात निश्चित है कि ईश्वर का किया उपदेश जो वेद है उसके विना किसी मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता । जैसे हम लोग वेदों के पढ़ने, विद्वानों की शिचा श्रौर उनके किये प्रन्थों को पढ़े विना पिडित नहीं होते वैसे ही सृष्टि की आदि में भी पर-मात्मा जो वेदों का उपदेश नहीं करता तो ऋाज पर्यन्त किसी मनुष्य को धर्मादि पदार्थों की यथार्थ विद्या नहीं होती। इससे क्या जाना जाता है कि विद्वानों की शिचा और वेद पदने के विना केवल स्वाभाविक ज्ञान से किसी मनुष्य का निर्वाह नहीं हो सकता। जैसे इम लोग अन्य विद्वानों से वेदादि शास्त्रों के अनेक प्रकार के विज्ञान को प्रहण करके ही पीछे प्रन्थों को भी रच सकते हैं वैसे ही ईश्वर के ज्ञान की भी अपेचा सब मनुष्यों को अवश्य है। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में पढ़ने और पढ़ाने की कुछ भी व्यवस्थानहीं थी तथा विद्या का कोई प्रनथ भी नहीं था, उस समय ईश्वर के किये वेदोपदेश के विना विद्या के नहीं होने से कोई मनुष्य प्रन्थ की रचना कैसे कर सकता। क्योंकि सब मनुष्यों को सहायकारी ज्ञान में स्वतन्त्रता नहीं है ज्ञौर स्वाभाविक ज्ञानमात्र से विद्या की प्राप्ति किसी को नहीं हो सकती। इसीसे ईश्वर ने सब मनुष्यों के हितके लिये वेदों की उत्पत्ति की है। श्रीर जो यह कहा था कि अपना ज्ञान सब वेदादि प्रनथों से श्रेष्ठ है सो भी अन्यथा है, क्योंकि वह स्वाभाविक जो ज्ञान है सो साधनकोटि में है। जैसे मनके संयोग के विना ऋांख से कुछ भी नहीं दीख पड़ता तथा आत्मा के संयोग के विना मन से भी कुछ नहीं होता, बैसे ही जो स्वाभाविक ज्ञान है सो वेद श्रौर विद्वानों की शिज्ञा के प्रहरा करने में साध-नमात्र ही है, तथा पशुच्यों के समान व्यवहार का भी साधन है, परन्तु वह स्वाभाविक ज्ञान धर्म अर्थ काम और मोन्नाविद्या का साधन स्वतन्त्रता से कभी नहीं हो सकता ।

वेदोत्पादन ईश्वरस्य किं मयोजनमस्तीत्यत्र वक्तव्यम् १, उच्यते । वेदानामनुत्पादने खलु तस्य किं मयोजनमस्तीति १ अस्योत्तरं तु वयं न जानीमः । सत्यमेवमेतत् । तावबेदोत्पादने यदस्ति मयोजनं तच्छृणुत । ईश्वरेऽनन्ता विद्यास्ति न
वा १, अस्ति । सा किमथीस्ति १, स्वार्था । ईश्वरः परोपकारं न करोति किम् १,

करोति तेन किम् १, तेनेदमस्ति विद्या स्वार्था परार्था च भवति तस्यास्ति विद्याप्त । यद्यस्मद्यमीश्वरो विद्योपदेशं न कुर्यात्तदान्यतरपत्ते सा निष्फला स्यात् । तम्मादीश्वरेख । विद्याभूतवेद । यथा पिता स्वसन्तितं प्रति सदैव करुणां दधाति, तथेश्वरोपि परमकुपया सर्वमनुष्यार्थं वेदोपदेशम्रपचके । अन्ययान्धपर-म्परया मनुष्याणां धर्मार्थकाममोत्तासद्ध्या विना परमानन्द एव न स्यात् । यथा कुपायमाखेनेश्वरेख प्रजासुखार्थं कंदमूलफलृत्यादिकं रचितं स कथं न सर्वसुखम्काशिकां सर्वविद्यामयीं वेदविद्यामुपदिशेत् १ किञ्च ब्रह्माएडस्थोत्कृष्टसर्व-पदार्थमाप्त्या यावत्सुखं भवति न तावत् विद्याप्राप्तसुखस्य सहस्रतमेनांशेनापि तुल्यं भवत्यतो वेदोपदेश ईश्वरेख कृत एवास्तीति निश्चयः ।

भाषार्थ

प्र०-वेदों के उत्पन्न करने में ईश्वर को क्या प्रयोजन था?, उ०-मैं तुम से पूछता हूं कि वेदों के उत्पन्न नहीं करने में उसको क्या प्रयोजन था ? जो तुम यह कहो कि इसका उत्तर हम नहीं जान सकते तो ठीक है, क्योंकि वेद तो ईश्वर की नित्य विद्या है, उस की उत्पति वा ऋनुत्पत्ति हो ही नहीं सकती । परन्तु हम जीव लोगों के लिये ईश्वर ने जो वेदों का प्रकाश किया है सो उसकी हम पर परमकृपा है। जो वेदोत्पात्त का प्रयोजन है सो श्राप लोग सनें। प्र०-ईश्वर में श्रनन्त विद्या है वानहीं ?, उ०-है। प्र०-सो उसकी विद्या किस प्रयोजन के लिये हैं ?। उ०-अपने ही लिये, जिससे सब पदार्थों का रचना श्रीर जानना होता है। प्र०-श्रच्छा तो मैं श्रापसे पूछता हूं कि ईश्वर परोपकार को करता है वा नहीं ?, उ०-ईश्वर परोपकारी है, इससे क्या आया ? इससे यह बात त्राती है कि विद्या जो है सो स्वार्थ ऋौर परार्थ के लिये होती है, क्योंकि विद्या का यही गुए है कि स्वार्थ श्रीर परार्थ इन दोनों को सिद्ध करना । जो परमेश्वर श्रपनी विद्या को हम लोगों के लिये उपदेश न करे तो विद्या से जो परोपकार करना गुए है सो उसका नहीं रहे। इससे परमेश्वर ने श्रपनी वेदविद्या का हम लोगों के लिये उपदेश करके सफलता सिद्ध करी है, क्योंकि परमेश्वर हम लोगों का माता पिता के समान है। हम सब लोग जो उसकी प्रजा हैं उन पर नित्य कुपादृष्टि रखता है। जैसे अपने सन्तानों के ऊपर पिता श्रीर माता सदैव करुणा को धारण करते हैं कि सब प्रकार से हमारे पुत्र सुख पावें, वैसे ही ईश्वर भी सब मनुष्यादि सृष्टि पर क्रपादृष्टि सदैव रखता है, इससे ही बेदों

का उपदेश हम लोगों के लिये किया है। जो परमेश्वर श्रपनी वेदिवद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये न करता तो धर्म, श्रर्थ, काम श्रोर मोत्त की सिद्धि किसी को यथावत् प्राप्त न होती, उसके विना परम श्रानन्द भी किसी को नहीं होता। जैसे परमकृपालु ईश्वर ने प्रजा के सुख के लिये कन्द, मूल, फल श्रोर घास श्रादि छोटे २ भी पदार्थ रचे हैं सो ही ईश्वर सब सुखों के प्रकाश करनेवाली, सब सत्यविद्यात्रों से युक्त वेदिवद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिये क्यों न करता। क्योंकि जितने ब्रह्माएड में उत्तम पदार्थ हैं उनकी प्राप्ति से जितना सुख होता है सो सुख विद्याप्राप्ति होने के सुख के हजारहवें श्रंश के भी समतुल्य नहीं हो सकता। ऐसा सर्वोत्तम विद्या पदार्थ जो वेद हैं उसका उपदेश परमेश्वर क्यों न करता। इससे निश्चय करके यह जानना कि वेद ईश्वर के ही बनाये हैं।।

ईश्वरेख लेखनीमसीपात्रादिसाधनानि वेदपुस्तकलेखनाय क्रुतो लब्धानि १ । श्रत्रोच्यते । श्रद्दद्द ! महतीयं शङ्का भवता कृता, विना हस्तपादाद्यवयवैः काष्ट-लोष्टादिसामग्रीसाधनैश्र यथेश्वरेख जगद्रचितं तथा वेदा त्र्रापे रचिताः, सर्वश-क्रिमतीश्वरे वेदरचनं प्रत्येवं माशाङ्कि । किन्तु पुस्तकस्था वेदा तेनादौ नोत्पा-दिता: । किं तर्हि ज्ञानमध्ये पेरिता: । केषाम ? त्रग्निवाय्वादित्याङ्गिरसाम् । ते तु ज्ञानरहिता जडाः सन्ति ? मैवं वाच्यं, सुष्टचादौ मनुष्यदेदधारिणस्ते ह्यासन् । कुतः । जडे ज्ञानकार्यासम्भवात् यत्रार्थासम्भवोस्ति तत्र लच्चणा भवति । तद्यथाः कश्चिदाप्तः किन्नित्पति वदति मञ्चाः क्रोशन्तीति । अत्र मञ्चस्था मनुष्याः क्राशे-न्तीति विज्ञायते । तथैवात्रापि विज्ञायताम् । विद्याप्रकाशसंभवो मनुष्येष्वेव भवि-तुमहतीति । अत्र प्रमाणम् । तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः स्र्योत्सामवेदः ॥ श० कां०११। ऋ०५। ब्रा०२। कं०२॥ प्षां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद्बारा वेदाः प्रकाशिताः । सत्यमेवमेतत् । परमेश्वरेण तेभ्यो ज्ञानं दत्तं ज्ञानेन तैर्वेदानां रचनं कृतमिति विज्ञायते । मैवं विज्ञायि । ज्ञानं किं प्रकारकं दत्तम् ?, वेदप्रकारकम् । तदीश्वरस्य वा तेषाम् । ईश्वरस्यैव । पुनस्तेनैव प्रगीता वेदा श्राहोस्विचेश्र ? यस्य ज्ञानं तेनैव प्रशीताः । पुनः किमर्था शङ्का कृता तैरेव रचिता इति ?। निश्चयकरणार्था ।

भाषार्थ

प्र०-वेदों के रचने और वेद पुस्तक लिखने के लिये ईश्वर ने लेखनी स्याही और दवात आदि साधन कहां से लिये ? क्योंकि उस समय में कागज आदि ५दार्थ ता बने ही न थे। उ० -वाह वाह जी आपने बड़ी शङ्का करी आप की बुद्धि की क्या स्तुति करें। अञ्छा आपसे में पूछता हूं कि हाथ पग आदि अङ्गों से विना तथा काष्ठ लोह श्रादि सामग्री साधनों से विना ईश्वर ने जगत् को क्योंकर रचा है ? जैसे हाथ श्रादि श्रवयवों से विना उसने सब जगत् को रचा है वैसे ही वेदों को भी सब साधनों के विना रचा है, क्योंकि ईश्वर सर्वशिक्तमान् है। इससे ऐसी शङ्का उस में त्राप को करनी योग्य नहीं । परन्तु इसके उत्तर में इस बात को जानो कि वेदों को पुस्तकों में लिख के सृष्टि की त्रादि में ईश्वर ने प्रकाशित नहीं किये थे। प्र०-तो किस प्रकार से किये थे ?। उ०-ज्ञान के बीच में। प्र०-किनके ज्ञान में। उ०-र्ञ्ञाग्न, वायु, त्रादित्य श्रीर श्रिक्करा के । प्र०-वे तो जड़ पदार्थ हैं ?, उ०-ऐसा मत कहो वे सृष्टि की श्रादि में मनुष्यदेहधारी हुए थे, क्योंकि जड़ में ज्ञान के कार्य का श्रसम्भव है और जहां २ श्रसम्भव होता है वहां २ लच्चणा होती है, जैसे किसी सत्यवादी विद्वान् पुरुष ने किसी से कहा कि खेतों में मख्रान पुकारते हैं, इस वाक्य में लच्चाणा से यह अर्थ होता है कि मञ्जान के ऊपर मनुष्य पुकार रहे हैं, इसी प्रकार से यहां भी जानना कि विद्या के प्रकाश होने का सम्भव मनुष्यों में ही हो सकता है अन्यत्र नहीं। इसमें (तेभ्य:०) इत्यादि शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण लिखा है। उन चार मनुष्यों के ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश करके उनसे ब्रह्मादि के बीच में वेदों का प्रकाश कराया था। प्र०-सत्य बात है कि ईश्वर ने उन को ज्ञान दिया होगा और उनने अपने ज्ञान से वेदों का रचन किया होगा ? उ०-ऐसा तुमको कहना उचित नहीं, क्योंकि तुम यह भी जानते हो कि ईश्वर ने उन को ज्ञान किस प्रकार का दिया था ? उ०-उन को वेदरूप ज्ञान दिया था। प्र०-त्रप्रच्छा तो मैं त्राप से पूछता हूं कि वह ज्ञान ईश्वर का है वा उनका ?, उ०-वह ज्ञान ईश्वर का ही है। प्र०-फिर आप से मैं पृछता हूं कि वेद ईश्वर के बनाये हैं वा उन के ?, उ०-जिसका ज्ञान है उसी ने वेदों को बनाया । प्र०-फिर उन्हीं ने वेद रचे हैं यह शङ्का श्रापने क्यों की थी ?, उ०--नि-श्चय करने और कराने के लिये ॥

ईश्वरो न्यायकार्यस्ति वा पत्तपाती १, न्यायकारी । तिई चतुर्णामेव हृदयेषु वेदाः प्रकाशिताः कुतो न सर्वेषामिति १, अत्राह । अत ईश्वरे पत्तपातस्य लेशोपि नैवागच्छति, किन्त्वनेन तस्य न्यायकारिणः परमात्मनः सम्यङ्न्यायः प्रकाशितो भवति, कुतः, न्यायेत्यस्येव नामास्ति यो यादशं कर्म कुर्यात्तस्मै तादशमेव फलं

द्यात्। अत्रैवं वेदितव्यम्। तेषामेव पूर्वपुर्ण्यमासीद्यतः खल्वेतेषां हृदये वेदानां प्रकाशः कर्नुं योग्योस्ति । किं च ते तु सृष्टेः प्रागुत्पन्नास्तेषां पूर्वपुर्ण्यं कृत आगतम् ?, अत्र ब्रूमः। सर्वे जीवाः स्वरूपतोऽनाद्य,स्तेषां कर्माणि, सर्वं कार्यं जगण्य, प्रवाहेणै-वानादीनि सन्तीति । एतेषामनादिः वस्य प्रमाणपूर्वकं प्रतिपादनमग्रे करिष्यते ।

भाषार्थ

प्र०-ईश्वर न्यायकारी है वा पत्तपाती ?, उ०-न्यायकारी । प्र०-जब परमेश्वर न्यायकारी है तो सब के हृद्यों में वेदों का प्रकाश क्यों नहीं किया ? क्योंकि चारों के हृद्यों में प्रकाश करने से ईश्वर में पत्तपात आता है । उ०-इससे ईश्वर में पत्तपात का लेश कदापि नहीं आता, किन्तु उस न्यायकारी परमात्मा का साज्ञात् न्याय ही प्रकाशित होता है, क्योंकि न्याय उसको कहते हैं कि जो जैसा कर्म करे उस को वैसा ही फल दिया जाय । अब जानना चाहिये कि उन्हीं चार पुरुपों का ऐसा पूर्वपुष्य था कि उनके हृदय में वेदों का प्रकाश किया गया । प्र०-वे चार पुरुप तो सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे उन का पूर्वपुष्य कहां से आया ?, उ०-जीव, जीवों के कर्म और स्थूल कार्य्य जगत् ये तीनों अनादि हैं, जीव और कारण जगत्स्वरूप से अनादि हैं, कर्म और स्थूल कार्य्य जगत् प्रवाह से अनादि हैं । इसकी व्याख्या प्रमाण्यूर्वक आगो लिखी जायगी ।

किं गायत्र्यादिच्छन्दोरचनमपीरवरेणैव कृतं १, इयं कृतः शङ्काभृत् १, किमीरवरस्य गायत्र्यादिच्छन्दोरचनज्ञानं नास्ति १, अस्त्येव तस्य सर्वविद्यावन्वात् ।
अतो निर्मूला सा शङ्कास्ति । चतुर्मुलेण ब्रह्मणा वेदा निरमायिपतेत्यैतिह्यम् ।
मैवं वाच्यम् । ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणान्तर्भावात् । आप्तोपदेशः शब्दः ॥ न्यायशास्त्रे अ०१। स०७ इति गोतमाचार्येणोक्तत्वात् । शब्द ऐतिह्यमित्यादि च ॥
न्याय अ०२। आहि०२। स०२॥ अस्यैवोपिर ॥ न्याय अ०१। आहि०१।
स०७॥ आप्तः खलु साचात्कृतधर्मा, यथा दृष्टस्यार्थस्य चिख्यापियया
प्रयुक्त उपदेष्टा, साचात्करणमर्थस्याप्तिस्तया प्रवर्चत इत्याप्त, इति न्यायभाष्ये
वात्स्यायनोक्तेः । अतः सत्यस्यैवतिह्यत्वेन ग्रहणं नानृतस्य । यत्सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्टमैतिह्यं तद् ग्राह्यं, नातो विपरीतिमिति, अनृतस्य प्रमच्चगीतत्वात् । एवमेव
व्यासेनिर्पिभिश्व वेदा रचिता इत्याद्यपि मिथ्यैवास्तीति मन्यताम् । नवीनपुराणग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानां च वैयर्थापचेश्चेति ।

भाषार्थ

प्र०-क्या गायज्यादि छन्दों का भी रचन ईश्वर ने ही किया है ?, उ०-यह शङ्का त्राप को कहां से हुई ?, प्र०-मैं तुम से पूछता हूं क्या गायज्यादि छन्दों के रचने का ज्ञान ईरवर को नहीं है ?, उ०-ईरवर को सब ज्ञान है। अच्छा तो ईरवर के समस्त विद्यायुक्त होने से ऋाप की यह शङ्का भी निर्मूल है। प्र०-चार मुख के ब्रह्माजी ने वेदों को रचा ऐसे इतिहास को हम लोग सुनते हैं ?, उ०-ऐसा मत कहो, क्योंकि इतिहास को शब्दप्रमाण के भीतर गिना है (स्राप्नो०) ऋथीत् सत्यवादी विद्वानों का जो उपदेश है उसको शब्दप्रमाण में गिनते हैं, ऐसा न्यायदर्शन में गोत-माचार्य ने लिखा है, तथा शब्दप्रमाण से जो युक्त है वही इतिहास मानने के योग्य है श्रन्य नहीं। इस सुत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने श्राप्त का लच्चाण कहा है जो कि साचात सब पदार्थविद्यात्र्यों का जाननेवाला, कपट श्रादि दोपों से रहित धर्मात्मा है, कि जो सदा सत्यवादी, सत्यमानी श्रौर सत्यकारी है, जिसको पूर्ण विद्या से श्रात्मा में जिस प्रकार का ज्ञान है उसके कहने की इच्छा की प्रेरणा से सब मनुष्यों पर कृपादृष्टि से सब सुख होने के लिये सत्य उपदेश का करने वाला है, श्रौर जो पृथ्वी से ले के परमेश्वर पर्यन्त सब पदार्थों को यथावत् साद्यान् करना और उसी के अनुसार वर्त्तना इसी का नाम आप्ति है, इस आप्ति से जो युक्त हो उसको आप्त कहते हैं। उसी के उपदेश का प्रमाण होता है, इससे विपरीत मनुष्य का नहीं, क्योंकि सत्य वृत्तान्त का ही नाम इति-हास है, अनृत का नहीं। सत्यप्रमाणयुक्त जो इतिहास है वही सब मनुष्यों को प्रहुण करने के योग्य है इससे विपरीत इतिहास का प्रहण करना किसी को योग्य नहीं, क्योंकि प्रमादी पुरुष के मिण्या कहने का इतिहास में प्रहण ही नहीं होता। इसी प्रकार व्यासजी ने चारों वेदों की संहितात्रों का संप्रह किया है इत्यादि इतिहासों को भी मिध्या ही जानना चाहिये। जो श्राजकल के बने ब्रह्मयेवर्त्तादि पुराण और ब्रह्मयामल श्रादि तन्त्र-यन्थ हैं इन में कहे इतिहासों का प्रमाण करना किसी मनुष्य को योग्य नहीं, क्योंकि इनमें असम्भव श्रौर श्रप्रमाण कपोलकल्पित मिथ्या इतिहास बहुत लिख रक्खे हैं श्रीर जो सत्ययन्थ शतपथ ब्राह्मणादि हैं उनके इतिहासों का कभी त्याग नहीं करना चाहिये।

यो मन्त्रस्कानामृपिर्लिखितस्तेनैव तद्रचितमिति कुतो न स्यात् १ मैवं वादि । ब्रह्मादिभिरपि वदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात् । यो वै ब्रह्माणं विद्धाति पूर्व

यो वै वेदांश्व प्रहिणोति तस्मै॰, इति श्वेताश्वतरोपिनिषदादिवचनस्य (श्व॰६। श्लो॰ १८) विद्यमानत्वात् । एवं यद्षींणाम्रुत्पत्तिरिप नासीत्तदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्त्तमानत्वात् । तद्यथा । श्रग्निवायुरिविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् । दुदोह् यज्ञसिद्धचर्थपृग्यज्ञः सामलत्त्रणम् ॥ १॥ श्र० १। श्लो० २३॥ श्रध्यापयामास पितृन् शिशुराङ्गिरसः कविः॥ श्र० २। श्लो० १५१॥ इति मनुसात्त्यत्वात् । श्रग्न्या-दीनां सकाशाद् ब्रह्मापि वेदानामध्ययनं चक्रेऽन्येषां व्यासादीनां तु का कथा ।

भ।षार्थ

प्र० — जो सूक्त और मन्त्रों के ऋषि लिखे जाते हैं उन्होंने ही वेद रचे हों ऐसा क्यों नहीं माना जाय ? । उ० — ऐसा मत कहो । क्योंकि ब्रह्मादि ने भी वेदों को पढ़ा है । सो खेताधतर आदि उपनिषदों में यह वचन है कि जिसने ब्रह्मा को उत्पन्न किया और ब्रह्मादि की मृष्टि की आदि में अग्नि आदि के द्वारा वेदों का भी उपदेश किया है उसी परमेधर के शरण को हम लोग प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार ऋषियों ने भी वेदों को पढ़ा है । क्योंकि जब मरीच्यादि ऋषि और व्यासादि मुनियों का जन्म भी नहीं हुआ। था उस समय में भी ब्रह्मादि के समीप वेदों का वर्त्तमान था । इस में मनु के श्लोकों की भी साची है कि पूर्वोक्त अग्नि वायु रिव और अङ्गरा से ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था । जब ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था तो व्यासादि और हम लोगों की तो कथा क्या ही कहनी है ।

कथं वेदः श्रुतिश्च द्वे नाम्नी ऋक्संहितादीनां जाते इति ? अर्थवशात् । (विद) ज्ञाने, (विद) सत्तायाम्, (विद्लृ) लाभे, (विद्) विचारणे, एतेम्यो इल्खेति स्त्रेण करणाधिकरणकारकयोर्घन्प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते । तथा (श्रु) अवणे, इत्यस्माद्धातोः करणकारके क्रिन्प्रत्यये कृते श्रुतिशब्दो व्युत्पद्यते। विद्दित जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दिन्त विन्दन्ते लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा, तथा विद्वांसध भवन्ति ते वेदाः । तथाऽऽदि-सृष्टिमारम्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्याः श्रुयन्तेऽनया सा श्रुतिः । न कस्यचिद्देहधारिणः सकाशात्कदाचित्कोपि वेदानां रचनं दृष्टवान् । कृतः । निरवयवेश्वराचेषां प्रादुर्भावात् । अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसस्तु निमित्तीभूता वेदप्रकाशा-र्थमीश्वरेण कृता इति विज्ञेयम् । तेषां ज्ञानेन वेदानामनुत्यत्तेः । वेदेषु शब्दार्थ-

सम्बन्धाः परमेश्वरादेव प्रादुर्भूताः तस्य पूर्णिविद्यावन्वात् । श्रतः किं सिद्धमिन-वायुरव्यिक्करोमनुष्यदेइधारिजीवद्वारेण परमेश्वरेण श्रुतिर्वेदः प्रकाशीकृत इति बोध्यम् ।

भाषार्थ

प्र०-वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहितात्रों के क्यों हुए हैं ?, उ०-न्न-र्थभेद से । क्योंकि एक (विद) धातु ज्ञानार्थ है, दूसरा (विद) सत्तार्थ है, तीसरे (विद्लु) का लाभ ऋर्थ है, चौथे (विद) का ऋर्थ विचार है। इन चार धातुऋों से करण श्रीर श्रधिकरणकारक में घब प्रत्यय करने से वेद-शब्द सिद्ध होता है। तथा (श्रु) धातु श्रवण त्रर्थ में है, इससे करणकारक में किन प्रत्यय के होने से श्रुति शब्द सिद्ध होता है। जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिन को पढ़ के विद्वान होते हैं, जिन से सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक २ सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक्संहितादि का वेद नाम है। वैसे ही सृष्टि के त्रारम्भ से त्राज पर्यन्त त्रौर ब्रह्मादि से लेके हम लोग पर्यन्त जि-ससे सब सत्य विद्यात्रों को सुनते त्राते हैं इससे वेदों का श्रुति नाम पड़ा है। क्योंकि किसी देहधारी ने वेदों के बनाने वाले को साचात कभी नहीं देखा, इस कारण से जाना गया कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं ख्रौर उनको सुनते सुनाते ही श्राज पर्यन्त सब लोग चले श्राते हैं। तथा श्राग्नि वायु त्रादित्य श्रीर श्रंगिरा इन चारों मनुष्यों को, जैसे वादित्र को कोई बजावे वा काठ की पुतली को चेष्टा करावे, इसी प्रकार ईश्वर ने उनको निमित्तमात्र किया था। क्योंकि उनके ज्ञान से वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई। किन्तु इससे यह जाना कि वेदों में जितने शब्द ऋर्थ और सम्बन्ध हैं वे सब ईश्वर ने ऋपने ही ज्ञान से उनके द्वारा प्रकट किये हैं।

वेदानाग्रुत्वचौ कियान्त वर्षाणि व्यतीतानि १ । अत्रोच्यते एको । वृन्दः, परण्वतिः कोटयो, उष्टौ लच्चाणि, द्विपञ्चाशत्सहस्राणि, नवशतानि, षट्सप्तातिश्रे-तावन्ति (१६६०८५२६७६) वर्षाणि व्यतीतानि, सप्तसप्ततितमोयं संवत्सरो वर्चत इति वेदितव्यम् । एतावन्त्येव वर्षाणि वर्चमानकल्पमृष्टेश्रेति । कथं विज्ञा-यते ह्येतावन्त्येव वर्षाणि व्यतीतानीति १ । अत्राह, स्यां वर्चमानायां मृष्टौ वैवस्व-तस्य सप्तमस्यास्य मन्वन्तरस्येदानीं वर्चमानत्वादस्मात्पूर्वं पष्णां मन्वन्तराणां व्य-

तीतत्वाचेति । तद्यथा—स्वायम्भवः, स्वारोचिष, श्रौत्तमि,स्तामसो, रैवत,श्रान्तुषो, वैवस्वतश्रेति सप्तते मनवस्तथा सावण्यादय श्रागामिनः सप्त चैते मिलित्वा
(१४) चतुर्दशैव भवन्ति । तत्रैकसप्तिश्रातुर्युगानि होकैकस्य मनोः परिमाणं
भवति । ते चैकस्मिन्त्राह्मदिने (१४) चतुर्दशश्रुक्तभोगा भवन्ति । एकसद्दसं
(१०००) चातुर्युगानि ब्राह्मदिनस्य परिमाणं भवति । ब्राह्मया रात्रेरपितावदेव
परिमाणं विज्ञेयम् । सृष्टेर्वर्त्तमानस्य दिनसंज्ञास्ति, प्रलयस्य च रात्रिसंज्ञति । श्रस्मिन्ब्राह्मदिने पद् मनवस्तु व्यतीताः, सप्तमस्य वैवस्वतस्य वर्त्तमानस्य मनोरप्टाविंशतितमोयं कलिर्वर्त्तते । तत्रास्य वर्त्तमानस्य कलियुगस्यतावन्ति (४६७६) चत्वारिसदस्नाणि, नवशतानि, पद्सप्ततिश्च वर्षाणि तु गतानि, सप्तसप्ततितमोयं संवत्सरो
वर्त्तते । यमार्या विक्रमस्यैकोनविंशतिशतं त्रयिंद्वशत्तमोत्तरं संवत्सरं वदन्ति ।

श्रत्र विषये प्रमा

ब्राह्मस्य तु चपाइस्य यत्प्रमाणं समासतः । एकैकराो युगानां तु क्रमशस्तिक्रवोधत ॥ १ ॥ चन्वार्घ्याद्दुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् । तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥ २ ॥ इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु ।
एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ३ ॥ यदेतत् पिरसंख्यातमादावेव
चतुर्युगम् । एतद्द्वादशसाहम्नं देवानां युगमुच्यत ॥ ४ ॥ दैविकानां युगानाः तु
सहस्रं पिरसंख्यया । ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेषं तावती रात्रिरेव च ॥ ४ ॥ तद्वे युगसहस्रान्तं
ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः । रात्रं च तावतीमेव तेऽहोरात्र्राविदो जनाः ॥ ६ ॥ यत्प्राग्बादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् । तदेकसप्तातिगुणं मन्वन्तरिमहोच्यते ॥७॥ मन्वन्तराण्यसंख्यानि सृष्टिः संहार एव च । क्रीडिक्वित्रत्कुरुते प्रमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८ ॥
मनु० श्रध्याये १ । श्लो० ६८-७३, ७६, ८० ॥

कालस्य परिमाणार्थं ब्राह्माहोरात्रादयः सुगमबोधार्थाः संज्ञाः क्रियन्ते । यतः सहजतया जगदुत्पत्तिप्रलययोर्वपीणां वेदोत्पत्तेश्च परिगणनं भवेत् । मन्वन्तरपर्ध्यान् वृत्तौ सृष्टेनैंमित्तिकगुणानामपि पर्य्यावर्त्तनं किश्चित् किंचिद्धवत्यतो मन्वन्तरसंज्ञा क्रियते । श्रत्रेवं संख्यातव्यम् । एकं दशशतं चैव सहस्रमयुतं तथा । लत्तं च नियुतं चैव कोटिरर्बुद्मेव च ॥ १ ॥ वृत्दः सर्वो निखर्वश्च शङ्कः पद्मं च सागरः । अन्त्यं मध्यं पगद्धर्यं च दशवृद्धन्या यथाक्रमम् ॥ २ ॥ इति स्र्यसिद्धान्तादिषु

संख्यायते । स्रन्या रीत्या वर्षादिगण्ना कार्येति ॥ सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि ॥ य० स्र० १४ । मं० ६४ ॥ सर्व व सहस्रं सर्वस्य दातासि ॥ श० कां० ७ । स्र० ४ । ब्रा० २ । किण्डिका १३ ॥ सर्वस्य जगतः सर्वमिति नामास्ति । कालस्य चानेन सहस्रमहायुगसंख्यया परिमितस्य दिनस्य नक्षस्य च ब्रह्माण्डस्य प्रमा परिमाण्स्य कर्ता परमेश्वरोस्ति, मन्त्रस्यास्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वात्सर्वमिनवदतीति । एवमेवाग्नेपि योजनीयम् । ज्योतिष्शास्त्रे प्रतिदिनचर्याऽभिहिताऽऽऽर्योः च्रणमारम्य कल्पकल्पान्तस्य गणितविद्यया स्पष्टं परिगण्नं कृतमद्यपर्यन्तमि क्रियते प्रतिदिनम्रचार्यते ज्ञायते चातः कारणादियं व्यवस्थेव सर्वर्मनुष्येः स्वीकर्तं योग्यास्ति नान्येति निश्चयः । कृतो ब्रार्थोर्नित्यमोतत् सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्द्धे वैवस्वते मन्यन्तरेष्टाविश्चित्तमे कालियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमासपचिदिननचत्रलग्नम् मुहर्तेऽत्रेदं कृतं कियते चेत्यावालवृद्धेः प्रत्यहं विदितत्वादितिहासस्यास्य सर्वत्रार्थान्वत्तेदेशे वर्त्तमानत्वात्सर्वत्रैकरसत्वादशक्येयं व्यवस्था केनापि विचालियतुमिति विज्ञायताम् । स्रन्यद्यगच्याच्यान्यगे करिष्यते तत्र द्रष्टव्यम् ।

भाषार्थ

प्रश्न—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष होगये हैं १, उत्तर—एक वृन्द, छानवे करोड़, ब्राठ लाख, वावन हज़ार, नवसी, छहत्तर अर्थात् (१६६०८५२६०६) वर्ष वेदों की श्रीर जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं श्रीर यह संवत् सतहत्तरवां (७७) वर्त्त रहा है। प्र०-यह कैसे निश्चय हो कि इतने ही वर्ष वेद श्रीर जगत् की उत्पत्ति में वीत गये हैं १। उ०-यह जो वर्त्तमान मृष्टि है इसमें सातवें (७) वैवस्वतमनु का वर्त्तमान है, इससे पूर्व छ: मन्वन्तर हो चुके हैं। स्वायम्भव १, स्वारोचिष २, श्रीत्तमि ३, तामस ४, रवत ५, चानुप ६, ये छ: तो वीतगये हैं श्रीर ७ (सातवां) वैवस्वत वर्त्त रहा है, श्रीर सावार्णि श्रादि ७ (सात) मन्वन्तर श्रागे भोगेंगे। ये सब मिलके १४ मन्वन्तर होते हैं। श्रीर एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर घरा गया है। सो उसकी गणना इस प्रकार से हैं कि (१७२८०००) सत्रह लाख, श्रानवे हज़ार वर्षों का नाम सतयुग रक्खा है। (१२६६०००) बारह लाख, छानवे हज़ार वर्षों का नाम त्रेता। (८६४०००) श्राठ लाख, चौंसठ हजार वर्षों का नाम द्वापर श्रीर (४३२०००) चार लाख, वत्तीस हजार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा है।

तथा आय्यों ने एक च्रण और निमेष से लेके एक वर्ष पर्यन्त भी काल की सूच्म श्रौर स्थूल संज्ञा बांधी है। श्रौर इन चारों युगों के (४३२००००) तितालीस लाख, बीस हजार वर्ष होते हैं जिनका चतुर्युगी नाम है। एकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के श्रर्थात् (२०६७२००००) तसि करोड़, सरसठ लाख, बीस हजार वर्षों की एक मन्बन्तर संज्ञाकी है त्रौर ऐसे २ छ: मन्बन्तर मिल कर त्र्रार्थात् (१८४०३२००००) एक म्रार्ब, चौरासी करोड़, तीन लाख, बीस हजार वर्ष हुए म्रीर सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (२८) श्रद्राईसवीं चतुर्युगी है । इस चतुर्युगी में कलियुग के (४९७६) चार हजार, नवसौ, छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है श्रौर वाकी (४२७०२४) चार लाख, सत्ताईस हजार, चौबीस वर्षों का भोग होनेवाला है। जानना चाहिये कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़, पांच लाख, बत्तीस हजार, नवसौ, छहत्तर वर्ष तो वैवस्वतमनु के भोग हो चुके हैं त्र्रौर (१८६१८७०२४) श्रठारह करोड़, एकसठ लाख, सत्तासी हजार, चौबीस वर्ष भोगने के बाकी रहे हैं। इन में से यह वर्त्तमान वर्ष (७७) सतहत्तरवां है, जिस को श्रार्थ्य लोग विक्रम का (१६३३)उन्नीससौ तेती-सवां संवत् कहते हैं। जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये हैं उन एक हजार चतुर्युगियों की ब्राह्मादिन संज्ञा रक्खी है त्र्यौर उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रि संज्ञा जानना चाहिये। सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हजार चतुर्युगी पर्यन्त ईश्वर इस को बना रखता है इसी का नाम ब्राह्मदिन रक्खा है और हजार चतुर्युगी पर्यन्त सृष्टि को मिटा के प्रलय श्रर्थात् कारण में लीन रखता है उसका नाम ब्राह्मरात्रि रक्खा है। श्रर्थात् मृष्टि के वर्त्तमान होने का नाम दिन श्रौर प्रलय होने का नाम रात्रि है। यह जो वर्त्तमान ब्राह्मदिन है इसके (१८६०८५२६७६) एक अर्ब, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नवसौ, छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में भी व्यतीत हुए हैं श्रोर (२३३३२२०२४) दो श्रर्व, तेतीस करोड़, बत्तीस लाख, सत्ताईस हजार, चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे हैं। इनमें से श्रन्त का यह चौबीसवां वर्ष भोग रहा है। श्रागे श्रानेवाले भोग के वर्षों में से एक २ घटाते जाना श्रीर गत वर्षों में क्रम से एक २ वर्ष मिलाते जाना चाहिये, जैसे आजपर्यन्त घटाते बढ़ाते आये हैं। ब्राह्मदिन और ब्राह्मरात्रि अर्थात् ब्रह्म जो परमेश्वर उसने संसार के वर्त्तमान श्रौर प्रलय की संज्ञा की है इसीलिये इसका नाम ब्राह्मदिन है। इसी प्रकरण में मनुस्मृति के श्लोक साची के लिये लिख चुके

हैं सो देख लेना। इन ऋोकों में देववर्षों की गणना की है ऋर्थात् चारों युगों के बारह हजार (१२०००) वर्षों की देवयुग संज्ञा की है । इसी प्रकार ऋसंख्यात मन्वन्तरों में कि जिनकी संख्या नहीं हो सकती अनेक वार सृष्टि हो चुकी है और श्रनेक वार होगी। सो इस मृष्टि को सदा से सर्वशिक्तमान् जगदीश्वर सहज स्वभाव से रचता, पालन श्रीर प्रलय करता है श्रीर सदा ऐसे ही करेगा। क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति, वर्तमान, प्रलय श्रोर वंदों की उत्पत्ति के वर्षों को मनुष्य लोग सुख से गिन लें इसीलिये यह ब्राह्मदिन आदि संज्ञा बांधी है। श्रीर सृष्टि का स्वभाव नया पुराना प्रतिमन्वन्तर में बदलता जाता है, इसीलिये मन्वन्तर संज्ञा बांधी है। वर्त-मान मृटि की कल्पसंज्ञा ऋौर प्रलय की विकल्पसंज्ञा की हैं। ऋौर इन वर्षों की गणना इस प्रकार से करना चाहिये कि (एकं दशशतं चैव) एक (१), दश (१०), शत (१००), हजार (१०००), दशहजार (१००००), लाख (१००००), नियुत्त (१०००००), करोड़ (१००००००), ऋर्बुद (१०००,००००), बृन्द् (१००००००००), खर्व (१००००००००), निसर्व (१००००००००), शंख (१०००००००००), पद्म (१००-००००००००), सागर (१००००००००००), श्रन्य (१०००-०००००००००), मध्य (१००००००००००) श्रीर पराद्धर्च १००००००००००००००००००), ऋौर दश २ गुणा बढ़ाकर इसी गणित से सूर्यसिद्धान्त त्र्यादि ज्योतिष्प्रन्थों में गिनती की हैं । (सहस्रस्यप्र०) सब संसार की सहस्र संज्ञा है तथा पूर्वोंक ब्राह्मदिन श्रौर रात्रि की भी सहस्रसंज्ञा लीजाती है. क्योंकि यह मन्त्र सामान्य ऋर्थ में क्त्तमान है। सो हे परमेश्वर ! ऋाप इस हजार चतुर्युगी का दिन और रात्रि को प्रमाण अर्थात् निर्माण करने वाले हो । इस प्रकार ज्योतिष्शास्त्र में यथावत् वर्षों की संख्या आर्य लोगों ने गिनी है। सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके आज पर्यन्त दिन २ गिनते और च्रण से लेके कल्पान्त की गणित-विद्या को प्रसिद्ध करते चले त्राते हैं त्र्यर्थात् परम्परा से सुनते सुनाते लिखते लिखाते और पढ़ते पढ़ाते आज पर्यन्त हम लोग चले आते हैं। यही व्यवस्था मृष्टि श्रौर वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की ठीक है श्रौर सब मनुष्यों को इसी को प्रहरा करना योग्य है। क्योंकि आर्य्य लोग नित्यप्रति ''श्रों तत्सत'' परमेश्वर

^{*} कहीं २ इसी संख्या को १६ (उद्यास) छड्ड पर्यन्त गिनते हैं सो यहां भी जान खेना।

के इन तीन नामों का प्रथम उचारण करके कार्यों का आरम्भ श्रौर परमेश्वर का ही नित्य धन्यवाद करते चले आते हैं कि आनन्द में आज पर्यन्त परमेश्वर की सृष्टि श्रीर हम लोग बने हुए हैं, श्रीर बही खाते की नाई लिखते लिखाते पढ़ते पढ़ाते चले आये हैं कि पूर्वोक ब्राह्मदिन के दूसरे प्रहर के ऊपर मध्याह्न के निकट दिन श्राया है श्रीर जितने वर्ष वैवस्वतमनु के भीग होने को बाकी हैं उतने ही मध्याह में बाकी रहे हैं, इसीलिये यह लेख है (श्री ब्राह्मणो द्वितीय प्रहरार्द्धे०)। यह वैवस्वतमनु का वर्त्तमान है, इस के भोग में यह (२८) श्रष्टाईसवां कलियुग है। कलियुग के प्रथम चरण का भोग हो रहा है तथा वर्ष ऋतु श्रयन मास पच्च दिन नक्तत्रं मुहूर्त लग्न श्रीर पल श्रादि समय में हमने फलाना काम किया था श्रीर करते हैं श्रर्थात् जैसे विक्रम के संवत् १६३३ फाल्गुन मास, कृष्णपत्त, षष्ठी, शनिवार के दिन, चतुर्थ प्रहर के आरम्भ में यह बात हम ने लिखी है। इसी प्रकार से सब व्यवहार आर्य लोग बालक से वृद्ध पर्य्यन्त करते और जानते चले आये हैं। जैसे बही खाते में मिती डालते हैं वैसे ही महीना श्रीर वर्ष बढ़ाते घटाते चले जाते हैं। इसी प्रकार आर्थ्य लोग तिथिपत्र में भी वर्ष, मास और दिन श्रादि लिखते चले श्राते हैं, श्रीर यही इतिहास श्राज पर्यन्त सब श्रार्था-वर्त्त देश में एकसा वर्त्तमान हो रहा है त्र्यौर सब पुस्तकों में भी इस विषय में एक ही प्रकार का लेख पाया जाता है, किसी प्रकार का इस विषय में विरोध नहीं है । इसी-लिये इसको अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य नहीं हो सकता। क्योंकि जो सुष्टि की उत्पत्ति से ले के बराबर मितीवार लिखते न त्राते तो इस गिनती का हिसाब ठीक २ श्रार्घ्य लोगों को भी जानना कठिन होता, श्रन्य मनुष्यों का तो क्या ही कहना है। श्रीर इससे यह भी सिद्ध होता है कि सृष्टि के श्रारम्भ से ले के श्राज पर्यन्त श्रार्घ्य लोग ही बड़े २ विद्वान श्रीर सभ्य होते चले श्राये हैं। जब जैन श्रीर मुसलमान श्रादि लोग इस देश के इतिहास श्रीर विद्यापुस्तकों का नाश करने लगे तब श्रार्घ्य लोगों ने सृष्टि के गिएत का इतिहास कण्ठस्थ कर लिया श्रौर जो पुस्तक ज्योतिष्शास्त्र के बच गये हैं उन में श्रीर उनके श्रनुसार जो वार्षिक पञ्चाङ्गपत्र बनते जाते हैं इन में भी मिती से मिती बराबर लिखी चली आती है, इसको अन्यथा कोई नहीं कर सकता । यह वृत्तान्त इतिहास का इसलिये है कि पूर्वापर काल का प्रमाण यथावत् सब को विदित रहे श्रीर सृष्टि की उत्पात्ति प्रलय तथा वेदों की उत्पात्ति के वर्षी की

गिनती में किसी प्रकार का भ्रम किसी को न हो। सो यह बड़ा उत्तम काम है। इस को सब लोग यथावत् जान लेवें। परन्तु इस उत्तम व्यवहार को लोगों ने टका कमाने के लिये बिगाड़ रक्खा है। यह शोक की बात है। श्रोर टके के लोभ ने भी जो इस के पुस्तकव्यवहार को बना रक्खा नष्ट न होने दिया यह बड़े हर्ष की बात है। चारों युगों के चार भेद श्रीर उनके वर्षों की घट बढ़ संख्या क्यों हुई है इसकी व्याख्या श्रागे करेंगे वहां देख लेना चाहिये, यहां इस का प्रसंग नहीं है इसलिये नहीं लिखा।

एतावता कथनेनेवाध्यापकैर्विलसनमोत्तम् लराद्यभिषेपूरोपाख्यखण्डस्थैमेनु-ष्यरचितो वेदोस्ति श्रुतिनीस्तीति यदुक्तं, यचोक्तं चतुर्विशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशदेक-त्रिंशच शतानि वर्षाणि वेदोत्पत्तौ व्यतीतानीति तत्सर्वं अमम् लमस्तीति वेद्यम् । तथैव प्राकृतभाषया व्याख्यानकारिभिरप्येवमुक्तं तदिप श्रान्तमेवास्तीति च ।

इति वेदोत्पत्तिविचारः

भाषार्थ

इससे जो अध्यापक विलसन साहव श्रौर श्रध्यापक मोत्तमूलर साहब श्रादि यूरोपखण्डवासी विद्वानों ने बात कही है कि वेद मनुष्य के रचे हैं किन्तु श्रुति नहीं है, उनकी यह बात ठीक नहीं है। और दूसरी यह है--कोई कहता है (२४००) चौबीस सौ वर्ष वेदों की उत्पात्त को हुए, कोई (२६००) उनतीस सौ वर्ष, कोई (३०००) तीन हजार वर्ष श्रीर कोई कहता है (३१००) एकतीस सौ वर्ष वेदों को उत्पन्न हुए बीते हैं, इनकी यह भी बात भूठी है। क्योंकि उन लोगों ने हम श्रार्थ्य लोगों की नित्यप्रति की दिनचर्या का लेख और संकल्पपठनविद्या को भी यथावत न सुना श्रीर न विचारा है, नहीं तो इतने ही विचार से यह भ्रम उन को नहीं होता । इससे यह जानना अवश्य चाहिये कि वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही हुई है श्रीर जितने वर्ष अभी ऊपर गिन आये हैं उतने ही वर्ष वेदों और जगत की उत्पत्ति में भी हो चुके हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जिन २ ने श्रपनी २ देशभाषाओं में अन्यथा व्याख्यान वेदों के विषय में किया है उन २ का भी व्याख्यान मिध्या है । क्योंकि जैसा प्रथम लिख श्राये हैं जब पर्यन्त हजार चतुर्युगी व्यतीत न हो चुकेंगी तब पर्यन्त ईश्वरोक्त वेद का पुस्तक, यह जगत् श्रौर हम सब मनुष्य लोग भी ईश्वर के अनुप्रह से सदा वर्त्तमान रहेंगे। इति वेदोत्पश्तिविचारः

अथ वेदानां नित्यत्वविचारः

0000000000

ईश्वरस्य सकाशाद्वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति, तस्य सर्व-सामर्थ्यस्य नित्यत्वात्।

भाषार्थ

श्रव वेदों के नित्यत्व का विचार किया जाता है, सो वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं इससे वे स्वत: नित्यस्वरूप ही हैं, क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है।

श्रत्र कोचिदाहुः । न वेदानां शब्दमयत्वान्नित्यत्वं सम्भवति । शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात् । घटवत् । यथा घटः कृतोस्ति तथा शब्दोपि । तस्मान्छब्दानित्यत्वे वेदानामप्यनित्यत्वं स्वीकार्य्यम् । मैवं मन्यताम् । शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात् । ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति ते नित्या भवितुमर्हन्ति । येऽस्मदादीनां वर्त्तन्ते ते तु कार्य्याश्च । कृतः । यस्य ज्ञानिक्रये नित्ये स्वभावसिद्धे श्रनादीस्तस्तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति । तिष्ट्यामयत्वाद्वेदानामनित्यत्वं नैव घटते ॥

भाषार्थ

प्र०-इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसी शङ्का करते हैं कि वेदों में शब्द, छन्द, पद और वाक्यों के योग होने से नित्य नहीं हो सकते। जैसे विना बनाने से घड़ा नहीं बनता इसी प्रकार से वेदों को भी किसी ने बनाया होगा। क्योंकि बनाने के पिहले नहीं थे और प्रलय के अन्त में भी न रहेंगे, इससे वेदों को नित्य मानना ठीक नहीं है ?। उ०—ऐसा आपको कहना उचित नहीं, क्योंकि शब्द दो प्रकार का होता है एक नित्य और दूसरा कार्य। इनमें से जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में हैं वे सब नित्य ही होते हैं, और जो हम लोगों की कल्पना से उत्पन्न होते हैं वे कार्य्य होते हैं। क्योंकि जिसका ज्ञान और किया स्वभाव से सिद्ध और अनादि है उसका सव सामर्थ्य भी नित्य ही होता है, इससे वेद भी उसकी विद्यास्वरूप होने से नित्य ही हैं, क्योंकि ईश्वर की विद्या अनित्य कभी नहीं हो सकती।

कि च भोः सर्वस्यास्य जगनो विभागं प्राप्तस्य कारण्रूपिस्थतौ सर्वम्थूल-कार्याभावे पठनपाठनपुस्तकानापभावात्कथं वेदानां नित्यत्वं स्वीक्रियते १, अत्रो-च्यते । इदं तु पुस्तकपत्रमसीपदार्थादिषु घटते, तथास्मत् क्रियापत्ते च, नेतरिसमन् । अतः कारणादीश्वरिवद्यामयत्वेन वेदानां नित्यत्वं वयं मन्यामहे । किं च न पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वे वेदानित्यत्वं जायते । तेषामीश्वरज्ञानेन सह सदैव विद्यमानत्वात् । यथास्मिन्कल्पे वेदेषु शब्दाचरार्थसंबंधाः सन्ति तथैव पूर्वमासम्बग्ने भविष्यन्ति च । क्रतः । ईश्वरिवद्याया नित्यत्वाद्व्याभिचारित्वाच्च । अत्र एवेद्यक्तन् मृथ्वेदे । स्वर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयदिति ॥ अस्यायमर्थः । स्वर्यचन्द्रमप्र ग्रहण्यपुपलच्चणार्थं, यथा पूर्वकल्पे सूर्यचन्द्रादिरचनं तस्य ज्ञानमध्ये द्यासित्येव तेनास्मिन्कल्पेपि रचनं कृतमस्तीति विज्ञायते । कुतः । ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिच्चपि स्विकार्यः, वेदानां तेनेव स्विवद्यातः सृष्टत्वात् ।

भाषार्थ

प्र०—जब सब जगत् के परमाणु अलग २ हो के कारणरूप हो जाते हैं तब जो कार्यरूप सब स्थूल जगत् हैं उसका अभाव होजाता है, उस समय बेदों के पुस्तकों का भी अभाव होजाता है, फिर बेदों को नित्य क्यों मानते हो ?, उ० — यह बात पुस्तक, पत्र, मसी और अत्तरों की बनावट आदि पत्त में घटती है, तथा हम लोगों के क्रियापत्त में भी बन सकती है, वंदपत्त में नहीं घटती। क्योंकि वेद तो शब्द, अर्थ और सम्बन्धस्यरूप ही हैं, मसी काग्रज पत्र पुस्तक और अत्तरों की बनावटरूप नहीं हैं। यह जो मसिलेखनादि किया है सो मनुष्यों की बनाई है, इससे यह अनित्य है, और ईश्वर के ज्ञान में सदा बने रहने से वेदों को हम लोग नित्य मानते हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि पढ़ना पढ़ाना और पुस्तक के आनित्य होने से वेद अनित्य नहीं हो सकते, क्योंकि वे बीजाङ्कुरन्याय से ईश्वर के ज्ञान में नित्य वर्त्तमान रहते हैं। सृष्टि की आदि में ईश्वर से वेदों की प्रसिद्धि होती है और प्रलय में जगत् के नहीं रहने से उनकी अप्रसिद्धि होती है, इस कारण से वेद नित्यस्वरूप ही बने रहते हैं। जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द, अत्तर, अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं इसी प्रकार से पूर्वकल्प में थे और आगेर

भी होंगे, क्योंकि जो ईश्वर की विद्या है सो नित्य एक ही रस बनी रहती है उनके एक अन्तर का भी विपरीत भाव कभी नहीं होता। सो ऋग्वेद से लेके चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की हैं कि इनमें शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, पद और अन्तरों का जिस कम से वर्त्तमान है इसी प्रकार का कम सब दिन बना रहता है, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है, उसकी वृद्धि न्य और विपरीतता कभी नहीं होती, इस कारण से वेदों को नित्यस्वरूप ही मानना चाहिये।

श्रत्र वेदानां नित्यत्वे व्याकरणशास्त्रादीनां साच्यर्थं प्रमाणानि लिख्यन्ते । तत्राह महाभाष्यकारः पतञ्जलिम्रानिः ॥ नित्याः शब्दा नित्येषु शब्देषु कृटस्थैर-विचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिरिति । इदं वचनं प्रथमाह्विकमारभ्य बहुषु स्थलेषु व्याकरणमहाभाष्येस्ति । तथा श्रोत्रोपलिब्धर्बुद्धिनिर्प्राह्यः प्रयोगेणा-भिज्वलित श्राकाशदेशः शब्दः । इदम्, श्रद्धउण् स्त्रभाष्ये चोक्रमिति । श्रस्या-यमर्थः । वैदिका लौकिकाश्र सर्वे शब्दा नित्याः सन्ति । कृतः । शब्दानां मध्ये कृटस्था विनाशरहिता श्रचला श्रनपाया श्रनुपजना श्रविकारिणो वर्णाः सन्त्यतः । श्रपायो लोपो निवृत्तिरग्रहणम् । उपजन श्रागमः । विकार श्रादेशः । एते न विद्यन्ते येषु शब्देषु तस्माकित्याः शब्दाः ।

भाषार्थ

यह जो वेदों के नित्य होने का विषय है इस में ज्याकरणादि शास्त्रों का प्रमाण साची के लिये लिखते हैं। इन में से जो ज्याकरण शास्त्र है सो संस्कृत और भाषाओं के सब शब्दिवाा का मुख्य मूल प्रमाण है। उसके बनाने वाले महामुनि पाणिनि और पतञ्जलि हैं। उन का ऐसा मत है कि सब शब्द नित्य हैं, क्योंकि इन शब्दों में जितने अचरादि अवयव हैं वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाशरहित हैं, और वे पूर्वापर विचलते भी नहीं, उन का अभाव वा आगम कभी नहीं होता। तथा कान से सुन के जिन का प्रहण होता है, बुद्धि से जो जाने जाते हैं, जो वाक् इन्द्रिय से उच्चारण करने से प्रकाशित होते हैं, और जिनका निवास का स्थान आकाश है उनको शब्द कहते हैं। इससे वैदिक अर्थात् जो वेद के शब्द और वेदों से जो शब्द लोक में आये हैं वे लोकिक कहाते हैं वे भी सब नित्य ही होते हैं, क्योंकि उन शब्दों के मध्य में सब वर्ण अविनाशी और अचल हैं, तथा इन में लोप, आगम और विकार नहीं बन सकते इस कारण से पूर्वोक्त शब्द नित्य हैं।

नतु गणपाटाष्टाध्यायीमहाभाष्येष्वपायादयो विधीयन्ते पुनरेतत्कथं संगच्छ-ते १, इत्येवं प्राप्ते बूते महाभाष्यकारः । सर्वे सर्वपदादेशा दाचीपुत्रस्य पाणिनः । एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥ १ ॥ दाधाघ्वदावित्यस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनम् । श्रस्यायमर्थः । सर्वे संघाताः सर्वेषां पदानां स्थान श्रादेशा मवन्ति । त्र्यर्थाच्छब्दसंघातान्तराणां स्थानेष्वन्ये शब्दसंघाताः प्रयुज्यन्ते । तद्यथा। वेदपार । गम् । ड । सुँ । भू । शए । तिए इत्येतस्य वाक्यसम्रुदायस्य स्थाने वेदपारगोऽभवदितीदं सम्रुदायान्तरं प्रयुज्यते । ऋस्मिन्प्रयुक्तसम्रुदाये गम् ड सुँ शप् तिप् इत्येतेषाम् अप् द् उँ श प् इ प् इत्येतेऽपयन्तीति केषांचिद्बुद्धिर्भवति सा भ्रममूलैवास्ति । कुतः । शब्दानामेकदेशविकारे चेत्युपलचणात् । नैव शब्द-स्यैकदेशोपाय एकदेशोपजन एकदेशविकारिणि सति दाचीपुत्रस्य पाणिनेराचार्य-स्य मते शब्दानां नित्यत्वग्रुपपन्नं भवत्यतः । तथैवाडागमो, भू इत्यस्य स्थाने भो इति विकारे चैवं संगतिः कार्य्येति । (श्रोत्रोपलब्धिरिति) श्रोत्रेन्द्रियेण ज्ञानं यस्य, बुद्धचा नितरां ग्रहीतुं योग्य, उचारणेनाभिप्रकाशितो यो, यस्याकाशो देशोऽधिक-रणं वर्त्तते स शब्दो भवतीति बोध्यम् । श्रनेन शब्दलचणेनापि शब्दो नित्य ए-वास्तीत्यवगम्यते । कथम् । उच्चारणश्रवणादिप्रयत्नित्रयायाः चणप्रध्वंसित्वात् । एकैकवर्णवर्तिनी वाक् इति महाभाष्यणमाएयात् । प्रतिवर्णं वाक्तिया परिणमते, श्रतस्तस्या एवानित्यत्वं गम्यते न च शब्दस्येति ।

भाषार्थ

प्र०—गणपाठ श्रष्टाध्यायी श्रीर महाभाष्य में श्रचरों के लोप, श्रागम श्रीर विकार श्रादि कहे हैं फिर शब्दों का नित्यत्व कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्यकार पत्रञ्जित मुनि देते हैं कि शब्दों के समुदायों के स्थानों में श्रन्य शब्दों के समुदायों का प्रयोगमात्र होता है । जैसे वेदपारगम् ड सुँ भू शप् तिप् इस पदसमुदाय वाक्य के स्थान में वेदपारगोऽभयत् इस समुदायान्तर का प्रयोग किया जाता है । इस में किसी पुरुष की ऐसी बुद्धि होती है कि श्रम् इ उँ श्प् इ प् इन की निवृत्ति होजाती है सो उसकी बुद्धि में श्रममात्र है, क्योंकि शब्दों के समुदाय के स्थानों में दूसरे शब्दों के समुदायों के प्रयोग किये जाते हैं । सो यह मत दान्ती के पुत्र पाणिनिमुनिजी का है जिनने श्रष्टाध्यायी श्रादि व्याकरण के श्रन्थ किये हैं । सो मत इस प्रकार से है कि शब्द नित्य ही होते हैं, क्योंकि जो उन्चारण श्रोर श्रवणादि

हम लोगों की किया है उस के च्रायमङ्ग होने से श्रानित्य गिनी जाती है, इससे शब्द श्रानित्य नहीं होते, क्योंकि यह जो हम लोगों की वाणी है वही वर्ण २ के प्रति श्रान्य २ होती जाती है। परन्तु शब्द तो सदा श्राखण्ड एकरस ही बने रहते हैं।

नतु च भोः शब्दोप्युपरतागतो भवति । उच्चारित उपागच्छति । अनुच्चा-रितोऽनागतो भवति । वाक्कियावत् । पुनस्तस्य कथं नित्यत्वं भवेत् १ । अत्रो-च्यते । नाकाशवत् पूर्वास्थितस्य शब्दस्य साधनाभावादिभिव्यक्किभेवति । किन्तु तस्य माण्वाक्किययाभिव्यक्किश्व । तद्यथा । गौरित्यत्र यावद्वाग्गकारेस्ति न ताव-दौकारे, यावदौकारे न तावद्विसर्जनीये । एवं वाक्कियोच्चारणस्यापायोपजनौ भवतः, न च शब्दस्याखण्डकरसस्य, तस्य सर्वत्रोपलब्धत्वात् । यत्र खलु वायु-वाक्किये न भवतस्तत्रोच्चारणश्रवणे अपि न भवतः । अतः शब्दस्त्वाकाशवदेव सदा नित्योस्तीत्यादिव्याकरणमतेन सर्वेषां शब्दानां नित्यत्वमस्ति किनुत वैदिकानामिति ।

भाषार्थ

प्र०—शब्द भी उचारण किये के पश्चात् नष्ट होजाता है और उचारण के पूर्व सुना नहीं जाता है, जैसे उचारणिकया अनित्य है वैसे ही शब्द भी अनित्य हो सकता है, फिर शब्दों को नित्य क्यों मानते हो ?, उ०—शब्द तो आकाश की नाई सर्वत्र एकरस भर रहे हैं, परन्तु जब उचारणिकया नहीं होती तब प्रसिद्ध सुनने में नहीं आते । जब प्राण और वाणी की क्रिया से उचारण किये जाते हैं तब शब्द प्रसिद्ध होते हैं । जैसे गौ: इस के उचारण में जब पर्यन्त उचारणिक्रया गकार में रहती है तब पर्यन्त औकार में नहीं, जब आकार में है तब गकार और विसर्जनीय में नहीं रहती । इसी प्रकार वाणी की क्रिया की उत्पत्ति और नाश होता है शब्दों का नहीं । किन्तु आकाश में शब्द की प्राप्ति होने से शब्द तो अखरड एकरस सर्वत्र भर रहे हैं, परन्तु जब पर्यन्त वायु और वाक् इन्द्रिय की क्रिया नहीं होती तब पर्यन्त शब्दों का उचारण और श्रवण भी नहीं होता। इससे यह सिद्ध हुआ कि शब्द आकाश की नाई नित्य ही हैं। जब व्याकरण शास्त्र के मत से सब शब्द नित्य होते हैं तो वेदों के शब्दों की कथा तो क्या ही कहनी है, क्योंकि वेदों के शब्द तो सब प्रकार से नित्य ही वने रहते हैं।

एवं जैमिनिम्रुनिन।पि शब्दस्य नित्यत्वं प्रतिपादितम् । नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् । पूर्वभीमांसा, ऋ० १ । पा० १ । स० १८ ॥ ऋस्यायमर्थः ।
(तु) शब्देनानित्य गङ्का निवार्य्यते । विनाशरिहतत्वाच्छन्दो नित्योऽस्ति,
कस्माद्दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वात्,
शब्दस्यानित्यत्वं नैय भवति । ऋन्यथाऽयं गोशब्दार्थोऽस्तीत्यभिज्ञाऽनित्येन
शब्देन भवितुमयोग्यास्ति । नित्यत्वे सति ज्ञाप्यज्ञापकयोर्विद्यमानत्वात् सर्वमेतत्संगतं स्यात् । ऋतश्रेकनेय गोशब्दं युगपदनेकेषु स्थलेष्यनेक उच्चारका
उपलभन्ते पुनः पुनस्तमेय चेति । एवं जैमिनिना शब्दिनित्यत्वेऽनेके हेतवः
प्रदर्शिताः ।

भाषार्थ

इसी प्रकार जैमिनि मुनि ने भी शब्द को नित्य माना है। शब्द में जो श्रानित्य होने की शक्का आती है उसका (तु) शब्द से निवारण किया है। शब्द नित्य ही हैं अर्थात् नाशरहित हैं, क्योंकि उद्यारणिकिया से जो शब्द का श्रवण होता है सो श्रार्थ के जनाने ही के लिये हैं, इससे शब्द अनित्य नहीं हो सकता। जो शब्द का उच्चारण किया जाता है उसकी ही प्रत्यिभज्ञा होती है कि श्रोत्रद्वारा ज्ञान के बीच में वही शब्द स्थिर रहता है फिर उसी शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, जो शब्द आनित्य होता तो अर्थ का ज्ञान कौन कराता, क्योंकि वह शब्द ही नहीं रहा फिर अर्थ को कौन जनावे। और जैसे अनेक देशों में अनेक पुरुष एक काल में ही एक गो शब्द का उच्चारण करते हैं इसी प्रकार उसी शब्द का उच्चारण वारंवार भी होता है, इस कारण से भी शब्द नित्य हैं, जो शब्द अनित्य होता तो यह व्यवस्था कभी नहीं बन सकती। सो जैमिनि मुनि ने इस प्रकार के अनेक हेतुओं से पूर्वमी-मांसा शास्त्र में शब्द को नित्य सिद्ध किया है।

अन्य वैशेषिकस्रत्रकारः कणादम्रनिरप्यत्राह । तद्वचनादाम्नायस्य मामा-एयम् ॥ वैशेषिके, अ०१ । आ०१ । सू०३ ॥ अस्यायमर्थः । तद्वचनात्त्रयो-धेर्मेश्वरयोर्वचनाद्धर्मस्यैव कर्तव्यतया प्रतिपादनादीश्वरेणैवोक्नत्वाच्चाम्नायस्य वेदचतुष्टयस्य प्रामाएयं सर्वैर्नित्यत्वेन स्वीकार्यम् ।

भाषार्थ

इसी प्रकार वैशेषिकशास्त्र में कगादमुनि ने भी कहा है, (तद्वचना०)। वेद ईश्वरोक्त हैं, इनमें सत्य विद्या त्रीर पद्मपातगहित धर्म का ही प्रतिपादन है, इससे चारों वेद नित्य हैं। ऐसा ही सब मनुष्यों को मानना उचित है। क्योंकि ईश्वर नित्य है इससे उसकी विद्या भी नित्य है।

तथा स्वकीयन्यायशास्त्रे गोतमसुनिरप्यत्राह् । मन्त्रायुर्वेदप्रामाएयवच्चतत्प्रामाएयमाप्तप्रामाएयात् ॥ अ०२ । आ०१ । स०६७ ॥ अस्यायम्थः । तेषां
वेदानां नित्यानामीश्वरोक्षानां प्रामाएयं सर्वेः स्वीकार्य्यम् । कुतः १, आप्तप्रामाएयात् ।
धर्मात्मिभः कपटब्रलादिदोषरिहतैर्दयान्तुभिः सत्योपदेष्ट्रभिर्विद्यापारगैर्महायोगिभिः
सर्वेर्व्वद्यापिराप्तेर्वेदानां प्रामाएयं रवीकृतमतः । किंवत् १, मन्त्रायुर्वेदप्रामाएयवत् । यथा सत्यपदार्थविद्याप्रकाशकानां मन्त्राणां विचाराणां सत्यत्वेन प्रामाएयं
भवति । यथा चायुर्वेदोक्तग्येकदेशोक्तौपधसेवनेन रोगनिवृत्या तिक्ष्त्रस्यापि
भागस्य ताद्यस्य प्रामाएयं भवति । तथा वेदोक्तार्थरयेकदेश्यत्यचेणेतरस्यादृष्टार्थविषयस्य वेदभागस्याऽपि प्रामाएयमक्षीकार्य्यम् । एतत्स्वत्रस्योपिर भाष्यकारेण्
वात्स्यायनद्यनिनाप्येवं प्रतिपादितम् । द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याचानुमानम् । य एवाप्ता
वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्षारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनामिन्त्यायुर्वेदप्रामाएयविद्यन्धिमाएयमनुमातव्यमिति । नित्यत्वाद्यद्वाक्यानां प्रभाणत्वे तत्प्रामाएयमाप्तप्रामाएयादित्युक्रम् ॥ अस्यायमभिप्रायः । यथाप्तोपदेशस्य शब्दस्य प्रामाएयं भवति
तथा सर्वथाप्तेनेश्वरेणोक्षानां वेदानां सर्वराप्तः प्रमाएयेन।क्षीकृतत्वादेदाः प्रमाण्मिति बोध्यम् । अत ईश्वरविद्यामयत्वाद्वेदानांनित्यत्वमेवोपपक्तं भवतीति दिक्।

भाषार्थ

वैसे ही न्यायशास्त्र में गोतम मुनि भी शब्द को नित्य कहते हैं, (मन्त्रायु०)। वेदों को नित्य ही मानना चाहिये, क्योंकि मृष्टि के आरम्भ से लेके आज पर्यन्त ब्रह्मादि जितने आप्त होते आये हैं वे सब वेदों को नित्य ही मानते आये हैं। उन आप्तों का अवश्य ही प्रमाण करना चाहिये। क्योंकि आप्त लोग वे होते हैं जो धर्मातमा

^{}उपलभ्यमानेषु वास्त्यायनभाष्येषु 'दिःयुक्क्रिने,ति'' स्थाने ''दिःयुक्कमि''**ति पाठा वर्तते ॥

कपट छलादि दोषों से रहित सत्र विद्यात्रों से युक्त, महायोगी श्रीर सब मनुष्यों के सख होने के लिये सत्य का उपदेश करनेवाले हैं, जिनमें लेशमात्र भी पत्तपात वा मिथ्याचार नहीं होता । उन्होंने वेदों का यथावत् नित्य गुणों से प्रमाण किया है जिन्होंने आयुर्वेद को बनाया है। जैसे आयुर्वेद वैद्यक शास्त्र के एक देश में कहे आपिध श्रीर पथ्य के सेवन करने से रोग की निवृत्ति से सुख प्राप्त होता है, जैसे उसके एक देश के कहे के सत्य होने से उस के दूसरे भाग का भी प्रमाण होता है, इसी प्रकार वेदों का भी प्रमाण करना सब मनुष्यों को उचित है, क्योंकि वेद के एक देश में कहे श्चर्य का सत्यपन विदित होने से उससे भिन्न जो वेदों के भाग हैं कि जिन का श्चर्य प्रत्यज्ञ न हम्त्रा हो उनका भी नित्य प्रमाण त्र्रवश्य करना चाहिये, क्योंकि त्र्राप्त पुरुष का उपदेश मिथ्या नहीं हो सकता । (मन्त्रायु०) इस सूत्र के भाष्य में वा-त्स्यायन मुनि ने वेदों का नित्य होना स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि जो आप्त लोग हैं वे वेदों के ऋर्थ को देखने दिखाने ऋौर जनाने वाले हैं, जो २ उस २ मन्त्र के ऋर्थ के द्रष्टा वक्ता होते हैं वे ही त्रायुर्वेद त्रादि के बनानेवाले हैं। जैसे उन का कथन श्रायर्वेद में सहा है वैसे ही वेदों के नित्य मानने का उनका जो व्यवहार है सो भी सत्य ही है ऐसा मानना चाहिये । क्योंकि जैसे छाप्तों के उपदेश का प्रमाग अवश्य होता है वैसे ही सब आप्तों का भी जो परम आप्त सब का गुरु परमेश्वर है उस के किये वेदों का भी नित्य होने का प्रमाण अवश्य ही करना चाहिये।

श्रत्र विषये योगशास्त्रे पतञ्जिलिम्रुनिरप्याह । स एप पूर्वेषामि गुरुः काले-नानवच्छेदात् ॥ पातञ्जलयोगशास्त्रे, श्र० १। पा० १। स्० २६ ॥ यः पूर्वेषां मृष्ट्यादाबुत्पन्नानामिनवाय्यादित्याङ्गिरोब्रह्मादीनां प्राचीनानामस्मदादीनामिदा-नींतनानामग्रे भविष्यतां स सर्वेषामेव ईरवर एव गुरुरस्ति । गृणाति वेदद्वारोप-दिशति सत्यानर्थान् स गुरुः । स च सर्वदा नित्योस्ति । तत्र कालगतेरप्रचार-त्वात् । न स ईरवरो ह्यविद्यादिक्लेशैः पापकर्मिमस्तद्वासनया च कदाचिद्युक्तो भवति । यस्मिन् निरतिशयं नित्यं स्वाभाविकं ज्ञानमस्ति तदुक्रत्वाद्वेदानामिप सत्यार्थवक्त्वनित्यत्वे वेद्ये इति ।

भाषार्थ

इस विषय में योगशास्त्र के कर्त्ता पतञ्जिल मुनि भी वेदों को नित्य मानते हैं,

(स एष०)। जो कि प्राचीन ऋग्नि, वायु, ऋदित्य, ऋद्विरा ऋौर ब्रह्मादि पुरुष मृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे उन से लेके हम लोग पर्यन्त और हम से आगे जो होने वाले हैं इन सब का गुरु परमेश्वर ही है, क्योंकि वेदद्वारा सत्य आर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम गुरु है। सो ईश्वर नित्य ही है, क्योंकि ईश्वर में च्लादि काल की गित का प्रचार ही नहीं है और वह ऋविद्या ऋादि क्लेशों से और पापकमे तथा उनकी वासनाओं के भोगों से ऋलग है। जिस में ऋनन्त विज्ञान सर्वदा एकरस बना रहता है उसी के रचे वेदों का भी सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है, ऐसा ही सब मनुष्यों को जानना चाहिये।

एवमेव स्वकीयशांख्यशास्त्रे पञ्चमाध्याये किपलाचार्य्योप्यत्राह । निजशक्रय-भिन्यक्रेः स्वतःप्रामाण्यम् ॥ मू०५१॥ ऋस्यायमर्थः । वेदानां निजशक्रयभिन्यक्रेः पुरुषसहचारिप्रधानसामर्थ्यात् प्रकटत्वात्स्वतःप्रामाण्यनित्यत्वे स्वीकार्य्ये इति ।

भाषार्थ

इसी प्रकार से सांख्यशास्त्र में किपलाचार्य भी कहते हैं, (निज०)। परमेश्वर की (निज) त्र्यर्थात् स्वाभाविक जो विद्या शाक्षि है उससे प्रकट होने से वेदों का नित्यत्व त्र्यौर स्वतःप्रमाण सब मनुष्यों को स्वीकार करना चाहिये ।

श्रास्मन् विषये स्वकीयवेदान्तशास्त्रे कृष्णाद्वेपायनो व्यासम्रुनिरप्याह । शास्त्र-योनित्वात् ॥ श्र० १। मा० १। सू० ३ ॥ श्रम्यायमर्थः । ऋग्वेदादेः शास्त्रस्याने-किविद्यास्थानोपवृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । नहीद्दशस्य शास्त्रस्यर्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुपविशेषात्संभवति यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोष्यधिकतरविज्ञान इति सिद्धं लोके किम्रु वक्तव्य-मितीदं वचनं शङ्कराचार्य्येणास्य स्त्रस्योपि स्वकीयव्याख्याने गदितम् । श्रतः किमागतं, सर्वज्ञस्येश्वरस्य शास्त्रमि नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तं च । भवितुमर्हति । श्रन्यच्च । तस्मिक्नेवाध्याये । श्रतण्व च नित्यत्वम् ॥ पा० ३। स० २६ ॥ श्रस्या-यमर्थः । श्रत ईश्वरोक्तत्वाक्तित्यधर्मकत्वाद्वेदानां स्वतः प्रामाण्यं सर्वविद्यावत्त्वं सर्वेषु कालेष्वव्यभिचारित्वाकित्यस्यं च सर्वेर्मनुष्यमन्तव्यमिति सिद्धम् । न वेदस्य प्रामाण्यसिद्धचर्थमन्यत्प्रमाणं स्वीकियते । कित्वेतत्सान्विवद्विज्ञेयम् । वेदानां स्वतः-

प्रमाणत्वात्। सूर्यवत् । यथा सूर्यः स्वप्रकाशः सन् संसारस्थान्महतोऽल्पांश्च पर्वता-दीन् त्रसरेएवन्तान् पदार्थान्प्रकाशयति तथा वेदोपि स्वयं स्वप्रकाशः सन् सर्वा विद्याः प्रकाशयतीत्यवधेयम् ।

भाषार्थ

इसी प्रकार से वेदान्तशास्त्र में वेदों के नित्य होने के विषय में व्यासजी ने भी लिखा है, (शास्त्र)। इस सूत्र के ऋर्थ में शङ्कराचार्य्य ने भी वेदों को नित्य मान के व्याख्यान किया है कि ऋग्वेदादि जो चारों वेद हैं वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं, सूर्य्य के समान सब सत्य श्रर्थों के प्रकाश करने वाले हैं, उनका बनानेवाला सर्व-ज्ञादि गुणों से युक्त परब्रह्म है, क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञगुणयुक्त इन वेदों को बना सके ऐसा संभव कभी नहीं हो सकता। किन्तु वेदार्थविस्तार के लिये किसी जीवविरोप पुरुष से श्रान्य शास्त्र बनाने का संभव होता है। जैसे पाणिनि श्रादि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है। उन में विद्या के एक २ देश का प्रकाश किया है। सो भी वेदों के आश्रय से बना सके हैं। अौर जो सब विद्यात्रों से युक्त वेद हैं उन को सिवाय परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं बना सकता, क्योंकि परमेश्वर से भिन्न सब विद्यात्रों में पूर्ण कोई भी नहीं है। किञ्च परमेश्वर के बनाये वेदों के पढ़ने विचारने श्रीर उसी के श्रानुप्रह से मनुष्यों को यथाशाकि विद्या का वोध होता है, अन्यथा नहीं, ऐसा शंकराचार्य्य ने भी कहा है। इससे क्या आया कि वेदों के नित्य होने में सब आर्थ्य लोगों की साची है। और यह भी कारण है कि जो ईश्वर नित्य और सर्वज्ञ है उस के किये वेद भी नित्य और सर्वज्ञ होने के योग्य हैं, अन्य का बनाया ऐसा प्रन्थ कभी नहीं हो सकता। (अतएव०) इस सूत्र से भी यही ऋाता है कि वेद नित्य हैं। ऋौर सब सज्जन लोगों को भी ऐसा ही मानना उचित है। तथा वेदों के प्रमाण और नित्य होने में अन्य शास्त्रों के प्रमाणों को साची के समान जानना चाहिये, क्योंकि वे ऋपने ही प्रमाण से नित्य सिद्ध हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश में सूर्य का ही प्रमाण है अन्य का नहीं, श्रौर जैसे सूर्य्य प्रकाशस्वरूप है, पर्वत से लेके त्रसरेगा पर्यन्त पदार्थों का प्रकाश करता है वैसे वेद भी स्वयंप्रकाश हैं ऋौर सब सत्यिवद्याऋों का भी प्रकाश कर रहे हैं।

श्रतएव स्वयमीरवरः स्वप्रकाशितस्य वेदस्य स्वस्य च सिद्धिकरं प्रमाणमाइ।

सपर्यगाच्छ्कर्मकायम्ब्रणमस्नाविरश्रुगुद्धभपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयं-भूयीथातथ्यतोऽर्थोन् च्यद्धाच्द्राश्वतीस्यः समस्यः ॥ १ ॥ य० अ० ४० । मं० 🖒 ॥ त्र्यस्यायमभित्रायः । यः पूर्वोक्तः सर्वन्यापकत्वादिविशेषण्युक्त ईश्वरोस्ति (स, पर्य्यगात्) परितः सर्वतोऽगात् गतवान्त्राप्तवानीस्त, नैवैकः परमाणुरपि तबचाप्तचा विनास्ति, (शुक्रं) तद्ब्रह्म सर्वजगत्कर्त्तृवीर्यवदनन्तबलवदस्ति, (श्रकायं) तत्स्थृलद्यस्मकारणशरीरत्रयसम्बन्धरहितम्, (श्रव्रणं) नैवैतस्मिंशिछद्रं कर्तुं परमाणुरिप श्रेकोति, अतएव छेदरिहतत्वाद चतम्, (अस्नाविरं) तन्नादी-सम्बन्धरिहतत्वाद्धन्धनावरणविषुक्तम्, (शुद्धं) तदविद्यादिदोषेभ्यः सर्वदा पृथग्व-र्तमानम्, (त्र्रपापविद्धम्) नैव तत्पापयुक्तं पापकारि च कदाचिद्भवति, (कविः) सर्वज्ञः, (मनीषी) यः सर्वेषां मनसामीषी साची ज्ञातास्ति, (परिभूः) सर्वेपापु-परि विराजमानः, (स्वयंभूः) यो निमित्तोपादानसाधारणकारणत्रयरहितः, स एव सर्वेषां पिता, नह्यस्य कश्चित् जनका, स्वसामध्येन सहैव सदा वर्त्तमानोस्ति, (शाश्वतीभ्यः) य एवंभृतः सच्चिदानन्दस्वरूपः परमात्मा (सः) सर्गादौ स्वकीयाम्यः शाश्वतीम्यो निरन्तराभ्याः समाभ्यः प्रजाभ्यो याथातथ्यतो यथार्थ-स्वरूपेश वेदोपदेशेन (अर्थान् व्यद्धात्) विधत्तवानर्थाद्यदा यदा सृष्टिं करोति ्तदा तदा प्रजाभ्यो हितायादिसृष्टौ सर्वाविद्यासमन्वितं वेदशास्त्रं स एव भगवानुप-दिशति । श्रतएव नैव वेदानामनियत्त्वं केनापि मन्तव्यम् । तस्य विद्यायाः सर्वदैकरसवर्त्तमानत्वात् ।

माषार्थ

ऐसे ही परमेश्वर ने अपने और अपने किये वेदों के नित्य और स्वत:प्रमाण होने का उपदेश किया है सो आगे लिखते हैं। (स. पर्यगात) यह मन्त्र ईश्वर और उस के किये वेदों का प्रकाश करता है, कि जो ईश्वर सर्वव्यापक आदि विशेषण्युक्त है सो सब जगत् में परिपूर्ण हो रहा है। उस की व्याप्ति से एक परमाणु भी रहित नहीं है। सो ब्रह्म (शुक्रं) सब जगत् का करने वाला और अनन्त विद्यादि बल से युक्त है, (अकायं) जो स्थूल, सूदम और कारण इन तीनों शरीरों के संयोग से रहित है, अर्थात् वह कभी जन्म नहीं लेता, (अत्रणं) जिस में एक परमाणु भी छिद्र नहीं कर सकता, इसीसे वह सर्वथा छेदरहित है, (अस्नाविरं) वह नाड़ियों के बन्धन से अलग है जैसा वायु और रुधिर नाड़ियों में बंधा रहता है ऐसा बन्धन परमेश्वर में

नहीं होता, (शुद्धं) जो श्रविद्या श्रज्ञानादि क्तेश श्रौर सब दोषों से पृथक् है, (श्रपापिवद्धम्) सो ईश्वर पापयुक्त वा पाप करने वाला कभी नहीं होता क्योंकि वह स्वभाव से ही धर्मात्मा है, (किवः) जो सब का जानने वाला है, (मनीषी) जो सब का श्रन्तर्यामी है श्रौर भूत भाविष्यत् तथा वर्त्तमान इन तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जानता है (पिरमूः) जो सब के अपर विराजमान हो रहा है, (स्वयंमूः) जो कभी उत्पन्न नहीं होता श्रौर उसका कारण भी कोई नहीं, किन्तु वही सब का कारण, श्रनादि श्रौर श्रनन्त है, इससे वही सब का माता पिता है श्रौर श्रपने ही सत्य सामर्थ्य से सदा वर्त्तमान रहता है, इत्यादि लच्नणों से युक्त जो सिच्चदानन्दस्व-रूप परमेश्वर है (शाश्वतिभ्यः०) उसने मृष्टि की श्रादि में श्रपनी प्रजा को जो कि उसके सामर्थ्य में सदा से वर्त्तमान है उसके सब सुखों के लिये (श्रर्थान् व्यदधात्) सत्य श्रथों का उपदेश किया है। इसी प्रकार जब २ परमेश्वर सृष्टि को रचता है तब २ प्रजा के हित के लिये मृष्टि की श्रादि में सब विद्याश्रों से युक्त वेदों का भी उपदेश करता है श्रौर जब २ सृष्टि का प्रलय होता है तब २ वेद उसके ज्ञान में सदा बने रहते हैं, इससे उनको सदैव नित्य मानना चाहिये।

यथा शास्त्रप्रमाणेन वेदा नित्याः सन्तीति निश्चयोग्ति तथा युक्कचाणि । तद्यथा । नासत त्रात्मलाभो न सत त्रात्महानम्, योस्ति स भविष्यति । इति न्यायेन वेदानां नित्यत्वं स्वीकार्य्यम् । कुतः १, यस्य मूलं नास्ति नैव तस्य शास्तादयः संभविनुमर्हन्ति । बन्ध्यापुत्रविवाहदर्शनवत् । पुत्रो भवेश्वेत्तदा बन्ध्यात्वं न सिध्येतः, स नास्ति चेत्पुनस्तस्य विवाहदर्शने कथं भवतः । एवमे-वात्राणि विचारणीयम् । यदीश्वरे विद्यानन्ता न भवेत्कथम्रपदिशेत् । स नोपित्रेच्वेकेव कस्याणि मनुष्यस्य विद्यासंबन्धो दर्शनं च स्याताम् । निर्मूलस्य प्ररोहाभावात् । नह्यस्मिन् जगति निर्मूलस्य प्ररोहाभावात् । नह्यस्मिन् जगति निर्मूलस्य किन्चिद्दश्यते । यस्य सर्वेषां मनुष्याणां साचादनुभवोऽस्ति सोऽत्र प्रकाश्यते । यस्य प्रत्यचोऽनुभवस्तस्यैव संस्कारोः, यस्य संस्कारस्तस्यैव समरणं ज्ञानं, तेनैव प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतोः, नान्यथेति । तद्यथा । येन संस्कृतभाषा पट्यते तस्याऽस्या एव संस्कारो भवति नाऽन्यश्याः । येन देशभाषाऽधीयते (तस्य) तस्या एव संस्कारो भवति नातोऽन्यथा । एवं सृष्टचादावीश्वरोपदेशाऽध्यापनाभ्यां विना नैव कःयाणि विद्याया श्रवुभवः स्यात्, पुनः कथं संस्कारस्तेन विना कृतः स्मरण्यस्

न च स्मरखेन विना विद्याया लेशोपि कस्यचिद्धवितुमईति । भाषार्थ

जैसे शास्त्रों के प्रमाणों से वेद नित्य हैं वैसे ही युक्ति से भी उनका नित्यपन सिद्ध होता है, क्योंकि असत् से सत् का होना अर्थात् अभाव से भाव का होना कभी नहीं हो सकता, तथा सत् का श्रभाव भी नहीं हो सकता। जो सत्य है उसी से श्रागे प्रशास भी हो सकती है और जो वस्तु ही नहीं है उससे दूसरी वस्तु किसी प्रकार से नहीं हो सकती । इस न्याय से भी वेदों को नित्य ही मानना ठीक है, क्योंकि जिसका मूल नहीं होता है उसकी डाली, पत्र, पुष्प श्रौर फल श्रादि भी कभी नहीं हो सकते। जैसे कोई कहे कि बन्ध्या के पुत्र का विवाह मैंने देखा। यह उसकी बात श्रसम्भव है। क्योंकि जो उसके पुत्र होता तो वह बन्ध्या ही क्यों होती श्रौर जब पुत्र ही नहीं है तो उसका विवाह श्रीर दर्शन कैसे हो सकते हैं। वैसे ही जब ईश्वर में श्रनन्त-विद्या है तभी मनुष्यों को विद्या का उपदेश भी किया है और जो ईश्वर में अनन्त-विद्या न होती तो वह उपदेश कैसे कर सकता श्रीर वह जगत को भी कैसे रच सकता। जो मनुष्यों को ईश्वर श्रपनी विद्या का उपदेश न करता तो किसी मनुष्य को विद्या जो यथार्थ ज्ञान है सो कभी नहीं होता, क्योंिक इस जगत् में निर्मूल का होना वा बढ़ना सर्वथा त्रासम्भव है। इससे यह जानना चाहिये कि परमेश्वर से वेदविद्या मूल को प्राप्त होके मनुष्यों में विद्यारूप वृत्त विस्तृत हुत्र्या है। इस में त्र्यौर भी युक्ति है कि जिसका सब मनुष्यों को श्रानुभव श्रीर प्रत्यत्त ज्ञान होता है उसी का दृष्टान्त देते हैं। देखो कि जिसका साचात् अनुभव होता है उसी का ज्ञान में संस्कार होता है, संस्कार से स्मरण, स्मरण से इष्ट में प्रवृत्ति श्रौर श्रानिष्ट से निवृत्ति होती है श्रान्यथा नहीं । जो संस्कृत भाषा को पढ़ता है उसके मन में उसी का संस्कार होता है अन्य भाषा का नहीं और जो किसी देशभाषा को पढ़ता है उसको देशभाषा का संस्कार होता है अन्य का नहीं। इसी प्रकार जो वेदों का उपदेश ईश्वर न करता तो किसी मनुष्य को विद्या का संस्कार नहीं होता, जब विद्या का संस्कार न होता तो उसका स्मरण भी नहीं होता, स्मरण से विना किसी मनुष्य को विद्या का लेश भी न हो सकता। इस युक्ति से क्या जाना जाता है कि ईश्वर के उपदेश से वेदों को सुन के पढ़ के ऋौर विचार के ही मनुष्यों को विद्या का संस्कार त्र्याज पर्यन्त होता चला त्र्याया है त्र्यन्यथा कभी नहीं हो सकता।

किं च भोः, मनुष्याणां स्वाभाविकी या प्रवृत्तिर्भवति, तत्र सुखदुः खानु-भवश्र, तयोत्तरोत्तरकाले क्रमानुक्रमाद्धिद्यावृद्धिर्भाविष्यत्येव, पुनः किमर्थमीश्व-राद्वेदोत्पत्तेः स्वीकार इति ? । एवं प्राप्ते ब्रूमः एतद्वेदोत्पत्तिप्रकरणे परिहृतम् । तंत्रेष निर्णयः, यथानेदानीमन्येभ्यः पठनेन विना कश्चिदपि विद्वान् भवति तस्य ज्ञानोस्रतिश्र, तथा नैवेश्वरोपदेशागमनेन विना कस्यापि विद्याज्ञानोस्रतिर्भवत् । श्रशिचितवालकवनस्थवत् । यथोपदेशमन्तरा न वालकानां वनस्थानां च विद्या-मनुष्यभाषाविज्ञाने ऋषि भवतः पुनर्विद्योत्पत्तेस्तु का कथा । तस्माद्धियरादेव या वेदविद्याऽऽगता सा नित्येवास्ति, तस्य सत्यगुणवच्वात् । यन्नित्यं वस्तु वर्त्तते तस्य नामगुणुकर्माएयपि नित्यानि भवन्ति, तदाधारस्य नित्यत्वात् । नवाधिष्टानमन्तरा नामगुणकर्मादयो गुणाः स्थितिं लभन्ते, तेषां पराश्रितत्वात् । यन्नित्यं नास्ति न तस्यैतान्यपि नित्यानि भवन्ति । नित्यं चोत्पत्तिविनाशाभ्यामितरद्भवितुमईति । जत्पत्तिर्हि पृथग्भृतानां द्रव्याणां या संयोगविशेषाद्भवति । तेषाम्रत्पन्नानां कार्य्य-द्रव्याणां सति वियोगे विनाशश्च संघाताभावात् । अदर्शनं च विनाशः । ईश्वर-स्यैकरसत्वाञ्चेव तस्य संयोगवियोगाभ्यां संस्पर्शोपि भवति । त्रत्रत्र कणादग्रुनिकृतं स्त्रं प्रमाणमस्ति । सदकारणवित्रत्यम् ॥ १ ॥ वैशेपिके, ऋ० ४ । पा० ४ । सू० १।। श्रस्यायमर्थः । यत्कार्य्यं कारणादुत्पद्य विद्यमानं भवःति तद्नित्यग्रुच्यते, तस्य प्रागुत्पत्तेरभावात् । यत्तु कस्यापि कार्य्यं नैव भवति किन्तु सदैव कारण-रूपमेव तिष्ठति तिन्तरं कथ्यते । यद्यत्संयोगजन्यं तत्तत्कत्रेपेत्तं भवति, कत्तीपि संयोगजन्यश्रेत्ति तस्याप्यन्योन्यः कर्त्तास्तीत्यागच्छेत् । एवं पुनः प्रसङ्गा-दनवस्थापत्तिः । यद्य संयोगेन प्रादुर्भूतं नैव तस्य प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोग-करणे सामर्थ्यं भवितुमईति, तस्मात्तेषां स्रूत्तमत्वात् । यद्यस्मात्त्रूत्त्मं तत्तस्यात्मा भवति, स्थूले स्ट्मस्य प्रवेशाईत्वात्, अयोग्निवत् । यथा स्ट्मत्वाद्ग्निः कठिनं स्थुलमयः प्रविश्य तस्यावयवानां पृथम्भावं करोति, तथा जलमपि पृथिच्याः सू-च्मत्वात्तत्कर्णान् प्रविश्य संयुक्तमेकं पिएडं करोति, छिनत्ति च । तथा परमेश्वरः संयोगवियोगाभ्यां पृथग्भृतो विभ्ररस्त्यतो नियमेन रचनं विनाशं च कर्नुमईति, न चान्यथा । यथा संयोगवियोगान्तर्गतत्वाचास्मदादीनां प्रकृतिपरमाएवादीनां संयोगवियोगकरणे सामर्थ्यमस्ति । तथेश्वरेपि भवेत् । अन्यच्च । यतः संयोगवि-योगारम्भो भवति स तस्मात्पृथग्भृतोस्ति, तस्य संयोगवियोगारब्धस्यादिकारण-त्वात् । भादिकारणस्याभावात्संयोगवियोगारम्भस्यानुत्पत्तेश्च । एवंभृतस्य सदा- निर्विकारस्वरूपस्याजस्यानादेर्नित्यस्य सत्यसामर्थ्यस्येश्वरस्य सकाशाद्वेदानां प्रादु-भीवात्तस्य ज्ञाने सदैव वर्त्तमानत्वात्सत्यार्थवत्त्वं नित्यत्वं चतेषामस्तीति सिद्धम् ।

इति वेदानां नित्यत्वविचारः

भाषार्थ

प्र०-मनुष्यों की स्वभाव से जो चेष्टा है उस में सुख श्रौर दुःख का श्रनुभव भी होता है, उससे उत्तर २ काल में कमानुसार से विद्या की शृद्धि भी श्रवश्य होगी, तब वेदों को भी मनुष्य लोग रच लेंगे फिर ईश्वर ने वेद रचे ऐसा क्यों मानना ? । उ०-इस का समाधान वेदोत्पत्ति के प्रकरण में कर दिया है, वहां यही निर्णय किया है कि जैसे इस समय में अन्य विद्वानों से पढे विना कोई भी विद्यावान् नहीं होता श्रौर इसी के विना किसी पुरुष में ज्ञान की वृद्धि भी देखने में नहीं श्राती वैसे ही सृष्टि के त्रारम्भ में ईश्वरोपदेश की प्राप्ति के विना किसी मनुष्य की विद्या त्रीर ज्ञान की बढ़ती कभी नहीं हो सकती। इस में अशि चित बालक और वनवासियों का दृष्टा-न्त दिया था कि जैसे उस बालक ऋौर वन में रहने वाले मनुष्य को यथावत् विद्या का ज्ञान नहीं होता तथा श्राच्छी प्रकार उपदेश के विना उनको लोकव्यवहार का भी ज्ञान नहीं होता फिर विद्या की प्राप्ति तो अरयन्त काठेन है। इससे क्या जानना चा-हिये कि परमेश्वर के उपदेश वेदविद्या त्राने के पश्चात् ही मनुष्यों को विद्या श्रौर ज्ञान की उन्नति करनी भी सहज हुई है, क्योंकि उसके सभी गुए सत्य हैं, इससे उसकी विद्या जो वेद है वह भी नित्य ही है। जो नित्य वस्तु है उस के नाम, गुण और कर्म भी नित्य ही होते हैं। क्योंकि उन का श्राधार नित्य है। श्रीर विना श्राधार से नाम, गुगा श्रीर कमीदि स्थिर नहीं हो सकते, क्योंकि वे द्रव्यों के श्राश्रय सदा रहते है । जो ऋनित्य वस्तु है उस के नाम, गुए श्रौर कर्म भी श्रानित्य होते हैं । सो नित्य किस को कहना ? जो उत्पत्ति श्रौर विनाश से पृथक है । तथा उत्पत्ति क्या कहाती है ? कि जो श्रानेक द्रव्यों के संयोग विशेष से स्थूल पदार्थ का उत्पन्न होना । श्रीर जब वे पृथक् २ होके उन द्रव्यों के वियाग से जो कारण में उन की परमाणुरूप अव-स्था होती है उस को विनाश वहते हैं। श्रीर जो द्रव्य संयोग से स्थूल होते हैं वे चच्च त्रादि इन्द्रियों से देखने में त्राते हैं, फिर उन स्थूल द्रव्यों के परमागुत्रों का जब वियोग हो जाता है तब सूदम के होने से वे द्रव्य देख नहीं पड़ते इस का नाम

नाश है। क्योंकि श्रदरीन को ही नाश कहते हैं। जो द्रव्य संयोग श्रीर वियोग से उत्पन्न श्रीर नष्ट होता है उसी को कार्य्य श्रीर श्रानित्य कहते हैं, श्रीर जो संयोग वियोग से अलग है उस की न कभी उत्पत्ति और न कभी नारा होता है। इस प्रकार का पदार्थ एक परमेश्वर और इसरा जगत का कारण है। क्योंकि वह सदा अखण्ड एकरस ही बना रहता है। इसी से उसको नित्य कहते हैं। इस में कणाद्मुनि के सूत्र का भी प्रमाण है। (सत्कार०) जो किसी का कार्य्य है कि कारण से उत्पन्न होके विद्यमान होता है उस को अनित्य कहते हैं। जैसे मट्टी से घड़ा हो के वह नष्ट भी हो जाता है इसी प्रकार परमेश्वर के सामर्थ्य कारण से सब जगत उत्पन्न हो के विद्यमान होता है फिर प्रलय में स्थलाकार नहीं रहता किन्त वह कारएक्प तो सदा ही बना रहता है। इससे क्या आया कि जो विद्यमान हो और जिस का कारण कोई भी न हो अर्थात् खयं कारणहरप ही हो उसको नित्य कहते हैं। क्योंकि जो २ संयोग से उत्पन्न होता है सो २ बनाने वाले की ऋषेचा ऋबरय रखता है जैसे कर्म, नियम श्रीर कार्य्य ये सब कर्त्ता, नियन्ता श्रीर कारण को ही सदा जनाते हैं। श्रीर जो कोई ऐसा कहे कि कर्चा को भी किसी ने बनाया होगा तो उससे पूछना चाहिये उस कर्चा के कर्त्ता को किसने बनाया है। इसी प्रकार यह स्त्रनवस्थाप्रसंग ऋथीत् मर्यादारहित होता है । जिस की मर्यादा नहीं है वह व्यवस्था के योग्य नहीं ठहर सकता । श्रौर जो संयोग से उत्पन्न होता है वह प्रकृति श्रीर परमाणु श्रादि के संयोग करने में समर्थ ही नहीं हो सकता। इससे क्या श्राया कि जो जिससे सूच्म होता है वही उसका श्रात्मा होता है, अर्थात् स्थूल में सूदम व्यापक होता है । जैसे लोहे में श्राग्न प्रविष्ट हो के उस के सब अवयवों में न्याप होता है और जैसे जल पृथिवी में प्रविष्ट होके उस के कर्णों के संयोग से निएडा करने में हेतु होता है तथा उस का छेदन भी करता है, वैसे ही परमेश्वर सब संयोग और वियोग से पृथक्, सब में व्यापक, प्रकृति श्रौर परमाणु ऋादि से भी ऋत्यन्त सूच्म ऋौर चेतन है, इसी कारण से प्रकृति श्रौर पर-माणु त्रादि द्रव्यों के संयोग करके जगत् को रच सकता है। जो ईश्वर उन से स्थूल होता तो उन का प्रहण श्रौर रचन कभी नहीं कर सकता, क्योंकि जो स्थूल पदार्थ होते हैं वे सूरम पदार्थ के नियम करने में समर्थ नहीं होते, जैसे हम लोग प्रकृति श्रीर परमाणु श्रादि के संयोग श्रीर वियोग करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि जो संयोग वियोग के भीतर है वह उस के संयोग वियोग करने में स्पर्ध नहीं हो सकता. तथा जिस वस्तु से संयोग वियोग का आरम्भ होता वह वस्तु संयोग और वियोग से श्चलग ही होता है, क्योंिक वह संयोग श्चोर वियोग के श्चारम्भ के नियमों का कर्त्ता श्चोर श्चादिकारण होता है। तथा श्चादिकारण के श्चभाव से संयोग श्चोर वियोग का होना ही श्चसम्भव है। इससे क्या जानना चाहिये कि जो सदा निर्विकारस्वरूप, श्चज, श्चनादि, नित्य, सत्यसामर्थ्य से युक्त श्चोर श्चनन्त विद्यावाला ईश्वर है उस की विद्या से वेदों के प्रकट होने श्चीर उस के ज्ञान में वेदों के सदैव वर्त्तमान रहने से वेदों को सत्यार्थयुक्त श्चीर नित्य सब मनुष्यों को मानना योग्य है। यह संन्तेप से वेदों के नित्य होने का विचार किया।

इति वेदानां नित्यत्वाविचारः

अथ वेदविषयविचारः

श्रत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति । विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाएडभेदात् । तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योस्ति । तस्य परमेश्वरादारभ्य तृग-पर्य्यन्तपदार्थेषु साचाद्वोधान्वयत्वात् । तत्रापीश्वरानुभवो ग्रुख्योस्ति । कुतः । अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात् । श्रत्र प्रमाणानि । सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपार्श्वास सर्वाणि च यद्ददन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ कठोपनि० वल्ली २। मं०१५ ॥ तस्य वाचकः प्रणवः । योगशास्त्रे, श्र०१। पा०१। स्० २७ ॥ त्रोरम् खं ब्रह्म ॥ यज्ञः अ० ४० ॥ त्रोमिति ब्रह्म ॥ तैतिरीयारएयके, प्र०७। श्रुत्० ८ ॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यज़र्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिचा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । ऋथ परा यया तदत्तरमधिगम्यते ॥ १ ॥ यत्तददृश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचन्तुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूच्मं तद्व्ययं यद्भतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ २ ॥ म्रुएडकं १ । खएडे १ । मृ० ४ । ६ ॥ एषामर्थः । (सर्वे वेदाः०) यत्परमं पदं मोचाख्यं परब्रह्मप्राप्तिलच्चणं सर्वा-नन्दमयं सर्वदुः खेतरदास्ति तदेवोंकारवाच्यमस्ति । (तस्य०) तस्येश्वरस्य प्रणव श्रोंकारो वाचकोस्ति, वाच्यश्रेश्वरः । (श्रोम् ०) श्रोमिति परमेश्वरस्य नामास्ति, तदेव परं ब्रह्म सर्वे वेदा आमनानित आसमन्तादभ्यस्यन्ति, ग्रुख्यतया प्रतिपाद-यन्ति, (तपांसि) सत्यधर्मानुष्टानानि तपांस्यपि तदभ्यासपराख्येव सन्ति,

१ ऋदेश्यीमत्युपनिषदि पाठः

(यदिच्छन्तो०) ब्रह्मचर्यग्रह्णमुपलक्तणार्थे ब्रह्मचर्य्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाश्रमाचरणानि सर्वाणि तदेवामनित, ब्रह्मप्राप्त्यभ्यासपराणि सन्ति । यद्ब्रह्मेच्छन्तो
विद्यांसस्तिस्मिन्नध्यासमाना वदन्त्युपदिशन्ति च । हे नचिकेतः ! ऋहं यमो यदीहशं पदमस्ति तदेतत्ते तुभ्यं संग्रहेण संचेपेण ब्रवीमि ॥ १ ॥ (तत्रापरा०)
वेदेषु वे विद्ये वर्त्तते श्रपरा परा चेति । तत्र यया पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा श्रपरोच्यते । यया चाहश्यादिविशेषणयुक्तं सर्वशक्तिमद् ब्रह्म विज्ञायते सा पराऽर्थाद्रपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टास्तीति वेद्यम् ।

भाषार्थ

श्रव वेदों के नित्यत्वविचार के उपरान्त वेदों में कौन २ विषय किस २ प्रकार के हैं इस का विचार किया जाता है। वेदों में श्रवयवरूप विषय तो श्रनेक हैं परन्तु उन में से चार मुख्य हैं (१) एक विज्ञान श्रर्थात् सव पदार्थों को यथार्थ जानना, (२) दूसरा कर्म, (३) तीसरा उपासना श्रीर (४) चौथा ज्ञान है। विज्ञान उस को कहते हैं कि जो कर्म, उपासना श्रीर ज्ञान इन तानों से यथावत उपयोग लेना श्रौर परमेश्वर से लेके तृणपर्व्यन्त पदार्थों का साज्ञाद्बोध का होना, उनसे यथावत् उपयोग का करना । इससे यह विषय इन चारों में भी प्रधान है, क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य्य है। सो भी दो प्रकार का है, एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान त्र्यौर उस की त्र्याज्ञा का बराबर पालन करना त्र्यौर दृसरा यह है कि उस के रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत् विचार के उनसे कार्य सिद्ध करना अर्थात् ईश्वर ने कौन २ पदार्थ किस किस प्रयोजन के लिये रचे हैं। श्रीर इन दोनों में से भी ईश्वर का जो प्रतिपादन है सो ही प्रधान है। इस में आगे कठवल्ली आदि के प्रमाण लिखते हैं। (सर्वे वेदाः०) परमपद श्रर्थात् जिसका नाम मोत्त है, जिस में परब्रह्म को प्राप्त हो के सदा सुख में ही रहना, जो सब त्रानन्दों से युक्त, सब दुःखों से रहित और सर्वशिक्तमान् परब्रह्म है, जिस के नाम (श्रीम्) श्रादि हैं, उसी में सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है। इस में योगसूत्र का भी प्रमाण है। (तस्य०) परमेश्वर का ही श्रोंकार नाम है। (श्रोम् खं०) तथा (श्रोमिति०) श्रोम् श्रौर खं ये दोनों ब्रह्म के नाम हैं ऋौर उसी की प्राप्ति कराने में सब वेद प्रवृत्त हो रहे हैं, उस की प्राप्ति के ऋगो किसी पदार्थ की प्राप्ति उत्तम नहीं है, क्योंकि जगत् का वर्णन, दृष्टान्त श्रौर उपयो-

गादि का करना ये सब परब्रह्म को ही प्रकाशित करते हैं, तथा सत्य धर्म के अनुष्ठान जिन को तप कहते हैं वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये हैं, तथा ब्रह्मचर्य,
गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के सत्याचरण्हप जो कर्म हैं वे भी परमेश्वर
की ही प्राप्ति कराने के लिये हैं, जिस ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करके विद्वान लोग प्रयत्न और
उसी का उपदेश भी करते हैं। निचकेता और यम इन दोनों का परस्पर यह संवाद
है कि हे निचकेतः! जो अवश्य प्राप्त करने के योग्य परब्रह्म है उसी का में तेरे लिये
संचेप से उपदेश करता हूं। और यहां यह भी जानना उचित है कि आंकारहप
कथा से निचकेता नाम से जीव और यम से अन्तर्थामी परमात्मा को सममना
चाहिये। (तत्रापरा०) वेदों में दो विद्या हैं एक अपरा, दूसरी परा। इन में से
अपरा यह है कि जिस से पृथिवी और तृण से ले के प्रकृतिपर्थन्त पदार्थों के गुणों
के ज्ञान से ठीक २ कार्य्य सिद्ध करना होता है और दूसरी परा कि जिससे सर्वशिकिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है। यह परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम
है, क्यों कि अपरा का ही उत्तम फल पराविद्या है।

श्रन्यच्च । तिहिष्णोः पर्मं प्दं सदौ परयिन सूर्यः । दिवीं च चनुरा-तित्र ॥ १॥ ऋग्वेदे । अष्टके १ । अध्याये २ । वर्गे ७ । मन्त्रः ४ ॥ अस्या-यमर्थः । यत् (विष्णोः) व्यापकस्य परमेश्वरस्य, (परमं) प्रकृष्टानन्दस्वरूपं, (पदं) पद्नीयं सर्वोत्तमोपायेमीनुष्यैः प्रापणीयं मोत्ताख्यमस्ति, तत् (स्र्रयः) विद्यांसः सद्। सर्वेषु कालेषु परयिनत्, कीदृशं तत् (आततम्) आसमन्तात्ततं विस्तृतं, यदेशकालवस् परिच्छेदरितमस्ति, अतः सर्वः सर्वत्र तदुपलभ्यते, तस्य श्रक्षस्वरूपस्य विभुत्वात् । कस्यां किभिव १ (दिवीव चक्षुराततम्) दिवि मार्त्त-एडप्रकाशे नेत्रदृष्टेप्याप्तिर्यथा भवति तथेव तत्यदं ब्रह्मापि वर्त्तते, मोश्रस्य च सर्व-स्माद्धिकोत्कृष्टत्वात् तदेव द्रष्टुं प्राप्तिमच्छिन्त । अतो वेदा विशेषेण तस्यैव प्रतिपादनं कुर्वन्ति । एतिद्वपयकं वेदान्तसूत्रं व्यासोप्याद्द । तत्तु समन्वयात् ॥ अ०१ । पा०१। मू०४॥ अस्यायमर्थः । तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति । क्वचित्सात्तात्त्वचित्यरम्परया च । अतः परमोर्थो वेदानां ब्रह्मेवािन्ति । तथा यज्ञवेदे प्रमाणम् । यस्मान्न ज्ञातः परौ अन्यो अस्ति य आदिवेश भवनािन् विश्वते । प्रजापितिः मृजयौ सर्थन्यास्ति। ज्योतीर्थपि सचते स पीट्वी ॥ य० अ० ८ । मं० ३६ ॥ एतस्यार्थः । (यस्मात्) नैव परब्रह्मणः सकाशात् य० अ० ८ । मं० ३६ ॥ एतस्यार्थः । (यस्मात्) नैव परब्रह्मणः सकाशात्

(परः) उत्तमः पदार्थः (जातः) प्रादुर्भृतः प्रकटः (श्रन्यः) भिन्नः कश्चिद-प्यस्ति, (प्रजापतिः) प्रजापतिरिति इह्मणो नामाग्ति प्रजापालकत्वात्, (य श्रावि-वेश भु०) यः परमेश्वरः (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भुवनानि) सर्वलोकान् (श्राविवेश) व्याप्तवानस्ति, (सध्रराणः) सर्वेत्राणिभ्योऽत्यन्तं सुखं दत्तवान् सन् (श्रीणि ज्योती ७ पि) श्रीएयग्निसूर्यविद्युदाख्यानि सर्वजगत्वकाशकानि (प्रजया) ज्योतिषोऽन्यया सृष्टचा सह तानि (सचते) समवेतानि करोति कृतवानस्ति, (सः) श्रतः स एवेश्वरः (पोडशी) येन पोडशक्ला जगित रचितास्ता विद्यन्ते यम्मि-न्यस्य वा तस्मात्स पोडशीत्युच्यते । ऋतोऽयमेव परमोर्थो वेदितव्यः ॥ ऋोमित्ये-यमर्थः । त्रोमित्यतद्यस्य नामास्ति तद्व्यम् । यम वीयते कदाचिद्यचराचरं जगदश्नुते व्याप्रोति तद्बह्मेवास्तीति विज्ञेयम् । अस्यैव सर्ववेदेगदिभिः शास्त्रः सकलेन जगता वोपगतं न्याख्यानं मुख्यतया क्रियतेतोऽयं प्रधानविषयोस्तीत्यव-धार्यम् । कि च नैव प्रधानस्याग्रेऽप्रधानस्य ग्रहणं भवितुमईति । प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्यय इति व्याकरणमहाभाष्यवचनप्रामाएयात् । एवमव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येर्थे मुख्यतात्पर्यमस्ति । तत्प्राप्तिप्रयोजना एव सर्व उपदेशाः सन्ति । अतस्तदुपदेशपुरःसरेखेव त्रयाणां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां पारमार्थिक-व्यावहारिकफलासिद्धये यथायोग्योपकाराय चानुष्टानं सर्वेर्मनुष्येर्यथावस्कर्त्तव्यमिति ।

भाषार्थ

श्रीर भी इस विषय में ऋग्वेद का प्रमाण है कि (तद्वि०)। (विष्णुः) श्रर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है उस का (परमं) आत्यन्त उत्तम आनन्दस्वरूप (परं) जो प्राप्ति होने के योग्य आर्थात् जिस का नाम मोद्ता है उस को (स्रयः) विद्वान लोग (सदा पश्यन्ति) सब काल में देखते हैं। वह कैसा है कि सब में व्याप्त हो रहा है श्रीर उस में देश काल श्रीर वस्तु का भेद नहीं है आर्थात् उस देश में है और इस देश में नहीं तथा उस काल में था और इस काल में नहीं, उस वस्तु में है श्रीर इस वस्तु में नहीं, इसी कारण से वह पद सब जगह में सब को प्राप्त होता है, क्यों कि वह ब्रह्म सब ठिकाने परिपूर्ण है। इस में यह दृष्टान्त है कि (दिवीव चत्तुराततम्) जैसे सूर्य का प्रकाश आवरणरहित आकाश में व्याप्त होता है श्रीर जैसे उस प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है इसी प्रकार परब्रह्म पद भी

स्वयंप्रकाश, सर्वत्र व्याप्तवान् हो रहा है। उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है । इसलिये चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के लिये विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं। इस विषय में वेदान्तशास्त्र में व्यासर्मान के सूत्र का भी प्रमाण है (तत्तु-समन्वयात)। सब वेद-वाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है। कहीं २ साज्ञातरूप श्रीर कहीं २ परम्परा से । इसी कारण से वह परब्रह्म वेदों का परम श्रर्थ है। तथा इस विषय में यजुर्वेद का भी प्रमाग है कि (यस्मान्न जा०)। जिस पर-ब्रह्म से (श्रन्यः) दूसरा कोई भी (परः) उत्तम पदार्थ (जातः) प्रकट (नास्ति) अर्थात् नहीं है, (य आविवेश मु०) जो सब विश्व अर्थात् सब जगह में न्याप्त हो रहा है, (प्रजापित: प्र०) वहीं सब जगत् का पालनकत्ती श्रीर श्रध्यद्म है, जिस ने (त्रीाि ज्योती छेषि) श्राग्न सूर्य बिजुली इन तीन ज्योतियों को प्रजा के प्रकाश होने के लिये (सचते) रचेक संयुक्त किया है श्रीर जिस का नाम (षोडशी) है, द्यर्थात् (१) ईत्तरण जो यथार्थविचार (२) प्राण जो कि सब विश्व का धारण करनेवाला (३) श्रद्धा सत्य में विश्वास (४) श्राकाश (४) वायु (६) श्राग्न (७) जल (८) पृथिवी (६) इन्द्रिय (१०) मन अर्थात् ज्ञान (११) श्रम्न (१२) वीर्य त्रर्थात् वल और पराक्रम (१३) तप श्रर्थात् धर्मानुष्टान सत्याचार (१४) मन्त्र अर्थात् वेदिवद्या (१५) कर्म अर्थात् सब चेष्टा (१६) नाम . श्रर्थात दृश्य श्रीर श्रदृश्य पदार्थों की संज्ञा, ये ही सोलह कला कहाती हैं। ये सब ईश्वर ही के बीच में हैं इससे उसको पोडशी कहते हैं । इन पोडश कलाओं का प्रतिपादन प्रश्नोपनिषद् के (६) छठे प्रश्न में लिखा है। इससे परमेश्वर ही वेदों का मुख्य ऋर्थ है और उससे पृथक जो यह जगत है सो वेदों का गौए ऋर्थ है। और इन दोनों में से प्रधान का ही प्रहण होता है। इससे क्या आया कि वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर है। के प्राप्त कराने श्रीर प्रतिपादन करने में है। उस परमेश्वर के उपदेशरूप वेदों से कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों काएडों का इस लोक और परलोक के व्यवहारों के फलों की सिद्धि और यथावत् उपकार करने के लिये सब मनुष्य इन चार विषयों के अनुष्ठानों में पुरुषार्थ करें, यही मनुष्यदेह धारण करने के फल हैं।

तत्र बितीयो विषयः कर्मकाएडाख्यः, स सर्वः क्रियामयोस्ति । नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने श्र्मपि पूर्णे भवतः । क्रुतः । वाद्यमानसव्यवहारयोर्वोद्याभ्यन्तरे युक्रत्वात् । स चानेकविधोस्ति । परन्तु तस्यापि खल्लु ब्रो भेदौ मुख्यो स्तः । एकः परमपुरुषार्थ सिद्धचर्थाऽर्थाद्य ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानुष्टानज्ञानेन मोचमेव साधियतुं प्रवत्ते । अपरो लोकव्यवहारसिद्धये यो धर्मेणार्थकामां
निवर्त्तियतुं संयोज्यते । स यदा परमेश्वरस्य प्राप्तिमेव फलम्रुद्दिरय क्रियते तदाऽयं
श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते । अस्य खल्वनन्तसुखेन योगात् । यदाचार्थकामफलसिद्धचवसानो लौकिकसुखाय योज्यते तदा सोऽपरः सकाम एव भवति ।
अस्य जन्ममरणफलभोगेन युक्तत्वात् । स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु यज्ञेषु
सुगन्धिमिष्टपुष्टरोगनाशकगुर्णेयुक्तास्य सम्यक् संस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणार्थमग्नौ होमः क्रियते स तद्द्रारा सर्वजगत्सुखकार्य्व भवति ।
यं च भोजनाच्छादनयानकलाकौशलयंत्रसामाजिकनियमप्रयोजनसिद्धचर्थ विधत्ते
सोधिकतया स्वसुखायेव भवति ।

भाषार्थ

उन में से दूसरा कर्मकाएड विषय है सो सब क्रियाप्रधान ही होता है। जिस के विना विद्याभ्यास श्रौर ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते । क्योंकि मन का योग वाहर की किया श्रीर भीतर के व्यवहार में सदा रहता है। वह अनेक प्रकार का है परन्तु उस के दो भेद मुख्य हैं। एक परमार्थ, दूसरा लोकव्यवहार ऋर्थान् पहिले सेपरमार्थ ऋौर दसरे से लोकव्यवहार की सिद्धि करनी होती है। प्रथम जो परमपुरुवार्थरूप कहा उस में परमेश्वर की (स्तुति) त्रार्थात् उस के सर्वताकिमत्वादि गुर्गों का कीर्त्तन, उपदेश श्रीर श्रवण करना, (प्रार्थना) अर्थान् जिस करके ईश्वर से सह यजा की इच्छा करनी, (उपासना) ऋर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्न होके उसकी सत्यभाषणादि श्राज्ञा का यथावत पालन करना, सो उपासना वेद और पातब्जलयोगशास्त्र की रीति से ही करनी चाहिये। तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है। न्यायाचरण उसको कहते हैं जो पत्त-पात को छोड़ के सब प्रकार से सत्य का प्रहण श्रीर श्रमत्य का परित्य ग करना। इसी धर्म का जो ज्ञान श्रौर श्रनुष्टान का यथावत् करना है । सो ही कर्मकाएड का प्रधान भाग है और दसरा यह है कि जिससे पूर्वोक अर्थ, काम और उनकी सिद्धि करने वाले साधनों की प्राप्ति होती है। सो इस भेद को इस प्रकार से जानना कि जब मोच श्रयीत् सत्र दुः खों से छूट के केवल परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये धर्म से युक्त सब कर्मों का यथावत् करना यही निष्काम मार्ग कहाता है, क्योंकि इस में संसार के भोगों की कामना नहीं की जाती। इसी कारण से इस का फल श्राचय है।

श्रीर जिसमें संसार के भोगों की इच्छा से धर्म युक्त काम किये जाते हैं उसको सकाम कहते हैं। इस हेतु से इस का फल नाशवान होता है, क्योंकि सब कमों करके इन्द्रिय भोगों को प्राप्त हो के जन्म मरण से नहीं छूट सकता। सो श्रान्होत्र से लेके श्रश्व- मेधपर्यन्त जो कर्मकाण्ड है उसमें चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है। एक सुगन्ध गुण्युक्त जो कस्तूरी केशरादि हैं, दूसरा मिष्टगुण्युक्त जो कि गुड़ श्रौर सहत श्रादि कहाते हैं, तीसरा पृष्टिकारकगुण्युक्त जो कि घृत, दुग्ध श्रौर श्रन्न श्रादि हैं श्रौर चौधा रोगनाशकगुण्युक्त जो कि सोमलतादि श्रोधि श्रादि हैं। इन चारों का परस्पर शोधन, संस्कार श्रौर यथायोग्य मिला के श्रीन में युक्तिपूर्वक जो होम किया जाता है वह वायु श्रौर वृष्टिजल की शुद्धि करने वाला होता है। इससे सब जगन को सुख़ होता है। श्रौर जिस को भोजन, छादन, विमानादि यान, कलाकुशलता, यन्त्र श्रौर सामाजिक नियम होने के लिये करते हैं वह श्रिकांश से कर्त्ता को ही सुख देने वाला होता है।

त्रत्रत्र पूर्वमीमांसायाः प्रमाणम् । द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ॥ अ०४। पा०३। स्०१॥ द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः ऋतु-धर्मः स्यात् ॥ ऋ०४ । पा०३ । स्र० ⊏ ॥ ऋनयोरर्थः । द्रव्यं संस्कारः कर्म चैतत्त्रयं यज्ञकत्री कर्त्तेच्यम् । द्रव्याणि पूर्वीक्वानि चतुःसंख्याकानि सुगन्धादि-गुण्युक्नान्येव यृहीत्वा तेषां परस्परम्रत्तमोत्तमगुणसंपादनार्थं संस्कारः कर्त्तव्यः। यथा द्धपादीनां संस्कारार्थं सुगन्धयुक्तं घृतं चमसे संस्थाप्याग्नौ प्रतप्य सधूमे जाते सति तं सूपपात्रे प्रवेश्य तन्मुखं बद्ध्वा प्रचालयेच तदा यः पूर्वं धूमवद्वाष्प उत्थितः स सर्वः सुगन्धो हि जलं भूत्वा प्रविष्टः सन्सर्वं सूपं सुगन्धमेव करोति तेन पुष्टिरुचिकरश्र भवति । तथैव यज्ञाद्यो वाष्पो जायते स वायुं वृष्टिजलं च निर्दोपं कृत्वा सर्वजगते सुखायैव भवति । अतश्रोक्तम् । यज्ञोपि तस्यै जनतायै करुपते यत्रैवं विद्वान् होता भवति ॥ ऐ० बा० मं०१। ऋ०२॥ जनानां समृहो जनता तत्सुखायैव यज्ञो भवति यस्मिन्यज्ञेऽग्रुना प्रकारेण विद्वान् संस्कृत-द्रव्यागामग्नौ होमं करोति । कुतः । तस्य परार्थत्वात् । यज्ञः परोपकारायैव भवति । श्रतएव फलस्य श्रुतिः श्रवणमर्थवादोऽनर्थवारणाय भवति । तथैव होमिक्रयार्थानं द्रव्याणां पुरुषाणां च यः संस्कारो भवति स एव ऋतुधर्मो बोध्यः। एवं ऋतना यज्ञेन धर्मी जायते नान्यथेति ।

भाषार्थ

इस में पूर्वमीमांसा धर्मशास्त्र की भी सम्मति है (द्रव्य०) । एक तो द्रव्य, दसरा संस्कार श्रीर तीसरा उन का यथावत उपयोग करना ये तीनों वात यज्ञ के कत्ती को श्रवश्य करना चाहिये । सो पूर्वोक्त सुगन्धादियुक्त चार प्रकार के द्रव्यों का श्रम्छी प्रकार संस्कार करके श्रीग्न में होम करने से जगत का श्रत्यन्त उपकार होता है । जैसे दाल श्रीर शाक श्रादि में सुगन्धद्रव्य श्रीर घी इन दोनों को चमचे में श्राग्न पर तपा के उन में छोंक देने से वे सुगान्धित होजाते हैं, क्योंकि उस सुगन्ध द्रव्य और घी के ऋगु उनको सुगन्धित करके दाल ऋादि पदार्थों को पुष्टि श्रौर रुचि बढ़ाने वाले कर देते हैं, वैसे ही यह से जो भाफ उठता है वह भी वायु श्रीर वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुख करता है । इससे वह यज्ञ परोपकार के लिये ही होता है । इसमें ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि (यज्ञोपि त०)। त्र्यर्थात् जनता नाम जो मनुष्यों का समूह है उसी के सुख के लिये यज्ञ होता है श्रोर संस्कार किये द्रव्यों का होम करने वाला जो विद्वान मनुष्य है वह भी त्र्यानन्द को प्राप्त होता है, क्योंकि जो मनुष्य जगत् का जितना उपकार करेगा उसको उतना ही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा। इसलिये यज्ञ का ऋर्थवाद * यह है कि अनर्थ दोषों को हटा के जगत् में आनन्द को बढ़ाता है। परन्तु होम के द्रव्यों का उत्तम संस्कार और होम के करने वाले मनुष्यों को होम करने की श्रेष्ठ विद्या त्रवश्य होनी चाहिये । सो इसी प्रकार के यज्ञ करने से सबको उत्तम फल प्राप्त होता है, विशेष करके यज्ञकर्त्ता को, अन्यया नहीं।

श्रत्र प्रमाणम् । श्रग्नेचैं धूमो जायते धूमादश्रमश्राद्वृष्टिरग्नेची एता जायन्ते तस्मादाइ तपोजा इति ॥ श्र० कां० ४ । श्र० ३ ॥ श्रस्यायमभिष्रायः । श्रग्नेः सकाशाद्भमवाष्पौ जायते यदाऽयमग्निर्वृद्धौषधिवनस्पतिजलादिपदार्थान्प्रविश्य तान्संहतान् विभिद्य तेभ्यो रसं च पृथक् करोति । पुनस्ते लघुत्वमापन्ना वाय्वाधारेणोपर्याकाशं गच्छन्ति । तत्र यावान् जलरसांशस्तावतो वाष्पसंज्ञास्ति । यश्र निःस्रेहो भागः स पृथिव्यंशोस्ति । श्रतएवोभयभागगुक्रो धूमइत्युपचर्य्यते । पुनर्ष्मगमनानन्तरमाकाशे जलसंचयो भवति । तस्मादभ्रं घना जायन्ते । तेभ्यो वागु-

^{*} इस शब्द का भर्थ भागे वेदसंज्ञा प्रकरण में लिखा जायगा

दलेभ्यो वृष्टिर्जायते । त्रातोग्नेरेवैता यवादय त्रोपधयो जायन्ते ताभ्योऽन्नमनाद्वीर्यं वीर्य्याच्यरीराणि भवन्तीति ।

भाषार्थ

इस में शतपथ ब्राह्मण का भी प्रमाण है, कि (श्राग्ने०)। जो होम करने के द्रव्य अग्नि में डाले जाते हैं उन से धुआं श्रीर भाक उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि पदार्थों में प्रवेरा करके उन को भिन्न २ कर देता है, फिर वे हलके होके वायु के साथ ऊपर श्राकाश में चढ़ जाते हैं, उन में जितना जल का श्रंश है वह भाक कहाता है और जो शुक्क है वह पृथ्वी का भाग है, इन दोनों के योग का नाम धूम है। जब वे परमागु मेवमएडल में वायु के श्राधार से रहते हैं फिर व परस्पर मिल के वादल होके उन से वृद्धि, वृद्धि से श्रोषधि, श्रोषधियों से श्रन्न, श्रन्न से घातु, धातुश्रों से शरीर श्रोर शरीर से कर्म बनता है।

श्रत्र विषये तैत्तिरीयोपनिषदप्युक्तम् । तस्माद्या एतस्मादात्मन श्राकाशः संभूतः श्राकाशाद्यायुः वायोरिनः अग्नेरापः श्रद्धचः पृथिवी पृथिव्या श्रोपधयः श्रोपधिभ्योऽनं श्रनाद्रेतः रेतसः पुरुषः स वा एप पुरुषोऽन्नरसमयः । श्रानन्द-वल्ल्य * प्रथमेनुवाके ॥ स तपोतप्यत् तपस्तप्त्वा श्रनं ब्रह्मेति विजानात् भ । श्रनाद्धचेव खिल्यमानि भूतानि जायन्ते श्रन्नेत जातानि जीवन्ति श्रनं प्रयन्त्यिभ-संविशन्ति,ति भृगुवल्ल्यां द्वितीयेऽनुवाके । श्रनं ब्रह्मेत्युच्यते जीवनस्य बृहद्धे-तुत्वात् । श्रद्धान्नजलवाय्वादिद्वारैव प्राणिनां सुखं भवति नातोन्यथेति ।

भाषार्थ

इस विषय में तैतिरीय उपनिषद् का भी प्रमाण है कि (तस्माद्वा०)। परमा-त्मा के अनन्त सामर्ज्य से आकाश, वायु, श्राग्नि, जल और पृथ्वी श्रादि तत्व उत्पन्न हुए हैं और उन में ही पूर्वे कि क्षम के अनुसार शरीर श्रादि उत्पत्ति, जीवन और प्रलय को प्राप्त होते हैं। यहां ब्रह्म का नाम श्रव्न और श्रव्न का नाम ब्रह्म भी है, क्यों कि जिस का जो कार्य है वह उसी में मिलता है। वैसे ही ईश्वर के सामर्थ्य से जगत् की तीनों श्रवस्था होती हैं और सब जीवों के जीवन का मुख्य साधन है इससे श्रव्न को ब्रह्म कहते हैं। जब होम से वायु, जल श्रीर श्रोषधि श्रादि श्रद्ध

^{*} ब्रह्मत्रल्खामेपपाठः, † उपानपदि व्यजानदिति पाठः ॥

होते हैं तब सब जगत् को सुख श्रोर श्रशुद्ध होने से सब को दुःख होता है इस से इनकी शुद्धि श्रवश्य करनी चाहिये।

तत्र द्विविधः प्रयत्नोस्तीरवरकृतो जीवकृतश्च । ईश्वरेण खल्विग्नियः सूर्यो निर्मितः सुगन्धपुष्पादिश्च । स निरन्तरं सर्वस्माज्जगतो रसानाकपित । तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुसंयोगत्वेन तज्जलवायु अपीष्टानिष्टगुण्योगान्मध्यगुणौ भवतस्तयोः सुगन्धदुर्गन्धामिश्रितत्वात् । तज्जलवृष्टावोषध्यन्नरेतः शरीराण्यपि मध्यमान्येव भवन्ति। तन्मध्यमत्वाद्धलबुद्धिवीर्ध्यपराक्रमधेर्ध्यशौर्ध्यादयोपि गुणा मध्यमा एव जायन्ते । कृतः । यस्य यादृशं कारणमस्ति तस्य तादृशमेव कार्ध्यं भवतीति दशनात् । स्रयं खल्वीरवरमृष्टेद्शिषो नास्ति । कृतः । दुर्गन्धादिविकारस्य मनुष्यमृष्टयन्तर्भान्वात् । यतो दुर्गन्धादिविकारस्योत्पत्तिमिनुष्यादिभ्य एव भवति तस्मादस्य निवारणमिप मनुष्येरेव करणीयमिति । यथेश्वरेणाज्ञा दत्ता सत्यभाषणमेव कर्त्तव्यं नानृतमिति यस्तामुञ्जङ्घ्य प्रवर्त्तते स पापीयान्भृत्वा क्लेशं चेश्वरच्यवस्थया प्राप्तोति । तथा यज्ञः कर्त्तव्य इतीयमप्याज्ञा तेनैव दत्तास्ति तामपि य उञ्जङ्घयति सोपि पापीयान्सन् क्लेशवांश्च भवति ।

भाषार्थ

सो उन की शुद्धि करने में दो प्रकार का प्रयत्न है। एक तो ईश्वर का किया हुआ श्रोर दूसरा जीव का। उन में से ईश्वर का किया यह है कि उसने श्रानिरूप सूर्य श्रोर सुगन्धरूप पुष्पादि पदार्थों को उत्पन्न किया है। वह सूर्य निरन्तर सब जगत् के रसों को पूर्वोंक प्रकार से ऊपर खेंचता है श्रोर जो पुष्पादि का सुगन्ध है वह भी दुर्गन्ध को निवारण करता रहता है। परन्तु वे परमाणु सुगन्ध श्रोर दुर्गन्ध युक्त होने से जल श्रोर वायु को भी मध्यम कर देते हैं। उस जल की दृष्टि से श्रोषधि, श्रम्न, वीर्य श्रोर शारिर श्रादि भी मध्यम गुणवाले हो जाते हैं श्रोर उनके योग से बुद्धि, बल, पराक्रम, धेर्य श्रोर श्रूरवीरतादि गुण भी निकृष्ट ही होते हैं। क्योंकि जिस का जैसा कारण होता है उस का बैसा ही कार्य होता है। यह दुर्गन्ध से वायु श्रोर वृष्टि जल का दोषयुक्त होना सर्वत्र देखने में श्राता है। सो यह दोष ईश्वर की सृष्टि से नहीं किन्तु मनुष्यों ही की सृष्टि से होता है। इस कारण से उसका निवारण करना भी मनुष्यों ही को उनित है। जैसे ईश्वर ने सत्यभाष- एगादि धर्मक्यवहार करने की श्राज्ञा दी है मिध्यामाषणादि की नहीं, जो इस श्राज्ञा

से उलटा काम करता है वह श्रात्यन्त पापी होता है, श्रोर ईश्वर की न्यायव्यवस्था से उसको क्रेश भी होता है, वैसे ही ईश्वर ने मनुष्यों को यज्ञ करने की श्राज्ञा दी है इसको जो नहीं करता वह भी पापी हो के दुःख का भागी होता है।

कुतः । सर्वोपकाराकरणात् । यत्र खलु यावान्मनुष्यादिप्राणिसम्रदायो भवति तत्र तावानेव दुर्गन्थसमुदायो जायते । न चैवायमीश्वरमृष्टिनिमित्तो भवितुमर्हति । कुतः । तस्य मनुष्यादिप्राणिसभुदायनिमित्तोत्पन्नत्वात् । यत्तु खलु मनुष्याः स्वसु-खार्थं हस्त्यादिप्राणिनामेकत्र बाहुन्यं कुर्वन्ति, त्र्यतस्तज्जन्योप्यधिको दुर्गन्धो मनुष्यसुखेच्छानिमित्त एव जायते । एवं वायुवृष्टिजलद्षकः सर्वो दुर्गन्धो मनुष्यनि-मित्तादेवोत्पद्यतेऽतस्तस्य निवारणमित मनुष्या एव कर्त्तुमर्हन्ति ।

भाषार्थ

क्योंकि सब के उपकार करने वाले यह को नहीं करने से मनुष्यों को दोष लगता है। जहां जितने मनुष्य आदि के समुदाय अधिक होते हैं वहां उतना ही दुर्गन्ध भी अधिक होता है। वह ईश्वर की सृष्टि से नहीं, किन्तु मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से ही उत्पन्न होता है, क्योंकि हस्ति आदि के समुदायों को मनुष्य अपने ही सुख के लिये इकट्ठा करते हैं, इससे उन पशुओं से भी जो अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होता है सो मनुष्यों के ही सुख की इच्छा से होता है, इससे क्या आया कि जब वायु और वृष्टिजल को विगाड़ने वाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है तो उस का मिवारण करना भी उन को ही योग्य है।

तेषां मध्यान्मनुष्या एवोपकारानुपकारौ वेदितुमहीः सन्ति । मननं विचारस्त-द्योगादेव मनुष्यत्वं जायते । परमेश्वरेण हि सर्वदेहधारिप्राणिनां मध्ये मनस्विनो विज्ञानं कर्जुं योग्या मनुष्या एव सृष्टास्तदेहेषु परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञानभवना-नुकूलानामवयवानामुत्पादितत्वात् । अतस्त एव धर्माधर्मयोज्ञीनमनुष्ठानाननुष्ठाने च कर्जुमईन्ति न चान्ये । अस्मात्कारणात्सर्वोपकाराय सर्वेर्मनुष्येर्यज्ञः कर्तव्य एव ।

भाषार्थ

क्योंकि जितने प्राणी देहधारी जगन् में हैं उन में से मनुष्य ही उत्तम हैं इस से वे ही उपकार श्रोर श्रनुपकार को जानने को योग्य हैं। मनन नाम विचार का है, जिस के होने से ही मनुष्य नाम होता है, श्रन्यथा नहीं, क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य के शरीर में परमाणु श्रादि के संयोगविशेष इस प्रकार के रचे हैं कि जिन से उन को ज्ञान की उन्नति होती है, इसी कारण से धर्म का श्रनुष्ठान श्रोर श्रधर्म का त्याग करने को भी वे ही योग्य होते हैं, श्रन्य नहीं। इससे सब के उपकार के लिये यज्ञ का श्रनुष्ठान भी उन्हीं को करना उचित है।

किंच भोः कस्तुर्यादीनां सुर्भियुक्तानां द्रव्याशामग्नौ प्रचेपेश्वेन विनाशात्क-थम्रुपकाराय यज्ञो भवितुमईतीति । किन्त्वीदशैरुत्तमैः पदार्थिमेनुष्यादिभ्यो भोजना-दिदानेनोपकारे कृते होमादप्युत्तमं फलं जायते पुनः किमर्थं यज्ञकरणमिति ? श्रत्रोच्यते । नात्यन्तो विनाशः कस्यापि संभवति । विनाशो हि यददृश्यं भूत्वा पुनर्न दृश्येतेति विज्ञायते । परन्तु दृशीनं त्वया कतिविधं स्वीकियते ? । ऋष्टाविधं चेति । किंच तत् ? । स्त्रत्राहुर्गोतमाचार्य्या न्यायशास्त्रे । इन्द्रियार्थसन्निकर्पोत्पर्यः ज्ञानमन्यपदेश्यमन्यभिचारिन्यवसायात्मकं प्रत्यत्तम् ॥ १ ॥ त्रथ तत्पूर्वकं त्रिवि-धमनुमानं पूर्ववच्छेपवत्सामान्यतोदृष्टं च ॥ २ ॥ प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनम्प-मानम् ।। ३ ।। त्राप्तोपदेशः शब्दः ।। ४ ।। त्र० १ । त्राह्विकम् १ । स्० ४ । ४ । ६ । ७ ॥ प्रत्यचानुमानोपमानशब्दैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावसाधनभेदादष्ट-धाप्रमाणं मया मन्यत इति । तत्र यदिन्द्रियार्थसम्बन्धात्सत्यमव्यभिचारिज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रत्यचम् । सन्निकटे दर्शनान्मनुष्योयं नान्य इत्याद्यदा इरणम् ॥ १॥ यत्र लिङ्गज्ञानेन लिङ्गिनां ज्ञानं जायते तदनुमानम् । पुत्रं दृष्वाऽऽसीदस्य पितेत्याद्य-दाइरणम् ॥ २ ॥ उपमानं सादृश्यज्ञानं यथा देवदत्तोस्ति तथैव यज्ञदत्तोप्यस्तीति साधर्म्यादुपदिशतीत्याद्यदाहरणम् ॥ ३ ॥ शब्दाते प्रत्याय्यते दृष्टोऽदृष्टश्रार्थो येन स शब्दः । ज्ञानेन मोत्तो भवतीत्याद्यदाहरणम् ॥ ४ ॥

भाषार्ध

प्र०—सुगन्धयुक्त जो कस्त्री आदि पदार्थ हैं उन को अन्य द्रव्यों में मिला के आग्नि में डालने से उनका नाश होजाता है फिर यज्ञ से किसी प्रकार का उपकार नहीं हो सकता किन्तु ऐसे उत्तम २ पदार्थ मनुष्यों को भोजनादि के लिये देने से होम से भी अधिक उपकार हो सकता है फिर यज्ञ करना किसालये चाहिये ? उ०—किसी पदार्थ का विनाश नहीं होता केवल वियोगमात्र होता है, परन्तु यह तो कहिये कि आप विनाश किसको कहते हैं ? उ०—जो स्थूल होके प्रथम देखने में आकर फिर न देख पड़े उसको हम विनाश कहते हैं । प्र०—आप कितने प्रकार का दर्शन

मानते हैं ? उ०-- आठ प्रकार का। प्र०-- कौन २ से ? उ०-- प्रत्यत्त १, अनु-मान २, उपमान ३, शब्द ४, ऐतिह्य ५, त्र्यर्थापत्ति ६, सम्भव ७ त्रौर स्रभाव ८, इस भेद से हम आठ प्रकार का दर्शन मानते हैं। (इन्द्रियार्थ ०) इन में से प्रत्यच उसको कहते हैं कि जो चत्तु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से सत्यज्ञान उत्पन्न हो, जैसे दूर से देखने में संदेह हुन्ना कि वह मनुष्य है वा कुछ श्रीर फिर उस के समीप होने से निश्चय होता है कि यह मनुष्य ही है श्रन्य नहीं इत्यादि प्रत्यत्त के उदाहरण हैं।। १।। (अथ तत्पू०) स्रोर जो किसी पदार्थ के चिह्न देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान हो वह श्रानुमान कहाता है, जैसे किसी के पुत्र को देखने से ज्ञान होता है कि इस के माता पिता त्र्यादि हैं वा श्रवश्य थे इत्यादि उसके उदाहरण हैं।। २ ॥ (प्रसिद्ध०) तीसरा उपमान कि जिससे किसी का तुल्य धर्म देख के समान धर्मवाले का ज्ञान हो, जैसे किसी ने किसी से कहा कि जिस प्रकार का यह देवदत्त है उसी प्रकार का वह यज्ञदत्त भी है, उस के पास जाके इस काम को कर ला, इस प्रकार के तुल्य धर्म से जो ज्ञान होता है उसको उपमान कहते हैं।। ३।। (श्राप्तोप०) चौथा शब्दप्रमाण है कि जो प्रत्यच्च श्रीर श्रप्रत्यच्च श्रर्थ का निश्चय करानेवाला है, जैसे ज्ञान से मोच होता है यह श्राप्तों के उपदेश शब्दप्रमाण का उदाहरण है।। ४।।

न चतुष्वमैतिह्यार्थापित्तसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥ ५ ॥ शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापित्तसम्भवाभावानर्थान्तरभावाचाप्रतिषेधः ॥ ६ ॥ द्रा० २ । द्य० १ । २ ॥ न चतुष्वमिति सत्रद्वयस्य संचिप्तार्थः कियते । (ऐतिह्यं) शब्दोपगतमाप्तोपिदष्टं प्राह्मम् । देवासुराः संयत्ता त्र्यासित्तर्यादि ॥५॥ (द्र्यापित्तः) त्र्र्याद्वापयते सार्थापितः, केनचिदुकं सत्सु घनेषु वृष्टिर्भवतीति । किमत्र प्रसच्यते १ त्र्यत्सु घनेषु न भवतीत्याद्युदाहरण्यम् ॥ ६ ॥ (सम्भवः) सम्भवति येन यस्मिन्वा स सम्भवः, केनचिदुकं मातापित्रभ्यां सन्तानं जायते, सम्भवति वेन यस्मिन्वा स सम्भवः, केनचिदुकं मातापित्रभ्यां सन्तानं जायते, सम्भवति वेन यस्मिन्वा स सम्भवः, केनचिदुकं मातापित्रभ्यां सन्तानं जायते, सम्भवतिति वाच्यम् । परन्त कश्चिद्वत्र्यात्कुम्भकरणस्य कोशचतुष्टयपर्यन्तं शम्श्रुणः केशा ऊर्ध्वं स्थिता त्रासन्, षोडशक्रोशमूर्ध्वं नासिका चासम्भवत्वान्मिथ्येन्वास्तीति विद्वायते, इत्याद्यदाहरण्यम् ॥ ७ ॥ (त्रभावः) कोपि ब्र्याद् घटमान्यति स तत्र घटमपरयक्षत्र घटे। नास्तीत्यभावलच्योन यत्र घटो वर्त्तमानस्त-स्मादानीयते ॥ ८ ॥ इति प्रत्यचादीनां संचेपतोर्थः। एवमष्टविधं दर्शनमर्थाज्ज्ञानं

मया मन्यते । सत्यमेवमेतत् । नैवमक्रीकारेख विना समग्री व्यवहारपरमार्थी कस्यापि सिध्येताम् ।

भाषार्थ

(ऐतिश्रम्) सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश का नाम इतिहास है, जैसा देव और असुर युद्ध करने के लिये तत्पर हुए थे। जो यह इतिहास ऐतरेय. शतपथ ब्राह्मणादि सत्य प्रन्थों में लिखा है उसी का बहुण होता है, अन्य का नहीं। यह पांचवां प्रमाण है।। ४।। और छठा (अर्थापत्तिः), जो एक बात किसी ने कही हो उससे विरुद्ध दूसरी बात समभी जावे, जैसे किसी ने कहा कि बादलों के होने से बृष्टि होती है दूसरे ने इतने ही कहने से जान लिया कि बादलों के विना वृष्टि कभी नहीं हो सकती, इस प्रकार के प्रमाण से जो ज्ञान होता है उस को अर्थापत्ति कहते हैं।। ६।। सातवां (संभवः), जैसे किसी ने किसी से कहा कि माता पिता से सन्तानों की उत्पत्ति होती है तो दूसरा मान ले कि इस बात का तो संभव है, परन्तु जो कोई ऐसा कहे कि रावण के भाई कुम्भकरण की मूंछ चार कोश तक आकाश में ऊपर खड़ी रहती थी और उस की नाक (१६) सोलह कोश पर्यन्त लम्बी चौड़ी थी उस की यह बात मिध्या समभी जायगी, क्योंकि ऐसी बात का संभव कभी नहीं हो सकता ॥ ७ ॥ श्रौर श्राठवां (श्रभावः), जैसे किसी ने किसी से कहा कि तुम घड़ा से आश्रो और जब उसने वहां नहीं पाया तब वह जहां पर घडा था बहां से ले आया ।। ८ ।। इन आठ प्रकार के प्रमाणों को मैं मानता हूं। यहां इन आठों का अर्थ संदोप से किया है *। उ०-यह बात सत्य है कि इन के विना माने सम्पूर्ण व्यवहार और परमार्थ किसी का सिद्ध नहीं हो सकता। इससे इन चाठों को हम लोग भी मानते हैं।

यथा कियदेकं पृत्पिएडं विशेषतरचूर्णिकृत्य वेगयुक्ते वायौ बाहुवेगेनाकाशं प्रतिश्चिष्यस्य नाशो भवतीत्युपचर्यते । चक्षुषा दर्शनाभवात् । (ग्राग्) श्रदर्शने अस्माद् घन्प्रत्यये कृते नाश इति शन्दः सिध्यति । श्रतो नाशो बाह्येन्द्रियाऽद-र्शनमेव भवितुमईति । किंच यदा परमाणवः पृथक् २ भवन्ति तदा ते चक्षुषा नैव दरयन्ते तेषामतीन्द्रियत्वात् । यदा चैते मिलित्वा स्थूलभावमापद्यन्ते तदैव

[#] कहीं २ कब्द में ऐतिहा और अनुमान में अर्थापति, संभव और अभाव को मानने से ४ (चार) अमाच रहते हैं।

तद्द्रव्यं दृष्टिपथमागच्छति, स्थूलस्यैन्द्रियकत्वात् । यद्द्रव्यं विभक्तं विभक्तमन्ते विभागानई भवति तस्य परमाणुसंज्ञा चेति व्यवहारः, ते हि विभक्ता अतीन्द्रियाः सन्त आकाशे वर्त्तन्त एव ।

भाषार्थ

नाश को सममने के लिये यह दृष्टान्त है कि कोई मनुष्य मट्टी के ढेले को पीस के वायु के बीच में बल से फेंक दे फिर जैसे वे छोटे २ कए आंख से नहीं दीखते, क्योंकि (एए) धातु का अदर्शन ही अर्थ है, जब अर्णु अलग २ हो जाते हैं तब वे देखने में नहीं आते, इसी का नाम नाश है। और जब परमाणु के संयोग से स्थूल द्रव्य अर्थात् वड़ा होता है तब वह देखने में आता है। और परमाणु इसको कहते हैं कि जिसका विभाग फिर कभी न हो सके। परन्तु यह बात केवल एकदेशी है, क्योंकि उसका भी ज्ञान से विभाग हो सकता है। जिसकी परिधि और व्यास बन सकता है उसका भी दुकड़ा हो सकता है। यहांतक कि जब पर्यन्त वह एकरस न हो जाय तब पर्यन्त ज्ञान से बरायर कटता ही चला जायगा।

तथैवाग्नौ यद्द्रव्यं प्रचित्यते तिक्वभागं प्राप्य देशान्तरे वर्तत एव, न हि तस्याभावः कदाचिद्धवति । एवं यद्दुर्गन्धादिदोषिनवारकं सुगन्धादि द्रव्यमस्ति तच्चाग्नौ हुतं सद्वायोर्वृष्टिजलस्य शुद्धिकरं भवति । तिस्मिन्निर्दोषे सित सृष्ट्ये महान्धुपकारो भवति सुस्वं चातःकारणाद्यज्ञः कर्त्तव्य एवेति । किंच भोः । वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणमेव यज्ञस्य प्रयोजनमित्त चेत्ति रृहाणां मध्ये सुगन्धद्रव्यरच्चः ऐनैतत्सेत्स्यति पुनः किमर्थमेतावानाडम्बरः ? । नेवं शक्यम् । नेव तेनाशुद्धो वायुः सूच्मो भूत्वाऽऽकाशं गन्छति, तम्य प्रथक्त्वलघुत्वाभावात् । तत्र तस्य स्थितौ सत्यां नेव बाह्यो वायुरागन्तुं शक्रोत्यवकाशाभावात् । तत्र पुनः सुगन्धदुर्गन्धयुक्कस्य वायोर्वर्त्तम।नत्वादारोग्यादिकं फलमिप भवितुमशक्यमेवास्ति ।

भाषार्थ

वैसे ही जो सुगन्ध आदि युक्त द्रव्य अगिन में डाला जाता है उसके आगु अलग २ हो के आकाश में रहते ही हैं, क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुता से अभाव नहीं होता । इस से वह द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों का निवारण करने वाला अवश्य होता है । फिर उससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि के होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है। इस कारण से यज्ञ को करना ही चाहिये। प्र०-जो यज्ञ से वायु और पृष्टिजल की शुद्धि करनामात्र ही प्रयोजन है तो इस की सिद्धि अतर और पृष्पादि के घरों में रखने से भी हो सकती है, फिर इतना वड़ा पिरिश्रम यज्ञ में क्यों करना ? उ०-यह कार्य्य अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अतर और पृष्पादि का सुगन्ध तो उसी दुर्गन्ध वायु में मिल के रहता है, उस को छेदन करके बाहर नहीं निकाल सकता और न वह ऊपर चढ़ सकता है, क्योंकि उस में हलकापन नहीं होता। उसके उसी अवकाश में रहने से बाहर का शुद्ध वायु उस ठिकाने में जा भी नहीं सकता, क्योंकि खाली जगह के बिना दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता, फिर सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त वायु के वहीं रहने से रोगनाशादि फल भी नहीं होते।

यदा तु खलु तस्मिन् गृहेऽग्निमध्ये सुगन्ध्यादिद्रव्यस्य होमः क्रियते तदा-ऽग्निना पूर्वो वायुर्भेदं प्राप्य लघुत्वमापन्न उपय्योकाशं गच्छति । तस्मिन् गते साति तत्रावकाशत्वाच्चतसृभ्यो दिग्भ्यः शुद्धो वायुराद्रवति नेन गृहाकाशस्य पूर्ण-त्वादारोग्यादिकं फलमपि जायते ।

भाषार्ध

श्रीर जब श्राग्नि उस वायु को वहां में हलका करके निकाल देता है तव वहां शुद्ध वायु भी प्रवेश कर सकता है। इसी कारण यह फल यज्ञ से ही हो सकता है श्रान्य प्रकार में नहीं। क्योंकि जो होम के परमाणुयुक्त शुद्ध वायु है सो पूर्वस्थित दुर्गन्धवायु को निकाल के उस देशस्थ वायु को शुद्ध करके रोगों का नाश करने वाला होता श्रीर मनुष्यादि मृष्टि को उत्तम सुख को प्राप्त करता है।

यो होमेन सुगन्धयुक्तद्रव्यपरमाणुयुक्त उपरिगतो वायुर्भवति स वृष्टिज तं शुद्धं कृत्वा, वृष्ट्याधिक्यमपि करोति । तद्द्वारीपध्यादीनां शुद्धेरुत्तरोत्तरं जगति महत्सुखं वर्धत इति निश्चीयते । एतत्ख्वव्यग्निसंयोगरहितसुगन्धेन वायुना भिवतुमशक्यमस्ति । तस्माद्धोमकरण्युत्तममेव भवतीति निश्चेतव्यम् ।

भाषार्थ

जो वायु सुगन्ध्यादि द्रव्य के परमागुत्रों से युक्त होमद्वारा त्राकाश में चढ़ के वृष्टिजल को शुद्ध कर देता श्रीर उससे वृष्टि भी त्राधिक होती है क्योंकि होम करके नीचे गर्मी श्राधिक होने से जल भी ऊपर श्रीधक चढ़ता है। शुद्ध जल श्रीर वायु

के द्वारा अन्नादि अधिध भी अत्यन्त शुद्ध होती हैं। ऐसे प्रतिदिन सुगन्ध के अधिक होने से जगत् में नित्यप्रति अधिक २ सुख बढ़ता है। यह फल अग्नि में होम करने के विना दूसरे प्रकार से होना असम्भव है। इससे होम का करना अवश्य है।

अन्यच दूरस्थले केनचित्पुरुषेणाग्नौ सुगन्धद्रव्यस्य होमः कियते तपुक्रो वायुर्द्रस्थमनुष्यस्य घाणोन्द्रियेण संयुक्तो भवति । सोत्र सुगन्धो वायुरस्तीति जानात्येव । अनेन विज्ञायते वायुना सह सुगन्धं दुर्गन्धं च द्रव्यं गच्छतीति । तद्यदा स दूरं गच्छति तदा तस्य घाणोन्द्रियसंयोगो न भवति पुनर्बालवुद्धीनां भ्रमो भवति स सुगन्धो नास्तीति । परन्तु तस्य दुतस्य पृथग्भूतस्य वायुस्यस्य सुगन्धयुक्तस्य द्रव्यस्य देशान्तरे वर्त्तमानत्वात्तेनी विज्ञायते । अन्यदिष लक्षु होमकरणस्य बहुविधमुत्तमं फलमस्ति तद्विचारेण बुधैविज्ञेयमिति ।

भाषार्थ

श्रीर भी सुगन्ध के नाश नहीं होने में कारण है कि किसी पुरुष ने दूर देश में सुगन्ध चीजों का श्राग्न में होम किया हो, उस सुगन्ध से युक्त जो वायु है सो होम के स्थान से दूर देश में स्थित हुए मनुष्य के नाक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने से उसको यह ज्ञान होता है कि यहां सुगन्ध वायु है। इससे जाना जाता है कि द्रव्य के श्रालग होने में भी द्रव्य का गुण द्रव्य के साथ ही बना रहता है श्रीर वह वायु के साथ सुगन्ध श्रीर दुर्गन्ध युक्त सूच्म होके जाता श्राता है। परन्तु जब वह द्रव्य दूर चला जाता है तब उसके नाक इन्द्रिय से संयोग भी श्रूट जाता है, फिर बालबुद्धि मनुष्यों को ऐसा श्रम होता है कि वह सुगन्धित द्रव्य नहीं रहा। परन्तु यह उनको श्रवश्य जानना चाहिये कि वह सुगन्ध द्रव्य श्राकाश में वायु के साथ बना ही रहता है। इन से श्रन्य भी होम करने के बहुत से उत्तम फल हैं उनको बुद्धिमान लोग विचार से जान लेंगे।

यदि होमकरणस्यैतत्फलमस्ति तद्धोमकरणमात्रेणैव सिध्यति पुनस्तत्र वेद-मन्त्राणां पाठः किमर्थः क्रियते ?। श्रत्र ब्र्मः । एतस्यान्यदेव फलमस्ति । किम् । यथा हस्तेन होमो, नेत्रेण दर्शनं, त्वचा स्पर्शनं च क्रियते, तथा वाचा वेदमन्त्रा श्रापि पठ्यन्ते । तत्पाठेनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः क्रियन्ते । होमेन किं फलं भवती-त्यस्य ज्ञानं, तत्पाठानुवृत्या वेदमन्त्राणां रच्चणमिश्वरस्यास्तित्वसिद्धिश्व । श्रन्यच सर्वकर्मादावीश्वरस्य प्रार्थना कार्य्यत्युपदेशः । यज्ञे तु वेदमन्त्रोचारणात्सर्वत्रेव तत्प्रार्थना भवतीनि वेदितव्यम् ।

भाषार्थ

प्र०-होम करने का जो प्रयोजन है सो तो केवल होम से ही सिद्ध होता है फिर वहां वेदमन्त्रों के पढ़ने का क्या काम है ? उ०-उनके पढ़ने का प्रयोजन कुछ और ही है। प्र०-वह क्या है ? उ०-जैसे हाथ से होम करते, आंख से देखते और त्वचा से स्पर्श करते हैं, वैसे ही वाग्री से वेदमन्त्रों को भी पढ़ते हैं। क्योंकि उन के पढ़ने से वेदों की रचा, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना होती है। तथा होम से जो २ फल होते हैं उनका स्मरण भी होता है। वेदमन्त्रों के वांरवार पाठ करने से वे कण्ठस्थ भी रहते हैं और ईश्वर का होना भी विदित होता है कि कोई नास्तिक न होजाय, क्योंकि ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक ही सब कर्मों का आरम्भ करना होता है। सो वेदमन्त्रों के उच्चारण से यह यह में तो उसकी प्रार्थना सर्वत्र होती है। इसलिये सब उत्तम कर्म वेदमन्त्रों से ही करना उचित है।

कियदत्राह वेदमन्त्रोचारणं विहायान्यस्य कस्याचित्पाठस्तत्र कियेत तदा किं दूषणमस्तीति श्रित्राच्यते । नान्यस्य पाठे कृते सत्येतत्त्रयोजनं सिध्यति । कृतः । ईश्वरोक्ताभावान्त्रिरतिशयसत्यविरहाच । यद्यद्धि यत्र कचित्सत्यं प्रसिद्धमस्ति तत्तन्त्सर्वं वेदादेव प्रमृतमिति विज्ञेयम् । यद्यत्वन्वनृतं तत्तदनीश्वरोक्तं वेदाद्धिहिरिति च । अत्रार्थे मनुराह । त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः । अचिन्त्यस्या-प्रमेयस्य कार्य्यतन्वार्थवित्प्रभो ॥ १ ॥ अ० १ । श्लो० ३ ॥ चातुर्वर्ण्यं त्रयोलो-काश्वत्वारश्वाभुमाः पृथक् । भूतं भव्यं भविष्यच सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥ २ ॥ विभक्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् । तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साध नम् ॥ ३ ॥ अ० १२ । श्लो० ६७ । ६६ ॥

भाषार्थ

प्र०-यह में वेदमन्त्रों को छोड़ के दूसरे का पाठ करे तो क्या दोष है ? उ०अन्य के पाठ में यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, ईश्वर के वचन से जो सत्य
प्रयोजन सिद्ध होता है सो अन्य के वचन से कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जैसा
ईरवर का वचन सर्वया आन्तिरहित सत्य होता है वैसा अन्य का नहीं और जो
कोई वेदों के अनुकूल अर्थात् आत्मा की शुद्धि, आप्त पुरुषों के प्रन्थों का बोध और
उनकी शिचा से वेदों को यथावत् जानके कहता है उसका भी वचन सत्य ही होता
है और जो केवल अपनी बुद्धि से कहता है वह ठीक २ नहीं हो सकता। इससे

यह निश्चय है कि जहां २ सत्य दीखता और सुनने में आता है, वहां २ वेदों में से ही फैला है और जो २ मिध्या है सो २ वेद से नहीं, किन्तु वह जीवों ही की कल्पना से प्रसिद्ध हुआ है, क्योंकि जो ईश्वरोक प्रन्थ से सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है सो दूसरे से कभी नहीं हो सकता। इस विषय में मनु का प्रमाण है कि (त्वमे०)। मनुजी से ऋषि लोग कहते हैं कि स्वयंभू जो सनातन वेद हैं जिनमें असत्य कुछ भी नहीं और जिनमें सब सत्यविद्याओं का विधान है उनके अर्थ को जाननेवाले केवल आप ही हैं।। १।। (चातु०) अर्थात् चार वर्ण, चार आश्रम, भूत, भविष्यत् और वर्तमान आदि की सब विद्या वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं।। २।। क्योंकि (विभित्ति०) यह जो सनातन वेद शास्त्र है सो सब विद्याओं के दान से संपूर्ण प्राणियों का धारण और सब सुखों को प्राप्त करता है, इस कारण से हम लोग उसको सर्वथा उत्तम मानते हैं और इसी प्रकार मानना भी चाहिये, क्योंकि सब जीवों के लिये सब सुखों का साधन यही है।

किं यज्ञानुष्ठानार्थं भूमिं खनित्वा वेदिः, प्रणीतादीनि पात्राणि, कशत्णं, यज्ञशाला, ऋत्विजश्रेतत्मर्वं करणीयमस्ति ?। अत्र ब्रमः। यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धं तत्तत्कर्त्तव्यं, नेतरत्। तद्यथा। भूमिं खनित्वा वेदी रचनीया, तस्यां होमे कृतेऽ-ग्नेस्तीव्रत्वाद्धुतं द्रव्यं सद्यो विभेदं प्राप्याकाशं गच्छति। तथा वेदिदृष्टान्तेन त्रिकोणचतुष्कोणगोलश्येनाद्याकारवत्करणाद्रेखागणितमपि साध्यने। तत्र चेष्टकानां परिगणितत्वाद्वनया गाणितविद्यापि गृद्धते। एवमेवोत्तरेपि पदार्थाः सप्रयोजनाः सन्त्यव, परन्त्ववं प्रणीतायां रिक्तितायां पुर्यं स्यादेवं पापिमिति यदुच्यते तत्र पापिनमत्ताभावात्सा कल्पना मिध्येवास्ति। किंतु खलु यज्ञसिद्धचर्थं यद्यद्ववश्यकं युक्तिसिद्धमस्ति तत्त्तदेव ग्राह्मम्। कृतः। त्रीर्वेना तदासिद्धेः।

भाषार्थ

प्र०—क्या यज्ञ करने के लिये पृथिवी खोद के वेदिरचन, प्रणीता, प्रोज्ञणी श्रौर चमसादि पात्रों का स्थापन, दर्भ का रखना, यज्ञशाला का बनाना श्रौर ऋित्वजों का करना, यह सब करना ही चाहिये ? उ०—करना तो चाहिये, परन्तु जो २ युक्तिसिद्ध हैं सो २ ही करने के योग्य हैं । क्योंिक जैसे वेदि बना के, उसमें होम करने से वह द्रव्य शीघ्र भिन्न २ परमाणुरूप होके, वायु श्रौर श्रीप्त के साथ श्राकाश में फैल जाता है, ऐसे ही वेदि में भी श्राप्त तेज होने श्रौर होम कर

साकल्य. इधर उधर विखरने से रोकने के लिये वेदि अवश्य रचनी चाहिये। और वेदि के त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल तथा श्येन पत्ती आदि के तुल्य बनाने के दृष्टान्त से रेंखांगिएत विद्या भी जानी जाती है, कि जिससे त्रिभुज आदि रेखाओं का भी मनुष्यों को यथावत बोध हो तथा उसमें जो ईंटों की संख्या की है उससे गणितविद्या भी समभी जाती है। इस प्रकार से कि जब इतनी लम्बी चौड़ी ऋौर गहरी वेदि हो तो उस में इतनी बड़ी ईंटें इतनी लगेंगी इत्यादि वेदि के बनाने में बहुत प्रयोजन है। तथा सुवर्ण, चांदी वा काष्ट्र के पात्र इस कारण से बनाते हैं कि उनमें जो घृतादि पदार्थ रक्खे जाते हैं वे विगडते नहीं और कुश इसलिय रखते हैं कि जिससे यज्ञ-शाला का मार्जन हो और चिंवटी आदि कोई जन्त वेदि की ओर आग्ने में न गिरने पावे। ऐसे ही यज्ञशाला बनाने का यह प्रयोजन है कि जिस से श्रिप्ति की ज्वाला में वाय अत्यन्त न लगे और वेदि में कोई पत्ती किंवा उनकी वीठ भी न गिरे। इसी प्रकार ऋत्विजों के विना यज्ञ का काम कभी नहीं हो सकता, इत्यादि प्रयोजन के लिये यह सब विधान यज्ञ में अवश्य करना चाहिये। इनसे भिन्न द्रव्य की शुद्धि श्रौर संस्कार श्रादि भी श्रवश्य करने चाहियें । परन्तु इस प्रकार से प्रशीतापात्र रखने से पुण्य त्रौर इस प्रकार रखने से पाप होता है इत्यादि कल्पना मिथ्या ही है, किन्त जिस प्रकार करने में यज्ञ का कार्य्य श्रच्छा बने वही करना श्रवश्य है, श्रन्य नहीं।

यक्षे देवताशब्देन किं गृह्यते १। याश्च वेदोक्ताः । अत्र प्रमाणानि । अग्निर्दे-घना वाती देवता स्रय्यी देवता चन्द्रमा देवना वर्सवो देवता रुद्रा देवतांऽऽदिःया देवता मरुती देवता विश्वेदेवा देवता बृह्स्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वर्रुणो देवता ।। १ ।। यज्ञः अ० १४ । मं० २० ।।

श्रत्र कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम् । गायज्यादीनि छन्दांसि
ह्यान्यादिदेवताख्यान्येव गृह्यन्ते । तेषां कर्मकाण्डादिविधेर्यातकत्वात् । यस्मिनमन्त्रे
चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्त्तते स एव मन्त्रोग्निदेवतो गृह्यते । एवमेव वातः,
स्र्य्यं,श्रन्द्रमा, वसवो, रुद्रा, श्रादित्या, मरुतो, विश्वेदेवा, बृहस्पति,रिन्द्रो,
वरुणश्रेत्येतच्छब्दयुक्ता मन्त्रा देवताशब्देन गृह्यन्ते, तेषामपि तत्तदर्थस्य योतकत्वात्परमाप्तेश्वरेण कृतसंकेतत्वाच्च ।

भाषार्थ

प्र०—यज्ञ में देवता शब्द से किसका प्रहण होता है?, उ०—जो २ वेद में कहे हैं उन्हीं का प्रहण होता है। इसमें यह यजुर्वेद का प्रमाण है कि (श्राग्निर्देव०)। कर्मकाएड अर्थात् यद्मिकया में मुख्य करके देवता शब्द से वेदमन्त्रों का ही प्रहरण करते हैं, क्योंकि जो गायत्र्यादि छन्द हैं वे ही देवता कहाते हैं और इन वेदमंत्रों से ही सब विद्याओं का प्रकाश भी होता है। इसमें यह कारण है कि जिन २ मंत्रों में अप्रि आदि शब्द हैं उन २ मन्त्रों का और उन २ शब्दों के अर्थों का आप्रि आदि देवता नामों से प्रहरण होता है। मन्त्रों का देवता नाम इसिलये हैं कि उन्हीं से सब अर्थों का यथावत् प्रकाश होता है।

श्रत्राह यास्काचार्यो निरुक्ते । कर्मसंपत्तिमेत्रो वेदे ॥ नि० श्र० १ । खं० २॥ अथातोदैवतं, तद्यानि नामानि प्राधान्यस्त्रतीनां देवतानां तद्देवतमित्याचन्त्रते। सैषा देवतोपपरीचा, यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुक्के तहैवतः स मन्त्रो भवति । तास्त्रिविधा ऋचः । परोचकृताः, प्रत्यचकृता, श्राध्या-त्मिक्यश्र ।। नि० २४०७ । खं० १ ।। श्रस्यार्थः । (कर्मसं०) कर्मणामग्निद्दोत्रा-द्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाधनानां च संपत्तिः संपन्नता संयोगो भवति येन स मन्त्रो वेदे देवताशब्देन गृद्यते, तथा च कर्मणां संपत्तिर्मोचो भवति येन परमेश्वरप्राप्तिश्र सोपि मन्त्रो मन्त्रार्थश्राङ्गीकार्घ्यः । अयेत्यनन्तरं देवतं किम्रच्यते? यत्प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां कियते तद्देवतमिति विज्ञायते । यानि नामानि मन्त्रोक्नानि येषामर्थानां मन्त्रेषु विद्यन्ते तानि सर्वाणि देवतालिङ्गानि भवन्ति । तद्यथा । श्रुमि दृतं पुरोद्देधे इच्युवाह्र द्वपेत्रुवे । देवां २ ॥ श्रासादयादिइ ॥ १ ॥ यज्ञः अप २२ । मं॰ १७ ।। अत्राग्निशब्दो लिङ्गमस्ति । अतः किं विश्वेयं १ यत्र यत्र देवतोच्यते तत्र तत्र तल्लिको मात्रो ग्राह्म इति । यस्य द्रव्यस्य नामान्वितं यच्छन्दोस्ति तदेव दैवतमिति बोध्यम् । सा एषा देवतोपपरीचाऽतीता आगामिनी चास्ति । अत्रोच्यते । ऋषिरीश्वरः सर्वदृग्, यत्कामो यं कामयमान इममर्यप्रप-दिशेयमिति, स यत्कामः, यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वम्रुपदेष्टुमिच्यन् सन् स्तुति प्रयुक्के, तदर्थगुणकीर्तनं प्रयुक्कवानस्ति, स एव मन्त्रस्तदेवतो भवति। किंच यदेवार्थप्रतीतिकरणं दैवतं प्रकारयं येन भवति स मन्त्रो देवताशब्दवाच्यो-स्तीति विज्ञायते । देवतामिधा ऋचः । यामिर्विद्वांसः सर्वाः सत्यविद्याः स्तुवन्ति, प्रकाशयन्ति, ऋचस्तुताविति धात्वर्थयोगात् । ताः श्रुतयस्त्रिविधास्त्रिप्रकारकाः सन्ति । परोच्चकृताः, प्रत्यच्चकृताः, श्राध्यात्मिष्यश्रेति । यासां देवतानामृचां परोचकतो अ्योंस्ति ताः परोचकता, यासां प्रत्यचमर्थो दृश्यते ताः प्रत्यचकता ऋचो देवताः, श्राध्यात्मिक्यश्राध्यात्मं जीवात्मानं, तद्नत्यीमिणं परमेश्वरं च प्रतिपा-दितुमही या ऋचो मन्त्रास्ता श्राध्यात्मिक्यश्रेति । एता एव कर्मकाएडे देवता-शब्दार्थाः सन्तीति विश्लेयम् ।

भाषार्थ

(कर्मसं०) वेदमन्त्रॉ करके श्राप्रिहोत्र से लेके श्राथमेधपर्ध्यन्त सब यज्ञों की शिल्पविद्या श्रीर उनके साधनों की सम्पत्ति श्रर्थात् प्राप्ति होती श्रीर कर्मकाएड को लेके मोत्तपर्यन्त सुख मिलता है इसी हेतु से उन का नाम देवता है। (श्रथातो०) दैवत उन को कहते हैं कि जिन के गुर्णों का कथन किया जाय, श्रर्थान जा २ संज्ञा जिन २ मन्त्रों में जिस २ ऋर्थ की होती है उन २ मन्त्रों का नाम वही देवता होता है। जैसे (ऋप्रिंदतं०) इस मन्त्र में ऋप्रि शब्द चिह्न है, यहां इसी मन्त्र को अपिन देवता जानना चाहिये। ऐसे ही जहां २ मन्त्रों में जिस २ शब्द का लेख है वहां २ उस २ मन्त्र को ही देवता समभना होता है । इसी प्रकार सर्वत्र समभ केना चाहिये। मो देवता शब्द से जिस २ गुए से जो २ ऋर्थ लिये जाते हैं सो २ निरुक्त और ब्राह्मणादि प्रन्थों में श्रच्छी प्रकार लिखा है। इसमें यह कारण है कि ईश्वर ने जिस २ ऋर्थ को जिस २ नाम से वेदों में उपदेश किया है उस २ नाम बाले मन्त्रों से उन्हीं श्रथों को जानना होता है। सो वे मनत्र तीन प्रकार के हैं। उन में से कई एक परोत्त अर्थात अप्रत्यत्त अर्थ के, कई एक प्रत्यत्त अर्थात् प्रिमिद्ध अर्थ के और कई एक आध्यात्मिक अर्थात् जीव, परमेश्वर और सब पदार्थों के कार्य कारण के प्रतिपादन करने वाले हैं। इससे क्या श्राया कि त्रिकालस्थ जितने पदार्थ ऋौर विद्या हैं उनके विधान करने वाले मन्त्र ही हैं। इसी कारण से इनका नाम देवता है।

तद्येऽनोदिष्टदेवतामन्त्रास्तेषु देवतोपपरीचा । यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्त्यथान्यत्र यज्ञात्त्राजापत्या इति याज्ञिका, नाराशं मा इति नैरुक्ना, आपि वा सा कामदेवता स्यात्, प्रायोदेवता वास्तिह्याचारो बहुलं लोके देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं, पितृदेवत्यं, याज्ञदेवतो मन्त्र इति ॥ नि० अ०७। खं०४॥ (तद्येनादि०) तत्तस्माद्ये खल्वनादिष्टदेवता मन्त्रा अर्थाञ्च विशेषतो देवता-दर्शनं नामार्थो वा येषु दृश्यते तेषु देवतोपपरीचा कास्तीत्यत्रोच्यते। यत्र विशेषो न दृश्यते तत्रैवं यज्ञो देवता, यज्ञाङ्गं वेत्येतदेवताख्यामिति विज्ञायते। ये खलु यज्ञा-दृश्यते तत्रैवं यज्ञो देवता, यज्ञाङ्गं वेत्येतदेवताख्यामिति विज्ञायते। ये खलु यज्ञा-दृश्यते ते वै प्राजाप्रत्याः परमेश्वरदेवताका मन्त्रा भवन्तीत्येवं याज्ञिका

मन्यन्ते। अत्रैवं विकल्पोस्ति नाराशंसा मनुष्यविषया इति नैरुक्ता ब्रुवन्ति, तथा या कामना सा कामदेवता भवतीति सकामा लीकिका जना जानन्ति । एवं देवता-विकल्पस्य प्रायेण लोके बहुलमाचारोस्ति । क्विचेदेवदेवत्यं, कर्म, मात्रदेवत्यं, विद्वदेवत्यं, कर्म, पात्रदेवत्यं, विद्वदेवत्यमितिथिदेवत्यं, पितृदेवत्यं चैतेपि पूज्याः सत्कर्त्तव्याः सन्त्यतस्तेषाग्रुप-कारकर्तृत्वमात्रमेव देवतात्वमस्तीति विज्ञायते । मन्त्रास्तु खलु यज्ञसिद्धये ग्रुख्य- हेतुत्वाद्याज्ञदेवता एव सन्तीति निश्रीयते ।

भाषार्थ

जिन २ मन्त्रों में सामान्य अर्थात् जहां २ किसी विशेष अर्थ का नाम प्रसिद्ध नहीं दीख पड़ता वहां २ यज्ञ आदि को देवता जानना होता है। (अग्निमींड) इस मन्त्र के भाष्य में जो तीन प्रकार का यज्ञ लिखा है, अर्थात् एक तो अग्निहोत्र से लेके अधमेध पर्य्यन्त, दूसरा प्रकृति से लेके पृथिवी पर्य्यन्त जगत् का रचन रूप तथा शिल्पविद्या और तीसरा सत्सङ्ग आदि से जो विज्ञान और योगरूप यज्ञ है, ये ही उन मन्त्रों के देवता जानने चाहियें। तथा जिनसे यह यज्ञ सिद्ध होता है वे भी उन यज्ञों के देवता हैं। और जो इनसे भिन्न मन्त्र हैं उन का प्राज्यपत्य अर्थात् परमेश्वर ही देवता हैं। तथा जो मन्त्र मनुष्यों के अर्थ का अतिपादन करते हैं उनके मनुष्य देवता हैं। इस में बहुत प्रकार के विकल्प हैं कि कहीं पूर्चोंक देवता कहाते हैं, कहीं यज्ञादि कर्म, कहीं माता, कहीं पिना, कहीं विद्वान, कहीं आतिथि और कहीं आचार्य देव कहाते हैं। परन्तु इसमें इतना केद हैं कि यज्ञ में मन्त्र और परमेश्वर को ही देव मानते हैं।

श्रत्र परिगणनं गायत्र्यादिच्छन्दोन्विता मन्त्रा, ईश्वराज्ञा, यज्ञः, यज्ञाङ्गं, प्रजापतिः, परमेश्वरः, नराः, कामः, विद्वान्, श्रतिथिः, माता, पिता, श्राचार्य्य-श्रेति कर्मकाण्डादीन्प्रत्येता देवताः सन्ति । परन्तु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञदेवते भवत इति निश्रयः ।

भाषार्थ

जो २ गायज्यादि छन्दों से युक्त वेदों के मन्त्र, उन्हीं में ईश्वर की आज्ञा, यज्ञ और उनके अङ्ग अर्थात् साधन, प्रजापित जो परमेश्वर, नर जो मनुष्य, काम, विद्वान, अतिथि, माता, पिता और आचार्य्य ये अपने २ दिव्यगुणों से ही देवता कहाते हैं। परन्तु यज्ञ में तो वेदों के मन्त्र और ईश्वर को ही देवता माना है। श्रन्थस । देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति व। ॥
नि० श्र० ७ । खं० १५ ॥ मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात् ॥ निरु० श्र० ७ । खं० १२ ॥ श्रस्यार्थः । (देवो दानात्०) यत्स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परम्वत्वोत्पादनं तद्दानं भवति, (दीपनात्) दीपनं, प्रकाशनम्, (द्योतनात्) द्योतनात्मुपदेशादिकं च । श्रत्र दानशब्देनेश्वरो, विद्वांसो मनुष्याश्र देवतासंद्वाः सन्ति । दीपनात्सूर्याद्यो, द्योतनान्मानृपित्राचार्यातिथयश्र । (द्युस्थाने) तथा द्याः किर्णा श्रादित्यरश्मयः प्राणस्य्यादयो वा स्थानं स्थित्यर्थं यस्य स द्युस्थानः, प्रकाशकानामपि प्रकाशकत्वात्परमेश्वर एवात्र देवोस्तीति विद्वयम् । श्रत्र प्रमाणम् । न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कृतोयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ इति कठ० वद्वी ५ । मं० १५ ॥ तत्र नैव परमेश्वरे सूर्यादयो भान्ति, प्रकाशं कुर्वन्ति । किन्तु तमेव भान्तं प्रकाशयन्तमनु पश्चाचे हि प्रकाशयन्ति । नैव खल्वेतेषु कश्चित्स्वातन्त्र्येण प्रकाशां-स्तीति । श्रतो सुख्यो देव एकः परमेश्वर एवोपास्योस्तीति मन्यध्वम् ।

भाषार्थ

(देवो दाना०) दान देने से देव नाम पड़ता है श्रोर दान कहते हैं श्रपनी चीज दूसरे के श्रथं दे देना, दीपन कहते हैं प्रकाश करने को, द्यांतन कहते हें सत्यो-पदेश को। इनमें से दान का दाता मुख्य एक ईश्वर ही है कि जिसने जगन को सब पदार्थ दे रक्खे हैं, तथा विद्वान मनुष्य भी विद्यादि पदार्थों के देने वाल होने से देव कहाते हैं। (दीपन) श्रर्थात् सब मूर्त्तिमान द्रव्यों का प्रकाश करने से युर्ध्यादि लोकों का नाम भी देव है (घोतन) तथा माता, पिता, श्राचार्थ्य श्रार श्रातिथ भी पालनविद्या श्रोर सत्योपदेशादि के करने से देव कहाते हैं, वेसे ही सूर्यादि लोकों का भी जो प्रकाश करनेवाला है, सो ही ईश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य इष्टदेव हैं, श्रन्य कोई नहीं। इस में कठोपनिषद् का भी प्रमाण है कि सूर्य, चन्द्रमा, तारे, विजुली श्रोर श्राग्नि ये सब परमेश्वर में प्रकाश नहीं कर सकते, किन्तु इन सब का प्रकाश करने वाला एक वही है, क्योंकि परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य श्रादि सर्व जगन् प्रकाशित हो रहा है, इस में यह जानना चाहिये कि ईश्वर से भिन्न कोई पदार्थ स्वतन्त्र प्रकाश करने वाला नहीं है, इस से एक परमेश्वर ही मुख्य देव हैं।

नेनेहेवा आमुवन्यूर्वेमर्पेत् ॥ य० अ० ४०। मं० ४॥ अत्र देवशब्देन

मनःपष्टानि श्रोत्रादीनीान्द्रयाणि गृह्यन्ते, तेषां शब्दस्पशिरूपसगन्धानां सत्यास-त्ययोश्वार्थानां द्योतकत्वात्तान्यपि देवाः । यो देवः सा देवता, देवात्तिल्यनेन स्रत्रेण स्वार्थे तल्विधानात् । स्तुतिर्हि गुणदोषकीर्तनं भवति । यस्य पदार्थस्य मध्ये यादृशा गुणा वा दोषाः सन्ति तादृशानामेवोपदेशः स्तुतिर्विद्धायते । तद्यथा । अयमसिः प्रहृतः सञ्चतीवच्छेदनं करोति, तीच्णधारः स्वच्छो धनुर्वञा-म्यमानोपि न शुट्यतीत्यादिगुणकथनमतो विपरीतोऽसिनैव तत् कर्नु समर्थो भव-तीत्यसेः स्तुतिर्विद्धेया ।

भाषार्थ

(नैनदेवा०) इस वचन में देव शब्द से इन्द्रियों का प्रहण होता है जो कि श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जीभ, नाक श्रोर मन ये छः देव कहाते हैं, क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गत्ध, सत्य श्रोर श्रसत्य इत्यादि श्रयों का इन से प्रकाश होता है श्रोर देव शब्द से स्वार्थ में तज़ प्रत्यय करने से देवता शब्द सिद्ध होता है। जो २ गुण जिस २ पदार्थ में ईश्वर ने रचे हैं उन २ गुणों का लेख, उपदेश, श्रवण श्रोर विज्ञान करना तथा मनुष्यमृष्टि के गुण दोषों का भी लंख श्रादि करना इस को स्तुति कहते हैं। क्योंकि जितना २ जिस २ में गुण है उतना २ उस २ में देवपन है। इस से वे किसी के इष्टदेव नहीं हो सकते। जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह तलवार काट करने में वहुत श्रव्छी श्रोर निर्मल है, इस की धार बहुत तेज है श्रोर यह धनुष के समान नमाने से भी नहीं दूदती इत्यादि तलवार के गुणकथन को स्तुति कहते हैं।

तद्वद्ग्यत्रापि विद्रेयम् । परन्त्वयं नियमः कर्म्मकाएडं प्रत्यस्ति । उपासना-ज्ञानकाएडयोः कर्म्मकाएडस्य निष्कामभागेपि च परमेश्वर एवेष्टदेवोस्ति । कस्मात् । तत्र तस्यैव प्राप्तिः प्रार्थ्यते । यश्च तस्य सकामो भागोस्ति तत्रेष्टविषय-भोगप्राप्तये परमेश्वरः प्रार्थ्यते । श्वतः कारणाङ्गेदो भवति । परन्तु नैवेश्वरार्थत्यागः कापि भवतीति वेदाभिश्रायोस्ति ।

भाषार्थ

इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना इस नियम के साथ कि केवल परमेश्वर ही कर्म उपासना और ज्ञानकाण्ड में सब का इष्टदेव स्तुति, प्रार्थना, पूजा और उपासना करने के योग्य है, क्योंकि गुण वे कहाते हैं जिनसे कर्मकाण्डादि में उपकार लेना होता है। परन्तु सर्वत्र कर्मकाण्ड में भी इष्टभोग की प्राप्ति के लिये परमेश्वर का त्याग नहीं होता, क्योंकि कार्य्य कारण सम्बन्ध से ईश्वर ही मर्वत्र स्तुति, प्रार्थना, उपासना से पूजा करने के योग्य होता है।

अत्र प्रमाणम् । माहाभाग्यादेवताया एक आत्मा बहुधा म्तूयते, एकम्या-त्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति । कर्मजन्मान, श्रात्मजन्मान, श्रात्मेवैपां रथो भवत्यात्माऽश्वा, * श्रात्मायुधमात्मेषव, श्रात्मा मर्व देवस्य देवस्य ॥ नि० श्र० ७ । खं० ४ ॥ (माहाभाग्यादेव०) मर्वासां व्यवहारोपयोगिदेवतानां मध्य श्रात्मन एव मुख्यं देवतात्वमस्ति । कुतः । श्रात्मनो माहाभाग्यादर्थात्सर्वशक्तिमन्त्वादि-विशेषणवन्त्वात् । न तस्याग्रेऽन्यस्य कस्यापि देवतात्वं गण्यं भवितुमईति । कुतः । सर्वेषु वेदेष्वेकस्याबितीयस्यासहायस्य सर्वत्रव्याप्तस्यात्मन एव बहुधा बहुप्रका-रैरुपासना विद्वितास्ति । अस्मादन्ये ये देवा उक्का, वच्यन्ते च, ते सर्व एकस्या-त्मनः परमेश्वरस्य प्रत्यङ्गान्येव भवन्ति । श्रङ्गमङ्गं प्रत्यश्रतीति निरुक्षचा तस्यैव सामर्थ्यस्यैकैकस्मिन्देशे प्रकाशिताः सन्ति । ते च (कर्मज०) यतः कर्मणा जायन्ते तस्मात्कर्मजन्मानो, यत त्र्यात्मन ईश्वरस्य सामध्यीज्जातास्तस्मादात्म-जन्मानश्र सन्ति । ऋथैतेषां देवानामात्मा परमेश्वर एव रथो रमणाधिकरणम् । स एवाश्वागमनदेतवः । स श्रायुधं विजयावहामिषवो बाला दुःखनाशकाः स एवास्ति । तथा चात्मैव देवस्य देवस्य सर्वस्वमस्ति । ऋथीत्सर्वेषां देवानां म एवीत्पादको धाताधिष्ठाता मंगलकारी वर्तते । नातः परं किचिदुत्तमं वस्तु विद्यत इति बोध्यम्। जाबाध

इस में निरुक्त का भी प्रमाण है कि ज्यवहार के देवताओं की उपासना कभी नहीं करनी चाहिये, किन्तु एक परमेश्वर ही की करनी उचित है। इसका निश्चय वेदों में अनेक प्रकार से किया है कि एक आदितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे सब ज्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं। इन का जन्म, कर्म और ईश्वर के सामर्थ्य से होता है और इन का रथ अर्थात् जो रमण का स्थान, अश्वा अर्थात् शीघ्र सुख प्राप्ति का कारण, आयुध अर्थात् सब शतुओं के नाश करने का हेतु और इष्टु अर्थात् जो बाण के समान सब दुष्ट गुर्णों का छेदन करने वाला शक्ष है सो एक परमेश्वर ही है, क्योंकि परमेश्वर ने जिस २ में जितना २ दिज्यगुण रक्खा है उतना २ ही उन द्रज्यों में देवपन है अधिक नहीं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि केवल परमेश्वर ही उन सब का उत्पादन, धारण और मुक्ति का देनेवाला है।

^{*} श्रम इति निरुक्ते पाठः ॥

श्रत्रान्यद्पि प्रमाणम् । ये चिंशाति त्रर्यस्परो देवासी बर्हिरासदन् । बिद्रस्रह द्वितासनन् ॥१॥ ऋ० ऋ० ६। ऋ० २। व० ३५। मं० १॥ त्रयं स्त्रिश्रशता-स्तुवत भूतान्यशाम्यन्युजापंतिः पर्षेष्ठधर्धिपतिरासीत् ॥ २ ॥ य० अ० १४ । मं० ३२ ।। यस्य त्रयंस्त्रिशद्देवा निधि रचीनि सर्वेदा । निधि तमुद्य को वैद यं दैवा अभिरत्तथ ।। ३ ।। यस्य त्रयेस्त्रिशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे । तान्वे त्रयं-स्त्रिंगद्देवानेके ब्रह्मविदों विदुः ॥ ४॥ ऋथर्व० कां०१०। प्रपा० २३। ऋनु०४। मं० २३ । २७ ।। सहोवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिधशन्वेव देवा इति । कतमे ते त्रयस्त्रि अशदित्यष्टे वसव, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्यास्त एकत्रि । श-दिन्द्रश्रैव प्रजापतिश्र त्रयस्त्रिश्रंशाविति ॥ ३॥ कतमे वसव इति १, श्राग्निश्र, पृथिवी च, वायुश्रान्तरिचं, चादित्यश्र, द्यौश्र, चन्द्रमाश्र, नचत्राणि चैते वसवः । एतेषु हीद्य सर्व वसु हितमेतेहीद् असर्व वासयन्ते तद्यदिद् असर्व वासयन्ते तस्मा-द्वसव इति ॥ ४ ॥ कतमे रुद्रा इति १ दशेमे पुरुषे प्रागा, आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्बरीरादुरकामन्त्यथ रोदयन्ति, तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्वद्रा इति ॥ ४ ॥ कतम आदित्या इति १ द्वादशमासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः । एते हीद अ सर्वमाददाना यन्ति, तद्यदिद असर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ।। ६ ।। कतम इन्द्रः, कतमः प्रजापतिरिति ? स्तनायित्तुरेवेन्द्रो, यज्ञः प्रजापतिरिति । कतमः स्तनः यत्नुरित्यशनिरिति । कतमो यज्ञ इति ? पशव इति ॥ ७ ॥ कतमे ते त्रया देवा इतीम एव त्रयो लोका, एषु हीमे सर्वे देवा इति । कतमा द्वा देवावि-त्यत्रं चैव प्राणश्रेति । कतमोध्यऽर्घ इति ? योऽयं पवत इति ॥ = ॥ तदाहुः । यद-यमेक एव पवतेऽथ कथमध्यऽर्ध इति ? यदस्मिन्निद्धं सर्वमध्याध्नीत्तेनाध्यर्ध इति । कतम एको देव इति १ म ब्रह्म त्यदित्याचत्तते ॥ ६ ॥ श० कां० १४ । अ० ५ ॥ अर्थेपामर्थः ॥ वेदमन्त्राणामेवार्थो ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रकाशित इति द्रष्टव्यम् । शाकल्यं प्रति याज्ञवल्क्योक्तिः । त्रयित्वंशदेव देवाः सन्ति । त्र्रष्टी वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, इन्द्रः, प्रजापतिश्वेति । तत्र (वसवः) त्राग्निः, पृथिवी, वायुः, त्र्यन्तरित्तम्, त्रादित्यः, द्याः, चन्द्रमाः, नत्तत्राणि च । एतेषामष्टानां वसुसंज्ञा कृतास्ति । त्रादित्यः स्ट्येलोकस्तस्य प्रकाशोस्ति द्यौः स्ट्येसिन्धो पृथिन्यादिषु वा । त्र्राग्निलोकोऽस्त्याग्निरेव । कुत एते वसव इति १, यद्यस्मादेते-म्वष्टम्वेवेदं सर्वं सम्पूर्णं वसु वस्तुजातं हितं धृतमस्ति, किंच सर्वेषां वासाधिकर-गानीम एव लोकाः सन्ति । हि यतश्रेदं वासयन्ते सर्वस्यास्य जगतो वासहेतवस्त-

स्मात्कारणादग्न्यादयो वसुमंज्ञकाः सन्तीति बोद्धच्यम् । (एकादश रुद्राः) ये पुरुषेऽस्मिन्देहे । प्राणः, श्रपानः, व्यानः, समानः, उदानः, नागः, कूर्मः, क्रुकलः, देवदत्तः, धनष्टजयश्च । इमे दश प्राणा, एकादश त्रात्मा, सर्वे मिलित्वैकादश रुद्रा भवन्ति । क्कत एतं रुद्रा ? इत्यत्राह, यदा यस्मिन्कालेऽस्मान्मरण्धर्मकाच्छरीरादु-त्क्रामन्तो निःसरन्तः सन्तोऽथेत्यनन्तरं मृतकसम्बन्धिनो जनांस्ते रोदयन्ति, यतो जना रुदान्ति, तस्मात्कारणादेते रुद्राः सन्तीति विज्ञयम् । (द्वादशादित्याः) चैत्राद्याः फाल्गुनान्ता द्वादश मासा ऋादित्या विज्ञेयाः । क्रुतः १ हि यत एते सर्व जगदाददाना अर्थादासमन्ताद्गृह्धन्तः प्रतिच्रणमुत्पन्नस्य वस्तुन आयुपः प्रलयं निकटमानयन्तो यन्ति गच्छन्ति, चऋवद् अमर्णनोत्तरोत्तरं जातस्य वस्तुनोऽवयव-शिथिलतां परिणामेन प्रापयन्ति, तस्मात्कारणान्मासानामादित्यसंज्ञा कृतास्ति । इन्द्रः परमंश्वर्ययोगात्स्तनयित्तुरशनिर्विद्यदिति । प्रजापतिर्यज्ञः प ग्रवइति । प्रजायाः पालनइेतुत्वात्पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौखिकी मंज्ञा कृतास्ति । एते सर्वे मिलित्वा त्रयस्त्रिशदेवा भवन्ति । देवो दानादित्यादिनिरुक्तचा ह्येतेषु व्यावहा-रिकमेव देवत्वं योजनीयम् । त्रयो लोकास्त्रयो देवाः । के ते ? इत्यत्राह निरुक्रकारः, धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति ॥ नि० अ० ६ । खं० २८ ॥ त्रयो लोका एत एव । वागेवायं लोको, मनोन्तरिचलोकः, प्रासोऽसी लोकः ॥ श० कां० १४ । ऋ०४। बा०३। कं०११ ॥ एतेपि त्रयो देवा ज्ञातच्याः ।। द्वा देवावसं प्राणश्रेति । ऋध्यर्थो ब्रह्माएडस्थः सूत्रात्माख्यः सर्वजगतो वृद्धिकरत्वाद्यायुर्देवः । किमेते सर्व एवोपास्याः सन्तीत्यत्राह, नैव, किन्तु (स ब्रह्म०) यत्सर्वजगत्कर्तृ, सर्वशक्रिमत्सर्वस्येष्टं, सर्वोपास्यं, सर्वाधारं, सर्वव्यापकं, सर्वकारण-मनादि, सचिदानन्दस्वरूपमजं, न्यायकारीत्यादिविषेणयुक्तं ब्रह्मास्ति स एवको देनश्रतुःस्रिशो वेदोक्नासिद्धान्तप्रकाशितः परमेश्वरो देवः सर्वमनुष्यंरुपास्योस्तीति मन्यध्वम् । ये वेदोक्तमार्गपरायणा त्र्रार्थ्यास्ते सर्वेदैतस्यैवोपासनं चकुः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च। अस्माद्धित्रस्येष्टकरणेनोपासनेन चानार्घ्यत्वमेव मनुष्येषु सिध्यतीति निश्रयः । अत्र प्रमाणम् । आत्मेत्येवोपासीत, स योन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् त्रिय ७ रोत्स्यतीतीश्वरो इ तथैव स्यादात्मानमेव त्रियम्रुपासीत, स य त्रात्मानमेव प्रियष्ट्रपास्ते न हास्यप्रियं प्रभायुकं भवति । योन्यां देवताग्रुपास्ते न स वेद यथा पशुरेव अस देवानाम् ॥ श० कां० १४ । ऋ० ४ । ऋ० २ । कं०१६, २२ ॥ श्रनेनार्थ्येतिहासेन विज्ञायते न परमेश्वरं विहायान्यस्योपासका श्रार्थ्या श्वासिकाति।

भाषार्थ

अब आगे देवता विषय में तेतीस देवों का व्याख्यान लिखते हैं। जैसा श्राझण् प्रन्थों में वेद मन्त्रों का व्याख्यान लिखा है (त्रयिक्षंशत्०)। अर्थात् व्यवहार के ये (३३) तेतीस देवता हैं। (८) श्राठ वसु, (११) ग्यारह रुद्र, (१२) बारह त्र्यादित्य, (१) एक इन्द्र त्र्यौर एक प्रजापति । उन में से त्र्याठ वसु ये हैं-श्राप्ति, पथिवी, वाय, श्रन्तरिच्, श्रादित्य, द्यौः, चन्द्रमा श्रीर नच्त्र । इन का वसु नाम इस कारण से है कि सब पदार्थ इन्हीं में बसते हैं श्रीर ये ही सबके निवास करने के स्थान हैं। (११) ग्यारह रुद्र ये कहाते हैं-जो शरीर में दश प्राण हैं, ऋर्थात प्राण, श्रपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कुकल, देवदत्त, धनञ्जय श्रीर ग्यारहवां जीवात्मा है, क्योंकि जब वे इस शरीर से निकल जाते हैं तब मरण होने से उसके सम्बन्धी लोग रोते हैं, वे निकलते हुए उन को रुलाते हैं इससे इन का नाम रुद्ध है। इसी प्रकार त्रादित्य बारह महीनों को कहते हैं, क्योंकि वे सब जगत के पदार्थी का आदान अर्थात् सब की आयु को प्रहण करते चले जाते हैं, इसी से इन का नाम श्रादित्य है। ऐसे ही इन्द्र नाम विजुली का है, क्योंकि वह उत्तम ऐश्वर्य की विद्या का मुख्य हेतु है और यज्ञ को प्रजापति इसलिये कहते हैं कि उससे वाय और वृष्टि जल की शुद्धिद्वारा प्रजा का पालन होता है, तथा पशुत्रों की यज्ञसंज्ञा होने का यह कारण है कि उन से भी प्रजा का जीवन होता है, ये सब मिल के अपने २ दिव्य गुणों से तेतीस देव कहाते हैं। और तीन देव स्थान, नाम और जन्म को कहते हैं। दो देव अन और प्राण को कहते हैं। अध्यर्धदेव अर्थात जिससे सब का धारण श्रौर वृद्धि होती है, जो सूत्रात्मा वाय सब जगत में भर रहा है उस को श्रध्यधेदेव कहते हैं। प्र०-क्या ये चालीस देव भी सब मनुष्यों को उपासना के योग्य हैं ? उ०-इन में से कोई भी उपासना के योग्य नहीं है, किन्तु व्यवहारमात्र की सिद्धि के लिये ये सब देव हैं, ऋौर सब मनुष्यों के उपासना के यांग्य तो देव एक ब्रह्म ही है। इसमें यह प्रमाण है (स ब्रह्म०)। जो सब जगत् का कर्ता, सर्वशिक्तमान्, सब का इष्ट, सब को उपासना के योग्य, सब का धारण करने वाला, सब में व्यापक श्रौर सब का कारए है, जिसका श्रादि श्रन्त नहीं श्रौर जो सच्चिदानन्दस्बरूप है, जिसका जन्म कभी नहीं होता और जो कभी अन्याय नहीं करता इत्यादि विशेषणों से वेदादि शास्त्रों में जिसका प्रतिपादन किया है उसी को इष्ट देव मानना चाहिये

श्रीर जो कोई इससे भिन्न को इष्ट देव मानता है उतको श्रनार्ध्य श्रर्थात् श्रनाड़ी क-हना चाहिये, क्योंकि (श्रात्मेत्ये०) इस में श्राय्यों का इतिहास शतपथन्नाद्याएं में है कि परमेश्वर जो सब का श्रात्मा है सब मनुख्यों को उसी की उपासना करनी उचित है। इस में जो कोई कहै कि परमेश्वर को छोड़ के दूसरे में भी ईश्वरबुद्धि से प्रेम-भिक्त करनी चाहिये तो उससे कहे कि तू सदा दुःखी होके रोदन करेगा, क्योंकि जो ईश्वर की उपासना करता है वह सदा श्रानन्द में ही रहता है, जो दूसरे में ईश्व-रबुद्धि करके उपासना करता है वह कुछ भी नहीं जानता, इसिलये वह विद्वानों के बीच में पशु श्रर्थान् गधा के समान है। इससे यह निश्चय हुश्चा कि श्राय्यं लोग सब दिन से एक ईश्वर ही की उपासना करते श्राये हैं।

श्रतः फिलितार्थीयं जातः । देवशब्दे दिवुधातीर्थे दशार्थास्ते संगता भवनतीति । तद्यथा । क्रीडा । विजिगीषा । व्यवहारः । द्युतिः । स्तुतिः । मोदः ।
मदः । स्वप्नः । कान्तिः । गितिश्रेति । एपामुभयत्र समानार्थत्वात् । परन्त्वन्याः
सर्वा देवताः परमेश्वरप्रकाश्याः सन्ति, स च स्वयंप्रकाशोस्ति । तत्र क्रीडनं क्रीडा ।
दुष्टान् विजेतुमिच्छा विजिगीषा । व्यवह्रियन्ते यस्मिन् व्यवहरणं व्यवहारः ।
स्वप्नो निद्रा । मदो ग्लेपनं दीनता । एते मुख्यतया लाकिकव्यवहारवृत्तयो भवनित्रा । सदो ग्लेपनं दीनता । एते मुख्यतया लाकिकव्यवहारवृत्तयो भवनित्रा । सदो ग्लेपनं दीनता । एते मुख्यतया लाकिकव्यवहारवृत्तयो भवनित्रा । सदोत्तिहहेतवोऽग्न्यादयो देवताः सन्ति । श्रत्रापि नैव सर्वथा परमेश्वरस्य
त्यागो भवति, तस्य मर्वत्रानुपंगितया सर्वोत्पादकाधारकत्वात् । तथा द्युतिद्योतनं
प्रकाशनं, स्तुतिर्गुणेषु गुणकथनं, स्थापनं च । मोदो हर्षः । प्रसन्नता कान्तिः,
शोभा । गतिर्क्षानं, गमनं, प्राप्तिश्वेति । एते परमेश्वरे मुख्यवृत्त्या यथावत्संगव्छनते । श्रतोन्यत्र तत्सत्तया गौराया वृत्त्या वर्त्तन्ते । एवं गौरामुख्याभ्यां हे गुभ्यास्थियत्र देवतात्वं सम्यक् प्रतीयते ।

भाषार्थ

इससे यह सिद्ध हुआ कि दिन्नु धातु के जो दश आर्थ हैं वे व्यवहार और परमार्थ इन दोनों आर्थ में यथावत् घटते हैं, क्योंकि इनके दोनों आर्थ की योजना बेदों में आक्छी प्रकार से की हैं। इन में इतना भेद हैं कि पूर्वोक्त वसु आदि देवता परमेश्वर के ही प्रकश से प्रकाशित होते हैं और परमेश्वर देव तो अपने ही प्रकाश से सदा प्रकाशित हो रहा है। इससे बही एक सब का पूज्यदेव है। और दिन्नु धातु के दश आर्थ ये हैं कि एक की इा जो खेलना, दूसरा विजिगीषा जो शतुआं को जीतने की इच्छा होना, तीसरा व्यवहार जो कि दो प्रकार का है एक बाहर और दूसरा भीतर का, चौथा निद्रा श्रौर पांचवां मद, ये पांच श्रर्थ मुख्य करके व्यवहार में ही घटते हैं, क्योंकि श्राग्न श्रादि ही पदार्थ व्यवहारसिद्धि के हेतु हैं। परन्तु परमेश्वर का त्याग इस में भी सर्वथा नहीं होता, क्योंकि वे देव उसी की व्यापकता श्रौर रचना से दिव्य गुण वाले हुए हैं। तथा गुति जो प्रकाश करना, स्तुति जो गुणों का कीर्त्तन करना, मोद प्रसन्नता, कान्ति जो शोभा, गित जो ज्ञान, गमन श्रौर प्राप्ति है, ये पांच श्रिथ परमेश्वर में मुख्य करके वर्त्तते हैं, क्योंकि इन से भिन्न श्रथों में जितने २ जिन २ में गुण हैं उतना २ ही उनमें देवतापन लिया जाता है। परमेश्वर में तो सर्व-शिक मत्त्वादि सव गुण श्रनन्त हैं, इससे पूज्यदेव एक वही है।

त्रत्र केचिदाहुः । वेदेषु जड़चेतनयोः पूजाभिधानाद्धेदाः संशयास्पदं प्राप्ताः सन्तीति गम्यते ? । अत्रोच्यते । मैवं अमि । ईश्वरेण सर्वेषु पदार्थेषु स्वातन्त्र्यस्य रचितत्वात् । यथा चचुषि रूपप्रहणशिक्तस्तेन रचितास्ति । अतश्चक्षुष्मान् पश्यति नैवान्धश्चेति व्यवहारोस्ति । अत्र कश्चिद् ब्र्यास्रेत्रेण सूर्व्यादिभिश्च विनेश्वरो रूपं कथं न दर्शयतीति, यथा तस्य व्यर्थेयं शङ्कास्ति तथा पूजनं, पूजा, सत्कारः, प्रियाचरणमनुक्क्लाचरणं चेत्यादयः पर्व्याया भवन्ति । इयं पूजा चचुपोपि सर्वे-र्जनंः क्रियते । एवमग्न्यादिषु यावद्रथद्योतकत्वं विद्याक्रियोपयोगित्वं चास्ति, तावद्वतात्वमप्यस्तु, नात्र काचित्चित्रिस्ति । क्रतः । वेदेषु यत्र यत्रोपासना विधीयते तत्र तत्र देवतात्वेनश्वरस्येव प्रहणात् ।

भाषार्थ

प्रश्न-इस विषय में कोई र मनुष्य ऐसा कहते हैं कि वेदों के प्रतिपादन से एक ईश्वर की पूजा सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि उन में जड़ और चेतन की पूजा लिखी है। इससे वेदों में संदेह सिहन कथन मालूम पड़ता है। उत्तर—ऐसा भ्रम मत करो, क्योंकि ईश्वर ने सब पदार्थों के बीच में स्वतन्त्र गुए र स्थे हैं। जैसे उसने श्वांख में देखने का सामर्थ्य रक्खा है तो उससे दीखता है, यह लोक में त्यवहार है। इस में कोई पुरुप ऐसा कहे कि ईश्वर नेत्र श्वांर सूर्य के विना रूप को क्यों नहीं दिखलाता है जैसे यह शङ्का उसकी व्यर्थ है वैसे ही पूजा विषय में भी जनना। क्योंकि जो दूसरे का सत्कार, प्रियाचरण श्वर्थान् उस के श्वनुकूल काम करना है इसी का नाम पूजा है।सो सब मनुष्यों को करनी उचित है। इसी प्रकार श्वरिन श्वादि पदार्थों में जितना २ श्वर्थ का प्रकाश, दिव्यगुए, कियासिद्धि श्वीर उपकार लेने का सम्भव है उतना २ उन में देवपन मानने से कुछ भी हानि नहीं हो सकती। क्योंकि वेदों में जहां २

उपासनाव्यवहार लिया जाता है वहां २ एक आद्वितीय परमेश्वर का ही प्रह्ण किया है।

तत्रापि मतद्वयं विग्रहवत्यविग्रहवदेवताभेदात् । तच्चोभयं पूर्वं प्रतिपादितम् । श्रम्यच्च । मात्तदेवो भव, पितृदेवो भव, श्राचार्य्यदेवो भव, श्रातिथिदेवो भव ।। प्रपा० ७ । श्रमु० ११ ॥ त्वमेव प्रत्यचं ब्रह्मामि, त्वामेव प्रत्यचं ब्रह्म विद्ण्यामि ॥ प्रपा० ७ । श्रमु० १ ॥ इति सर्वमनुष्योपास्याः पश्चदेवतास्तैत्तिरीयोपनिपचुक्ताः । यथात्र मातापितरावाचार्य्योऽतिथिश्चेति सश्रीरा देवताः सन्ति । एवं सर्वथा निःशरीरं ब्रह्मास्ति ।

भाषार्थ

इस देवता विषय में दो प्रकार का भेद हैं। एक मृर्त्तिमान और दूसरा अमृर्त्तिमान। जैसे माता, पिता, आचार्य, आतिथि ये चार ते। मृर्त्तिमान देवता हैं और पांचवां परत्रद्धा अमृर्त्तिमान है, अर्थान उसकी किसी प्रकार की मृर्त्ति नहीं है। इस प्रकार से पांचदेव की पूजा में यह दो प्रकार का भेद जानना उचित है।

तथैव पूर्वोक्तासु देवतास्विग्विध्यादित्यचन्द्रमानचत्राणि चेति पश्च वसवां विग्रहवत्यः सन्ति । एवमेकादश रुद्राः, बादशादित्याः, मनःपष्टानि ज्ञानेन्द्रियाःणि, वायुरन्तरिचं, द्यामेन्त्राश्चेति शरीरराहिताः । तथा स्तनियत्नुविधियज्ञां च सश्रीराशरीरे देवते स्त इति । एवं सश्रीरिवश्शिरमेदेन देवताद्वयं भवति । तत्रेतासां व्यवहारोपयोगित्वमात्रमेव देवतात्वं गृह्यते । इत्थमेव मानृपित्राचार्य्याः तिथीनां व्यवहारोपयोगित्वं परमार्थप्रकाशकत्त्वं चतावन्मात्रं च । परमेश्वरम्तु खिल्वष्टोपयोगित्वं परमार्थप्रकाशकत्त्वं चतावन्मात्रं च । परमेश्वरम्तु खिल्वष्टोपयोगित्वं नेवोपास्योदित । नातो वेदेषु ह्यपरा काचिदेवता पूज्योपास्यन्वेन विहितास्तीति निश्चीयताम् ।

भाषार्थ

इसी प्रकार पूर्वोक्त श्राठ वसुश्रों में से श्रान्त, पृथिवी, श्रादित्य, चन्द्रमा श्रोर नक्षत्र ये पांच मूर्त्तिमान् देव हैं श्रोर ग्यारह रुद्र, वारह श्रादित्य, मन, श्रन्तरिक्त, वायु, श्रो श्रोर मन्त्र, ये मूर्त्तिमान् देव हैं। तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां विजुली श्रोर विधियज्ञ ये सब देव मूर्त्तिमान् श्रोर श्रमूर्त्तिमान् भी हैं *। इससे साकार श्रांर निराकार भेद से दो प्रकार की व्यवस्था देवताश्रों में जाननी चाहिये। इनमें से पृथिज्यादि का देवपन केवल व्यवहार में तथा माता, पिता, श्राचार्थ्य श्रोर श्रातिथियों

^{*} इंन्दियों की शक्तिरूपदृष्य श्रमूर्तिमान् श्रोर गांलक मूर्तिमान्, तथा विद्युत् श्रांर विधियज्ञ में जो २ शब्द तथा ज्ञान श्रमूर्तिमान् श्रोर दर्शन तथा सामग्री मूर्तिमान् जानना चाहिये।

का व्यवहार में उत्थोग र्छार परमार्थ का प्रकाश करनामात्र ही देवपन है स्पौर ऐसे ही मन श्रीर इन्द्रियों का उपयोग व्यवहार श्रीर परमार्थ करने में होता है। परन्तु सब मनुःयों को उपासना करने के योग्य एक परमेश्वर ही देव है।

श्रत इदानींतनाः केचिदार्था यूरोपखरडवासिनश्र भौतिकदेवतानामेव पूजनं वेदेष्वस्तीत्यूचुर्वदन्ति च तद्वीकतरमस्ति । तथा यूरोपखरडवासिनो बहव एवं वदन्ति पुरा ह्यार्थ्या भौतिकदेवतानां पूजका श्रासन् पुनस्ताः संपूज्य संवूज्य च बहुकालान्तरे परमात्मानं पूज्यं विदुरिति । तद्प्यसत् । तेषां मृष्ट्यारम्भमारभ्याने केरिन्द्रवहणाग्न्यादिभिनीमभिवेदोक्करीत्येश्वरस्यैवोपासनानुष्ठानाचारागमात् ।

भाषार्थ

प्र०—िकतने ही आजकल के आर्य और यूरापदेशवासी अर्थात अंगरेज आदि लोग इस में ऐसी शंका करते हैं कि वेदों में पृथिव्यादि भूतों की पूजा कही हैं। वे लोग यह भी कहते हैं कि पिहले आर्य लोग भूतों की पूजा करते थे, फिर पूजते २ बहुत काल पीछे उन्होंने परमेश्वर को भी पूज्य जाना था। उ० – यह उन का कहना भिण्या है, क्योंकि आर्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त इन्द्र, वहण और आगि आदि नामों करके वेदोक प्रमाण से एक परमेश्वर की ही उगसना करते चले आये हैं। इस विषय में अनेक प्रमाण हैं, उन में से थोड़े से यहां भी लियते हैं।

अत्र प्रमाणानि । (अग्निभी०) अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने हि, इन्द्रं मित्रम्०। ऋङ्मन्त्रोऽयम्। अस्योपरीमनेवाग्नि महान्तमात्मानमित्यादि निरुक्तं च लिखितं तत्र द्रष्ट्व्यम्। तथा तदेवाग्निस्तदादित्य० इति यज्ञर्भन्त्रश्च। तभातानं जगतस्नुस्थुप्स्पति धियं जिन्त्रमवसे हुमहे व्यम्। पूषा नो यथा वेद्मा-मसंद्रुधे रक्षिता पायुरदंब्धः स्वस्तये ॥ १॥ ऋ० अ०१। अ०६। व०१५। मं०५॥ हिर्ण्युग्भः समवर्त्तात्रे भृतस्य जातः पित्रिके आसीत्। सद्धार पृथ्वि द्याप्ततेमां कस्मे देवायं ह्विपा विधेम ॥ ऋ० अ०६। अ०७। व०३। मं०१॥ इत्याद्यो नव मन्त्रा एतद्विषयाः सन्ति। प्रतद्वीचेद्वमृतं जु विद्वान् गेन्ध्रवी धाम विभृतं गु अस्त । त्रीशी प्रतानि निहिता गु होस्य यस्तानि वेद् स प्रितः प्रितास्त्। ३॥ सनो वन्युर्जनिता स विधाता धामानि वेद् अवनानि विधा । यत्रे वेदा अपनान्यानास्त्रतिये धामक्रध्येरयन्त ॥ ४॥

१ निरु० ग्र० ७। खं १८॥ २ ग्र० ३२ मै० १॥

प्रशित्यं भूतानि प्रशित्यं लोकान् प्रशित्य सर्वीः मदिशो दिशंश्व । उपस्थायं प्रथप-जापुतस्यात्मनात्मानंप्रभिसंविवेश ॥ ५ ॥ य० ऋ० ३२ । मं० ६ । १० । ११ ॥ वेदाह्येतं पुरुषं पहान्तमादित्यवर्णं तर्मसः पुरस्तात् । तप्येव विदित्वार्तिटृत्युमेर्ति नान्यः पन्या विद्युतेऽयेनाय ॥ ६ ॥ य० अ० ३१ । मं० १८ ॥ तेंदज्जि तन्न-जिति तद्द्रे तद्वन्तिके । तत्रन्तरस्य मर्थस्य तद् मर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ७॥ य० अ० ४०। मं० ५ ॥ सं पर्व्यगाच्छुक्रमकायमत्रणामित्यादि च ॥ य इमा विश्वा भ्रवनानि जुह्बृदृष्टिहींनान्यसीदृत् पिता नः । स आशिषा द्रविणि मिच्द्रमीनः प्रथमुच्छद्वंगुँ २॥ द्याविवेश ॥ = ॥ कि ७ स्विदासीद्धिष्टानं परम्भणं कतुम-त्स्वित् कथासीत् । यतो भूमिं जनयंन् दिश्वकंमी वि द्यामौर्णीन्महिना दिश्वचंचाः ।। ६ ।। विश्वतंश्रचुरुत विश्वतां मुखो विश्वतां बाहुरुत विश्वतंस्पात् । संवाहुस्यां धर्मति संपत्रेदेद्यीबाभूमी जुनर्यन्देव एकीः ॥ १० ॥ य० ऋ०१७ । मं०१७।१८ । १६ ।। इत्यादयो मन्त्रा यज्ञापे बहवःसन्ति । तथा सामवेदस्योत्तरार्चिके त्रिकम् ११ । श्रामित्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः । ईराानमस्य जगतः स्वर्धशमीशानमिन्द्र तस्थुवः ॥ ११ ॥ न त्वावाँ श्रन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते । श्ररवायन्तो मघवानिनद्र वाजिनो गव्यंतम्त्वा हवामहे ॥ १२ ॥ इत्यादयश्र ॥ नार्सदास्तिको सद्मितिचुदानीं नार्साद्रजो नो व्योमापुरोयत् । विभावरीदः कुट्टकस्य शर्म्भाकम्भः किमासीद्गईनं गभीरम् ॥ १३॥ इयं विमृष्टिर्यते त्रा व्यूव यदि वा द्धे यदि वा न । यो अस्याध्येतः परुमे व्योमन्त्यो ऋङ्ग वेद् यदि वा न वेद ॥ १४॥ इत्यन्ताः सप्त मन्त्रा ऋग्वेदे ॥ ऋ० ८ । ऋ० ७ । व० १७ । मं० १ । ७ ॥ यन्पर्ममुबुमं यचे मध्यमं प्रजापितिः समृते दिश्वरूपम् । कियता स्कुम्भः प्रविवेश तत्र यस प्राविशत् कियुत्तक्रेभूव ॥१५॥ यस्प्रिन्भूनिगुन्तिर्त्तं द्यार्थस्यक्रिया । यशाग्निश्चन्द्रभाः सूर्यो वातास्तिष्टन्त्यापिता स्क्रम्भं तं ब्रूहि कनुमः स्विद्व सः ।। १६ ।। अथर्व० कां०१०। अतु०४ । मं० ८ । १२ ।। इत्यादयोऽथर्ववे-देपि बहवो मन्त्राः सन्ति । एतेषां मन्त्रत्यां मध्यात्केषांचि इर्थः पूर्व प्रकाशितः केशांचिद्ग्रे विवास्यतेऽत्राप्रसङ्गान्नोच्यते । ऋणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमऋतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्माहिमानमा-त्मनः ॥ १ ॥ अग्राब्दमस्परीमरूपनव्ययं तथाऽरसं नित्यमणन्धवच यत्।

१-व हुर्वेद घ० ४०॥ मं० ८॥

श्रनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्त्रमुच्यते ।। २ ।। यदेवे**ह** तद्रमुत्र यद्मुत्र तद्दिवह । पृत्योः स पृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ ३ ॥ एको वशी सर्वभृतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति । तमात्मस्थं ये तु पश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाक्वतं नेतरेपाम् ॥ ४ ॥ नित्यो नित्यानां चेतनश्रे-तनानामेको बहूनां यो विद्धाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ ५ ॥ इति कठवल्ल्युपनिषदि ॥ दिव्यो समूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । ऋत्राणो ह्यमनाः शुश्रोऽत्तरात्परतः परः ॥ ६ ॥ यः सर्वज्ञः सर्वाविद्यस्यैष महिमा स्रुवि । दिन्ये ब्रह्मपुरे ह्येष न्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥ ७ ॥ इति मुख्डकोपनिषदि ॥ नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्घ्यमग्राह्यमलक्षणमाचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्य-यसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स त्र्यात्मा स विज्ञेयः ॥ 🗢 ॥ इति माण्डूक्योपनिपदि ॥ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम् । परमे व्योमन्त्सोऽश्नुते सर्वान्कामान् ब्रह्मणां सह विपश्चितेति ॥ ६ ॥ इति तंत्तिरीयोप-निपदि ॥ यो वै भूमा तत्मुखं नाल्पे मुखमस्ति भूमेव मुखम् । भूभात्वेव विजि-ज्ञासितव्य इति । यत्र नान्यत्परयति नान्यच्छ्रणोति नान्यद्विजानाति स भूमा ॥ अथ यत्रान्यत्परयत्यन्यच्छ्रणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् । यो व भूमा तद्वृतमथ यदल्पं तन्मर्त्ये स भगवः कास्मिन्त्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि ॥ इति छान्दांग्योप-निषदि ॥ वेदोक्नेशानादिविशेषणप्रतिपादितोऽगोरणीयानित्याद्यपनिपदुक्रविशेषण-प्रतिपादितश्च यः परमेश्वरोस्ति, स एवाऽऽर्य्यः मृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं यथावद्विदि-त्वोपासितोस्तीति मन्यध्वम् । एवं परब्रह्मविषयत्रकाशकेषु प्रमाखेषु सत्सु भट्टमो-चमूलरेरुक्तमार्य्याणां पूर्वमीश्वरज्ञानं नासीत्युनः क्रमाज्जातमिति न तिच्छ्रष्टप्रद-णाईमस्तीति विजानीमः।

भाषार्थ

(इन्द्रं मित्रम्०) इस में चारों वेद, शतपथ आदि चारों ब्राह्मण, निरुक्त और छः शास्त्र आदि के अनेक प्रमाण हैं कि जिस सद्दम्तु ब्रह्म के इन्द्र, ईशान, आप्नि आदि वेदोक्त नाम हैं और अणोरणीयान इत्यादि उपनिपदों के विशेषणों से जिसका प्रतिपादन किया है उसी की उपासना आर्थ्य लोग सदा से करते आये हैं। इन मन्त्रों में से जिनका अर्थ भूमिका में नहीं किया है उन का आगे वेदभाष्य में किया

१ सह बक्षणेत्युपलभ्यमानापनिषदि पाठः ॥

जायगा श्रौर कोई २ आर्थ्य लोग किंवा यूरोप आदि देशों में रहनेवाले श्रंगरेख कहते हैं कि प्राचीन आर्थ्य लोग अनेक देवताओं और मृतों की पूजा करते थे। यह उनका कहना व्यर्थ है, क्योंकि वेदों और उनके प्राचीन व्याख्यानों में श्रामि आदि नामों से उपासना के लिये एक परमेश्वर का ही प्रहण किया है, जिसकी उपासना आर्थ लोग करते थे, इससे पूर्वोक्त शङ्का किसी प्रकार से नहीं आसकती।

किंच हिरएयगर्भः समवत्तेताग्रे भृतस्य जातः पति० एतन्मन्त्रव्याख्यानावस-रेऽयं मन्त्रोऽर्वाचीनोस्ति छन्दस इति शारमएयदेशोत्त्पन्नर्भद्दमोत्त्रमृलरैः स्वकीय-संस्कृतसाहित्याख्ये ग्रन्थ एतद्विषये यदुक्तं तन्न संगच्छते । यच्च वेदानां हो भागा-वेकश्चन्दो, द्वितीयो मन्त्रश्च । तत्र यत्सामान्यार्थाभिधानं परबुद्धिपेरणाजन्यं स्व-कल्पनया रचनाभावं, यथाद्यज्ञानिनो मुखादकस्मान्निम्सरेदीदृशं यद्रचनं तच्छन्द इति विज्ञेयम् । तस्योत्पत्तिसमय एकत्रिंश्च्छत्।नि वर्पागयधिकाधिकानि व्यतीता-नि । तथैकोनत्रिशच्छतानि वर्षाणि मन्त्रोत्पत्तो चेन्यनुमानं तेपामस्ति । तत्र तैरु-क्रानि प्रमाणानि । अग्निः पूर्वेभिर्ऋपिभिरीड्यो नूतर्नरुतेन्यादीनि ज्ञातच्यानि । तदिदमप्यन्यथास्ति । कुतः । हिरएयगर्भशब्दस्यार्थज्ञानाभावात् । अत्र प्रमाणानि । ड्योतिर्वे हिरएयं ड्योतिरेपोऽमृत**ॐ हिरएयम् ॥ श० कां० ६ । ऋ० ७ ॥ के**शी केशा रश्मयम्तरतद्वान्भवति काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥ नि० श्च० १२ । खं० २५ ।। यशो वं हिरएयम् ।। ऐ० पं० ७ । ऋ० ३ ।। ज्योतिरे-वायं पुरुष इत्यात्मज्योतिः ॥ श० कां० १४ । अ० ७ ॥ ज्योतिरिन्द्राग्नी ॥ श ॰ कां ॰ १०। श्र ० ४।। एपामर्थः । ज्योतिर्विज्ञानं गर्भः स्वरूपं यस्य स हिरएयगर्भः। एवं च ज्योतिर्हिरएयं प्रकाशो, ज्योतिरमृतं मोचो, ज्योतिरादि-त्याद्यः केशाः प्रकाशका लोकाश्र यशः सत्कीर्तिधन्यवादश्र, ज्योतिरात्मा जीवश्र, ड्योतिरिन्द्रः सूर्योऽग्निश्चैतत्सर्वं हिरएयाख्यं गर्भे सामर्थ्ये यस्य स हिरएयगर्भः परमेश्वरः । श्रतो हिरएयगर्भशब्दप्रयोगाद्वेदानाम्रुत्तमत्वं सनातनत्वं तु निश्चीयते न नवीनत्वं च । श्रस्मात्कारणाद्यत्तेष्ठक्तं हिरएयगर्भशब्दप्रयोगान्मन्त्रभागस्य नवीनत्वं त चोतितं भवति, किन्त्वस्य प्राचीनत्त्वे किमपि प्रमाणं नोपलभामह इति । तद्श्रममूलमेव विज्ञेयम् । यचोक्तं मन्त्रभागनवीनत्वे अग्निः पूर्वेभिरित्या-दिकारणं तदपि तादशमेव । कुतः । ईश्वरस्य त्रिकालदर्शित्वात् । ईश्वरो हि त्रीन्कालान् जानाति । भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालस्थैर्मन्त्रद्रष्टृभिर्मनुष्यैर्मन्त्रैः प्रासौ-स्तर्केशचर्षिभिरहमेवेड्यो वभूव भवामि भविष्यामि चेति विदित्त्वेदशुक्तमित्यदोषः ।

श्रन्यच । ये वेदादिशास्त्राण्यधीत्य विद्वांशो भूत्वाऽध्यापयन्ति ते प्राचीनाः । ये चाधीयते ते नवीनाः । तैर्ऋषिभिराग्नः परमेश्वर एवेड्योस्त्यतश्च ।

भाषार्थ

इसी विषय में डाक्टर मोच्चमूलर साहेव ने श्रपने बनाये संस्कृत साहित्य प्रन्थ में ऐसा लिखा है कि आर्थ्य लोगों को क्रम से अर्थान बहुत काल के पीछे ईश्वर का ज्ञान हुआ था श्रारे वेट्रों के प्राचीन होने में एक भी प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु उन के नवीन होने में तो अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। इस में एक तो हिरण्यगर्भ शब्द का प्रमाण दिया है कि छन्दोभाग से मन्त्रभाग दोसों वर्ष पीछे बना है, ऋौर दूसरा यह है कि वेदों में दो भाग हैं एक तो छन्द और दूसरा मन्त्र । उन में से छन्दोभाग ऐसा है जो सामान्य ऋर्थ के साथ सम्बन्ध रखता है ऋौर दूसरे की प्रेरणा से प्रकाशित हुन्ना मालूम पड़ता है, कि जिसकी उत्पत्ति बनानेवाले की प्रेरणा से नहीं हो सकती और उस में कथन इस प्रकार का है जैसे अज्ञानी के मुख से अकस्मात वचन निकला हो। उस की उत्पत्ति में (३१००) इकतीससौ वर्ष व्यतीत हुए हैं श्रीर मन्त्रभाग की उत्पत्ति में (२६००) उनतीससौ वर्ष हुए हैं । उस में (अगिन: पूर्वेभि:) इस मन्त्र का भी प्रमाण दिया है। सो उन का यह कहना ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि उन्होंने (हिरएयगर्भः०) श्रीर (श्रिग्नः पूर्वेभिः०) इन दोनों मन्त्रों का अर्थ यथावन नहीं जाना है। तथा मालुम होता है कि उन को हिरएयगर्भ शब्द नवीन जान पड़ा हागा इस विचार से कि हिरएय नाम है सोने का, वह मृष्टि से बहुत पीछे उत्पन्न हुन्ना है, त्र्यान् मनुष्यों की उन्नति, राजा श्रीर प्रजा के अवन्ध होने के उपरान्त पृथिवी में से निकाला गया है। सो यह वात भी उन की ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि इस शब्द का अर्थ यह है कि ज्योति कहते हैं विज्ञान को, सो जिसके गर्भ अर्थान् स्वरूप में है, ज्योति अमृत अर्थान् मोत्त है सामर्थ्य में जिस के, श्रीर ज्योति जो प्रकाशस्वरूप सुर्ध्यादिलोक जिस के गर्भ में हैं, तथा ज्योति जो जीवात्मा जिस के गर्भ ऋथीत सामर्थ्य में है, तथा यशः सत्कीर्ति जो धन्यबाद जिस के स्वरूप में है, इसी प्रकार ज्योति, इन्द्र अर्थात् सूर्य, वायु और अन्नि ये सब जिस के सामध्ये में हैं ऐसा जो एक परमेश्वर है उसी को हिरएयगर्भ कहते हैं। इस हिरएयगर्भ शब्द के प्रयोग से वेदों का उत्तमपन श्रीर सनातनपन तो यथावत् सिद्ध होता है, परन्तु इस से उन का नवीनपन सिद्ध कभी नहीं हो सकता । इस से

डाक्टर मोस्तमूलर साहेब का कहना जो बेदों के नवीन होने के विषय में है सो सत्य नहीं है। श्रोर जो उन्होंने (श्राग्न: पूर्वेभिः०) इस का प्रमाण बेदों के नवीन होने में दिया है सो भी अन्यथा है, क्योंकि इस मन्त्र में बेदों के कत्ती, त्रिकालदर्शी ईश्वर ने भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनों कालों के व्यवहारों को यथावन् जान के कहा है कि बेदों को पढ़ के जो विद्वान् हो चुके हैं वा जो पढ़ते हैं वे प्राचीन श्रोर नवीन ऋषि लोग मेरी स्तुति करें। तथा ऋषि नाम मन्त्र, प्राण श्रोर तर्क का भी है, इनसे ही मेरी स्तुति करनी योग्य है इसी श्रपेत्ता से ईश्वर ने इस मन्त्र का प्रयोग किया है। इससे बेदों का सनातनपन श्रोर उत्तमपन तो सिद्ध होता है, किन्तु उन हेतुश्रों से बेदों का नवीन होना किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता, इसी हेतु से डाक्टर मोत्तमूलर साहेब का कहना ठीक नहीं।

श्रत्र निरुक्तेपि प्रमाणम् । तत्प्रकृतीतरद्वर्त्तनसामान्यादित्ययं मन्त्रौर्थाभ्यृहोऽ-भ्यूढोपि श्रुतितोपि तर्कतो, न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्रव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वेक्कच्या, नहोषु प्रत्यचमस्त्रवृषेरतपसो वा, पारोवर्य्यवितसु तु खलु वेदिवृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्ता,न्मनुष्या वा ऋषिषुत्त्रामत्सु देवानब्रुवन्को ने ऋषिर्भविष्यतीति तेम्य, एतं तर्कमृषि प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताम्यूहम्भ्यूढं तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽम्यूइत्यापं तज्ज्विति ॥ नि० अ० १३ । खं० १२ ॥ अस्यार्थः । (तत्प्रकृती०) तस्य मन्त्रसमृहस्य पदशब्दाचरसम्रदायानामितरत् परस्परं विशेष्यविशेषणतया सामान्यवृत्ती वर्त्तमानानां मन्त्राणामर्थज्ञानचिन्ता भवति । कोयं खल्वस्य मन्त्रस्यार्थी भविष्यतीत्यभ्यूहो दुद्धावाभिष्ठरूयेनाहो विशेषज्ञानार्थस्तर्को मनुष्येण कर्त्तव्यः । नैते शुतितः श्रवणमात्रेणव तर्कमात्रेण च पृथक् २ मन्त्रार्था निर्वक्रव्याः । किन्तु प्रकरणानुकूलतया पूर्वापरसंबन्धेनेव नितरां वक्रव्याः । किंच नैवैतेषु मन्त्रेष्वनृषेरतपसोऽशुद्धान्तः करणस्याविदुपः प्रत्यत्तं ज्ञानं भवति । न यावद्या पारावर्थ्यवित्सु कृतप्रत्यत्तमन्त्रार्थेषु मनुष्येषु भूयोविद्यो बहु-विद्यान्वितः प्रशस्योऽत्युत्तमो विद्वान् मवति । न तावदभपूढः सुनर्केण वेदार्थमपि वनतुमईतीत्युक्तं सिद्धमस्ति । श्रत्रेतिहासमाह । पुरस्तात्कदाचिन्मनुष्या ऋषिषु मन्त्रार्थद्रष्ट्रपुत्कामत्स्वतीतेषु सत्सु देवान् विदुषोऽज्ञुवक्रपृच्द्रन् कोऽस्माकं मध्ये ऋषिभविष्यतीति । तेम्यः सत्यासत्य दिज्ञानेन वेदार्थवोधार्थं चतं तर्कर्षं ते

१ -मन्त्रार्थेति पदस्य परस्ताबिन्तेति पदमधिकक्षिरुकते ॥

प्रायच्छन् दत्तवन्तोऽयमेव युष्मासु ऋषिभेविष्यतीत्युत्तरसुक्तवन्तः। क्रयंभूतं तं तर्कः मन्त्रार्थचिन्ताम्यूहमम्यूढम्। मन्त्रार्थविज्ञानकारकम्। श्रतः किं सिद्धं १ यः कश्चिदन्तानो, विद्यापारगः, पुरुषोऽम्यृहति, वेदार्थमम्यूहते, प्रकाशयते, तदेवार्षम्यिष्रोक्तं वेदव्याख्यानं भवतीति मन्तव्यम्। किंच यद्वपविचेनाल्पबुद्धिना, पत्त-पातिना मनुष्येण चाम्यूह्यते तद्नार्षमनृतं भवति। नैतत्केनाप्यादत्तिव्यमिति। कृतः। तस्यानर्थयुक्तत्वात्। तदादरेण मनुष्याणामप्यनर्थापत्तेश्वेति। श्रतः पूर्वेभिः प्राक्तनैः प्रथमोत्पन्नस्तर्केर्ऋषिभिस्तथा नृतनैर्वर्त्तमानस्यश्चे।तापि भविष्यद्भिश्च त्रिकान्तर्स्थरिनः परमेश्वर एवेद्योस्ति। नैवास्माङ्गिनः कश्चित्पदार्थः कस्य।पि मनुष्यस्यद्योः, स्तोतव्य, उपास्योस्तीति निश्चयः। एवमिनः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीद्यो नृतनै-रुतेत्यस्य मन्त्रस्यार्थसंगतेन्वं वेदेप्वर्वाचीनाख्यः कश्चिद् दोषो भवितुमईतीति।

भाषार्ध

इस में विचारना चाहिये कि वेदों के अर्थ को यथावत् विना विचारे उन के अर्थ में किसी मनुष्य को हठ से साहस करना उचित नहीं, क्योंकि जो वेद सब विद्याश्रों से युक्त हैं, अर्थान् उन में जितने मन्त्र और पद हैं वे सब सम्पूर्ण सत्यविद्यास्त्रों के प्रकाश करने वाले हैं और ईश्वर ने वेदों का व्याख्यान भी वेदों से ही कर रक्या है, क्योंकि उन के शब्द धात्वर्थ के साथ योग रखते हैं। इस में निरुक्त का भी शमाण है, जैसा कि यास्कमुनि ने कहा है (तत्प्रकृतीत०) इत्यादि । वेदों के त्र्याख्यान करने के विषय में ऐसा समकता कि जब तक सत्य प्रमाण, सुतर्क, वेदों के शब्दों का पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरण् त्रादि वेद।ङ्गों, शतपथ त्रादि ब्राह्मणों, पूर्वमीमांसा न्नादि शास्त्रों और शास्त्रान्तरों का यथावन् वोध न हो, और परमेश्वर का अनुप्रह, उत्तरा विद्वानों की शिचा, उन के सङ्ग से पच्चपात छोड़ के श्रात्मा की शुद्धि न हो, तथा महर्पि लोगों के किये व्यास्यानों को न देखे, तवतक वेदों के ऋर्थ का यथावत प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होता। इसिलये सब आर्थ्य विद्वानों का सिदान्त है कि प्रत्यचादि प्रमाणों से युक जो तर्क है वही मनुष्यों के लिये ऋपि है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो सायणाचार्य और महीधरादि अल्पबुद्धि लोगों के भूठे व्याख्यानों को देख के आजकल के आर्थ्यावर्त्त और यूरोपदेश के निवासी लोग जो वेदों के उत्पर अपनी २ देशभाषात्र्यों में व्याख्यान करते हैं वे ठीक २ नहीं हैं. श्रीर उन श्रनर्थयुक्त व्याख्यानों के मानने से मनुष्यों को श्रत्यन्त दुःख प्राप्त होता है। इससे

बुद्धिमानों को उन व्याख्यानों का प्रमाण करना योग्य नहीं। तर्क का नाम ऋषि होने से सब आर्थ्य लोगों का सिद्धान्त हैं कि सब कालों में अन्नि जो परमेश्वर हैं वही उपासना करने के योग्य हैं।

श्रन्यच । प्राणा वा ऋषयो दें व्यासः ॥ ऐ० पं० २ । अ०४ ॥ पूर्वेभिः पूर्वेकालावस्थास्थः कारणस्यः प्राणः कार्य्यद्रव्यस्थेन्त्रनंश्चिभिः सहैव समाधियोगेन मर्वेर्विद्धक्रिरिनः परमेश्वर एवेडचोस्त्यनेन श्रेयो भवतीति मन्तव्यम् ।

भाषार्थ

जगत् के कारण प्रकृति में जो प्राण हैं उन को प्राचीन खीर उस के कार्य में जो प्राण हैं उन को नवीन कहते हैं। इसलिय सब बिद्वानों का उन्हीं ऋषियों के साथ योगाभ्यास से अग्निनामक परमेश्वर की ही म्तुति, प्रार्थना खोर उपासना करनी योग्य है। इतने से ही समभना चाहिये कि भट्ट मोच्चमूलर साहेब खादि ने इस मन्त्र का अर्थ ठीक २ नहीं जाना है।

यबोकं बन्दोमन्त्रयोभेदोस्तीति, तद्प्यसंगतम् । कृतः । बन्दोवदिनगममनत्रश्रुतीनां पर्यायवाचकत्यात् । तत्र बन्दोऽनेकाथेवाचकपितः । वेदिकानां गायत्रयादिवृत्तानां लोकिकानाभारयोदीनां च वाचकम् । किन्दिस्वातन्त्र्यम्यापि । अत्राहुयोस्काचार्याः । मन्त्रा मननाच्छदांसिच्छादनात्म्तोमः मतवनाद्यज्ञयेजतेः साम
संमितपृचा ॥ नि० अ० ७ । खं० १२ ॥ अविद्यादिदुःखानां निवारणान्युच्चराच्छादनाच्छन्दो वेदः । तथा चन्देरादेश्व चः इत्याणादिकं सत्रम् । चित् आल्हादने दीप्तां चत्यस्माद्धातारसुन्प्रत्यये परे चकारस्यच्छकारादेशे च कृते छन्दम्
इति शब्दो भवति । वेदाध्ययनेन सर्वविद्याप्राप्तेभेनुष्य आल्हादो भवति, सर्वार्थकाता चातरुक्चत्दो वेदः । छन्दार्थसि वे देवा वयोनाधारुक्चन्दोभिर्दाद् सर्वं वयुनं
नद्भम् ॥ श० कां० = । अ० २ ॥ एता वे देवतारुक्चन्दाः मि ॥ श०
कां० = । अ० ३ ॥ अस्यायमभिप्रायः । मित्र गुप्तपरिभाषणे, अस्माद्रलश्रेति सत्रेण घत्र्प्रत्यये कृते मन्त्रशब्दस्य सिद्धिजीयते । गुप्तानां पदार्थानां भाषणं यस्मिन्वर्तते स मन्त्रो वेदः । तद्वयवानामनेकार्थीनामिपि मन्त्रमंद्राः
भवति, तेषां तदर्थवत्त्वात् । तथा मन क्राने, अस्माद्धातोः सर्ववातुभ्यः प्रन् इत्युणादिस्त्रेण प्रत्रत्यये कृते मन्त्रशब्दो व्युत्पवते । मन्यन्ते क्रायन्ते सर्वेभिनुष्येः सत्याः

पदार्था येन यास्त्रन्वा स मन्त्रो वेदः । तद्वयवा आग्निमीळे पुरोहितमित्यादयो मन्त्रा गृह्यन्ते । यानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि तद्दिन्वता मन्त्राः सर्वार्थद्योतकत्वा-देवताशब्देन गृह्यन्ते । अत्रञ्च छन्दांम्येच देवाः वयोनाधाः सर्वित्रयाविद्यानिवन्धनास्तैरछन्दोभिरेच वेदैर्वेदमन्त्रेथेदं सर्वं विश्वं वयुनं कर्मादि चेथरेण नद्धं वद्धं कृतमिति विक्रेयम् । येन छन्द्रसा छन्दोभिर्वा सर्वा विद्याः संवृता आवृताः सम्यक् स्वीकृता भवन्ति । तस्त्राच्छन्दांसि वेदा, मननान्मन्त्राश्चेति पर्यायौ । एवं श्वतिस्तु वेदो विक्रेय इति मनुमृत्तो, इत्यपि निगनो मवतीति निरुक्ते । श्वतिर्भेदो मन्त्रश्च, निगमो वेदो मन्त्रश्चेति पर्यायौ स्तः । श्व्यन्ते वा सकता विद्या यया सा श्वति,-वेदो मन्त्रश्च श्वतयः । तथा निगच्छन्ति नितरां जानन्ति प्राप्तुवन्ति वा सर्वा विद्या यसिनन् स निगमो वेदो मन्त्रश्चेति ।

भाषार्ध

जैसे छन्द और मन्त्र ये दोनों शब्द एकार्यवाची अर्थात् संहिता भाग के नाम हैं, वैसे ही निगम और श्रुति भी वेहों के नाम हैं। भेद होने का कारण केवल अर्थ ही है। वेहों का नान छन्द इसिलये रक्त्वा है कि व स्वतन्त्रप्रमाण और सःयियाओं से परिपूर्ण हैं। तथा उन का मन्त्र नाम इसिलये हैं कि उन से सत्यियाओं का ज्ञान होता है। और श्रुति इसिलये कहते हैं कि उनके पढ़ने, अध्यास करने और सुनने से सब सत्यविद्याओं को मनुष्य लोग जान सकते हैं। ऐसे ही जिन करके सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो उस को निगम कहते हैं। इससे यह चारों शब्द पर्याय अर्थात् एक अर्थ के वाची हैं, ऐसा ही जानना चिहिये।

तथा व्याकरणेपि । मन्त्रे घसह्वरणशादृदहादृच्कृगिमजिनिभ्यो लः ॥ १ ॥ अत्राध्याय्याम् ॥ अ० २ । पा० ४ । सू० ८० ॥ छन्दित जुङलङ्लिटः ॥ २ ॥ अ० ३ । पा० ४ । सू० ६ ॥ वा पप्वेस्य निगमे ॥ ३ ॥ अ० ६ । पा० ४ । सू० ६ ॥ वा पप्वेस्य निगमे ॥ ३ ॥ अ० ६ । पा० ४ । सू० ६ ॥ अत्रापि व्यन्दोमन्त्रिनिगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति । एवं छन्दअ,दीनां पर्यायतिहेयों भेदं ब्रुते तद्वचनमत्रमाणमेवास्तीति विक्वायते ।

भाषार्थ

वैसे ही श्राटाध्यायी ज्याकरण में भी छन्द, मन्त्र और निगम ये तीनों नाम देशों ही के हैं। इसालिये जो लोग इनमें भेद मानते हैं उनका वचन प्रमाण करने के योग्य नहीं।

६ति येदविषयविचारः

अथ वेदसंज्ञाविचारः

श्रय कोयं वेदो नाम १ मन्त्रभागसंहितत्याह । किञ्च मन्त्रब्राह्मण्योर्वेदना-मधेयमिति कात्यायनोक्तेर्ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्तियत इति १ । मैवं वाच्यम् । न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमईति । कुतः । पुराणेतिहाससंज्ञकत्वा-द्वेदव्याख्यानाद्दिभिरुक्तत्वादनीश्वरोक्तत्वात्कात्यायनभिन्नेर्त्विपिभिर्वेदसंज्ञायामस्वी-कृतत्वान्मनुष्यबुद्धिरचितन्त्वाच्चेति ।

भाषार्थ

प०—वेद किनका नाम है ? उ०—मन्त्रसंहिताओं का । प्र०—जो कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण प्रन्थों का नाम वेद है, किर ब्राह्मणभाग को भी वेदों में प्रहण आप लोग क्यों नहीं करते हैं ? उ०—ब्राह्मणप्रन्थ वेद नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हीं का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी है। वे ईश्वरोक्त नहीं हैं, किन्तु महर्षि लोगों के किये वेदों के व्याख्यान हैं। एक कात्यायन को छोड़ के किसी अन्य ऋषि ने उन के वेद होने में साची नहीं दी' है, आर वे देहधारी पुरुषों के बनाये हैं। इन हेतुओं से ब्राह्मणप्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती, और मन्त्रसंहिताओं का वेद नाम इसिलये है कि ईश्वररिचत और सव विद्याओं का मृल है।

यथा ब्राह्मण्यन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लांकिका इतिहासाः सन्ति न चैवं मन्त्रभागे । किंच भोः । त्र्यायुषं ज्ञमदेग्नः क्र्यपेस्य त्र्यायुषम् । यद्देवेषु त्र्यान्युषं तक्षी श्रस्तु त्र्यायुषम् ॥ १ ॥ यज्ञ० श्र० ३ । मं० ६२ ॥ इत्यादिनि वचन्त्रन्थिणां नामाङ्कितानि यज्ञवेदादिष्यिष दश्यन्ते । श्रतेनेतिहामादिविषये मन्त्र- ब्राह्मण्योस्तुल्यता दश्यते पुनर्ब्वाह्मणानामिष वेदसंज्ञा कृतो न मन्यते १ । मैवं श्रमि । नैवात्र जमदिगनकश्यपौ देहधारिणो मनुत्र्यस्य नाक्षी स्तः । श्रत्र प्रमाणम् । श्रत्र जमदिगनर्श्वियदेनेन जगत्पश्यत्ययो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदिगनर्श्विः ॥ श्र० कां० ८ ॥ करयपो वै कूर्मः, प्राणो वै कूर्मः ॥ शत० कां० ७ । श्र० ४ । श्रनेन प्राणस्य कूर्मः कश्यपश्र संज्ञास्ति । शरीरस्य नाभौ तस्य कूर्मः कारावस्थितेः । श्रनेन प्राणस्य कूर्मः कश्यपश्र संज्ञास्ति । शरीरस्य नाभौ तस्य कूर्मः कारावस्थितेः । श्रनेन मन्त्रेणेश्वर एव प्रार्थ्यते तद्यथा—हे जगदिश्वर! भवत्कृपया

नोऽस्माकं जमदिग्नसंज्ञकस्य चक्षुषः कश्यपाख्यस्य प्राण्स्य च ज्यायुषं त्रिगुणम्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत्तावदायुरस्तु । चन्निरित्युपलच्यामिन्द्रियाणां, प्राणो मनत्रादीनां च (यद्देवेषु ज्यायुषम्) अत्र प्रमाणम् । विद्याश्रसो हि देवाः ॥ श० कां० ३ । अ० ७ ॥ अनेन विदुषां देवसंज्ञास्ति । देवेषु विद्वत्सु यद्विद्याप्रभावयुक्तं त्रिगुणमायुर्भवति (तन्नो अस्तु ज्यायुषम्) तत्सोन्द्रियाणां समनस्कानां नोस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तं त्रिगुणमायुरस्तु भवत् । येन सुखयुक्तः वयं ताव-दायुर्श्वजीमिह। अनेनान्यद्ण्यपदिश्यते । ब्रह्मचर्यादिसुनियमैर्मनुष्येरेतित्त्रगुणमायुः कर्तु शक्यमस्तीति गम्यते । अतोऽर्थाभिधायकैर्जमद्गन्यादिभिः शब्दैर्थमात्रं वेदेषु प्रकाश्यते । अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोप्यस्तीत्यवगन्तव्यम् । अतो यच्च सायणाचार्य्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद्भ्रमम्लमस्तीति मन्तव्यम् ।

भाषार्ध

प्र०-जैसे ऐतरेय त्रादि ब्राह्मणप्रन्थों में याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी श्रीरजनक श्रादि के इतिहास लिखे हैं, वैसे ही (ज्यायुषं जमद्ग्नेः०) इत्यादि वेदों में भीपाय जाते हैं, इससे मन्त्र त्र्यौर ब्राह्मणभाग य दोनों बरावर होते हैं, फिर ब्राह्मणप्रन्थों को वेदों में क्यों नहीं मानते हो ? उ०-ऐसा भ्रम मत करो, क्योंकि जमदिग्न श्रौर कश्यप ये. नाम देहधारी मनुष्यों के नहीं हैं। इस का प्रमाण शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि चत्तु का नाम जमदिग्नि श्रीर प्राण का नाम कश्यप है। इस कारण से यहां प्राण मे अन्तः करण श्रीर आंख से सव इन्द्रियों का प्रहण करना चाहिये। श्रर्थात् जिनसे जगत् के सब जीव बाहर श्रीर भीतर देखते हैं। (ज्यायुपं ज०) सो इस मंत्र से ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये कि हे जगदीश्वर ! आप के अनुम्रह से हमारे प्राण त्रादि त्रान्तःकरण त्रारे त्रांत्व त्रादि सव इन्द्रियों की (३००) तीनसौ वर्ष तक उमर बनी रहे, (यद्देवेषु०) सो जैसी विद्वानों के बीच में विद्यादि शुभगुए। अगैर आनन्दयुक्त उमर होती है (तन्नो अस्तु०) वैसी ही हम लोगों की भी हो, तथा (ज्यायुषं जमद्गने:०) इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य बह्मचर्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण चतुर्गुण त्रायु कर सकता है, त्रर्थात् (४००) चारसौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों में सत्य ऋर्ष के वाचक शञ्दों से सत्यविद्यात्रों का प्रकाश किया है, लौकिक इतिहासों का नहीं । इससे जो सायणाचार्यादि लोगों ने अपनी २ वनाई टीकाओं में वेदों में जहां तहां इतिहास वर्णन किये हैं वे सब मिथ्या हैं ।

तथा ब्राह्मणुब्रन्थानामेव पुरागोतिहासादिनामास्ति न ब्रह्मवैवर्तश्रीमञ्जागवता-दीनां चेति निश्रीयते । किंच भोः । ब्रह्मयज्ञविधाने यत्र कचिद्बाह्मण सूत्रग्रन्थेषु यदब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरित्यादीनि वचनानि दृश्यन्ते एषां पूलमथर्ववेदेप्यस्ति । म वृद्धतीं दिशमनुव्यंचलत् । तमितिद्यासर्च पुराणं च गार्थारच नाराशंमीरचीनुव्यंचलन् । इतिहासस्यं च व मर्पुराणस्यं च गार्थानां च नाराशंसीनां च ियं धार्म भवति य एवं वेदे ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १५ । प्रपा० ३० । श्रनु० १ । मं० ४ ।। श्रतो ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो भिन्ना भागव-तादया ग्रन्था इतिहासादिसंज्ञया कुतो न गृह्यन्ते ?। मैवं वाचि । एतः प्रमार्गेज्ञी-ह्मण्यानामेव ग्रहणं जायते न श्रीमद्भागवतादीनामिति । कृतः । ब्राह्मण्यान्थे-ष्वितिहासादीनामन्तर्भावात् । तत्र देवासुराः संयत्ता त्र्रासन्नित्यादय इतिहासा ग्राह्माः । स देव सोम्येदमग्र त्रासीदेकमेवाद्यितीयम् ।। झान्दोग्योपनि० प्रपा० ६ ।। त्र्यात्मा वा इदमेकमेवाग्र त्र्यासीन्नान्यत् किंचनमिपत् ।। इत्येतरेयारएयकोपनि० श्र० १ । खं० १ ॥ त्रापो इ वा इदमग्रे सिललमेवास ॥ श० कां० ११ । श्र० १।। इदं वा अग्रे नैव किंचिदासीत् । इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्थाकथनपूर्वकाणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानि ब्राह्माणि । कल्पा मन्त्रार्थसामर्थ्यप्रकाश-काः । तद्यथा । इपेत्वोर्जेत्वेति वृष्ट्ये तदाह । यदाहपेत्वेत्यूर्जेत्वेति यो वृष्टाद्र्यसो जायते तस्में तदाइ । सविता वे देवानां प्रसविता सवितृप्रयुताः ॥ श० कां० १ । श्च० ७ ।। इत्याद्यो प्राह्माः । गाथा याज्ञवल्क्यजनकसंवादो, यथा शतपथन्नाह्मणे गार्गीमैत्रेय्यादीनां परस्परं प्रश्नोत्तरकथनयुक्ताः सन्तीति । नाराशंस्यश्च । अत्राहु-र्यास्काचार्याः । नराशंसो यज्ञ इति कथक्यो, नरा श्रस्मिन्नासीनाः शंसन्त्यग्निरिति शाकपृश्चि,नेरैः प्रशस्यो भवति ॥ नि० अ० = । खं० ६ ॥ नृषां यत्र प्रशंमा नृभिर्यत्र प्रशस्यते ता ब्राह्मणनिरुक्ताद्यन्तर्गताः कथा नाराशंस्यो प्राह्मा, नातोऽन्या इति । किंच तेषु तेषु वचनेष्वपीदमेव विज्ञायते यत् यस्माद्ब्राह्मणानीि संज्ञीपद-मितिहासादि स्तेषां संज्ञेति । तद्यथा । ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीश्रेति ।

शकाथक्य इति निरुक्ते ।

भाषार्थ

श्रीर इस हेतु से ब्राह्मण प्रन्थों का ही इतिहासादि नाम जानना चाहिये, श्रीमद्भागवतादि का नहीं। प्र०-जहां २ ब्राह्मण श्रीर सूत्र प्रन्थों में (यष्ट्राह्मण्०) इतिहास पुराण, कल्प, गत्था, नाराशंसी इत्यादि वचन देखने में श्राते हैं, तथा श्रथवंवेद में भी इतिहास, पुरागादि नामों का लेख है, इस हेतु से ब्राह्मणपन्थों से भिन्न ब्रह्मचैवर्त्त, श्रीमद्भागवत, महाभारतादि का प्रह्ण इतिहास पुराणादि नामों से क्यों नहीं करते हो ? उ०-इनके प्रहरण में कोई भी प्रमाण नहीं है, क्यों कि उनमें मतों के परस्पर विरोध श्रीर लड़ाई श्रादि की श्रसम्भव मिश्या कथा श्रपने २ मत के त्रानुसार लोगों ने लिख रक्खी हैं। इससे इतिहास श्रोर पुराणादि नामों से इनका प्रहण करना किसी मनुष्य को उचित नहीं। जो ब्राह्मण प्रन्थों में (देवासुराः संयत्ता त्रासन्) त्रर्थात् देव विद्वान् ऋौर श्रसुर मूर्ख ये देानों युद्ध करने को तत्पर हुए थे इत्यादि कथात्रों का नाम इतिहास है। (स देव सो०) अर्थात् जिस में जगत की उत्पत्ति स्नादि का वर्णन है उस ब्राह्मण भाग का नाम पुराण है। (इषेत्वोर्जित्वेति वृष्ट्रचै०) जो वेद्मन्त्रों के ऋथे ऋथीत् जिन में द्रव्यों के सामर्थ्य का कथन किया है उनका नाम कल्प है । इसी प्रकार जैसे शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी, मैत्रेयी ऋादि की कथाओं का नाम गाथा है और जिन में नर ऋथीत मनुष्य लागों ने ईश्वर, धर्म त्रादि पदार्थाविद्यात्रों त्र्योर मनुष्यों की प्रशंसा की है उनको नाराशंसी कहते हैं। (ब्राह्मणानीतिहासान्०) इस वचन में ब्राह्मणानि संज्ञी श्रीर इतिहासादि संज्ञा है। श्रर्थान ब्राह्मण प्रन्थों का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी है। सो ब्राह्मण और निरुकादि प्रन्थों में जो २ जैसी २ कथा लिखी हैं उन्हीं का इतिहासादि से प्रह्म करना चाहिये, अन्य का नहीं।

श्रन्यद्प्यत्र प्रमाणमस्ति न्यायदर्शनभाष्ये । वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ १॥ अ०२। आ०२। स०६०॥ अस्योपिर वात्स्यायनभाष्यम् । प्रमाणं शब्दो यथा लोके, विभागश्र ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः । अयमभिप्रायः । ब्राह्मण्यग्रन्थशब्दा लौकिका एव, न वैदिका इति । तेषां त्रिविधो विभागो लच्यते । स्० विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ २॥ अ०२। आ०२। स्० ६१॥ अस्योप० वा० भा०। त्रिधा खलु ब्राह्मण्याक्यानि विनियुक्तानि विधिवचनान्य-र्थवादवचनान्यनुवचनानीति, तत्र । स० विधिविधायकः ॥ ३॥ अ०२। आ०

२ । स्० ६२ ॥ श्रस्योप० वा० भा० । यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः । विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा, यथाऽग्निहोत्रं लुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादि । ब्राह्मण्यान्यामिति शेषः । स्० स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ४ ॥ श्र० २ । श्रा० २ । स्० ६३ ॥ श्रस्योप० वा० भा० । विधेः फलवादलच्या या प्रशंसा सा स्तुतिः, संप्रत्ययार्थं, स्तूयमानं श्रद्धितिति प्रवर्त्तिका च, फलश्रव्यात्प्रवर्तते । सर्वजिता वे देवाः सर्वमजयन्सर्वस्याप्त्ये सर्वस्य जित्ये सर्वस्येतेनाप्ति सर्वे जयतीत्येवमादि । श्रानष्टफलवादो निन्दा, वर्जनार्थं, निन्दितं न समाचरेदिति । स एप वा प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो, य एतेनानिष्वा-ऽन्येन यजते गर्ते पतत्ययमेतर्ज्ञार्यते वा इत्येवमादि । श्रय्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः । हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्ति । श्रथ पृपदाज्यं तदु ह चरकाध्वर्य्यवः पृपदाज्यमेवाग्रेभिघारयन्ति । श्रयः प्राणाः पृपदाज्यं स्तोमित्ये-वमभिद्धतीत्येवमादि । ऐतिह्यसमाचिति विधिः पुराकल्प इति । तस्माद्या एतेन ब्राह्मणा हविः पवमानं साम स्तोममस्तौपन् योनेर्यत्रं पतनवामह इत्येवमादि । कथं परकृतिपुराकल्पां श्रयंवादा इति । स्तुतिनिन्दावाक्येनाभिसंबन्धाद्विध्याश्रयस्य कस्य कस्यचिद्थेस्य द्योतनादर्थवाद इति ।

भाषार्ध

ब्राह्मण प्रन्थों की इतिहासादि संज्ञा होने में श्रोर भी प्रमाण हैं। जैसे लोक में तीन प्रकार के वचन होते हैं वैसे ब्राह्मण प्रन्थों में भी हैं। उनमें से एक विधिवाक्य है। जैसे (देवदत्तो प्रामं गच्छेत्सुखार्थम्) सुख के लिये देवदत्त प्राम को जाय। इसी प्रकार ब्राह्मण प्रन्थों में भी हैं (श्राग्नहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः) जिसको सुख की इच्छा हो वह श्राग्नहोत्रादि यज्ञों को करे। दूसरा श्र्यवाद है, जो कि चार प्रकार का होता है। एक स्तुति, श्रर्थान् पदार्थों के गुणों का प्रकाश करना, जिससे मनुष्यों की श्रद्धा उत्तम काम करने श्रोर गुणों के प्रहण में ही हो। दूसरी निन्दा, श्रर्थात् बुरे काम करने में दोषों का दिखलाना. जिससे उनको कोई न करे। तीसरा (परकृतिः), जैसे इस चोर ने बुरा काम किया इससे उसको दण्ड मिला श्रोर साहूकार ने श्रच्छा काम किया इससे उसकी प्रतिष्ठा श्रोर उन्नति हुई। चौथा (पुराकल्प), श्रर्थात् जो बात पहिले होचुकी हो, जैसे जनक की सभा में याज्ञबल्क्य, गार्गी,

शाकल्य, त्रादि ने इकट्ठे होके त्रापस में प्रश्नोत्तर रीति से संवाद किया था। इत्यादि इतिहासों को पुराकल्प कहते हैं।

स्०—विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ४॥ अ०२। आ०२। स्०
६४॥ अस्योप० वा० भा०। विध्यनुवचनं चानुवादो, विहितानुवचनं च। पूर्वः शब्दानुवादोऽपरोऽथीनुवादः। स०-न चतुष्ट्वमैतिह्याथीपत्तिसंभवाभावप्रामाण्यात् ॥६॥ अ०२। आ०२। मू०१॥ अस्योप० वा० भा०। न चत्वार्य्येव प्रमाणानि किं तर्हि, ऐतिह्यमर्थापत्तिः संभवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि । इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवकृकं प्रवादपारंपर्यमैतिह्यम् । अनेन प्रमाणेनापीतिहासादिनामभिक्रीह्मणान्येव गृह्यन्ते, नान्यदिति ।

भाषार्थ

इसका तीसरा भाग श्रमुवाद है। श्रथांत् जिसका पूर्व विधान करके उसी का स्मरण श्रोर कथन करना। सो भी दो प्रकार का है। एक शब्द का श्रोर दूसरा श्रथं का। जैसे वह विद्या को पढ़े यह शब्दानुवाद है। विद्या पढ़ने से ही झान होता है इसको श्रथांनुवाद कहते हैं। जिसकी प्रतिझा उसी में हेतु, उदाहरण, उपनय श्रोर निगमन को घटाना हो। जैसे परमेश्वर नित्य है, यह प्रतिझा है। विनाश रिहत होने से यह हेतु है। श्राकाश के समान है इसको उदाहरण कहते हैं। जैसा श्राकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी है इसको उपनय कहते हैं। श्रोर इन चारों का कम स उचारण करके पत्त में यथावत योजना करने को निगमन कहते हैं, जैसे, परमेश्वर नित्य है, विनाशरिहत होने से, श्राकाश के समान, जैसा श्राकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी। इससे इसमें समभ लेना चाहिये कि जिस शब्द श्रोर श्रथं का दूसरी वार उचारण श्रोर विचार हो इसको श्रमुवाद कहते हैं। सो ब्राह्मण पुस्तकों में यथावत् लिखा है। इस हेतु से भी ब्राह्मण पुस्तकों का नाम इतिहास श्रादि जानना चाहिये। क्योंकि इनमें से इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा श्रोर नाराशंसी ये पांच प्रकार की कथा सब ठीक २ लिखी हैं, श्रोर भागवतादि को इतिहासादि नहीं जानना चाहिये, क्योंकि उनमें मिश्या कथा बहुतसी लिखी हैं।

अन्यच। ब्राह्मणानि तु वेदच्याख्यानान्येव सन्ति, नैव वेदाख्यानीति। क्रुतः। इपेत्वोर्जेत्वेति ॥ श० कां० १। अ० ७॥ इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात्।

भाषार्थ

ब्राह्मण प्रन्थों की वेदों में गणना नहीं हो सकती, क्योंकि (इषेत्योर्जेत्वेति०) इस प्रकार से उनमें मन्त्रों की प्रतीक धर २ के वेदों का व्याख्यान किया है। श्रोर मन्त्रभाग संहिताओं में ब्राह्मण प्रन्थों की एक भी प्रतीक कहीं नहीं देखने में श्राती। इससे जो ईश्वरोक्त मूलमन्त्र श्रार्थात् चार संहिता हैं वे ही वेद हैं, ब्राह्मण प्रन्थ नहीं।

श्रन्यच महाभाष्येपि । केपां शब्दानाम् ? । लौकिकानां वैदिकानां च । तत्र लौकिकास्तावत् । गौरश्वः पुरुषो हस्ती शक्कानिर्मृगो ब्राह्मण इति । वदिकाः खल्विप । शन्नो देवीरभिष्टये । इपेत्वोर्जेत्वा । अग्निमीळे पुरोहितम् । अग्न श्रायाहि वीतयइति । यदि ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदमंज्ञाभीष्टाभृत्तर्हि तेपामप्युदाहर-णमदात् । त्र्यत एव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा प्रथममन्त्रप्रती-कानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानि । किन्तु यानि गौरश्व इत्यादीनि लौकिकोदाहर-णानि दत्तानि तानि ब्राह्मणादिश्रन्थेष्येय घटन्ते । कुनः । तेष्यीदशशब्दपाठव्यय-हारदर्शनात्।द्वितीयाः ब्राह्मणे ।। १ ।। ऋ० २ । पा० ३ ।। स्० ६० ।। चतुर्थ्यर्थे बहुलं बन्दिस ।। २ ।। ऋ०२ । पा०३ । सू०६२ ।। पुराणपोक्तेषु ब्राह्मण-कल्पेषु ॥ ३ ॥ ऋ० ४ । पा० ३ । सू० १०५ ॥ इत्यष्टाध्याच्यां सूत्राासि । श्रत्रापि पाणिन्याचार्य्येर्वेद्बाह्मणयोर्भेदेनेव प्रतिपादितम् (१)। तद्यथा पुराणेः प्राचीनैब्रेह्माद्यापिभिः प्रोक्ता ब्राह्मणकल्पग्रन्था वेद्व्याख्यानाः सन्ति । अतएवैतेपां पुराणेतिहाससंज्ञा कृतास्ति । यद्यत्र बन्दोब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाभीष्टा भवेत्तर्हि चतु-र्थ्यर्थे बहुलं छन्दसीति छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात्। कुतः। द्वितीया ब्राह्मण इति श्राक्षणशब्दस्य प्रकृतत्वात् । त्र्यतो विज्ञायते न ब्राह्मणप्रन्थानां वेदसंज्ञास्तीति । श्रतः किं सिद्धम् ? ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति। त्रत्र प्रमाणम् । ब्रह्म वै ब्राह्मणः, चत्र अ राजन्यः ॥ श० कां० १३। अ० १ ॥ समानार्थावेती वृषशब्दो वृषन्शब्दश्र, ब्रह्मन्शन्दो ब्राह्मण्शन्दश्च । इति न्याकरणमहाभाष्ये । अ०५ । पा० १ । आ० १ ॥ चतुर्वेदविद्भिन्ने सामिन्नी सामिन्नी सामि वेदन्या ख्यानानि तानि बाह्यणानि । अन्यव । कात्यायनेनापि ब्रह्मणा वेदेन सहचरितत्वात्सहचारोपाधि मत्वा ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा संमतेति विज्ञायते। एवमपि न सम्यगस्ति। कृतः। एवं तेनानुक्र-त्वादतोऽन्यैऋिपिभिरगृहीतत्वात् । श्रनेनापि न ब्राह्मणानां वेद्संज्ञा भवितुमहितीति। इत्यादिवहाभिः प्रमार्श्वेमेन्त्रासामेव वेदसंज्ञाः न ब्राह्मसाग्रन्थानामिति सिद्धम् ।

भाषार्थ

ब्राह्मण प्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं होने में व्याकरण महाभाष्य का भी प्रमाण है, जिस में लोक और वेदों के भिन्न २ ड्वाहरण दिये हैं। जैसे गौरथ:० इत्यादि लोक के और शत्रो देवीरभिष्टय इत्यादि वेदों के हैं। किन्तु वैदिक उदाहरणों में ब्राह्मणों का एक भी उदाहरण नहीं दिया श्रीर गौरश्व: इत्यादि जो लोक के उदाहरण दिये हैं वे सब ब्राह्मण पुस्तकों के हैं, क्योंकि उन में ऐसा ही पाठ है। इसी कारण से ब्राह्मण पुस्तकों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती। श्रीर कात्यायन के नाम से जो दोनों की वेदसंज्ञा होने में वचन है सो सहचार उपाधि लत्तरणा से किया हो तो भी नहीं बन सकता, क्योंकि जैसे किसी ने किसी से कहा कि उस लकड़ी को भोजन करादो. श्रीर दूसरे ने इतने ही कहने से तुरन्त जान लिया कि लकड़ी जड़ पदार्थ होने से भोजन नहीं कर सकती, किन्तु जिस मनुष्य के हाथ में लकड़ी है उसको भोजन कराना चाहिये, इस प्रकार से कहा हो तो भी मानने के योग्य नहीं हो सकता, क्योंकि इस में अन्य ऋषियों की एक भी साची नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म नाम ब्राह्मण का है, सो ब्रह्मादि जो वेदों के जानने वाले महर्षि लोग थे उन्हीं के बनाये हुए ऐतरेय, शतपथ आदि वेदों के व्याख्यान हैं, इसी कारण से उनके किये प्रन्थों का नाम ब्राह्मण हुन्त्रा है। इससे निश्चय हुन्त्रा कि मन्त्रभाग की ही वेदसंज्ञा है, ब्राह्मण प्रन्थों की नहीं।

किश्व भोः ब्राह्मण्यप्रन्थानामपि वेदवत्त्रामाएयं कर्त्तव्यमाहोस्विकोति । अत्र मूमः । नैतेषां वेदवत्त्रामाएयं कर्त्तुं योग्यमस्ति । कुतः । ईश्वरोक्ताभावात्तदनुकूल-तयैव प्रमाणाईत्याचेति । परन्तु सन्ति तानि परतः प्रमाणयोग्यान्येवेति ।

भाषार्थ

प्र०-हम यह पूछते हैं कि ब्राह्मण प्रन्थों का भी वेदों के समान प्रमाण करना उचित है वा नहीं १ उ०-ब्राह्मण प्रन्थों का प्रमाण वेदों के तुल्य नहीं हो सकता, क्योंकि वे ईश्वरोक्त नहीं हैं। परन्तु वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं *।

इति वेदसंशाविचारः

^{*} इसमें इतना भेद हैं कि जो ब्राह्मण प्रन्थों में कहीं वेद से विरुद्ध हो उस का प्रमाण करना किसी को न चाहिये और ब्राह्मच प्रन्थों से विरोध भावे तो भी वेदों का प्रमाण होता है।

अथ ब्रह्मविद्याविषयः

वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्तिक्षेति ? । अत्रोच्यतं । सर्वाः सन्ति मुलोदेशतः । तत्रादिमा ब्रह्मविद्या संवेपतः प्रकाश्यते । तमीशां नं जर्गत्मतस्थुष्स्पाति धियं जिन्वमवेसे हुमहे व्यम् । पूपा नो यथा वेदं मामसंबुधे रक्षिता पायुरदं न्धः स्ट्रस्तये ॥ १ ॥ ऋ० अ० १ । अ० ६ । व० १४ । मं० ४ ॥ तद्विष्णाः प्रमं पृदं सदौ पश्यन्ति मृर्यः । दिवीव । चनुरातंतम् ॥ २ ॥ ऋ० अ० १ । अ० २ । व० ७ । मं० ४ ॥ अनयोर्यः । (तमीशानम्) ईष्टेऽसावीशानः सर्वजगत्कर्ता ((जगतस्तस्थुपस्पति)) जगतो जङ्गमस्य तस्थुपः स्थावरस्य च पतिः स्वामी (धियं जिन्वम्) यो बुद्धेस्तृप्तिकर्ता (अवसे हुमहे वयम्) तमवसे रज्ञणाय वयं हुमहे अवह्यामः (पूपा) पृष्टिकर्ता (नः) स एवास्माकं पृष्टिकारकोस्ति (यथा वेदमाममद्वृधे) हे परमेश्वर ! यथा येन प्रकारेण वेदसां विद्यास्त्रकोस्ति (यथा वेदमाममद्वृधे) हे परमेश्वर ! यथा येन प्रकारेण वेदसां विद्यास्त्रकोप्ति । एवं (पायुरदन्धः स्वस्तये) अस्माकं रज्ञणे स्वस्तये सर्वस्रुखाय (अदन्धः) अनलसः सन् पालनकर्त्ता सद्वास्तु ॥ १ ॥ तद्विष्णोरिति मन्त्रस्यार्थे वेदविषयप्रकरणे विज्ञानकाएडे गदितस्तत्र द्रष्टव्यः ।

भाषार्थ

प्र०—वेदों में सब विद्या हैं वा नहीं ? । उ० — सब हैं । क्योंकि जितनी सत्य विद्या संसार में हैं वे मब वेदों से ही निकली हैं । उन में से पहिले ब्रह्मविद्या संस्थेप से लिखते हैं । (तमीशानं) जो सब जगन् का बनाने वाला है, (जगतस्तम्थुपस्पितें) अर्थात् जगत् जो चेतन और तस्थुप जो जड़, इन दो प्रकार के संसार का जो राजा और पालन करने वाला है, (धियं जिन्वम्) जो मनुष्यों को बुद्धि और आनन्द से तृप्त करने वाला है, उस की (अवसे हुमहे वयम्) हम लोग आह्वान अर्थात् अपनी रत्ता के लिये प्रार्थना करते हैं, (पूपा नः) क्योंकि वह हम को सब सुखों से पुष्ट करने वाला है, (यथा वेदसामसद् वृधे) हे परमेश्वर ! जैसे आप अपनी कृपा से हमारे सब पदार्थों और सुखों को बढ़ाने वाले हैं वैसे ही (रिचता) सब की रहा भी करें (पायुरद्द्धः स्वस्तये) जैसे आप हमारे रत्तक हैं वैसे ही सब सुख भी दीजिये ।। १ ।। (तद्विष्णों ०) इस मंत्र का अर्थ वेदविषयप्रकरण के विज्ञानकाएड में अच्छी प्रकार लिख दिया है, वहां देख लेना ।। २ ।।

भाष्यम्

प्रीत्यं भूतानि प्रीत्यं लोकान् प्रीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशेश्व । उपस्थायं प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानेमिसंविवेश ॥ ३ ॥ य॰ अ० ३२ । मं० ११ ॥ (परीत्य भू०) यः परमेश्वरो भूतान्याकाशादीनि परीत्य सर्वतोभिन्याप्य, स्टर्या-दीन् लोकान् परीत्य, पूर्वादिदिशः परीत्य, आग्नेयादिप्रदिशश्व परीत्य, परितः सर्वतः इत्वा, प्राप्य, विदित्वा च । (उपस्थाय प्र०)यः स्वसामर्थ्यस्याप्यात्मास्ति, यश्च प्रथमानि सूच्मभूतानि जनयति, तं परमानन्दस्वरूपं मोच्चाख्यं परमेश्वरं यो जीव आत्मना स्वसामर्थ्यनान्तः करणोनोपस्थाय तमेवोपगतो भूत्वा, विदित्वा, च।भिसंविवेश आभिष्ठख्येन सम्यक् प्राप्य स एव मोचाख्यं सुखमनुभवतीति ।

भाषार्थ

(परीत्य भू०) जो परमेश्वर श्राकाशादि सब भूतों में तथा (परीत्य लोकान्) सूर्व्यादि सब लोकों में व्याप्त हो रहा है, (परीत्य सर्वाः०) इसी प्रकार जो पूर्वादि सब दिशा श्रीर श्राग्नेयादि उपदिशाश्रों में भी निरन्तर भरपूर हो रहा है, श्रर्थात् जिस की व्यापकता से एक श्रागु भी खाली नहीं है, (ऋतस्या०) जो श्रपने भी सामर्थ्य का श्रात्मा है, (प्रथमजां) श्रीर जो कल्पादि में सृष्टि की उत्पत्ति करने वाला है, उस श्रानन्दस्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा श्रपने सामर्थ्य श्रर्थात् मन से यथा-वत् जानता है वही उस को प्राप्त होके (श्राभ०) सदा मोत्तसुख को भोगता है।।३।।

भाष्यम्

महद्यसं भ्रवंनस्य मध्ये तपिस कान्तं सिल्लिस्य पृष्ठे । तस्मिन्क्र्यन्ते य उ के वे देवा वृत्तस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० १० । प्रपा० २३ । अनु० ४ । मं० ३८ ॥ (महद्यसं) यन्महत्सर्वेभ्यो महत्तरं यसं सर्वमनुष्येः पूज्यम्, (भ्रवनस्य) सर्वसंसारस्य (मध्ये) परिपूर्णम्, (तपिस कान्तं) विज्ञाने वृद्धम्, (सालिलस्य) अन्तरित्तस्य कारणक्ष्पेण कार्यस्य प्रलयानन्तरं (पृष्ठे) पश्चात् स्थितमस्ति, तदेव ब्रह्म विज्ञेयम् (तस्मिन्ब्र्याणे य के चापि देवास्त्रयस्त्रिशद्यस्वाद्यस्ते सर्वे तदाधारेणेव तिष्ठन्ति । कस्य का इव ? (वृत्तस्य स्कन्धः) वृत्तस्य स्कन्धे परितः सर्वतो लग्नाः शाखा इव ।

भाषार्थ

(महद्यक्तं०) ब्रह्म जो महत् श्रिशीत् सब से बड़ा श्रीर सब का पूज्य है, (भुवनस्य म०) जो सब लोकों के बीच में विराजमान श्रीर उपासना करने के योग्य है, (तपिस कान्तं) जो विज्ञानादि गुणों में सब से बड़ा है, (सिललस्य पृष्ठे) सिलल जो अन्तरिक्त श्रिशीत् श्राकाश है उस का भी श्राधार श्रीर उस में ज्यापक, तथा जगत् के प्रलय के पीछे भी नित्य निर्विकार रहने वाला है, (तिस्मिब्छ्रयन्तं य उ के च देवाः) जिस के श्राश्रय से वसु श्रादि पूर्वोक्त तेतीस देव ठहर रहे हैं, (वृक्तस्य स्कन्धः परित इव शाखाः) जैसे कि पृथिवी से वृक्त का प्रथम श्राह्कुर निकल के श्रीर वही स्थूल हो के सब हालियों का श्राधार होता है, इसी प्रकार सब ब्रह्माण्ड का श्राधार वही एक परमेश्वर है।

भाष्यम्

न द्वितीयो न तृतीर्यश्रतुर्थी नप्युच्यते ॥ ६ ॥ न पंच्चमो न प्रष्टः संप्तमो नाप्युच्यते ॥ ७ ॥ नाष्ट्रमो न नेवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ = ॥ तमिदं निर्मतं सहः स एष एक एक्टब्रदेक एव ॥ ६ ॥ संवी अस्मिन् देवा एकवृती भवन्ति ॥ १०॥ अथर्व० कां० १३। अनु०४। मं०१६।१७।१⊏।२०। २१ ॥ (न द्वितीय०) एतैर्भन्त्रैरिदं विज्ञायते परमेश्वर एक एवास्तीति । नैवातो भिनः कश्चिद्पि द्वितीयः नृतीयः चतुर्थः ॥ ६ ॥ पश्चमः पष्टः सप्तमः ॥ ७ ॥ **श्रष्टमो** नवमो दशमश्रेश्वरो विद्यते ॥ ⊏ ॥ यतो नवभिर्नकारैर्द्वित्वसंख्यामा-रभ्य शून्यपर्घ्यन्तेनैकमीश्वरं विधायास्माद्भिनेश्वरभावस्यातिशयतया निषेधो वेदेषु कृतोऽस्त्यतो द्वितीयस्योपासनमत्यन्तं निषिध्यते । सर्वानन्तर्यामितया प्राप्तः सन्, जड़ं चेतनं च द्विविधं सर्वे जगत्, स एव पश्यति, नास्य कश्चिद्द्रष्टास्ति। न चायं कस्यापि दृश्यो भवितुमहिति । येनेदं जगद्व्याप्तं तमेवं परमेश्वरिमदं सकलं जगदपि (निगतं) निश्चितं प्राप्तमस्ति । व्यापकाद्व्याप्यस्य संयोगसं-बन्धत्वात् । (सहः) यतः सर्वे सहते तस्मात्स एवैप सहोस्ति । स खल्वेक एव वर्त्तते । न कश्चिद्वितीयस्तद्धिकस्तत्तुल्यो वास्ति । एकशब्दस्य त्रिप्रेइणात् । श्रतः सजातीयविजातीयस्वगतभेदराहित्यमीश्वरे वर्त्तत एव, ब्रितीयेश्वरस्यात्यन्त-निषेधात् । कस्मात् । एकवृदेक एवेत्युक्रत्वात् स एष एक एकवृत् । एकेन चेत-नमात्रेण वस्तुनैव वर्त्तते । पुनरेक एवासहायः सन् य इदं सकलं जगद्रचायित्वा धारयतीत्यादिविशेषणयुक्कोस्ति । तस्य सर्वशिक्तमच्वात् ॥ ६ ॥ श्रास्मिन्सर्वश-क्रिमित परमात्मिन सर्वे देवाः पूर्वोक्का वस्वादय एकवृत एकाधिकरणा एव भव-न्त्यर्थात्प्रलयानन्तरमि तत्सामर्थ्यं प्राप्यैककारणवृत्तयो भवन्ति । एवंविधाश्रान्येपि ब्रह्मविद्याप्रतिपादकाः सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमित्यादयो मन्त्रा वेदेषु बहवः सन्ति । ग्रन्थाधिक्यभिया नात्र लिख्यन्ते । किन्तु यत्र यत्र वेदेषु ते मन्त्राः सन्ति तत्त-द्भाष्यकरणावसरे तत्र तत्रार्थानुदाहरिष्याम इति ।

माषार्थ

(न द्वितीयो न०) इन सब मन्त्रों से यह निश्चय होता है कि परमेश्वर एक ही है, उससे भिन्न कोई न दुसरा, न तीसरा ऋौर न कोई चौथा परमेश्वर है।। ६।। (न पञ्चमो न०) न पांचवां, न छठा, न कोई सातवां ईश्वर है।। ७।। (नाष्ट्रमो न०) न ऋाठवां, न नवमा ऋौर न कोई दशमा ईश्वर है ।। ८ ।। (तिमदं०) किन्तु वह सदा एक श्रद्धितीय ही है, उसमे भिन्न दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं। इन मन्त्रों में जो दो से लेके दश पर्ध्यन्त श्रान्य ईश्वर होने का निपेध किया है सो इस श्राभिपाय से है कि सब संख्या का मूल एक (१) श्रङ्क ही है। इसी को दो, तीन, चार, पांच, छः, मात, त्राठ श्रौरं नव वार गणने से २, ३, ४, ४, ६, ७, ८ श्रीर ६ (नव) श्रंक बनते हैं, श्रीर एक पर शून्य देने से १० का श्रङ्क होता है। उनसे एक ईश्वर का निश्चय करा के वेदों में दूसरे ईश्वर के होने का सर्वथा निषेध ही लिखा है अर्थान् उसके एकपने में भी भेद नहीं और वह शून्य भी नहीं । किन्तु जो सिबदानन्दादि लच्चणयुक्त, एकरस परमात्मा है, वही सदा से सब जगत में परि-पूर्ण होके. पृथिवी ऋादि सब लोकों को रच के, ऋपने सामर्थ्य से धारण कर रहा है। तथा वह अपने काम में किमी का सहाय नहीं लेता, क्योंकि वह सर्वशिक्तमान है ।। ६ ।। (सर्वे श्रास्मिन्) उसी परमात्मा के सामर्थ्य में वस स्त्रादि सब देव स्त्रर्थान् पृथिवी त्रादि लोक ठहर रहे हैं त्रौर प्रलय में भी उसके सामर्थ्य में लय होके उसी में बने रहते हैं। इस प्रकार के मन्त्र वेदों में बहुत हैं। यहां उन सबके लिखने की कुछ श्रावश्यकता नहीं, क्योंकि जहां २ वे मन्त्र श्रावेंगे वहां २ उनका श्रर्थ करिया जायगा।

इति ब्रह्मविद्याविषयविचारः

अथ वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः प्रकाइयते

संगेच्छध्वं संवेदध्वं सं वो मनांसि जानताम् । देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासेते ॥१॥ ऋ० घ० ८। घ० ८। व०४६। मं०२॥ भाष्यम्

(संगच्छध्वं०) ईश्वरोऽभिवद्दित हे मनुष्या मयोक्नं न्याय्यं पद्मपातरिहतं सत्यलद्मणोज्ज्वलं धर्म यूयं संगच्छध्वं सम्यक् प्राप्नुत अर्थात् तत्प्राप्त्यर्थं सर्व विरोधं विहाय परस्परं संगता भवत येन युष्माकम्रुत्तमं सुखं सर्वदा वर्धेत सर्व- दुःखनाशश्च भवेत् (संवद०) संगता भृत्वा परस्परं जल्पवितएडादि विरुद्धवादं विहाय संप्रीत्या प्रश्लोत्तरिधानेन संवादं कुरुत यतो युष्मासु सम्यक्सत्यविद्या- युत्तमगुणाः सदा वर्धेरन् (संवो मनांसि जानताम्) यूयं जानन्तो विज्ञानवन्तो भवत जानतां वो युष्माकं मनांसि यथा ज्ञानवन्ति भवेयुस्तथा सम्यक् पुरुषार्थं कुरुतार्थाद्येन युष्मन्मनांसि सदानन्दयुक्तानि स्युस्तथा प्रयतध्वम् । युष्माभिर्धमे एव सेवनीयो नाधर्मश्चेत्यत्र दृष्टान्त उच्यते (देवा भागं यथा०) यथा पूर्वे संजानाना ये सम्यग्ज्ञानवन्तो देवा विद्वांस आप्ताः पत्तपातरिहता ईश्वरधर्मोपदेशिप्रयाश्चासन् युष्मत्पूर्वं विद्यामधीत्य वर्त्तन्ते किंवा ये मृतास्ते यथा भागं भजनीयं सर्वशक्तिमदादिलचणमीश्वरं मदुक्तं धर्म चोपासते । तथेव युष्माभिरिप स एव धर्म उपासनीयो यतो वेदप्रतिपाद्यो धर्मो निश्शङ्कतया विदितश्च भवेत् ॥ १ ॥

भाषार्थ

श्रव वेदों की रीति से धर्म के लच्चणों का वर्णन किया जाता है। (संगच्छण्डं) देखो परमेश्वर हम सबों के लिये धर्म का उपदेश करता है कि हे मनुष्य कोगो ! जो पच्चपातरहित, न्याय, सत्याचरण से युक्त धर्म है तुम लोग उसीको प्रहण करो । उससे विपरीत कभी मत चलो । किन्तु उसी की प्राप्ति के लिये विरोध को छोड़ के परस्पर सम्मति में रहो । जिससे तुम्हारा उत्तम सुख सब दिन बढ़ता जाय और किसी प्रकार का दुःख न हो । (संवदण्डं०) तुम लोग विरुद्ध वाद को छोड़ के परस्पर अर्थात् आपस में प्रीति के साथ पदना, पढ़ाना, प्रश्न, उत्तर सहित संवाद करो । जिससे तुम्हारी सत्यविद्या नित्य बढ़ती रहे । (संवो मनांसि जानताम्) तुम लोग अपने यथार्थ ज्ञान को नित्य बढ़ाते रहो । जिससे तुम्हारा मन प्रकाशयुक्त होकर

पुरुषार्थ को नित्य बढ़ावे । जिससे तुम लोग ज्ञानी होके नित्य आनन्द में बने रहों और तुम लोगों को धर्म का ही सेवन करना चाहिये, अधर्म का नहीं । (देवा भागं य०) जैसे पच्चपातरहित धर्मात्मा विद्वान लोग वेदरीति से सत्यधर्म का आचरण करते हैं, उसी प्रकार से तुम भी करो । क्योंकि धर्म का ज्ञान तीन प्रकार से होता है। एक तो धर्मात्मा विद्वानों की शिचा, दूसरा आत्मा की शुद्धि तथा सत्य को जानने की इच्छा और तीसरा परमेश्वर की कही वेदविद्या को जानने से ही मनुष्यों को सत्य आसत्य का यथावत् बोध होता है, अन्यथा नहीं ॥ १ ॥

मुमानो मन्त्रः सिमितिः समानी संमानं मनैः सह चित्तमेषाम्। मुमानं मन्त्रमिनिनेत्रये वः समानेने वो हुविषां जुहोमि॥ २॥ ऋ॰ अ॰ ८। अ॰ ८। व॰ ४६। मं॰ ३॥

भाष्यम्

(समानो मन्त्रः ०) हे मानवाः ! वो युप्माकं मन्त्रोऽर्थान्मामीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानां गुप्तप्रसिद्धसःमध्यगुणानां पदार्थानां भाषणाहुपदेशनं ज्ञानं वा भवति यम्मिन् येन वा स मन्त्रा विचारो भवितुमईति । तद्यथा । राज्ञो मन्त्री सत्यासत्यविवेककत्तेत्यर्थः, सोपि सत्यज्ञानफत्तः, सर्वोपकारकः, समानस्तुल्योऽर्था-द्विरोधरहित एव भवतु । यदा वहुभिर्मनुष्यिर्मिलित्वा संदिग्धपदार्थानां विचारः कर्त्तव्यो मवेत्तदा प्रथमतः पृथक् पृथगपि सभासदां मतानि भवेयुस्तत्रापि सर्वेभ्यः सारं गृई(त्वा यद्यत्सर्वमनुष्यहितकारकं सद्गुणलच्चणान्वितं मतं स्याचचत्सर्वे ब्रात्वेकत्र कृत्वा नित्यं समाचरत । यतः प्रतिदिनं सर्वेषां मनुष्याणामुत्तरोत्तरम्र-त्तमं सुखं वर्धेत । तथा (समितिः समानी) समितिः सामाजिकनियमव्यवस्था,sर्थाद्या न्यायप्रचागढ्या, सर्वमनुष्याणां मान्यज्ञानप्रदा, ब्रह्मचर्य्यविद्याभ्यासश्चभ-गुणसाधिका, शिष्टसभया राज्यप्रवन्धाद्यान्दःदिता, परमार्थव्यवद्दारशोधिका, ु बुद्धिशरीरवलारोग्यवर्द्धिनी शुभमर्यादापि समानी सर्वमनुष्यस्वतन्त्रदानसुखवर्धः नायेकरसेव कार्येति, (समानं मनः ०) मनः संकल्पविकल्पात्मकं, संकल्पोऽभि-लापेच्बेत्यादि, विकल्पोऽप्रीतिर्द्धेष इत्यादि । शुभगुणान्त्रति संकल्पः, त्रशुमगुणा-न्प्रति विकल्पश्च रत्तर्णायः । एतद्धर्मकं युष्नाकं मनः समानमन्योन्यमविरुद्धस्वभाव-मेवास्तु । यच्चितं पूर्वपरानुभूतं स्मरणात्मकं धर्मेश्वराचिन्तनं तदापि समानमर्थात्स-वैप्राणिनां दःखनाशाय सुखवर्धनाय च स्वात्मवत्यम्यक् पुरुपार्थेनंव कार्य्यम्,

(सह) युष्मानिः परस्परस्य सुखोपकारायेव सर्व सामर्थ्य योजनीयम्। (एपां०) ये होषां सर्व नीवानां सक्षे स्वात्तादर्त्तन्ते तादृशानां परोपकारिणां परसुखदातृणासुपर्थादं कृपालुर्भूत्वा (अभिमन्त्रये वः) युष्मान् पूर्वपरोक्षं धर्ममाज्ञापयामि।
इत्थमेव सर्वैः कर्तव्यमिति। येन युष्माकं मध्ये नेव कदाचित्सत्यनाशोऽसत्यवृद्विश्व भवेत्। (समानेन वो०) द्विद्दीनं ग्रहणं च, तद्दिष सत्येन धर्मेण युक्षमेव कार्य्यम्। तेन सनानेनैव हिविषा यो युष्मान् जुद्दोभि, सत्यधर्मेण सहवादं सदा
नियोजयामि। अतो मदुक्ष एव धर्मी मन्तव्यो नान्य इति॥ २॥

भाषार्थ

(समानो मन्त्रः) हे मनुष्य लोगो ! जो तुम्हारा मन्त्र श्रर्थात् सत्य श्रसत्य का विचार है वह समान हो। उस में किसी प्रकार का विरोध न हो। ऋर जब २ तुम लोग मिल के विचार करो, तब २ सब के वचनों को ऋलग २ सन के, जो २ धर्मयुक्त और जिसमें सब का हित हो सो २ सब में से अलग करके, उसी का प्रचार करो।जिससे सभों का बरावर सुख वढ़ता जाय। (मिनिः समानी) और जिस में सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य आदि आश्रम, अच्छे २ काम, उत्तम मनुष्यों की सभा से राज्य के प्रबन्ध का यथावत् करता और जिलते वृद्धि, शरीर, बल, पराक्रम श्रादि गुण बढ़ें तथा परमार्थ श्रीर व्यवहार शुद्ध हों ऐसी जें। उत्तम मर्ग्यादा है सो भी तुम लोगों की एक ही प्रकार की हो । जिससे तुम्हारे सब श्रेष्ठ काम सिद्ध होते जायं। (समानं मनः सह चित्तं) हे मनुष्य लोगो ! तुम्हत्रा मन भी श्रापस में विरोधरहित, श्रर्थात सब प्राणियों के दुःख के नाश और सुख की वृद्धि के लिये अपने आत्मा के समतुल्य पुरुषार्थवाला हो । शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा को संकल्प भौर दुष्ट गुर्णों के त्याग की इच्छा को विकल्प कहते हैं। जिससे जीवात्मा ये दोनों कर्म करता है उसका नाम मन है। उससे सदा पुरुपार्थ करो । जिससे तुन्हारा धर्म सदा दृढ़ और श्रविरुद्ध हो। तथा चित्त उसको कहते हैं कि जिससे सब अर्थी का स्मरण ऋर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथावत् विचार हो। वह भी तुम्हारा एक सा हो। (सह) जो तुम्हारा मन घौर चित्त हैं, ये दोनों: सब मनुष्यों के सुख ही के लिये प्रयत्न में रहें। (एषां०) इस प्रकार से जो मनुष्य सब का उपकार करने श्रौर सुख देनेवाले हैं, मैं उन्हीं पर सदा छूपा करता हूं। (समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः) अर्थात् में उन के लिये आशीर्वाद और आज्ञा देता हूं कि सब मनुष्य मेरी इस

आज्ञा के अनुकूल चलें। जिस से उन का सत्य धर्म बढ़े और असत्य का नाश हो। (समानेन वो हिवण जुहोमि) हे मनुष्य लोगो! जब २ कोई पदार्थ किसी को दिया चाहो, अथवा किसी से प्रहण किया चाहो, तब २ धर्म से युक्त ही करो। उस से विरुद्ध व्यवहार को मत करो। और यह बात निश्चय करके जान लो कि मैं सत्य के साथ तुम्हारा और तुम्हारे साथ सत्य का संयोग करता हूं। इसलिये कि तुम लोग इसी को धर्म मान के सदा करते रहो और इस से भिन्न को धर्म कभी मत मानो।। २।।

समानीव त्राक्तिः समाना हृद्यानि वः । समानमस्तु वो मनो यथा वः सुमहासति ॥ ऋ० अ० ८। अ० ८। व० ४६। मं०४॥

श्रस्थायमभित्रायः । हे मानवाः ! वो युष्माकं यत्सर्वे सामर्थ्यमस्ति तद्धर्म-संबन्धे परस्परमविरुद्धं कृत्वा सर्वैः सुखं सदा संवर्धनीयमिति, (समानी व०) श्राकृतिरध्यवसाय उत्साह त्राप्तरीतिर्वा सापि वो युष्माकं परस्परोपकारकरखेन सर्वेषां जनानां सुखायैव भवतु, यथा मदुपदिष्टस्यास्य धर्मस्य विलोपो न स्यात्त-थैव कार्य्यम्, (समाना हृदयानि वः) वो युष्माकं हृदयान्यर्थान्मानसानि प्रेमप्र-चुराणि कर्माणि निर्वेराय समानान्यविरुद्धान्येव सन्तु, (समानमस्तु वो मनः) **अत्र प्रमाणम्, कामः संकल्पो विचिकि**त्सा अद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्द्धीर्घीमीरित्ये-तत्सर्वं मन एव तस्मादिप पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति ॥ श० कां० १४ । अ १ ।। मनसा विविच्य पुनरनुष्ठातव्यम् । शुभगुणानामिच्छा कामः । तत्त्रा-प्त्यनुष्ठानेच्छा संकल्पः। पूर्वं संशयं कृत्वा पुनर्निश्चयकरणेच्छा संशयो विचिकित्सा। ईश्वरसत्यधर्मादिगुणानामुपर्यत्यन्तं विश्वासः श्रद्धा । श्रनीश्वरवादाधर्माचुपरि सर्वथा ह्यानिश्रयोऽश्रद्धा । सुखदुःखप्राप्त्यापीश्वरधर्माचुपरि सदैव निश्वयरचणं घृतिः। त्रशुमगुखानामाचरणं नैव कार्य्यमित्यधैर्य्यमधृतिः । सत्यधर्मानाचरखेऽसत्या-चरणे मनसः संकोचो घृणा हीः । शुभगुणान् शीघं घारयेदिति धारणावती वृत्तिर्धीः । श्रसत्याचरणादीश्वराज्ञामंगात्पापाचरणादीश्वरो नः सर्वत्र पश्यतीत्यादि वृत्तिर्भीः । एतद्धर्मकं मनो वो युष्माकं समानं तुल्यमस्तु । (यथा वः सुसहासित) हे मनुष्या वो युष्माकं यथा परस्परं सुसहायेन स्वसति सम्यक् सुखोकातिः स्या-त्तथा सर्वैः प्रयत्नो विधेयः । सर्वान् सुखिनो दृष्ट्वा चित्त श्राल्हादः कार्य्यः ।

नैव कंचिदिप दुःखितं दृष्ट्वा सुखं केनापि कर्त्तव्यम् । किन्तु यथा सर्वे स्वतन्त्राः सुखिनः स्युस्तथैव सर्वैः कार्य्यामिति ।

भाषार्थ

(समानी व त्राकृति:) ईश्वर इस मन्त्र का प्रयोजन कहता है कि हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा जितना सामर्थ्य है उस को धर्म के साथ मिला के सब सुखों को सब दिन बढ़ाते रहो। निश्चय, उत्साह श्रीर धर्मात्मात्रों के श्राचरण को श्राकृति कहते हैं। हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा सब पुरुषार्थ सब जीवों के सुख के लिये सदा हो। जिससे मेरे कहे धर्म का कभी त्याग न हो। श्रौर सदा वैसा ही प्रयत्न करते रहो कि जिससे (समाना हृद्यानि वः) तुम्हारे हृद्य श्रर्थात् मन के सब व्यवहार श्रापस में सदा प्रेमसिंहत श्रौर विरोध से श्रालग रहें। (समानमस्तु वो मन:) मनः शब्द का श्रनेक बार प्रहण करने में यह प्रयोजन है कि जिससे मन के श्रनेक श्रर्थ जाने जायँ। (कामः) प्रथम विचार ही करके सत्र उत्तम न्यवहारों का श्राचरण करना श्रीर बुरों को छोड़ देना इस का नाम काम है। (संकल्प:) जो सुख श्रौर विद्यादि शुभ गुणों को प्राप्त होने के लिये प्रयत्न से श्रत्यन्त पुरुषार्थ करने की इच्छा है उस को संकल्प कहते हैं। (विचिकित्सा) जो २ काम करना हो उस २ को प्रथम शङ्का कर कर के ठीक निश्चय करने के लिये जो संदेह करना है उसका नाम विचिकित्सा है। (श्रद्धा) जो ईश्वर त्र्यौर सत्य धर्म त्र्यादि शुभ गुणों में निश्चय से विश्वास को स्थिर रखना है उस को श्रद्धा जानना। (त्राश्रद्धा) अर्थात् अविद्या, कुतर्क, बुरे काम करने, ईश्वर को नहीं मानने और अन्याय आदि श्रशुभ गुणों से सब प्रकार से श्रलग रहने का नाम अश्रद्धा समभना चाहिये। (धृति:) जो सुख, दु:ख, हानि, लाभ श्रादि के होने में भी श्रपने धीरज को नहीं छोड़ना उस का नाम धृति है। (अधृति) बुरे कामों में दृढ़ न होने को अधृति कहते हैं। (हीः) अर्थात् जो भूठे आचरण करने और सच्चे कामों को नहीं करने में मन को लिजत करना है उस को ही कहते हैं। (धीः) जो श्रेष्ठ गुर्गों को शीद्र धारण करनेवाली वृत्ति है उस को धी कहते हैं। (भीः) जो ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उस से उत्तटे पाप के आचारण से नित्य डरते रहना, अर्थाते ईश्वर हमारे सब कामों को सब प्रकार से देखता है ऐसा जानकर उससे सदा डरना, कि जो मैं पाप करूंगा तो ईश्वर मुक्त पर अप्रसन्न होगा इत्यादि गुए। वाली वस्तु का नाम मन है। इस को सब प्रकार से सब के सुख के लिये युक्त करो। (यथा वः सुसहामित) हे मनुष्य लोगो! जिस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त धर्म सेवन से तुम लोगों को उत्तम सुखों की बढ़ती हो और जिस श्रेष्ठ सहाय से आपस में एक से दूसरे को सुख बढ़े ऐसा काम सब दिन करते रहो। किसी को दुःखी देख के अपने मन में सुख मत मानो। किन्तु सब को सुखी करके अपने आत्मा को सुखी जानो। जिस प्रकार से स्वाधीन हो के सब लोग सदा सुखी रहें वैसा ही यतन करते रहो।। ३।।

दृष्ट्वा रूपे व्याक्षरीत्सत्यानृते प्रजापंतिः। अश्रंद्धामनृते देघाच्छ्र-द्धाक्षं सत्ये प्रजापंतिः॥ ४॥ य० अ० १६। मं० ७७॥

भाष्यम्

अस्यायम० (दृष्टा०) प्रजापितः परमेश्वरो धर्मम्रुपिदशित सर्वेर्मनुष्येः सर्वथा सर्वदा सत्य एव सम्यक् श्रद्धा रक्षणियाऽसत्ये चाश्रद्धेति । (प्रजापितः) परमेश्वरः (सत्यानृते) धर्माधर्मी (रूपे) प्रसिद्धाप्रसिद्धलक्षणौ दृष्ट्या (व्याकरोत्) सर्वज्ञया स्वया विद्यया विभक्तौ कृतवानिस्त । कथिमत्यत्राह् (अश्रद्धाम०) सर्वेषां मनुष्याणामनृतेऽसत्येऽधर्मेऽन्यायेऽश्रद्धामद्धात् । अर्थाद्धर्मेऽश्रद्धां कर्तुमाज्ञापयति । तथैव वेदशास्त्रत्रतिपादिते, सत्ये, प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणः परीक्तिने, पक्षपातरिक्ते, न्याय्ये धर्मे प्रजापितः सर्वज्ञ ईश्वरः श्रद्धां चादधात्। एवं सर्वेर्मनुष्येः परमप्रयत्नेन स्वकीयं चित्तं धर्मे प्रवृत्तमधर्मानिवृतं च सदैव कार्य्यमिति ॥ ४ ॥

भाषार्थ

(दृश्वा०) इस मन्त्र का श्राभिप्राय यह है कि प्रजापित परमेश्वर जो सब जगत् का स्वामी श्राश्चीत् मालिक है वह सब मनुष्यों के लिये धर्म का उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को सब प्रकार से सब काल में सत्य में ही प्रीति करनी चाहिये, श्रमत्य में कभी नहीं। (प्रजापित:) सब जगत् का श्रध्यच्च जो ईश्वर है सो (सत्यान्ते) सत्य जो धर्म श्रोर श्रमत्य जो श्रधम है, जिन के प्रकट श्रोर गुप्त लच्चण हैं, श्र (व्याकरोत्) उन को ईश्वर ने श्रपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक २ विचार से देख के सत्य श्रोर भूठ को श्रम्लग २ किया है। सो इस प्रकार से है कि (श्रश्रद्धाम०) हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन श्रमृत श्रर्थात् भूठ श्रन्याय के करने में (श्रश्रद्धाम)

अं जितना धर्म श्रधम का लक्ष्य बाहर की चेष्टा के साथ सम्बन्ध रखता है वह प्रकट श्रीर जितना श्रात्मा के साथ सम्बन्ध रखता है वह गुप्त कहाता है।

श्चर्यात् प्रीति कभी मत करो । वैसा ही (श्रद्धा छैस०) सत्य श्चर्यात् जो वेदशास्त्रोक्त श्चीर जिसकी प्रत्यन्त श्चादि प्रामणों से परीन्ना की गई हो वा की जाय वही पन्नपात से श्चलग न्यायरूप धर्म है । उस के श्चाचरण में सब दिन प्रीति रक्त्वो, श्चीर जो २ तुम लोगों के लिये मेरी श्चाज्ञा है उस २ में श्चपने श्चात्मा, प्राण श्चीर मन को सब पुरुषार्थ तथा कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य ही में प्रवृत्त करो ।। ४ ।।

हते दृधंहं मा मित्रस्यं मा चर्चुषा सर्वीणि भूतानि ममीच्नाम्। मित्रस्याहं चर्चुषा सर्वीणि भूतानि समीचे । मित्रस्य चर्चुषा समीचा-महे ॥ ४ ॥ य० श्र० ३६ । मं० १८ ॥

भाष्यम्

(हते हं छह ०) अस्यायम ० सर्वे मनुष्याः सर्वथा सर्वदा सर्वेः सह सोहार्धेनैव वर्तेराश्विति । सर्वेरीखरोक्कोयं धर्मः स्वीकार्यः, ईश्वरः प्रार्थनीयश्व, यतो धर्मनिष्ठा स्यात् । तद्यथा । हे हते ! सर्वदुः खिवनाशकेश्वर ! मदुपरि कृपां विधि हि, यतोऽ हं सत्यधन यथावि जानीयाम्, पज्ञपाताहितस्य सहदश्व जुपा प्रेमभावेन सर्वाणि भूतानि (मा) मां सदा समी ज्ञन्तामर्थान्मम मित्राणि भवन्तु । इती च्छाविशिष्टं मां (हथह) हं ह, सत्यसुखे शुभगुणेश्व सह सदा वर्धयः, (मित्रस्याहं ०) एवम-हमपि मित्रस्य च जुपा स्वात्मवत्य्रेम बुद्धचा (सर्वाणि भूतानि समी वे) सम्यक् पश्यानि, (मित्रस्य च ०) इत्यमेव मित्रस्य च जुपा निर्वेरा भूत्वा वयमन्योन्यं समी जामहे, सुखसंपादनार्थं सदा वर्जामहे । इती श्वरोपदिष्टो धर्मो हि सर्वेमेनुष्येरेक एव मन्तव्यः ॥ ४ ॥

भाषार्थ

(हते ह छह ०) इस मन्त्र का आभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग आपस में सब प्रकार के प्रेमभाव से सब दिन वर्तें, और सब मनुष्यों को उचित है कि जो वेदों में ईश्वरोक धर्म है उसी को बहण करें, और वेदरीति से ही ईश्वर की उपासना करें, कि जिससे मनुष्यों की धर्म में ही प्रवृत्ति हो। (हते ०) हे सब दुःखों के नाश करने वाले परमेश्वर! आप हम पर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग आपस में वैर को छोड़ के एक दूसरे के साथ प्रेमभाव से वर्तें। (मित्रस्य मा०) और सब प्राणी सुक्त को अपना मित्र जान के बन्धु के समान वर्तें। ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को (ह छह ०) सत्य सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइये। (मित्रस्य ह्म लोगों को (ह छह ०) सत्य सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइये। (मित्रस्य ह्म लोगों को (ह छह ०) सत्य सुख और शुभ गुणों से अपने मित्र जानूं और

हानि, लाभ, सुख और दुःख में अपने आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को मानूं। (मित्रस्य च०) हम सब लोग आपस में मिलके सदा मित्रभाव रक्खें और सत्यधर्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें। जो ईश्वर का कहा धर्म है यही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य है।। १।।

अग्ने व्रतपते <u>व्र</u>तं चरिष्यामि तच्छंकेयं तन्मे राध्यताम् । <u>इदम</u>ह-मर्नुतात्मृत्यमुपैमि ॥ ६ ॥ यज्जु० अ० १ । मं० ४ ॥

भाष्यम्

(श्रग्ने त्र०) श्रस्याभित्रा० सवैर्मनुष्येरीश्वरस्य सहायेच्छा सदा कार्येति । नेव तस्य सहायेन विना सत्यधर्मज्ञानं, तस्यानुष्ठानपूर्त्तिश्व भवतः । हे श्रग्ने त्रतपते ! सत्यपते (त्रतं) सत्यधर्म चरिष्याम्यनुष्ठास्यामि । श्रत्र प्रमाणम् ॥ सत्य- मेव देवा श्रनृतं मनुष्याः । एतद्ध वे देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् ॥ श० कां० १ । श्र० १ ॥ सत्याचरणादेवा श्रसत्याचरणान्मनुष्याश्व भवन्ति । श्रतः सत्याचरणमेव धर्ममाहुरिति । (तच्छकेयम्) यथा तत्सत्याचरणं धर्म कर्त्तुमहं शकेयं समर्थो भवेयम्, (तन्मे राध्यताम्) तत्सत्यधर्मानुष्ठानं मे मम भवता राध्यतां कृपया सम्यक् सिद्धं कियताम् । किंच तद्वतित्यत्राह? (इद्महमनृतात्सत्यमुपै०) यत्सत्यधर्मस्यैवाचरणमनृतादसत्याचरणादधर्मात्पृथग्भृतं तदेवोपेमि प्रामोमीति । श्रस्यैव धर्मस्यानुष्ठानमीश्वरप्रार्थनया स्वपुरुषार्थेन च कर्त्तव्यम् । नापुरुषार्थिनं मनुष्यमी-श्वरोनुष्ठह्वाति । यथा चन्नुष्मन्तं दर्शयति नान्धं च । एवमेव धर्मं कर्त्तुमिच्छन्तं पुरुषार्थकारिणमीश्वरानुग्रहाभिलाषिणं प्रत्येवश्वरः कृपानुर्भवति नान्यं प्रति चेति । कृतः । जीवे तत्सिद्धं कर्तुं साधनानामीश्वरेण पूर्वमेव रिचतत्वात्, तदुपयोगाकर-णाच्च । येन पदार्थेन यावानुषकारो ग्रहीतुं श्वयस्तावान्स्वेनैव ग्रहीतव्यस्तदुपरी-श्वरानुग्रहेच्छा कार्य्येति ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(अग्ने त्र०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब मनुष्य लोग ईश्वर के सहाय की इच्छा करें, क्योंकि उस के सहाय के बिना धर्म का पूर्ण ज्ञान और उस का अनुष्ठान पूरा कभी नहीं हो सकता। हे सत्यपते परमेश्वर ! (व्रतं०) मैं जिस सत्यधर्म का अनुष्ठान किया चाहता हूं उस की सिद्धि आप की छुपा से ही हो सकती है। इसी मन्त्र का अर्थ शतपथनाह्मण में भी लिखा है कि जो मनुष्य सत्य के आच-

रणरूप व्रत को करते हैं वे देव कहाते हैं, और जो असत्य का आचरण करते हैं उन को मनुष्य कहते हैं। इस से मैं उस सत्यव्रत का आचरण किया चाहता हूं। (तच्छकेयं) मुक्त पर आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे मैं सत्यभर्म का अनुष्टान पूरा कर सकूं। (तन्मे राध्यतां) उस अनुष्ठान की सिद्धि करने वाले एक आप ही हो । सो कृपा से सत्यरूप धर्म के अनुष्ठान को सदा के लिये सिद्ध कीजिये। (इदमहमनुतात्सत्यमुपैमि) सो यह व्रत है कि जिसको मैं निश्चय से चाहता हूं। उन सब श्रमत्य कामों से छूट के सत्य के श्राचरण करने में सदा हद रहं । परन्तु मनुष्य को यह करना उचित है कि ईश्वर ने मनुष्यों में जितना सामर्थ्य रक्खा है उतना पुरुपार्ध श्रावश्य करें । उसके उपरान्त ईश्वर के सहाय की इच्छा करनी चाहिये। क्योंकि मनुष्यों में सामर्थ्य रखने का ईश्वर का यही प्रयोजन है कि मनुष्यों को अपने पुरुषार्थ से ही सत्य का आचरण अवश्य करना चाहिय। जैसे कोई मनुष्य श्रांख वाले पुरुष को ही किसी चीज को दिखला सकता है, अन्धे को नहीं। इसी रीति से जो मनुष्य सत्यभाव, पुरुषार्थ से धर्म को किया चाहता है उस पर ईश्वर भी कुपा करता है, अन्य पर नहीं। क्योंकि ईश्वर ने धर्म करने के लिये बुद्धि आदि बढ़ने के साधन जीव के साथ रक्खे हैं। जब जीव उनसे पूर्ण पुरुषार्थ करता है तब परमेश्वर भी श्रापने सब सामध्ये से उस पर कृपा करता है, श्रान्य पर नहीं। क्योंकि सब जीव कर्म करने में स्वाधीन और पापों के फल भोगने में कुछ पराधीन भी हैं॥ ६॥

त्रुतेने ट्रीचामाप्नोति द्वीचर्याप्नोति दिचिणाम् । दिचिणा आद्धा-मोप्नोति अद्धर्यां मृत्यमाप्यते ॥ ७॥ यज्ज० श्र० १६। मं० ३०॥

भाष्यम्

(व्रतेन दी०) अस्या० यदा मनुष्यो धर्म जिज्ञासते, सत्यं चिकीषीते, तदैव सत्यं विजानाति, तत्रैव मनुष्यः श्रद्धेयम् । नासत्ये चेति । यो मनुष्यः सत्यं व्रत-मौचरति । तदा दीचामुत्तमाधिकारं प्रामोति । (दीचयाप्नोति द०) यदा दीचितः सन्जनमगुणैरुत्तमाधिकारी भवति तदा सर्वतः सत्कृतः फलवान् भवति, सास्य दिचिणा भवति । तां दीचया शुभगुणाचरणेनैवाप्नोति । (दिचिणा श्र०) सा दिचिणा यदा ब्रह्मचर्यादिसत्यव्रतेः सत्काराढ्या स्वस्यान्येषां च भवति तदाचरणे श्रद्धां दृदं विभातमुत्पाद्यति । कृतः । सत्याचरणमेव सत्कारकारकमस्त्यतः । (श्रद्धया०) यदोत्तरोत्तरं श्रद्धा वर्धेत तदा तया श्रद्धया मनुष्येः परमेश्वरो मोच-

धर्मादिकं चाप्यते प्राप्यते नान्यथेति । अतः किमागतं सत्यप्राप्त्यर्थं सर्वदा श्रद्धोत्साहादिपुरुषार्थो वर्धायेतच्यः ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(ब्रतेन दी०) इस मन्त्र का श्राभिप्राय यह है कि जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है तभी सत्य को जानता है। उसी सत्य में मनुष्यों को श्रद्धा करनी चाहिये। श्रमत्य में कभी नहीं। (ब्रतेन०) जो मनुष्य सत्य के श्राचरण को टढ़ता से करता है तब वह दीचा श्रर्थात् उत्तम श्राधिकार के फल को प्राप्त होता है। (दीच्चयाप्नोति०) जब मनुष्य उत्तम गुणों से युक्त होता है तब सब लोग सब प्रकार से उसका सत्कार करते हैं। क्योंकि धर्म श्रादि शुभगुणों से ही उस दिच्या को मनुष्य प्राप्त होता है, श्रन्यथा नहीं। (दिच्या श्र०) जब ब्रह्मचर्य श्रादि सत्य व्रतों से श्रपना श्रोर दूसरे मनुष्यों का श्रत्यन्त सत्कार होता है तब उसी में टढ़ विश्वास होता है। क्योंकि सत्य धर्म का श्राचरण ही मनुष्यों का सत्कार कराने वाला है। (श्रद्धया०) फिर सत्य के श्राचरण में जितनी २ श्रिधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है उतना २ ही मनुष्य लोग व्यवहार श्रीर परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं, श्रधमीचरण से नहीं। इससे क्या सिद्ध हुश्रा कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा श्रीर उत्साह श्रादि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जायं, जिससे सत्य धर्म की यथावत् प्राप्ति हो।। द।।

अमेण तर्पसा मृष्टा ब्रह्मणा बिक्तऋते श्रिता ॥ ६ ॥ सुत्येनःर्घृता श्रिया प्रार्घृता यशेमा परीवृताः ॥१०॥ अधर्य० कां०१२ । श्रातु० ४ । मं०१ । २ ॥

भाष्यम्

(अमेण तपसा०) श्रभिप्रा० अमेणेत्यादिमन्त्रेषु धर्मस्य लच्चणानि प्रकाश्यन्त इति। अमः प्रयत्नः पुरुषार्थ उद्यम इत्यादि। तपो धर्मानुष्टानम्। तेन अमेणेव
तपसा च सहेश्वरेण सर्वे मनुष्याः सृष्टा राचिताः। श्रतः (ब्रह्मणा) वेदेन परमेश्वरज्ञानेन च युक्ताः सन्तो ज्ञानिनः स्युः, (श्रदेतं श्रिता०) श्रदेते ब्रह्माणे पुरुषार्थे
चाश्रिता, श्रदं सेवमानाश्र सदैव भवन्तु ॥ ६॥ (सत्येनावृ०) वेदशास्त्रेण
प्रत्यचादिभिः प्रमाण्येश्र परीचितेनाव्यभिचारिणा सत्येनावृता युक्ताः सर्वे मनुष्याः
सन्तु। (श्रिया प्रावृ०) श्रिया श्रभगुणाचरणोऽज्वलया चऋवर्त्तराज्यसेवमानया प्रकृष्टया लच्च्याऽऽवृता युक्ताः परमप्रयत्नेन भवन्तु। (यशसा०) जत्कृष्ट-

गुणप्रहर्णं, सत्याचरणं यशस्तेन परितः सर्वतोवृता युक्ताः सन्तः प्रकाशयितास्य स्युः ॥ १० ॥

भाषार्थ

(अमेण तपसा०) इन मन्त्रों के अभित्राय से यह सिद्ध होता है कि सब मनुष्यों को (अमेण०) इत्यादि धर्म के लज्ञणों का प्रहण अवश्य करना चाहिये। क्यों कि ईश्वर ने (अम०) जो परम प्रयत्न का करना, और (तपः) जो धर्म का आचरण करना है इसी धर्म से युक्त मनुष्यों को रचा है। इस कारण से (ब्रह्मणा) ब्रह्म जो वेदिवद्या और परमेश्वर के ज्ञान से युक्त होके सब मनुष्य अपने २ ज्ञान को बढ़ावें। (ऋतेश्रिता) सब मनुष्य ऋत जो ब्रह्म, सत्य विद्या, और धर्माचरण इत्यादि शुभगुणों का सेवन करें।। ६॥ (सत्यनावृता) सब मनुष्य प्रत्यज्ञादि प्रमाणों से सत्य की परीच्चा करके सत्य के आचरण से युक्त हों। (अया प्रावृता) हे मनुष्य कोगो ! तुम शुभगुणों से प्रकाशित होके, चक्रवर्तिराज्य आदि ऐश्वर्य को सिद्ध करके, आतिश्रेष्ठ लद्मी से युक्त हो के, शोभारूप श्री को सिद्ध करके, उस को चारों और पहिन के शोभित हो। (यशसा परी०) सब मनुष्यों को उत्तम गुणों का प्रहण करके सत्य के आचरण और यश अर्थात् उत्तम कीर्ति से युक्त होना चाहिये।। १०।।

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्य्युढा दीच्या गुप्ता युक्ते प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ ११ ॥ श्रोजंश्च तं जंश्च सहश्च वर्लं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीरच धर्मश्च ॥ १२ ॥ श्रथवं० कां०१२ । श्रनु०४ । मं०३ । ७ ॥ भाष्यम्

(स्वध्या परि०) परितः सर्वतः स्वकीयपदार्थशुभगुणधारणेनैव सन्तुष्य सर्वे मनुष्याः सर्वेभ्यो हितकारिणः स्युः, (श्रद्धया प०) सत्यमेव विश्वासम् लम्मित नामदिति तया सत्योपरिदृद्धिश्वासम्हपया श्रद्धया परितः सर्वत उद्धाः श्राप्त-वन्तः सन्तु, (दीन्न्या गुप्ताः) सिद्धराप्तैर्विद्धन्दिः कृतसत्योपदेशया दीन्न्या गुप्ता रिन्ताः, सर्वमनुष्याणां रिन्तारश्च स्युः, (यहे प्रतिष्ठिताः) (यहो वे विष्णुः) व्यापके परमेश्वरे सर्वोपकारकेऽश्वमेधादौ शिल्पविद्याक्तियाकुशलत्वे च प्रतिष्ठिताः प्राप्तप्रतिष्ठाश्च भवन्तु, (लोको निधनम्) श्रयं लोकः सर्वेषां मनुष्याणां निधनं यावन्तृत्युने भवेत्तावत्सर्वोपकारकं सत्कर्मानुष्ठानं कर्त्तं योग्यमस्तीति सर्वेमन्तव्य-मितीश्वरोपदेशः ॥ ११ ॥ श्चन्यच्च । (श्रोजश्च) न्यायपालनान्वितः पराक्र-

मः, (तेजश्र) प्रगल्भता, धृष्टता, निर्भयता, निर्दानता, सत्ये व्यवहारे कर्तव्या, (सहश्र) सुखदुःखहानिलाभादिक्केशप्रदवर्तमानप्राप्ताविष हर्षशोकाकरणं, तिक्षिन्वारणार्थं परमप्रयत्नानुष्ठानं च सहनं सर्वैः सदा कर्त्तव्यम्, (बलं च) ब्रह्मचर्या-दिसुनियमाचरणेन शरीरबुद्धचादिरोगनिराकरणं, दृढाक्कतानिश्वलबुद्धित्वसम्पादनं, भीषणादिकर्मयुक्तं बलं च कार्य्यमिति, (वाक् च) विद्याशिचासत्यमधुरभाषणा-दिशुभगुण्युक्ता वाणी कार्य्येति, (इन्द्रियं च) मनश्रादीनि वाग्भिकानि षद्ज्ञानेन्द्रियाणि, वाक् चेति कर्मेन्द्रियाणाम्रुपलच्चणेन कर्मेन्द्रियाणि च, सत्यधर्मा-चरण्युक्तानि पापाद्व्यतिरिक्तानि च सदैव रच्चणियानि, (श्रीश्च) सम्राद्राज्यश्रीः परमपुरुषार्थेन कार्येति, (धर्मश्र) अयमेव वेदोक्तो, न्याय्यः, पच्चपातरिहतः, सत्याचरण्युक्तः, सर्वोपकारश्र धर्मः सदैव सर्वैः सेवनीयः। अस्यवेयं पूर्वा परा सर्वा व्याख्यास्तीति बोध्यम् ॥ १२ ॥

भाषार्ध

(स्वधया परिहिता) सब प्रकार से मनुष्य लोग स्वधा श्रर्थात् श्रपने ही पदार्थों का धारण करें। इस अमृतरूप व्ययहार से सदा युक्त हों। (श्रद्धया-पर्व्यूढा) सब मनुष्य सत्य व्यवहार पर श्रत्यन्त विश्वास को प्राप्त हों । क्योंिक जो सत्य है वही विश्वास का मूल तथा सत्य का श्राचरण ही उसका फल श्रोर स्वरूप है, श्रासत्य कभी नहीं। (दीच्चया गुप्ता) विद्वानों की मत्य शिचा से रत्ता को प्राप्त हो ऋौर मनुष्य आदि प्राणियों की रत्ता में परमपुरुषार्थ करो। (यज्ञे प्रतिष्ठिता) यज्ञ जो सब में न्यापक श्रर्थान परमेश्वर श्रथवा सब संसार का उपकार करने वाला ऋश्वमेधादि यज्ञ ऋथवा जो शिल्पविद्या सिद्ध करके उपकार लेना जो यज्ञ है, इस तीन प्रकार के यज्ञ में सब मनुष्य यथावत् प्रवृत्ति करें। (लोको नि०) जब तक तुम लोग जीते रहो तब तक सदा सत्य कर्म में ही पुरुषार्थ करते रहो । किन्तु इस में श्रालस्य कभी मत करो । ईश्वर का यह उपदेश सब मनुष्यों के लिये है।। ११।। (झोजझ) धुर्म के पालन से युक्त जो पराक्रम, (तेजश्च) प्रगल्भता अर्थात् भयरहित होके दीनता से दूर रहना, (सहश्च) मुख, . दुःख, हानि, लाभ त्यादि की प्राप्ति में भी हर्ष शोकादि छोड़ के सत्य धर्म में हद रहना, दुःख का निवारण और सहन करना, (बलंच) ब्रह्मचर्य आदि ऋच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य, बुद्धि की चतुराई आदि बल का बढ़ाना, (बाक् च) सत्य विद्या की शिचा, सत्य मधुर अर्थात् कोमल प्रिय भाषण का करना, (इन्द्रियं च) जो मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय श्रीर पांच कर्मेन्द्रिय हैं उन को पाप कर्मों से रोक के सदा सत्य पुरुपार्थ में प्रयुत्त रखना, (श्रीश्च) चक्रवर्त्तिराज्य की सामग्री को सिद्ध करना, (धर्मश्च) जो वेदोक, न्याय से युक्त हो के, पत्तपात को छोड़ के, सत्य ही का सदा आचरण और असत्य का त्याग करना है, तथा जो सब का उपकार करने वाला और जिस का फल इस जन्म और परजन्म में श्रानन्द है, उसी को धर्म श्रौर उस से उलटा करने को ऋधर्म कहते हैं, उसी धर्म की यह सब व्याख्या है, कि जो (संगच्छध्वं०) इस मन्त्र से लेके (यतोभ्युदय०) इस सूत्र तक जितने धर्म के लच्चण लिखे हैं वे सब लच्चण मनुष्यों को प्रहण करने के योग्य हैं।। १२।।

ब्रह्म च तन्त्रं चे राष्ट्रं च विशेश्च त्विषिश्च यशेश्च वर्चेश्च द्रविणं च ॥ १३ ॥ ऋषुंश्च रूपं च नामं च कीर्तिश्चं माणश्चांपानरच चर्चुरच श्रोत्रं च ॥ १४ ॥ पर्धरचु रमुरचात्रं चात्राचं च ऋतं चे मृत्यं चेष्टं च पूर्ते चे प्रजा चे पुशर्वश्च ॥ १४ ॥ श्रथवे० कां० १२ । श्रनु० ४ । सू० र्थ। ग्वं०२। मं०८। ६। १०॥ 121563

भाष्यम्

इत्याद्यनेकमन्त्रप्रमाणैर्धमोपदेशो वेदेष्वीश्वरेणेव सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोस्ति । (ब्रह्म च) ब्राह्मणोपल वर्णं सर्वोत्तमविद्यागुणकर्मवन्त्वं सद्गुणप्रचारकरणत्वं च ब्राह्मणलत्तर्णं, तच सदैव वर्धायतव्यम्, (त्तत्रं च) त्तत्रियोपलत्तर्णं विद्याचातु-र्य्यशौर्यधैर्य्यवीरपुरुषान्वितं च सदैवोत्रेयम्, (राष्ट्रं च) सत्पुरुषसभया मुनियमैः सर्वसुखाट्यं शुभगुणान्वितं च राज्यं सदैवं कार्य्यद्, (विशश्च) वेश्यादिप्रजानां व्यापारादिकारिणां भूगोले बच्याइतगतिसंपादनेन व्यापाराद्धनवृद्धचर्थं संरचणं च कार्य्यम्, (त्विषिश्र) दीप्तिः शुभगुणानां प्रकाशः सत्यगुणकामना प्रचारणीयेति, (यशश्र) धर्मान्वितानुत्तमा कीर्त्तिः संस्थापनीया, (वर्चश्र) सद्विद्याप्रचारं सम्यगध्ययनाध्यापनप्रबन्धं कर्म सदा कार्य्यम्, (द्रविणं च) स्रप्रा-प्तस्य पदार्थस्य न्यायेन प्राप्तीच्द्रा कार्य्या, प्राप्तस्य संरचणं, रचितस्य वृद्धि-र्वृद्धस्य सत्कर्मसु व्ययश्र योजनीयः । एतच्चतुर्विधपुरुपार्थेन धनधान्ये। स्नितसुसे सदैव कार्य्ये ।। १३ ।। (भ्रायुश्व) वीर्घ्यादिरत्त्रणेन मोजनाच्छादनादिसुनियमेन ब्रह्मचर्य्यमुसेवनेनायुर्वलं कार्य्यम्, (रूपं च) निरन्तरविषयासेवनेन सदैव सीन्द-

र्थ्यादिगुण्युक्तं स्वरूपं रच्चणीयम्, (नाम च) सत्कर्मानुष्टानेन नामप्रसिद्धिः कार्या, यतोऽन्यस्यापि सत्कर्मस्रत्साइवृद्धिः स्यात्, (कीर्त्तिश्व) सद्गुणप्रहणा-र्थमीश्वरगुणानाम्रुपदेशार्थं कीर्त्तनं, स्वसत्कीर्त्तमस्त्रं च सदैव कार्य्यम्, (प्राण-श्रापानश्र) प्राणायामरीत्या प्राणापानयोः शुद्धिवले कार्य्ये । शारीराद्घाह्यदेशं यो वायुर्गच्छति स प्राणः । बाह्यदेशाच्छरीरं प्रविशति स वायुरपानः। शुद्धदेशानिवासादिनैनयोः प्रच्छर्दनिवधारणाभ्यां बुद्धिशारीरवलं च संपादनीः यम्, (चक्षुश्र श्रोत्रं च) चाक्षुषं प्रत्यत्तं, श्रौत्रं शब्दजन्यं, चादनुमानादीन्यपि प्रमाणानि यथाबद्वेदितव्यानि, तैः सत्यं विज्ञानं च सर्वथा कार्घ्यम् ॥ १४ ॥ (पयश्र रसश्र) पयो जलादिकं, रसो दुग्धपृतादिश्रैतौ वैद्यकरीत्या सम्यक् शोध-यित्वा भोक्रव्यो, (श्रत्रं चानाद्यं च) श्रत्रमोदनादिकमनाद्यं भोक्रुमई शुद्धं संस्कृतमत्रं संपाद्येव भोक्नव्यम्, (ऋतं च सत्यं च) ऋतं ब्रह्म सर्वदेवोपासनीयं, सत्यं प्रत्यत्तादिभिः प्रमाशौः परीवितं यादृशं स्वात्मन्यस्ति तादृशं सदा सत्यमेव वक्रव्यं मन्तव्यं च। (इष्टं च पूर्तं च) इष्टं ब्रह्मोपासनं सर्वोपकारकं यज्ञानुष्टानं च, पूर्त तु यत्पूर्चर्थं मनसा वाचा कर्मणा सम्यक् पुरुपार्थेनैव सर्ववस्तुसंभारेश्वो-भयानुष्टानपूर्त्तिः कार्य्येति, (प्रजा च पशवश्र) प्रजा सन्तानादिका राज्यं च सुशिचाविद्यासुखान्विता, इस्त्यश्वादयः पशवश्व सम्यक् शिचान्विताः कार्य्याः। वहुभिश्रकारैरन्येपि शुभगुणा अत्र ग्राह्याः ॥ १५ ॥

भाषार्ध

(ब्रह्म च) सब से उत्तम विद्या श्रोर श्रेष्ठ कर्म करने वालों को ही ब्राह्मण वर्ण का श्रिधकार देना, उस से विद्या का प्रचार कराना श्रोर उन लोगों को भी चाहिये कि विद्या के प्रचार में ही सदा तत्पर रहें। (स्तृतं च) श्रिश्चीत् सब कामों में चतुरता, श्रूरवीरपन, धीरज, वीरपुरुषों से युक्त सेना का रखना, दुष्टों को दण्ड देना श्रोर श्रेष्टों का पालन करना इत्यादि गुणों के बढ़ाने वाले पुरुषों को स्त्रियवर्ण का श्रिधकार देना। (राष्ट्रख्न) श्रेष्ठ पुरुषों की सभा के श्रच्छे नियमों से राज्य को सब सुखों से युक्त करना श्रोर उत्तम गुण सहित होके सब कामों को सदा सिद्ध करना चाहिये। (विराश्च) वैश्य श्रादि वर्णों को ज्यापारादि ज्यवहारों में भूगोल के बीच में जाने श्राने का प्रबन्ध करना श्रोर उनकी श्रच्छी रीति से रस्ता करनी श्रवश्य है, जिससे धनादि पदार्थों की संसार में बढ़ती हो। (विषिध्च) सब मनुष्यों में सब दिन सत्य

गुणों ही का प्रकाश करना चाहिये। (यशश्च) उत्तम कामों से भूगोल में श्रेष्ठ कीर्त्ति को बढ़ाना उचित है। (वर्चश्च) सत्यविद्यात्रों के प्रचार के लिये अनेक पाठ-शालाओं में पुत्र और कन्याओं का अच्छी रीति से पढ़ने पढ़ाने का प्रचार सदा बढ़ाते जाना चाहिये। (द्रविएां च) सब मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त धर्म से अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदा पुरुपार्थ करना, प्राप्त पदार्थों की रचा यथावत करनी चाहिये, रत्ता किये पदार्थों की सदा बढ़ती करना श्रौर सत्य विद्या के प्रचार आदि कामों में बढ़े हुए धनादि पदार्थों का खरच यथावत करना चाहिये, इस चार प्रकार के पुरुषार्थ से धनधान्यादि को बढ़ा के सुख को सदा बढ़ाते जाश्रो ।। १३ ।। (ऋायुक्ष) वीर्य्य ऋादि धातुक्षों की शुद्धि ऋौर रत्ता करना, तथा युक्ति-पूर्वक ही भोजन और वस्त्र आदि का जो धारण करना है, इन अच्छे नियमों से उमर को सदा बढाम्रो। (रूपं च) त्रत्यन्त विषय-सेवा से पृथक रह के न्नौर शुद्ध वस्त्र श्रादि धारण से शरीर का स्वरूप सदा उत्तम रखना। (नाम च) उत्तम कर्मी के श्राचरण से नाम की प्रसिद्धि करनी चाहिये, जिससे श्रन्य मनुष्यों का भी श्रेष्ठ कर्मों में उत्साह हो। (कीर्तिश्च) श्रेष्ठ गुणों के प्रहण के लिये परमेश्वर के गुणों का श्रवण श्रीर उपदेश करते रही, जिससे तुम्हारा भी यश वढ़े। (प्राणश्चापानश्च) जो वाय भीतर से बाहर श्राता है उसको प्राण श्रीर जो बाहर से भीतर जाता है उसको अपनन कहते हैं। योगाभ्यास, शुद्ध देश में निवास आदि और भीतर से वल करके प्राण को बाहर निकाल के रोकने से शरीर के रोगों को छुड़ा के बुद्धि आदि को बढ़ाओ । (चतुश्च श्रोत्रं च) प्रत्यत्त, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और श्रभाव, इन श्राठ प्रमाणों के विज्ञान से सत्य का नित्य शोधन करके प्रहरा किया करो ।। १४ ।। (पयश्च रसश्च) जो पय श्चर्थात् दूध, जल त्रादि श्चौर जो रस अर्थात् शक्तर, अरोपि और घी आदि हैं इनको वैद्यक शाखों की रीति से यथावत् शोध के भोजन ऋादि करते रहो । (ऋत्रं चान्नाद्यं च) वैद्यक शास्त्र की रीति से चावल श्रादि श्रन्न का यथावत् संस्कार करके भोजन करना चाहिये। (ऋतं च सत्यं च) ऋत नाम जो ब्रह्म है, उसी की सदा उपासना करनी, जैसा हृदय में ज्ञान हो सदा वैसा ही भाषण करना श्रीर सत्य को ही मानना चाहिये। (इप्टंच पूर्त च) इष्ट जो ब्रह्म है उसी की उपासना श्रीर जो पूर्वोक्त यज्ञ सब संसार को सुख देने वाला है उस इष्ट की सिद्धि करने की पूर्ति और जिस २ उत्तम कामों के आरम्भ को यथावत् पूर्ण करने के लिये जो २ श्रवश्य हो सो २ सामग्री पूर्ण करनी चाहिये।

(प्रजा च पशवश्च) सब मनुष्य लोग अपने संतान श्रौर राज्य को अच्छी शिक्षा दिया करें श्रौर हस्ती तथा घोड़े श्रादि पशुश्रों को भी अच्छी रीति से सुशिक्षित करना उचित है। इन मन्त्रों में श्रौर भी अनेक प्रयोजन हैं कि सब मनुष्य लोग अन्य भी धर्म के शुभ लच्चणों का प्रहण करें।। १४।।

भाष्यम्

श्रत्र धर्मविषये तैतिरीयशाखाया श्रन्यद्पि प्रमाणम् । ऋतं च स्वाध्याय-प्रवचने च । सत्यं च स्वा० । तपश्च स्वा० । दमश्च० स्वा० । शमश्च स्वा० । श्रानयश्च स्वा० । श्राग्निहोत्रं च स्वा० । श्रातिथयश्च स्वा० । मानुषं च स्वा० । प्रजा च स्वा० । प्रजनश्र स्वा० । प्रजातिश्र स्वा० । सत्यमिति सत्यवचा राथी-तरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचन एवेति नाको मौदगल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥ १ ॥ वेदमनूच्याचार्य्योन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्म चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । त्र्याचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यात्र प्रमदितव्यम् । धर्मात्र प्र० । कुशलात्र प्र० । भृत्ये न प्र० । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्र० । देवपितृकार्य्याभ्यां न प्र० । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि । यान्यस्माकश्रं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥ २ ॥ एके चास्मच्छ्रेयाश्रसो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । त्रश्रद्धया देयम् । श्रिया देयम् । हिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणा सम्मर्शिनः । युक्ता अयुक्ताः । अलुत्ता धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्त्तरन् । तथा तत्र वर्त्तथाः । श्रथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता अयुक्ताः । अलुत्ता धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्त्तरन् । तथा तेषु वर्त्तेथाः । एष त्र्रादेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवम्रुपासितव्यम् । एवपु चैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥ तैत्तिरीय त्र्यारएयके । प्रपा० ७ । अनु०६। ११॥

(एतेषामभि॰) सर्वेर्मनुष्यैरेतानि वच्यमाणानि धर्मलचणानि सदैव सेच्या-नीति । (ऋतं च॰) यथार्थस्वरूपं वा ज्ञानं, (सत्यं च॰) सत्यस्याचरणं च,

[#] बङ्गीयैशियाटिक सोसाइटी मुदित तैतिशीय ''आयुङ्गाः' इति पाठः

(तपश्र) ज्ञानधर्मयोऋतादिधर्मलच्यानां यथावदनुष्टानम्, (दमश्र) अध-मीचरणादिन्द्रियाणि सर्वथा निवर्त्य तेषां सत्यधर्माचरणे सदैव प्रवृत्तिः कार्य्या, (शमश्र) नैव मनसापि कदाचिदधर्मकरणेच्छा कार्य्येति, (श्रानयश्र०) वेदादिशास्त्रेम्योऽग्न्यादिपदार्थेम्यश्च पारमार्थिकव्यावहारिकविद्योपकारकरणम्, (श्च-ग्निहोत्रं च०) नित्यहोममारभ्याश्वमेधपर्ध्यन्तेन यज्ञेन वायुष्टाष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वप्राणिनां सुखसंपादनं कार्य्यम्, (त्र्यतिथय०) पूर्णविद्यावतां धर्मात्मनां संगसेवाभ्यां सत्यशोधनं छिन्नसंशयत्वं च कार्य्यम्, (मानुपं च०) मनुष्यसम्ब-न्धिराज्यविद्यादिवित्तं सम्यक् सिद्धं कर्त्तव्यम्, (प्रजा च॰) धर्मेणैव प्रजाम्रुत्पाद्य सा सदैव सत्यधर्मविद्यासुशित्तयान्विता कार्य्या, (प्रजनश्र०) वीर्य्यवृद्धिः पुत्रे-ष्टिरीत्या ऋतुप्रदानं च कर्त्तव्यम्, (प्रजातिश्व०) गर्भरत्ता जन्मसमये संरत्त्रणं सन्तानशरीरबुद्धिवर्धनं च कर्त्तव्यम्, (सत्यमिति०) मनुष्यः सदा सत्यवक्रेव भवेदिति राथीतराचार्घ्यस्य मतमस्ति, (तप इति०) यदतादिसेवनेनैव सत्यविद्या-धर्मानुष्ठानमस्ति तन्नित्यमेव कर्त्तव्यमिति पौरुशिष्टराचार्यस्य मतमस्ति, परन्तु नाकोमीदगल्यस्येदं मतमस्ति स्वाध्यायो वेद्विद्याध्ययनं, प्रवचनं तद्ध्यापनं चेत्युभयं सर्वेभ्यः श्रेष्ठतमं कर्नास्ति, इदमेव मनुष्येषु परमं तपोस्ति, नातः परमु-त्तमं धर्मलत्त्रणं किंचिद्विद्यत इति । (वेदमनुच्या०) त्र्याचार्यः शिष्याय वेदान-ध्याप्य धर्ममुपदिशात हे शिष्य ! त्वया सदैव सत्यमेव वक्रव्यं, सत्यभाषणादिल-त्ताणो धर्मश्र सेवनीयः, शास्त्राध्ययनाध्यापने कदापि नैव त्याज्ये, श्राचार्य्यसेवा, प्रजोत्पत्तिश्र, सत्यधर्मकुशलतैश्चर्य्यसंवर्धनसेवने सदैव कर्त्तव्ये, देवाविद्वांसः, पितरो ज्ञानिनश्च, तेभ्यो ज्ञानग्रहणं, तेषां सेवनं च सदैव कार्य्य,मेवं मानृपित्रा-चार्र्यातिथीनां सेवनं चैतत्सर्वं संप्रीत्या कत्तेच्यम् । नैतत्कदापि प्रमादाच्याज्य-मिति । वच्यमाणरीत्या मात्रादय उपदिशेयुः । भोः पुत्राः ! यान्युत्तमानि कर्माणि वयं कुर्मस्तान्येव युष्माभिराचरितव्यानि, यानि तु पापात्मकानि कानि-चिदस्माभिः क्रियन्ते तानि कदापि नैवाचरणीयानि । येऽस्माकं मध्ये विद्वांसा ब्रह्मविदः स्युस्तत्संगस्तदुक्वविश्वासश्च सदैव कर्तव्यो नेतरेषाम् । मनुष्यैर्विद्यादिपदाः र्थदानं प्रीत्याऽप्रीत्या, श्रिया, लज्जया, भयेन, प्रतिज्ञया च सदैव कर्त्तव्यम्। श्चर्यात् प्रतिग्रहाद्दानमतीव श्रेयस्करामिति । मोः शिष्य ! तत्र कस्मिश्चित्कर्मण्याच-रखो च संशयो भवेत्तदा ब्रह्माविदां, पच्चपातरहितानां, योगिनामधर्मात् पृथग्भृतानां,

विद्यादिगुणैः स्निग्धानां, धर्मकामानां, विदुषां सकाशादुत्तरं ग्राह्मं, तेषामेवाचरणं च। यादृशेन मार्गेण ते विचरेयुस्तेनैव मार्गेण त्वयापि गन्तव्यम् । अयमेव यु-ष्माकं हृदय आदेश उपदेशो हि स्थाप्यत, इयमेव वेदानामुपनिषद्स्ति । ईदृशमे-वानुशासनं सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यम् । ईदृगाचरणपुरःसरभेव परमश्रद्धया सचिदान-न्दादिलच्चणं ब्रह्मोपास्यं नान्यथेति ।

भाषार्थ

तैत्तिरीयशाखा में श्रीर भी धर्म का विषय है सो श्रागे लिखते हैं। (ऋतं च०) यह सब मनुष्यों को उचित है कि अपने ज्ञान श्रीर विद्या को बढ़ाते हुए एक ब्रह्म ही की उपासना करते रहें, उस के साथ वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ना भी बराबर करते जायं। (सत्यं च०) प्रत्यच त्रादि प्रमाणों से ठीक २ परीचा करके जैसा तुम अपने आत्मा में ज्ञान से जानते हो वैसा ही वोलो और उसी को मानो, उस के साथ पढ़ना पढ़ाना भी कभी न छोड़ो। (तपश्च०) विद्याप्रहण के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण करके सदा धर्म में निश्चित रहो। (दमश्च०) अपनी आंख आदि इन्दियों को अधर्म और आलस्य से छुड़ा के सदा धर्म में चलाओ। (शमश्रव) श्रापने श्रात्मा श्रीर मन को सदा धर्मसेवन में ही स्थिर रक्खो। (श्राग्नयश्च०) तीनों वेद श्रौर श्राग्नि श्रादि पदार्थों से धर्म, श्रर्थ, काम श्रौर मोत्त को सिद्ध करो. तथा द्यानेक प्रकार से शिल्पविद्या की उन्नति करो। (त्र्याग्निहोत्रं च०) वायु श्रौर वृष्टिजल की शाद्धिद्वारा श्राग्निहोत्र से लेके श्रश्वमेध पर्यन्त यज्ञों से सब सष्टि का उपकार सदा करते रहो। (श्रातिथयश्च०) जो सब जगत के उपकार के लिये सत्यवादी, सत्यकारी, पूर्ण विद्वान् सव का सुख चाहने वाले हों उन सत्पुरुषों के सङ्घ से करने के योग्य व्यवहारों को सदा बढ़ाते रहो। (मानुषं च०) सब मनुष्यों के राज्य श्रीर प्रजा के ठीक ठीक प्रवन्ध से धन श्रादि पदार्थी को बढ़ा के. रज्ञा करके श्रौर श्रच्छे कामों में खर्च करके, उन से धर्म, श्रथ, काम श्रौर मोच इन चारों फल की सिद्धि द्वारा श्रपना जन्म सफल करो। (प्रजा च०) श्रपने सन्तानों का यथायोग्य पालन, शिक्ता से विद्वान् करके, सदा धर्मात्मा श्रीर पुरुषार्थी बनाते रहो। (प्रजनश्च०) जो सन्तानों की उत्पत्ति करने का व्यवहार है उस को पुत्रेष्टि कहते हैं. उस में श्रेष्ठ भोजन और श्रोषध सेवन सदा करते रहो, तथा ठीक २ गर्भ की रत्ता भी करो। (प्रजातिश्व०) पुत्र श्रौर कःयाश्रों के जन्म समय में स्त्री श्रौर बालकों की रचा याकिपूर्वक करो । ऋत से लेके प्रजाति पर्यन्त धर्म के जो बारह

वेदोक्रधर्मविषयः ॥

लत्त्रण होते हैं उन सब के साथ स्वाध्याय जो पढ़ना श्रौर प्रवचन जो पढ़ाने का उपदेश किया है सो इसलिये है कि पूर्वोक्त जो धर्म के लक्त्रण हैं वे तब प्राप्त हो सकते हैं कि जब मनुष्य लोग सत्य विद्या को पढ़ें श्रौर तभी सदा सुख में रहेंगे। क्योंकि सब गुणों में विद्या ही उत्तम गुण है। इसलिये सव धर्मलक्त्णों के साथ स्वाध्याय श्रौर प्रवचन का प्रहण किया है, सो इन का त्याग करना कभी न चा-हिये। (सत्यमिति०) हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन सत्यवचन ही बोलो । (तप इति ०) धर्म श्रीर ईश्वर की प्राप्ति करने के लिये नित्य विद्याप्रहण करो श्चर्यात विद्या का जो पढ़ना, पढ़ाना है यही सब से उत्तम है।। १।। (वेदमनू-च्या०) जो स्राचार्य स्रर्थात् विद्या स्रोर शिक्ता का देने वाला है वह विद्या पढ़ने के समय श्रीर जब तक न पढ़ चुके तब तक अपने पुत्र श्रीर शिष्यों की इस प्रकार उपदेश करे कि हे पुत्रो ! वा शिष्य लोगो ! तुम सदा सत्य ही बोला करो. श्रीर धर्म का ही सेवन करके एक परमेश्वर ही की भक्ति किया करो, इस में श्रालस्य वा प्रमाद कभी मत करो, त्र्याचार्य को त्र्यनेक उत्तम पदार्थ देकर प्रसन्न करो. श्रौर युवावस्था में ही विवाह करके प्रजा की उत्पत्ति करो, तथा सत्य धर्म को कभी मत छोड़ो, कुशलता अर्थान् चतुराई का सदा प्रहण करके भृति अर्थान् उत्तम ऐश्वर्य को सदा बढ़ाते जात्रो, श्रीर पढ़ने पढ़ाने में कभी श्रालस्य मत करो ।। १ ।। (देव पितृ०) देव जो विद्वान लोग और पितृ अर्थात् ज्ञानी लोगों की सेवा और सङ्घ से विद्या के प्रहण करने में त्रालस्य वा प्रमाद कभी मत करो। माता, पिता, स्थानार्य अर्थात् विद्या के देनेवाले और स्थातिथि जो सत्य उपदेश के करने वाले विद्वान पुरुष हैं उन की सेवा में आलस्य कभी मत करो। ऐसे ही सत्यभाषणादि श्रभ गुणों श्रीर कर्मी ही का सदा सेवन करो । किन्तु मिथ्याभा-षणादि को कभी मत करो । माता, पिता श्रौर श्राचार्य श्रादि श्रपने सन्तानों तथा शिष्यों को ऐसा उपदेश करें कि हे पुत्रो ! वा शिष्य लोगो ! हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं तुम लोग उन्हीं का प्रहण करो किन्तु हमारे बुरे कामों को कभी नहीं। जो हमारे बीच में विद्वान श्रीर ब्रह्म के जानने वाले धर्मात्मा मनुष्य हैं उन्हीं के वचनों में विश्वास करों और उन को प्रीति वा श्रप्रीति से, श्री वा लजा से, भय श्रथवा प्रतिज्ञा से सदा दान देते रहो, तथा विद्यादान सदा करते जाश्रो। श्रीर जब तुम को किसी बात में संदेह हो तब पूर्ण विद्वान, पत्तपातरहित, धर्मात्मा मनुष्यों से पूछ के शङ्कानिवारण सदा करते रहो । वे लोग जिस २ प्रकार से जिस २ धर्म काम में चलते होवें वैसे ही तुम भी चले। यही आदेश अर्थात् अविद्या को हटा के उस के स्थान में विद्या का और अधर्म को हटा के धर्म का स्थापन करना है। इसी को उपदेश और शिक्षा भी कहते हैं। इसी प्रकार शुभ लक्षणों को प्रहरण करके एक परमेश्वर ही की सदा उपासना करे।।

भाष्यम्

ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः, श्रान्तं तपो, दमस्तपः, शमस्तपो, दानं तपो, यग्नस्तपो, भूभ्रेवः सुवर्ज्ञक्षेतदुपास्वेतत्तपः ॥ तैति श्रारण्य श्रपा १० । अनु ० ८ ॥ इदानीं तपसो लक्षणग्रच्येते ॥ [ऋतं] यत्तत्त्वं महाण एवोपासनं, यथार्थज्ञानं च, (सत्यं ०) सत्यकथनं, सत्यमाचरणं च, (श्रुतं ०) सर्वविद्याश्रवणं, श्रावणं च, (शान्तं ०) अधमीत्पृथक्कृत्य मनसो धर्मे संस्थापनं मनःशान्तिः, (दमस्त ०) इन्द्रियाणां धर्म एव प्रवर्त्तनमधर्मा- किवर्तनं च, (शमस्त ०) मनसोपि निग्रहश्राधर्माद्धर्मे प्रवर्त्तनं च, (दानं त ०) तथा सत्यविद्यादिदानं सदा कर्त्तव्यम्, (यज्ञस्त ०) पूर्वोक्तं यज्ञानुष्ठानं चतत्सर्व तपश्राब्देन गृद्धते नान्यदिति । अन्यच । (भूर्श्व०) हे मनुष्य ! सर्वलोकव्यापकं यद्ब्रह्मास्ति तदेव त्वग्रुपास्वेदमेव तपो मन्यध्वं नातो विपरीतिमिति ।

भाषार्थ

(ऋतं तपः०) तप इस को कहते कि जो (ऋत) श्रर्थात् यथार्थ तत्त्व मानने, सत्य बोलने, (श्रुत) श्रर्थात् सत्र विद्याश्रों को सुनने, (शान्त) श्रर्थात् उत्तम कर्म करने श्रोर श्रद्धे स्वभाव के धारने में सदा प्रवृत्त रहो । तथा पूर्वोक्त दम, शम, दान, यज्ञ श्रोर प्रेम भिक्त से, तीनों लोक में व्यापक ब्रह्म की जो उपासना करना है उसको भी तप कहते हैं । ऋत श्रादि का श्रर्थ प्रथम कर दिया है ।

भाष्यम्

सत्यं परं परश्मत्यश्मत्येन न सुवर्गाह्मोकाच्च्यवन्ते कदाचन, सताश्हि सत्यं, तस्मात्सत्ये रमन्ते । तप इति तपो नानशनात्परं, याद्धि परं तपस्तहुर्धर्षं, तहुराधर्षं, तस्मात्तपितः । दम इति नियतं ब्रह्मचारिणस्तस्मादमे । शम इत्य-रख्ये सुनयस्तस्माच्छमे । दानिमिति सर्वाणि भूतानि प्रशश्सन्ति, दानाकातिदु-क्तरं, तस्मादाने । धर्म इति धर्मेण सर्विमिदं परिगृहीतं, धर्मान्नातिदुश्चरं, तस्माद्धमें । प्रजन इति भूयाश्स,स्तस्माङ्क्यिष्ठाः प्रजायन्ते, तस्माङ्क्यिष्ठाः,प्रजनने ।

श्चानय इत्याह, तस्मादग्नय श्चाधातव्याः । श्चश्निहोत्रमित्याह, तस्माद्ग्निहोत्रे० । यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवंगतास्तस्माद्यज्ञे । मानसिभिति विद्वा १स,स्तस्माद्विदा १-स एव मानसे रमन्ते । न्यास इति ब्रह्मा, ब्रह्मा हि परः, परो हि ब्रह्मा, तानि वा एतान्यवराणि तपार्थसि, न्यास एवात्यरेचयत् । य एवं वेदेत्युपनिषत् । प्राजाप-त्यो हारुणिः सुपर्णेयः प्रजापति पितरसुपससार किं भगवन्तः परमं वदन्तीति। तस्मै प्रोवाच । सत्येन वायुरावाति, सत्येनादित्यो रोचते दिवि, सत्यं वाचः प्रतिष्ठा, सत्ये सर्वे प्रतिष्ठितं, तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति । तपसा देवा देवतामग्र आय,न्तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन्, तपसा सपत्नान्त्रखुदामाराती,स्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात्तपः प० । दमेन दान्ताः किल्विपमवधृन्वन्ति, दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन्, दमो भूतानां दुराधर्षं, दमे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माइमं प० । शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति, शमेन नाकं मुनयोन्वविन्द, ज्ञमो भृतानां दुराधर्ष, शमे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माच्छमं प॰ । दानं यज्ञानां वरूथं दिचणा, लोके दातार सर्वभृतान्युपजीवन्ति, दानेनाराती-रपानुदन्त, दानेन द्विपन्तो मित्रा भवन्ति, दाने सर्वै प्रतिष्ठितं, तस्माद्दानं प० । धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वे प्रतिष्ठितं, तस्माद्धर्मं प० । प्रजननं वे प्रतिष्टा, लोके साधु प्रजायास्तन्तुं तन्वानः पितृशामनृशो भवाति, तदेव तस्य अनृशं, तस्मात्प्रजननं प० । अग्नयो वै त्रयीविद्या देवयानः पन्था, गाईपत्त्य ऋक् पृथिवी रथन्तर,मन्दाहार्य्यपचनो यज्ञरन्तरित्तं वामदेव्य,माइवनीयः साम सुवर्गीलोको बृहत्, तस्मादग्नीन्प०। श्राग्निहोत्र स्सायं प्रातर्गृहाणां निष्कृतिः, स्विष्ट , मुहुतं, यज्ञकतूनां प्रापण , सुवर्गस्य लोकस्य ज्योति,स्तस्माद्गिनहोत्रं प० । यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवंगता, यन्नेनासुरानपानुदन्त, यन्नेन द्विपन्तो मित्रा भवन्ति, यन्ने सर्वे प्रतिष्ठितं, तस्माद्यज्ञं प॰ । मानसं वै प्राजापत्यं, पवित्रं, मानसेन मनसा साधु पश्यति, मानसा ऋषयः प्रजा श्रमुजन्त, मानसे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मान्मानसं परमं वदन्ति ॥ तैत्ति० श्चारएय॰ प्रपा॰ १० । श्चनु॰ ६२ । ६३ ॥ [श्रयमाभि॰] (सत्यं प॰) सत्यभाषणात्सत्याचरणाच परं धर्मलच्चणं किंचिन्नास्त्येव । क्रुतः । सत्येनैव नित्यं मोत्तसुखं संसारसुखं च प्राप्य पुनस्तस्मान्नेव कदापि च्युनिर्भवति । सत्पुरु-षाणामपि सत्याचरणमेव लच्चणमस्ति तस्मात्कारणात्सवैर्मनुष्यैः सत्ये खलु रम-णीयमिति । तपस्तु ऋतादिधर्मलच्यानुष्ठानमेव ग्राह्मम् । एवं सम्यग्बह्मचर्यसेवनेन विद्याग्रहणं ब्रह्म इत्युच्यते । एवमेव दानादिष्वर्थगतिः कार्य्या । विदुषो लक्षणं मानसो व्यापारः । एवमेव सत्येन ब्रह्मणा वायुरागच्छति । सत्येनादित्यः प्रकाशितो भवति । सत्येनेव मनुष्याणां प्रतिष्ठा जायते नान्यथेति । मानसा ऋषयः प्राणाः विज्ञानाद्यश्चेति ।

भाषार्थ

(सत्यं परं) श्रव सत्य का स्वरूप दिखाया जाता है कि जिस का ऋत भी नाम है, सत्य भाषण श्रीर श्राचरण से उत्तम धर्म का लच्चण कोई भी नहीं है। क्योंकि सत्पुरुषों में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है। सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार श्रौर मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है। जिससे छूट के वे दुःख में कभी नहीं गिरते। इसालिये सब मनुष्यों को सत्य में ही रमण करना चाहिये। (तप इति०) जो श्रान्याय से किसी के पदार्थ को प्रहरण [न] करना, जिसका ऋत आदि लद्मरण कह चुके हैं, जो श्रत्यन्त उत्तम श्रौर यद्यपि करने में कठिन भी है, तदपि बुद्धिमान् मनुष्य को करना सब सुगम है, इस से तप में नित्य ही निश्चित रहना ठीक है। (दम इति ०) जितेन्द्रिय हो के जो विद्या का अभ्यास और धर्म का आचरण करना है उसमें मनुष्यों को नित्य प्रवृत्त होना चाहिये । (दानमिति०) दान की स्तुति सब लोग करते हैं श्रीर जिससे कठिन कर्म दूसरा कोई भी नहीं है, जिससे शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, इस से दान करने का स्वभाव सब मनुख्यों को नित्य रखना चाहिये। (धर्म इति ०) जो धर्मलच्राण प्रथम कह आये हैं, जो आगे कहेंगे, वे सब इसी धर्म के हैं। क्योंकि जो न्याय श्रर्थात् पत्तपात को छोड़ के सत्य का श्राचरण श्रौर त्रसत्य का परित्याग करना है उसी को धर्म कहते हैं। यही धर्म का स्वरूप श्रौर सब से उत्तम धर्म है। सब मनुष्यों को इसी में सदा वर्त्तना चाहिये। (प्रजन इति ०) जिससे मनुष्यों की बढ़ती होती है, जिस में बहुत मनुष्य रमण करते हैं, इससे जन्म को प्रजन कहते हैं। (श्रप्रय इत्याह०) तीनों वेद श्रीर श्रप्रि श्रादि पदार्थों से सब शिल्पविद्या सिद्ध करनी उचित है (श्राग्निहोत्रं च॰) श्राग्निहोत्र से लेके श्रश्वमेध पर्य्यन्त होम करके सब जगत का उपकार करने में सदा यत्न करना चाहिये। (मानसामिति०) जो विचार करने वाले मनुष्य हैं वही विद्वान् होते हैं। इस से विद्वान लोग विचार ही में सदा रमण करते हैं। क्योंकि मन के विज्ञान श्रादि गुए हैं वे ही ईश्वर श्रीर जीव की सृष्टि के हेतु हैं। इस से मन का बल श्रीर

उसकी शुद्धि करना भी धर्म का उत्तम लज्ञण है। (न्यास इति) ब्रह्मा बन के, श्रर्थात चारों वेद को जान के, संसारी व्यवहारों को छोड़ के, न्यास श्रर्थात् संन्यास आश्रम करके, जो सब मनुष्यों को सत्यधर्म श्रौर सत्यविद्या से लाभ पहुंचाना है, यह भी विद्वान मनुष्यों को धर्म का लच्चण जान के करना उचित है। (सत्येन वा०) सत्य को उत्तम इसिलये कहते हैं कि सत्य जो ब्रह्म है उस से सब लोगों का प्रकाश श्रौर वाय श्रादि पदार्थों का रच्च होता है। सत्य से ही सब व्यवहारों में प्रतिष्ठा श्रौर परब्रह्म को प्राप्त हो के मुक्ति का सुख भी मिलता है। तथा सत्पुरुषों में सत्याचरण ही सत्पुरुपपन है। (तपसा देवा०) पूर्वोक्त तप से ही विद्वान लोग परमेश्वर देव को प्राप्त होके, सब काम कोध आदि शतुत्रों को जीत के, पापों से कूट के, धर्म ही में स्थिर रह सकते हैं, इस से तप को भी श्रेष्ठ कहते हैं। (दमेन०) दम से मनुष्य पापों से त्रालग होके त्राौर ब्रह्मचर्य्य त्राश्रम का सेवन कर के. विद्या को प्राप्त होता है. इसलिये धर्म का दम भी श्रेष्ठ लच्चण है। (शमन०) शम का लत्तरण यह है कि जिस से मनुष्य लोग कल्याण का ही आचरण करते हैं, इस से यह भी धर्म का लच्चएा है। (दानेन०) दान से ही यज्ञ अर्थान् दाता के आश्रय से सब प्राणियों का जीवन होता है श्रौर दान से ही शत्रुश्रों को भी जीत कर श्रपना मित्र कर लेते हैं, इस से दान भी धर्म का लच्च है। (धर्मीवि०) सब जगत् की प्रतिष्ठा धर्म ही है, धर्मात्मा का ही लोक में विश्वास होता है, धर्म से ही मनुष्य लोग पापों को छुड़ा देते हैं, जितने उत्तम काम हैं वे सब धर्म में ही लिये जाते हैं, इसिलये सब से उत्तम धर्म को ही जानना चाहिये। (प्रजननं) जिस से मनुष्यों का जन्म श्रीर प्रजा में वृद्धि होती है श्रीर जो परम्परा से ज्ञानियों की सेवा से ऋण श्रार्थात् बदले का पूरा करना होता है, इस से प्रजन भी धर्म का हेतु है। क्योंकि जो मनुष्यों की उत्पत्ति भी नहीं हो तो धर्म को ही कौन करे। इस कारण से भी धर्म को ही प्रधान जानो । (श्रग्नयो बै०) श्रर्थात् जिस से तुम लोग साङ्गोपाङ्ग तीनों वेदों को पढ़ो, क्योंकि विद्वानों के ज्ञानमार्ग को प्राप्त होके पृथिवी त्राकाश ऋौर स्वर्ग इन तीनों प्रकार की विद्या सिद्ध होती हैं। इस से इन तीनों अग्नि अर्थात् वेदों को श्रेष्ठ कहते हैं। (अगिनहोत्रं०) प्रातःकाल में संध्या त्रौर वायु तथा वृष्टिजल को दुर्गन्ध से छुड़ा के सुगन्धित करने से सब मनुष्यों को स्वर्ग अर्थात् सुख की प्राप्ति होती है। इसलिये अगिनहोत्र को भी धर्म का लच्च कहते हैं। (यज्ञ इति) विद्या से ही विद्वान लोग स्वर्ग अर्थात् सुख को प्राप्त होते और शत्रुओं को जीत के अपना मित्र कर लंते हैं। इस से विद्या और अध्वर्यु आदि यह को भी धर्म का लच्चण कहते हैं। (मानसं वै०) मन के शुद्ध होने से ही विद्वान् लोग प्रजापित अर्थात् परमेश्वर को जान के नित्य सुख को प्राप्त हो सकते हैं। पिनत्र मन से सत्य ज्ञान होता है और उस में जो विज्ञान आदि ऋपि अर्थात् गुण हैं उन से परमेश्वर और जीव लोग भी अपनी २ सब प्रजा को उत्पन्न करते हैं। अर्थात् परमेश्वर के विद्या आदि गुणों से मनुष्य की प्रजा उत्पन्न होती है। इस से मन को जो पिनत्र और विद्यायुक्त करना है ये भी धर्म के उत्तम लच्चण और साधन हैं। इससे मन के पिनत्र होने से सब धर्मकार्य सिद्ध होते हैं। ये सब धर्म के ही लच्चण हैं। इन में से कुछ तो पूर्व कह दिये और कुछ आगे भी कहेंगे।

भाष्यम्

सत्येन लभ्यस्तपसा होष श्रात्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् । श्रान्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुश्रो यं परयन्ति यतयः चीणदोपाः ॥ १ ॥ सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था वितता देवयानः । येनाक्रमन्त्रृपयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ २ ॥ मुण्डकोपनिपदि ॥ गुं० ३ ॥ खं० १ ॥ मं० ५ ॥ ६ ॥ श्रान्योर्थः ॥ (सत्येन लभ्य०) सत्येन सत्यधर्माचरणेनैवात्मा परमेश्वरो लभ्यो नान्यथेत्ययं मन्त्रः सुगमार्थः ॥ १ ॥ (सत्यमेव०) सत्यमाचित्तमेव जयते, तेनैव मनुष्यः सदा विजयं प्राप्नोति । श्रानृतेनाधर्माचरणेन पराजयं च ॥ तथा सत्यधर्मणेव देवयानो, विदुषां यः सदानन्दप्रदो मोचमार्गोहित, सोपि सत्येनैव विस्तृतः प्रकाशितो भवति । येन च सत्यधर्मानुष्ठानप्रकाशितेन मार्गेणान्तकामा ऋषयस्तत्राक्रमन्ति गच्छन्ति यत्र सत्यस्य धर्मस्य परमं निधानमधिकरणं ब्रह्म वर्त्तते, तत्प्राप्य नित्यानन्दमोचप्राप्ता भवन्ति । नान्यथेति । श्रतण्व सत्यधर्मानुष्ठानमधर्मत्यागश्र सर्वैः कर्त्तव्य इति ।

भाषार्थ

(सत्येन लभ्यस्तपसा०) ऋर्थात् जो सत्य श्राचरण्हप धर्म का श्रानुष्ठान, ठिक २ विज्ञान श्रीर ब्रह्मचर्य्य करते हैं इन्हीं शुभगुणों से सब का श्रात्मा परमेश्वर जाना जाता है। जिसको निर्दोष श्रर्थात् धर्मात्मा ज्ञानी संन्यासी लोग देखते हैं। सो सब के श्रात्माश्रों का भी श्रात्मा, प्रकाशस्वरूप श्रीर सब दिन शुद्ध है। उसी की श्राह्मा पालन करना सब मनुष्यों को चाहिये॥ १॥ (सत्यमेव जय०) जो सत्य का

श्राचरण करनेवाला है वहीं मनुष्य सदा विजय श्रीर सुख को प्राप्त होता है श्रीर जो मिध्या श्राचरण श्रर्थात् भूठे कामों का करने वाला है वह सदा पराजय श्रीर दुःख ही को प्राप्त होता है। विद्वानों का जो मार्ग है सो भी सत्य के श्राचरण से ही खुल जाता है, जिस मार्ग से श्राप्त-काम, धर्मात्मा विद्वान् लोग चल के सत्य सुख को प्राप्त होते हैं, जहां त्रह्म ही का सत्यस्वरूप सुख सदा प्रकाशित होता है, सत्य से ही उस सुख को वे प्राप्त होते हैं, श्रसत्य से कभी नहीं। इससे मत्यधर्म का श्राचरण श्रीर श्रमत्य का त्याग करना सब मनुष्यों को उचित है।। २ ॥

श्रन्य । चोदनालच्यणोऽर्थो धर्मः ॥१॥ पू० मी० अ०१। पा०१। सू० २॥ यतोऽम्युदयनिःश्रेयसिसिद्धिः स धर्मः ॥२॥ वैशिषिके । अ०१। पा० १। सू०२॥ अनयोर्थः (चे।दना०) वेदद्वारा या सत्यधमीचरणस्य प्रेरणास्ति तयेव सत्यधमी लच्यते । योऽनर्थादधमीचरणाद्वाहरस्त्यतो धर्माख्यां लच्धाऽर्थो भवति । यस्येश्वरेण निषेधः क्रियते सोऽनर्थक्ष्पत्वादधम्मीऽयमिति ज्ञात्वा सर्वर्मनुष्येस्त्याच्य इति ॥१॥ (यतोम्यु०) यस्याचरणादम्युदयः सांसारिक-मिष्टसुखं सम्यक् प्राप्तं भवति, येन च निःश्रेयसं पारमार्थिकं मोचसुखं च, स एव धर्मो विज्ञेयः । अतो विपरीतो ह्यधमेश्व । इदमिष वेदानामेव व्याख्यानमस्ति । इत्यनकमन्त्रप्रमाणसाच्यादिधर्मोपदेशो वेदेर्ष्वाश्वरेण सर्वमनुष्यार्थप्रपदिष्टोऽस्ति । एक एवायं सर्वेषां धर्मोक्ति नैव चास्मादिद्वतीयोस्तीति वेदितव्यम् ॥२॥

इति वेदीक्तधर्मविषयः संस्थितः समाप्तः

भाषार्ध

(चोदना०) ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिये जिसके करने की आज्ञा दी हैं वहीं धर्म और जिसके करने की प्रेरणा नहीं की है वह अधर्म कहाता है। परन्तु वह धर्म अर्थयुक्त अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है उससे अलग होता है। इससे धर्म का ही जो आचरण करना है वही मनुष्यों में मनुष्यपन है।। १।। (यतोभ्यु०) जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस अर्थात् मोज्ञसुख की प्राप्ति होती है उसी का नाम धर्म है। यह भी वेदों की व्याख्या है। इत्यादि अनेक वेदमन्त्रों के प्रमाणों और ऋषि मुनियों की सािचयों से यह धर्म का उपदेश किया है कि सब मनुष्यों को इसी धर्म के काम करना उचित है। इससे विदित हुआ कि सब मनुष्यों के लिये धर्म और अधर्म एक ही हैं, दो नहीं। जो कोई इसमें भेद करे तो उस को अज्ञानी और मिध्यावादी ही समम्भना चाहिये।

अथ सृष्टिविद्याविषयः संक्षेपतः ।

भाष्यम्

एतेपामिभित्रायार्थः । यदिदं सकलं जगर्दश्यते, तत् परमेखरेखेव सम्यत्रचिरित्वा, संरच्य, प्रलयावसरे वियोज्य च, विनाश्यते, पुनः पुनरेवमेव सदा कियत इति । (नासदासी०) यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत्तदाऽसत्, मृष्टेः प्राक् श्रून्यमा-काशमिप नासीत् । कृतः । तद्व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावात् । (नो सदासीत्तदा-नीं०) तस्मिन्काले सत्, प्रकृत्यात्मकमन्यक्नं, सत्संक्रकं यज्जगत्कारणं, तदिप नो श्रासीन्नावर्त्तत । (नासीद्र०) परमाणवीऽपि नासन् । (नो न्योमापरो यत्) व्योमाकाशमपरं यस्मिन् विराडाख्ये सापि नो श्रासीत्, किन्तु परब्रक्काणः साम-ध्यीख्यमतीव सच्नं सर्वस्यास्य परमकारणसंक्रकमेव तदानीं समवर्तत । (किमा-वरीवः०) यत्प्रातः कुहकस्य वर्षाकाले ध्यूमाकारेण वृष्टं किश्विज्ञलं वर्त्तमानं भवति । यथा नैतज्जलेन पृथिव्यावरणं भवति, नदीप्रवाहादिकं च चलति । श्रत एवोक्नं तज्जलं गहनं गभीरं किं भवति १। नेत्याह । किं, त्वावरीवः । श्रावरक-

माच्छादकं भवित नैव कदा चित्, तस्यातीवालपत्वात् । तथैव सर्व जगत् तत्सामध्यांदुत्पद्यास्ति तच्छर्मणि शुद्धे ब्रह्मणि । किं गहनं गभीरमधिकं भविति ? । नित्याह । श्रतस्तद्ब्रह्मणः कदाचिक्वावरकं भविते । कृतः । जगतः निश्चिन्मान्त्रत्वाद्ब्रह्मणोऽनन्तत्वाच्च ।। १ ॥ न मृत्युरासीदित्यादिकं सर्व सुगमार्थमेषामर्थ माष्ये वच्यामि । (इयं विमृष्टिः) यतः परमेश्वरादियं प्रत्यचा विमृष्टिविधा मृष्टिराबभूवोत्पन्नासीदिस्त तां स एव दधे धारयित रचयित, यदि वा विनाश-यित, यदि वा न रचयित । योऽस्य सर्वस्याध्यतः स्वामी, (परमे व्योमन्) तिस्मन्परमाकाशात्मिन परमे प्रकृष्टे व्योमवद्व्यापके परमेश्वर एवेदानीमिप सर्व मृष्टिर्वतेते । प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणे परब्रह्मसामर्थ्ये प्रलीना च भवित । (सोध्यचः । स सर्वाध्यवः परमेश्वरोसित । (श्रङ्कवेद) हे श्रंग ! मित्र जीव ! तं यो वेद स विद्वान् परमानन्दमाप्नोति । यदि तं सर्वेपां मनुष्याणां परिमिष्टं सचिदानन्दादिलवणं नित्यं किथिको वेद, वा निश्चयार्थं, स परमं सुखनिप नाप्नोति।।।।।

भाषार्थ

(नासदासीत्) जब यह कार्य मृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक सर्वशाकिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण ऋथीत् जगत् वनाने की सामग्री विराजमान थी। उस समय (श्वसत्) शूत्य नाम श्वाकाश ऋथीत् जो नेत्रों से देखने में नहीं श्वाता सो भी नहीं था, क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था। (नोसदा-सित्तदानीं०) उस काल में (सत्) श्वर्थात् सतोगुण रजोगुण और तमोगुण मिला के जो प्रधान कहाता है वह भी नहीं था। (नासीद्रजः) उस समय परमाणु भी नहीं थे। तथा (नो व्यो०) विराट् श्वर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है सो भी नहीं था। (किमा०) जो यह वर्त्तमान जगत् है वह भी श्वनन्त शुद्ध का नहीं ढाक सकता और उससे श्वधिक वा श्वथाह भी नहीं हो सकता। जैसे कोहरा का जल पृथिवी को नहीं ढाक सकता है, उस जल से नदी में प्रवाह भी नहीं चल सकता और न वह कभी गहरा वा उथला हो सकता है। इससे क्या जाना जाता है कि परमेश्वर श्वनन्त है और जो यह उसका बनाया जगत् है सो ईश्वर की श्वपेत्ता से कुछ भी नहीं है।। १।। (न मृत्यु०) जब जगत् नहीं था, तब मृत्यु भी नहीं था, क्यांकि जब स्थूल जगत् संयोग से उत्पन्न होके वर्त्तमान हो पुनः उस का और रारीर श्वादि का वियोग हो तब मृत्यु कहावे, सो शरीर श्वादि

पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुए थे। (न मृत्यु०) इत्यादि पांच मन्त्र सुगमार्थ हैं, इसीलिये इनकी व्याख्या भी यहां नहीं करते, किन्तु वेदभाष्य में करेंगे। (इयं विसृष्टिः०) जिस परमेश्वर के रचने से जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुन्ना है, वह ही इस जगत् को धारण करता, नाश करता न्नौर मालिक भी है। हे मित्र लोगो! जो मनुख्य उस परमेश्वर को श्रपनी बुद्धि से जानता है वही परमेश्वर को प्राप्त होता है न्नौर जो उसको नहीं जानता वही दुःख में पड़ता है। जो त्राकाश के समान व्यापक है, उसी ईश्वर में सब जगत् निवास करता है न्नौर जब प्रलय होता है तब भी सब जगत् कारणकप होके ईश्वर के सामर्थ्य में रहता है न्नौर फिर भी उसी से उत्पन्न होता है।। ७।।

हिर्ण्यग्रभीः समैवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेके श्रासीत् । स दांघार प्रथिवीं चासुतेमां कस्मै देवार्य हविषां विधेम ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ७ । व० ३ । मं० १ ॥

भाष्यम्

(हिरएयगर्भः) श्रग्रे सृष्टेः प्राग्धिरएयगर्भः परमेश्वरो जातस्यास्योत्पन्नस्य जगत एकोऽद्वितीयः पतिरेव समवर्त्तत । स पृथिवीमारभ्य द्युपर्यन्तं सकत्तं जग-द्रचियत्वा (दाधार) धारितवानस्ति । तस्मै सुखस्वरूपाय देवाय इविषा वयं विधेमेति ॥ १ ॥

भाषार्ध

(हिरएयगर्भः०) हिरएयगर्भ जो परमेश्वर है वही एक सृष्टि के पहिले वर्त्तमान था। जो इस सब जगत् का स्वामी है श्रीर वही पृथिवी से लेके सूर्यपर्यन्त सब जगत् को रच के धारण कर रहा है। इसलिये उसी सुखस्वरूप परमेश्वर देव की ही हम लोग उपासना करें, श्रन्य की नहीं।। १।।

महस्रंशीर्षा पुरुषः सहस्राचः सहस्रंपात् । स भूमिः सर्वतः स्पृत्वा अत्यंतिष्ठदशाङ्गुलम् ॥ १ ॥ य० त्रा० ३१ । यं० १ ॥

भाष्यम्

(सहस्रशिर्षा) अत्र मन्त्रे, पुरुष इति पदं विशेष्यमस्ति, सहस्रशिर्षेत्यादीनि विशेषणानि च । अत्र पुरुषशब्दार्थे प्रमाणानि । पुरुषं पुरिशय इत्याचचीरन् ॥ नि० अ०१। सं०१३॥ (पुरि०) पुरि संसारे, शोते सर्वमभिन्याप्य वर्चते,

स पुरुषः परमेश्वरः ॥ पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेर्वा, पूरयत्यन्तारित्यन्तरपु-रुपमभिष्रेत्य । यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोस्ति किंचित् । वृत्त इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरिपेण * सर्विमित्यपि निगमो भवति ॥ नि० अ०२। खं०३॥ (पुरुपः०) पुरि सर्वस्मिन्संसारेऽभिन्याप्य सीदति वर्त्तत इति, (पूरवतेर्वा) यः स्वयं परमेश्वर इदं सर्व जगत् स्वस्वरूपेण पूरवित व्याप्नोति तस्मात्स पुरुषः, (अन्तरिति) यो जीवस्याप्यन्तर्मध्येशभिव्याप्य पूरयति तिष्ठति स पुरुषः । तमन्तरपुरुषमन्तर्यामिनं परमेश्वरमभिप्रेत्ययमृक् प्रवृ-त्तास्ति (यस्मात्परं ०) यस्मात्पूर्णात्परमेश्वरात्पुरुषाख्यात्परं प्रकृष्टग्रुत्तमं किंचिदपि वस्तु नास्त्येव, पूर्व वा, (नापरमस्ति) यस्मादपरमर्वाचीनं, तत्तुल्यमुत्तमं वा, किंचिदपि वस्तु नास्त्येव, तथा यस्मादणीयः सूच्मं, ज्यायः स्थूलं महद्वा, किंचि-दिष द्रव्यं न भूतं, न भवति, नैव च भविष्यतीत्यवधेयम् । यः स्तब्धो निष्कम्पः सर्वस्यास्थिरतां कुर्वन्सन् स्थिरोस्ति । क इव १ (वृत्त इव) यथा वृत्तः शाखा-पत्रपुष्पफलादिकं धारयन् तिष्ठति, तथैव पृथिवीसूर्यादिकं सर्वं जगद्धारयन्परमे-श्वरोभिन्याप्य स्थितोस्तीति । यश्रैकोऽद्वितीयोस्ति, नास्य कश्रित्सजातीयो, विजा-तीयो वा द्वितीय ईश्वरोस्तीति । तेन पुरिपेण पुरुपेण परमात्मना यत इदं सर्व जगत् पूर्णं कृतमस्ति, तस्मात्पुरुषः परमेश्वर एवोच्यते । इत्ययं मन्त्रो निगमो, निगमनं, परं प्रमाणं भवतीति वेदितन्यम् । सर्वं वे सहस्र सर्वस्य दाताऽसी-त्यादि ।। श० कां ० ७ । अ० ४ ।। (सर्व ०) सर्विमिदं जगत्सहस्रनामकमस्ती-ति विज्ञेयम् । (सहस्रजी०) सहस्राएयसंख्यातान्यस्मदादीनां शिरांसि यस्मिन्पूर्णे पुरुषे परमात्मनि, स सहस्रशीर्षा पुरुषः । (सहस्र। चः स०) ऋस्मदादीनां सह-स्नाएयचीन्यस्मिन्, एवमेव सहस्राएयसंख्याताः पादाश्च यस्मिन्वर्त्तन्ते, स सहस्राचः सहस्रपाच्च । (स भूमि "सर्वतः स्पृत्वा) स पुरुषः परमेश्वरः सर्वतः सर्वेभ्यो बाह्यान्तर्देशेम्यो, (भूमिरिति) भूतानामुपलच्चां, भूमिमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तं सर्वे जगत्स्पृत्वामिव्याप्य वर्त्तते, (त्र्रत्य०) दशाङ्कुलमिति ब्रह्माएडहृदययोरुप-लचगम् । श्रकुलिमत्यवयवोपलचगोन मितस्य जगतोऽत्र ग्रह्मां भवति । पश्च स्थुलभूतानि, पश्च सूच्माणि चैतदुभयं मिलित्वा दशावयवाख्यं सकलं जगदस्ति । श्रन्यच्च । पश्च प्राणाः, सेन्द्रियं चतुष्टयमन्तः करणं, दशमो जीवश्च । एवमेवा-

^{*} पुरुषेग्रेति निरुक्ते (श्रावेङ्कटेश्वरयन्त्रालयप्रकाशिते) पाउः ॥

न्यद्पि जीवस्य हृद्यं दशाङ्गुलपिरिमितं च तृतीयं गृह्यते । एतत्त्रयं स्पृत्वा व्याप्या-त्यतिष्ठत् । एतस्मात्त्रयाद्धहिरपि व्याप्तः सस्त्रवस्थितः । श्र्योद्धहिरन्तश्च पूर्णो भूत्वा परमेश्वरोऽवतिष्ठत इति वेद्यम् ।

भाषार्थ

(सहस्रशी०) इस मन्त्र में पुरुष शब्द विशेष्य और अन्य सब पद उस के विशेषण हैं। पुरुष उसको कहते हैं कि जो इस सब जगत् में पूर्ण होरहा है, अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रक्खा है। पुर कहते हैं ब्रह्माएड और शरीर को । उसमें जो सर्वत्र व्याप्त श्रीर जो जीव के भीतर भी व्यापक श्रर्थात् अन्तर्यामी है। इस अर्थ में निरुक्त आदि का प्रमाण संस्कृत भाष्य में लिखा है, सो देख लेना । सहस्र नाम है संपूर्ण जगत् का घ्यार श्रसंख्यात का भी नाम है । सो जिस के वीच में सब जगत् के असंख्यात शिर, आंख और पग ठहर रहे हैं, उस को सहस्रशीर्षा, सहस्राच श्रौर सहस्रपात् भी कहते हैं। क्योंकि वह अनन्त है। जैसे श्राकाश के बीच में सब पदार्थ रहते श्रीर श्राकाश सब से श्रलग रहता है श्चर्यात् किसी के साथ बंधता नहीं है, इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो। (स भूमिप्सर्वतः स्पृत्वा) सो पुरुष सव जगह से पूर्ण होके प्राथिमी को तथा सव लोकों को धारण कर रहा है। (श्रात्यतिष्ठद०) दशाङ्गुलशब्द ब्रह्माण्ड श्रौर हृदय का वाची है। श्रङ्गुलि शब्द श्रङ्ग का, श्रवयववाची है। पांच स्थूल भूत श्रीर पांच सूचम ये दोनों भिल के जगत् के दश श्रवयव होते हैं। तथा पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार और दशमां जीव और शरीर में जो हृदयदेश है सो भी दश त्राङ्गुल के प्रमाण से लिया जाता है। जो इन तीनों में व्यापक हो के इन के चारों श्रोर भी परिपूर्ण होरहा है, इससे वह पुरुष कहाता है । क्योंकि जो उस दशाङ्गुल स्थान का भी उल्लङ्घन करके सर्वत्र स्थिर है वही सब जगत् का बनाने-वाला है।। १॥

पुरुष एवेद् सर्वे यद्भूतं यच्च भाव्यम् । द्वतासृत्त्वस्येशान्ते यद्नेनातिरोहिति ॥ २ ॥

भाष्यम्

(पुरुष एवे॰) एतद्विशेषण्युकः पुरुषः परमेश्वरः (यङ्ग्तं) यज्जगदुत्पन-मभून्, यद्भाव्यप्रत्पत्स्यमानं, चकराद्वर्त्तमानं च, तत्त्रिकालस्यं सर्वे विश्वं, पुरुष एव कृतवानस्ति, नान्यः । नैवातो हि परः कश्चिज्जगद्रचियतास्तीति निश्चेतव्यम् । जतापि स एवेशान ईषणशीलः, सर्वस्येश्वरोऽमृतत्वस्य मोचभावस्य स्वामी दाता- स्ति । नैवैतदाने कस्याप्यन्यस्य सामर्थ्यमस्तीति । पुरुषो यद्यस्मादकेन पृथिव्या- दिना जगता सद्दातिरोहति व्यतिरिक्तः सन् जन्मादिरहितोस्ति । तस्मात्स्वयमजः सन् सर्व जनयति, स्वसामर्थ्यादिकारणात्कार्यं जगदुत्पादयति । नास्यादिकारणं किश्चिदस्ति । किञ्च, सर्वस्यादिनिमित्तकारणं पुरुष एवास्तीति वेद्यम् ॥ २ ॥

भाषार्ध

(पुरुष एवे०) जो पूर्वीक विशेषण सहित पुरुष अर्थात् परमेश्वर है, सो जो जगत् उत्पन्न हुआ था, जो होगा और जो इस समय में है, इस तीन प्रकार के जगत् को वही रचता है। उससे भिन्न दूसरा कोई जगत् का रचनेवाला नहीं है। क्योंकि वह (ईशान) अर्थात् सर्वशिकमान् है। (अमृत०) जो मोच्च है उस का देने वाला एक वही है, दूसरा कोई नहीं। सो परमेश्वर (अन्न०) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होके स्थित है और इस से अलग भी है। क्योंकि उस में जन्म आदि व्यवहार नहीं हैं और अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है और आप कभी जन्म नहीं लेता।। २।।

पुतावीनभ्य मिहुमाऽतो ज्यायाँशचु पूर्वषः । पादाँऽस्य विश्वां भूतानि श्रिपादेस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

भाष्यम्

(एतावानस्य ॰) अस्य पुरुषस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानस्यो यावान् संसारोस्ति तावान् महिमा वेदिनव्यः । एतावानस्य महिमास्ति चति तस्य महिमनः परिच्छेद इयत्ता जातेति गम्यते १ । अत्र ब्रूते (अतो ज्यायांश्व पूरुषः) नैतावन्मात्र एव महिमति । किं ति । अतोऽप्याधिकतमो महिमानन्तस्तस्यास्तीति गम्यते । अत्राह् (पादोऽस्य ॰) अस्यानन्तसामर्थ्यस्येश्वरस्य (विश्वा) विश्वानि प्रकृत्यादिपृथि-विपर्यन्तानि सर्वाणि भूतान्येकः पादोस्ति, एकस्मिन्देशांशे सर्व विश्वं वर्तते । (त्रिपादस्य ॰) अस्य दिवि द्योतनात्मके स्वस्वरूपेऽमृतं मोचसुखमस्ति । तथाऽस्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपाज्जगदस्ति । प्रकाश्यमानं जगदेकगुणमस्ति, प्रकाशकं च तस्मात्त्रिगुणभिति । स्वयं च मोचस्वरूपः, सर्वाधिष्ठाता, सर्वोपास्यः, सर्वानन्दः, सर्वप्रकाशकोस्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ

(एतावानस्य०) तीनों काल में जितना संसार है सो सब इस पुरुष का ही मिहिमा है। प्र०—जब उस के मिहिमा का परिमाण है तो अन्त भी होगा १ उ०—(अतो ज्यायांश्च पूरुष:) उस पुरुष का अनन्त मिहिमा है, क्योंकि (पादोऽस्य विश्वाभूतािन) जो यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है सो इस पुरुष के एकदेश में वसता है। (त्रिपादस्यामृतं दिवि) और जो प्रकाश गुणवाला जगत् है सो उस से तिगुना है। तथा मोत्तसुख भी उसी ज्ञानस्वरूप प्रकाश में है और वह पुरुष सब प्रकाश का भी प्रकाश करने वाला है।। ३।।

त्रिपादूर्ध्व उ<u>तै</u>त्पुर्स्यः पाडो उस्येहा भे<u>वत्पुर्नः । ततो विष्व</u>ङ् व्यकामत्साशनानशुने स्राभि ॥ ४॥

भाष्यम्

(त्रिपाद्०) श्रयं पुरुषः परमेश्वरः पूर्वोक्तस्य त्रिपादोपलचितस्य सकाशाद्ध्वीयुपिरभागेऽर्थात्पृथग्भूतोऽस्त्येवेत्यर्थः । एकपादोपलचितं यत्पूर्वोक्तं जगदित्त
तस्मादपीहास्मिन्संसारे स पुरुषः पृथगभवत्, व्यतिरिक्त एवान्ति । स च त्रिपात्संसार एकपाच मिलित्वा सर्वश्रतुष्पाद्भवति । श्रयं सर्वः संसार इहास्मिन्परमात्मन्येव
वर्त्तते, पुनर्लयसमये तत्सामर्थ्यकारणे प्रलीनश्च भवति । तत्रापि स पुरुषोऽविद्यान्धकाराज्ञानजन्ममरण्डवरादिदुःखाद्ध्वः परः (उदैत्) अदितः प्रकाशितो वर्तते,
(ततो वि०) ततस्तत्सामर्थ्यात् सर्वमिदं विश्वयुत्पद्यते । किञ्च तत् । (साशनानश्रने०)यदेकमशनेन भोजनकरणेन सह वर्त्तभानं जङ्गमं जीवचेतनादिमहितं जगत्,
द्वितीयमनशनमविद्यमानमशनं भोजनं यस्मिस्तत्पृथिव्यादिकं च यज्जढं जीवसम्बन्धरितं जगद्वर्तते, तदुभयं, तम्मात्पुरुषस्य सामर्थ्यकारणादेव जायते । यतः
स पुरुष एतद्दिविधं जगत् विविधतया सुष्टुरीत्या सर्वात्मतयाऽङ्चितं, तस्मात्
सर्वं द्विविधं जगदुत्पाद्य (श्राभिव्यक्तामत्) सर्वतो व्याप्तवानस्ति ॥ ४ ॥

भाषार्थ

(त्रिपादूर्ध्व उदैत्पु०) पुरुष जो परमेश्वर है सो पूर्वोक्त त्रिपाद जगत् से ऊपर मी व्यापक होरहा है। तथा सदा प्रकाशस्वरूप, सब में भीतर व्यापक छौर सब से खलग भी है। (पादोस्थेहाभवत्पुनः०) इस पुरुष की अपेक्षा से यह सब जगत् कि खित् मात्र देश में है और जो इस संसार के चार पाद होते हैं वे सब परमेश्वर के

बीच में ही रहते हैं। इस स्थूल जगत् का जन्म और विनाश सदा होता रहता है और पुरुष तो जन्म विनाश आदि धर्म से अलग और सदा प्रकाशमान है। (ततो विष्वक् व्यकामत्) अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत् उसी पुरुष के सामध्यं से उत्पन्न हुआ है। (साशनान०) सो दो प्रकार का है, एक चेतन जो कि भोजनादि के लिये चेष्टा करता और जीव संयुक्त है और दूसरा अनशन आर्थात् जो जड़ और भोजन के लिये बना है। क्योंकि उस में झान ही नहीं है और अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता। परन्तु उस पुरुप का अनन्त सामध्ये ही इस जगत् के बनाने की सामभी है कि जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है। सो पुरुप सर्वहितकारक होके उस दो प्रकार के जगत् को अनेक प्रकार से आनन्दित करता है। वह पुरुष इस का बनानेवाला, संसार में सर्वत्र व्यापक होके, धारण करके, देग्व रहा और वही सब जगत् का सब प्रकार से आक-र्षण कर रहा है।। ४।।

ततो विरार्डजायत विराजो अधि पूर्रेषः । स जातो अत्यरिच्यत पृश्चाद्भूमिमथी पुरः ॥ ४ ॥

भाष्यम्

(ततो विराडजायत) ततस्तस्माद् ब्रह्माएडशरीरः, स्वर्थचन्द्रनेत्रो, वायु-प्राणः, पृथिवीपाद इत्याद्यलङ्कारलचणलचितो,हि, सर्वशरीराणां समष्टिदेहो, विविधेः पदार्थे राजमानः सन्, विराद्, अजायतोत्पन्नोस्ति। (विराजो आधिपुरुषः) तस्माद्विराजोऽधि उपिर पश्चाद् ब्रह्माएडतत्त्वावयवैः पुरुषः सर्वप्राणिनां जीवाधि-करणो देहः, पृथक् २ अजायतोत्पन्नोभृत्। (स जातो अ०) स देहो ब्रह्माएडा-वयवेरेव वर्धते, नष्टः संस्तिस्मन्नेव प्रलीयत इति, परमेशवरस्तु सर्वेभ्यो भूतेम्योऽत्यारिच्यतातिरिक्तः पृथग्भूतोस्ति। (पश्चाद्भूमिमयो पुरः) पुरः पूर्वं भूमिग्रुत्पाद्य धारितवांस्ततः पुरुषस्य सामर्थ्योत्स जीवोपि देहं धारितवानस्ति। स च पुरुषः परमात्मा ततस्तस्माज्जीवादप्यत्यरिच्यत पृथग्भूतोस्ति।। ।

भाषार्थ

(ततो विराडजायत) विराट् जिस का ब्रह्माण्ड के अलङ्कार से वर्णन किया है, जो उसी पुरुष के सामध्यें से उत्पन्न हुआ है, जिस को मूलप्रकृति कहते हैं, जिस का शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिसके सूर्य्य चन्द्रमा नेत्रस्थानी हैं, वायु जिस का प्राण और पृथिवी जिस का पग है, इत्यादि लच्चण वाला जो यह आकाश है सो विराट्

कहाता है। वह प्रथम कलारूप परमेश्वर के सामध्यं से उत्पन्न होके प्रकाशमान हो रहा है। (विराजो श्राधि०) उस विराट् के तत्त्वों के पूर्वभागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक् २ उत्पन्न हुआ है। जिस में सब जीव वास करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि ओपिधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है, (स जातो अत्यरिच्यत) सो विराट् परमेश्वर से अलग और परमेश्वर भी इस संसारहूप देह से सदा अलग रहता है। (पश्चाद्भूमिमथो पुरः) फिर भूमि आदि जगत् को प्रथम उत्पन्न करके पश्चात् जो धारण कर रहा है।। १।।

तस्मान्ज्ञात्सर्वेहुतः संभृतं प्रषदाज्यम् । प्रश्रूस्ताँश्चेके बाय्व्या-नार्षया ग्राम्यारच ये ॥ ६ ॥

भाष्यम्

(तस्माद्य०) श्रस्यार्थो वेदोत्पत्तिप्रकरणे कश्चिदुक्तः । तस्मात्परमेश्वरात् (संभृतं पृषदाज्यम्) पृषु सेचने धातुः, पर्पान्ति सिञ्चन्ति द्धानितृत्यादिकारक-मन्नादि वस्तु यस्मिस्तत्पृपत् । श्राज्यं पृतं मधु दुग्धादिकं च । पृपदिति भच्या-न्नापलचणम् ॥ यावद्वस्तु जगित वर्त्तते ताव-त्सर्वं पुरुषात्परमेश्वरसामध्यदिव जातिमिति बोध्यम् । तत्सर्वमीश्वरेण स्वल्पं २ जीवश्च सम्यग्धारितमित्ति । श्रतः सर्वेरनन्याचित्तेनायं परभेश्वर एवोपास्यो नान्य-श्चेति । (पण्ंस्तांश्चन्ने०) य श्चारण्या वनस्थाः पश्चो, ये च ग्राम्या ग्रामस्था-स्तान्सर्वत् स एव चक्रे कृतवानस्ति । स च परमेश्वरो वायव्यान् वायुसहचरितान् पचिणश्चके, चकारादन्यान्स्वत्त्मदेहधारिणः कीटपतङ्गादीनपि कृतवानस्ति ॥६॥

भाषार्थ

(तस्माद्यज्ञात्स०) इस मन्त्र का श्वर्थ वेदोत्पित्तप्रकरण में कुछ कर दिया है। पूर्वोक्त पुरुष से ही (संभृतं पृषदाज्यम्) सब भोजन, बस्न, श्वन्न, जल श्वादि पदार्थों को सब मनुष्य लोगों ने धारण श्वर्थात् प्राप्त किया है, क्योंकि उसी के सामध्य से ये सब पदार्थ उत्पन्न हुए श्वीर उन्हीं से सब का जीवन भी होता है। इस से सब मनुष्य लोगों को उचित है कि उस को छोड़ के किसी दूसरे की उपासना न करें। (पर्शूस्तांश्चके०) प्राम श्वीर वन के सब पशुश्चों को भी उसी ने उत्पन्न किया है,

^{*} पुषीदति क्वचिदन्त्येष्टिसामप्रचा श्रवि नामास्ति ।

मृष्टिविद्याविषयः संचेपतः ॥

तथा सब पिच्चियों को भी बनाया है श्रीर भी सूच्मदेहधारी कीट, पतङ्ग श्रादि सब जीवों के देह भी उसी ने उत्पन्न किये हैं।। ६।।

तस्माग्रज्ञातसर्वेहुतः ऋचः सामानि जित्ते । बन्दांश्रीम् जित्तरे तस्माग्रजुस्तस्मोदजायत ॥ ७ ॥

भाष्यम्

श्रस्यार्थ उक्नो वेदोत्पत्तिप्रकरणे ॥ ७ ॥

भाषार्ध

(तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्ति विषय में कर दिया है।।।।। तस्माद्श्वी श्रजायन्त ये के चीभ्यादतः । गावी ह जिज्ञे तस्मात्तरमाज्जःता श्रजावर्यः।। ८॥

भाष्यम्

(तस्मादश्वा०) तस्मात्परमेश्वरसामध्यदिवाश्वास्तुरङ्गा श्रजायन्त। ग्राम्या-रएयपश्नां मध्येऽश्वादीनामन्तर्भावादेपाग्रुत्तमगुण्यक्वप्रकाशनार्थोयमारम्मः, (ये केचोभयादतः) उभयतो दन्ता येपां त उभयादतो, ये केचिदुमयादत उष्ट्रगई-भाद्यस्तेऽप्यजायन्त । (गावो ह ज०) तथा तस्मात्पुरुपसामध्यदिव गावो धनवः किरणाश्वेन्द्रियाणि च जित्ररे जातानि । (तस्माज्जाता श्रजा०) एवमेव चाजा-श्वागा श्रवयश्च जाता उत्पन्ना इति विद्येयम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(तस्मादशा अजायन्त) उसी पुरुप के सामर्थ्य से अश्व अर्थात् घोड़े और विजुली आदि सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। (ये केचोभयादतः) जिनके मुख में दोनों ओर दांत होते हैं उन पशुओं को 'उभयादत' कहते हैं। वे ऊंट गधा आदि उसी से उत्पन्न हुए हैं। (गावो ह ज०) उसी से गोजाति अर्थात् गाय, पृथिवी, किरण और इन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं। (तस्माञ्जाता अ०) इसी प्रकार छेरी और भेड़ें भी उसी कारण से उत्पन्न हुई हैं। ८।।

तं युज्ञं <u>ब</u>र्हिष्टि प्रौच्चन् पुर्रुषं जातम्यातः । तेने देवा श्रयजन्त माध्या ऋष्यश्च ये ॥ ६ ॥

भाष्यम्

(तं यज्ञं व०) यमग्रतो जातं प्रादुर्भूतं जगत्कर्तारं, पुरुपं पूर्णं, यज्ञं सर्व-पुरुषं, परमेखरं, वर्हिषि हृदयान्तरिचे, प्रौचन्त्रकृष्टतया यस्यैवाभिषेकं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति चेत्युपदिश्यत ईश्वरेणः, (तेन देवा) तेन परमेश्वरेण पुरुषेण वेदद्वारोपदिष्टास्ते सर्वे देवा विद्वांसः, साध्या ज्ञानिनः, ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च, ये च न्ये मनुष्यास्तं परमेश्वरमयजन्तापूजयन्त । अनेन कि सिद्धं, सर्वे मनुष्याः परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनापुरः सरमेव सर्वकर्मानुष्टानं कुर्युरित्यर्थः ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(तं यहं बहिं०) जो सब से प्रथम प्रकट था, जो सब जगत् का बमाने वाला है, और सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, उस यह अर्थात् पूजने के योग्य परमेश्वर को जो मनुष्य हृदयरूप आकाश में अच्छे प्रकार से प्रेमभिक्त सत्य आचरण करके पूजन करता है वही उत्तम मनुष्य है। ईश्वर का यह उपदेश सब के लिये हैं। (तेन देवा अयजन्त सा०) उसी परमेश्वर के वेदोक्त उपदेशों से (देवाः) जो विद्वान, (साध्याः) जो ज्ञानी लोग, (ऋषयश्च ये) ऋषि लोग जो वेदमन्त्रों के अर्थ जानने वाले और अन्य भी मनुष्य जो परमेश्वर के सत्कारपूर्वक सब उत्तम ही काम करते हैं वे ही सुखी होते हैं, क्योंकि सब श्रेष्ठ कर्मों के करने के पूर्व ही उस का स्मरण और प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये और दुष्ट कर्म करना तो किसी को उचित ही नहीं।। ६।।

यत्पुर्र<u>षं</u> व्यद्धः किन्धा व्यक्तिपयन् । मुखं किर्मस्यामीत् किं षाह् किमूरू पाद्यं उच्येते ॥ १० ॥

भाष्यम्

(यत्पुरुषं व्य०) यद्यस्मादेतं पूर्वोक्वलच्चणं पुरुषं परमेश्वरं कितिधा किय-त्रकारैः (व्यकल्पयन्) तस्य सामर्थ्यगुणकल्पनं कुर्वन्तीत्यर्थः । (व्यद्धः) तं सर्वशक्तिमन्तमीश्वरं विविधसामर्थ्यकथनेनाद्धुर्र्थोदनेकविधं तस्य व्याख्यानं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च। (ग्रुखं किं०) अस्य पुरुषस्य ग्रुखं ग्रुख्य-गुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत् १ (किं बाह्) बलवीर्य्यादिगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत् १ (किमुरू) व्यापारादिमध्यमेर्गुणैः किम्रुत्पन्नमासीत् १ (पादा उच्यते) पादाव-र्यान्मूर्खत्वादिनीचगुणैः किम्रुत्पन्नं वर्तते १। अस्योत्तरमाह ॥ १०॥

भाषार्थ

(यत्पुरुषं०) पुरुष उस को कहते हैं कि जो सर्वशिक्तमान ईग्वर कहाता है। (कितिधा व्य०) जिस के सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि इस में चित्र विचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है। अनेक कल्पनाओं से जिस का

मृष्टिविद्याविषयः संचेपतः ॥

कथन करते हैं। (मुखं किमस्यासीत्) इस पुरुष के मुख श्रर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्न हुआ है ?। (किं वाहू) बल, वीर्घ्य, शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से इस संसार में कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ है। (किमूरू) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किस की उत्पत्ति हुई है ?। (पादा उच्येते) मूर्खपन आदि नीच गुणों से किस की उत्पत्ति होती है ?। इन चारों प्रश्न के उत्तर ये हैं कि ॥ १०॥

ब्राह्मणोऽस्य मुर्ज्वमासीद्वाह राजिन्यः कृतः । ऊरू तर्दस्य यद्वैश्यः पुद्गन्याश्रेशद्वो स्रजायत ॥ ११ ॥

भाष्यम्

(ब्राह्मणोऽस्य॰) श्रस्य पुरुषस्य मुखं ये विद्यादयो पुरुष्यगुणाः, सत्यभा-पणोपदेशादीनि कम्मीणि च सन्ति तेभ्यो ब्राह्मण श्रासीदुत्पन्नो भवतीति। (बाह्न राजन्यः कृतः) बलवीर्यादिलचणान्वितो राजन्यः चत्रियस्तेन कृत श्राह्मत श्रासीदुत्पन्नोक्ष भगति। (जरू तदस्य॰) कृषिन्यापारादयो गुणा मध्य-मास्तेभ्यो वैश्यो विण्जनोऽस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्नो भवतीति वेद्यम्। (पद्भचाध्य श्रद्भो०) पद्भचां पादेन्द्रियनीचत्त्वमर्थाज्जड्बुद्धित्वादिगुणेभ्यः श्रद्धः सेवागुण-विशिष्टः पराधीनतया प्रवर्तमानोऽजायत जायत इति वेद्यम्। श्रस्योपिर प्रमा-णानि वर्णाश्रमप्रकरणे वच्यन्ते। बन्दासे लुङ्लङ्लिटः॥ १॥ श्रष्टाध्या० श्र० ३। पा० ४। द्य० ६॥ इति द्यत्रेण सामान्यकाले त्रयो लकारा विधीयन्ते॥ ११॥

भाषार्थ

(ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुप की श्राज्ञा के श्रनुसार जो विद्या, सत्य-भाषणादि उत्तम गुण श्रौर श्रेष्ठ कमें से त्राह्मणवर्ण उत्पन्न होता है, वह मुख्य कमें श्रौर गुणों के सिहत होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है। (बाहू राजन्य: कृत:) श्रौर ईश्वर ने बल, पराक्रम श्रादि पूर्वोक्त गुणों से युक्त चित्रय वर्ण को उत्पन्न किया है। (ऊक्त तदस्य०) खेती, न्यापार श्रौर सब देशों की भाषात्र्यों को जानना तथा पश्रपालन श्रादि मध्यम गुणों से वैश्यवर्ण सिद्ध होता है। (पद्भ्याध शुद्रो०) जैसे पग सब से नीच श्रङ्ग है, वैसे मूर्खता श्रादि नीच गुणों से शुद्र वर्ण सिद्ध होता है। इस विषय के प्रमाण वर्णाश्रम की न्याख्या में लिखेंगे।। ११।।

 श्रासीदुत्पन्ने भवतीत्यस्य स्थाने "श्रासीदास्ते " इति हस्तालिखित-भूमिकायां पाठः। चन्द्रमा मनसि जातश्चचोः सूर्यो श्रजायत । श्रोत्रोद्वायुश्चे प्राणरच मुखोदिग्निरेजायत ॥ १२ ॥

भाष्यम्

(चन्द्रमा मनसो०) तस्यास्य पुरुषस्य मनसो मननशीलात्सामध्यांच्चनद्रमा जात उत्पन्नोस्ति । तथा चत्रोज्यींतिर्मयात्स्र्य्यो श्रजायत उत्पन्नोस्ति ।
(श्रोत्राद्वा०) श्रोत्राकाशमयादाकाशो नभ उत्पन्नमस्ति । वायुमयाद्वायुरुत्पन्नोस्ति, प्राणश्र, सर्वेन्द्रियाणि चोत्पन्नानि सन्ति । द्वाखान्मुख्यज्योतिर्मयाद्वग्निरजायतोत्पन्नोस्ति ॥ १२ ॥

भाषार्थ

(चन्द्रमा०) उस पुरुष के मनन अर्थात् ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा और तेजस्वरूप से सूर्य्य उत्पन्न हुआ है। (श्रोत्राद्वा०) श्रोत्र अर्थात् अवकाशरूप सामर्थ्य से आकाश और वायुरूप सामर्थ्य से वायु उत्पन्न हुआ है। तथा सब इन्द्रियां भी अपने २ कारण से उत्पन्न हुई हैं और मुख्य ज्योतिरूप सामर्थ्य से अगिन उत्पन्न हुआ है।। १२।।

नाभ्यां त्रासीद्वन्यरिच्धं शिष्णों द्यौः समेवर्त्तत । पुद्गन्यां भूमि-र्दिशः श्रोत्रात्तथां लोकां २॥ श्रोकरुपयन् ॥ १३ ॥

भाष्यम्

(नाभ्या०) अस्य पुरुषस्य नाभ्या अवकाशमयात्सामध्यीदन्तरित्तमुत्पक्रमा-सीत्। एवं शीष्णीः शिरोवदुत्तमसामध्यीत्प्रकाशमयात् (द्यौः) स्वर्यादिलोकः प्रकाशात्मकः समवर्त्तत सम्यगुत्पन्नः सन् वर्तते। (पज्रयां भूमिः) पृथिवीकार-णमयात्सामध्यीत्परमेशवरेण भूमिर्धरिणरुत्पादितास्ति, जलं च। (दिशः श्रो०) शब्दाकाशकारणमयात्तेन दिश उत्पादिताः सन्ति। (तथा लोकां २॥ अकल्प-यन्) तथा तेनैव प्रकारेण सर्वलोककारणमयात्सामध्यीदन्यान्सर्वान् लोकांस्तत्र-स्थान् स्थावरजङ्गमान्पदार्थानकल्पयत्परमेशवर उत्पादितवानास्ति॥ १३॥

भाषार्थ

(नाभ्या आसीदन्त०) इस पुरुष के अत्यन्त सूदम सामर्थ्य से अन्तरिष्ठ अर्थात् जो भूमि और सूर्थ्य आदि लोकों के बीच में पोल है सो भी नियत किया हुआ है। (शीष्णों द्योः०) और जिसके सर्वोत्तम सामर्थ्य से सब लोकों के प्रकाश करने बाले सूर्य आदि लोक उत्पन्न हुए हैं। (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवी के परमाणु कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने पृथिवी उत्पन्न की है। तथा जल को भी उसके कारण से उत्पन्न किया है। (दिशः श्रोत्रात्) उसने श्रोत्ररूप सामर्थ्य से दिशाश्रों को उत्पन्न किया है। (तथा लोकां र।। श्रकल्पयन्) इसी प्रकार सब लोकों के कारण-रूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने सब लोक श्रोर उन में वसने वाले सब पदार्थों को उत्पन्न किया है।। १३।।

यत्पुर्रुषेण द्विषां देवा यञ्जमतंन्वत । वसन्तुं।ऽस्यास्।द्।ज्यं ग्रीह्य इध्मः श्रद्धविः ॥ १४ ॥

भाष्यम्

(यत्पुरुषेण) देवा विद्वांसः पूर्वोक्नेन पुरुषेण इतिषा गृद्दीतेन दत्तेन चा-गिनहोत्राद्यश्वमेथान्तं शिल्पविद्यामयं च यद्यं यज्ञं प्रकाशितमतन्त्रत विस्तृतं कृत-वन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च । इदानीं जगदुत्पत्तौ कालस्यात्रयत्राख्या सामग्रद्य-च्यते, (वसन्तो०) अस्य यज्ञस्य पुरुषादुत्पन्नस्य वा ब्रह्माएडभयस्य वसन्त आज्यं घृतत्रदस्ति । (ब्रीष्म इथ्मः) ब्रीष्मर्जुरिध्म इन्धनीन्यग्निवीस्ति । (शर-द्वविः) शरदृतुः पुरोडाशादिवद्वविद्वनीयमस्ति ॥ १४ ॥

भाषार्थ

(यत्पुरुषेण्०) देव अर्थात् जो विद्वान् लोग होते हैं उनको भी ईश्वर ने अपने अपने कमों के अनुसार उत्पन्न किया है, और वे ईश्वर के दिये पदार्थों का प्रहण् कर- के पूर्वोक्त यह का विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं, और जो ब्रह्माण्ड का रचन, पालन और प्रलय करना रूप यह है उसी को जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं। (वसन्तो०) पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्डरूप यह है इस में वसन्तऋतु अर्थात् चैत्र और वैशाख घृत के समान है। (ग्रीष्म इष्मः) ग्रीष्मऋतु जो उयेष्ठ और आषाढ़, इन्धन है। श्रावण और भाद्रपद वर्षा ऋतु। आश्विन और वार्त्तिक शरद् ऋतु। मार्गशिष और पौष हिम ऋतु और माघ तथा फाल्गुन शिशिर ऋतु कहाती है। यह इस यह में आहुति है। सो यहां रूपकालङ्कार से सबब्रह्माण्ड का व्याख्यान जानना चाहिये।।१४॥

मुप्तास्य सन् परिधयुक्तिः सप्त समिधेः कृताः। देवा यग्रज्ञं तेन्वा-ना सर्वधन्त पुरुषं पुशुम् ॥ १४ ॥

भाष्यम्

(सप्तास्या॰) श्रास्य ब्रह्माएडस्य सप्त परिधयः सन्ति । परिधिर्हि गोलस्योपरिभागस्य यावता स्रत्रेण परिवेष्टनं भवति स परिधिर्द्रेषः । श्रास्य ब्रह्माएडस्य
ब्रह्माएडान्तर्गतलोकानां वा सप्त सप्त परिधयो भवन्ति । समुद्र एकस्तदुपरि त्रसरेणुसिहतो वायुर्द्वितीयः । मेघमएडलं तत्रस्थो वायुस्तृतीयः । वृष्टिजलं चतुर्थस्तदुपरिवायुः पञ्चमः । श्रात्यनतमूत्त्मो धनञ्जयष्यष्टः । स्त्रात्मा सर्वत्र व्याप्तः
सप्तमश्च । एवमेकैकस्योपरि सप्त सप्तावरणानि स्थितानि सन्ति, तस्माचे परिधयो
विद्येयाः । (त्रिः सप्त समिधः कृताः) एकविंशतिः पदार्थाः सामग्रयस्य चास्ति ।
प्रकृतिमहत्, बुद्धचाद्यन्तःकरणं, जीवश्चेपैका सामग्री परमस्त्त्मत्वात् । दशोन्द्रियाणि श्रोत्रं, त्वक्, चचु, जिह्वा, नासिका, वाक्, पादौ, इस्तौ, पायुः, उपस्थं
चेति । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः, पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति
पञ्चभूतानि च मिलित्वा दश भवन्ति । एवं सर्वा मिलित्वैकविंशतिभवन्त्यस्य
ब्रह्माएडस्चनस्य समिधः कारणानि विद्येयानि । एतेषामवयवरूपाणि तु तत्त्वानि
बहूनि सन्तीति बोध्यम् । (देवा य॰) तदिदं येन पुरुपेण रचितं तं यञ्चपुरुपं
पशुं सर्वद्रष्टारं सर्वैः पूजनीयं देवा विद्यांसः (श्रवधनन्) ध्यानेन बध्नन्ति, तं
विद्ययेश्वरत्वेन कस्यापि ध्यानं नैव वधननित नैव कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥

भाषार्थ

(सप्तास्या०) ईश्वर ने एक २ लोक के चारों श्रोर सात २ परिधि ऊपर २ रची है। जो गोल चीज के चारों श्रोर एक सृत से नाप के जितना परिमाण होता है उसको परिधि कहते हैं। सो जितने ब्रह्माएड में लोक हैं ईश्वर ने उन एक २ के ऊपर सात २ श्रावरण बनाये। एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमएडल का वायु, चौथा वृष्टिजल श्रोर पांचवां वृष्टिजल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छठा श्रत्यन्त सूदम वायु जिसको धनञ्जय कहते हैं, सातवां सूत्रात्मा वायु जो कि धनञ्जय से भी सूदम है, ये सात परिधि कहाते हैं। (त्रिः सप्त समिधः) श्रोर इस ब्रह्माएड की सामग्री (२१) इक्कीस प्रकार की कहाती है। जिसमें से एक प्रकृति, बुद्धि श्रोर जीव ये तीनों मिलके हैं, क्योंकि यह श्रत्यन्त सूदम पदार्थ है। दूसरा श्रोत्र। तीसरी त्वचा। चौथा नेत्र। पांचमी जिह्वा। छठी नासिका। सातमी वाक्। श्राठमा पग। नवमा हाथ। दशमी गुदा। ग्यारहमा उपस्थ। जिसको लिङ्ग इन्द्रिय कहते हैं।

बारहमा शब्द । तेरहमा स्पर्श । चौदहमा रूप । पन्द्रहमा रस । सोलहमा गन्ध । सत्रहमी पृथिवी । श्रठारहमा जल । उन्नीसमा श्राग्न । बीसमा वायु । इक्कीसमा आकाश । ये इक्कीस समिधा कहाती हैं। (देवा य०) जो परमेश्वर पुरुष इस सब जगत् का रचने वाला, सब का देखने वाला और पूज्य है उसको विद्वान लोग सुन के और उसी के उपदेश से उसी के कर्म श्रौर गुणों का कथन, प्रकाश श्रौर ध्यान करते हैं। उसको छोड़ के दूसरे को ईश्वर किसी ने नहीं माना और उसी के ध्यान में श्राप्ने आदमाश्रों को हद बांधने से कल्याण जानते हैं। १४।।

युज्ञेनं युज्ञमंयजनत देवास्तानि धर्मीणि प्रथमान्यसिन् । ते ह नार्श्व महिमानंः मचन्त यञ्च पूर्वे माध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

भाष्यम्

(यज्ञेन यज्ञम०) ये विद्यांसो, यज्ञं यजनीयं पूजनीयं परमेश्वरं, यज्ञेन, तत्स्तुतिप्रार्थनोपासनरीत्या पूजनेन, तमेवायजन्त, यजन्ते, यच्यन्ति च । तान्येव धर्माणि प्रथमानि सर्वेकर्मभ्य त्रादौ सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यान्यासन् । न च तैः पूर्व कुतैर्विना केनापि किंचित्कर्म कर्त्तव्यमिति । (ते ह ना०) त ईश्वरोपासका, हेति, प्रसिद्धं नाकं सर्वदुःखरिहतं परमेश्वरं, मोत्तं च, मिहमानः पूज्याः सन्तः, सचन्त समवेता भवन्ति । कीदृशं तत् ? (यत्र पूर्वे साध्याः०) साध्याः साधनवन्तः कृतसाधनाश्च देवा विद्वांसः पूर्वे अतीता यत्र मोचाख्ये परमे पदे सुखिनः सन्ति । न तस्माद् ब्रह्मणश्यातवर्षसंख्यातात् कालात् कदाचित्पुनरावर्तन्त इति किन्तु तमेव समसेवन्त ॥ अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्याः। यक्केन यज्ञभयजन्त देवाः, श्राग्निनाग्निमयजन्त देवाः, ''श्राग्नः पशुरासीत्तमालभन्त तेनायजन्ते''ति च ब्राह्मसम् । 'तानि धर्मासि प्रथमान्यासन् ।' ते इ नाकं महिमानः समसेवन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः । द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः ॥ नि० अ० १२। खं०४१ ॥ ऋग्निना जीवेनान्तः करणेन वार्गिन परमेश्वरमयजन्त । श्राग्नः पशुरासीत्तमेव देवा श्रालभन्त । सर्वोपकारकमग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं भौति-काग्निनापि यहं देवा समसेवन्तेति वा । साध्याः साधनवन्तो यत्र पूर्वे पूर्वे भूता मोचाख्यानन्दे पदे सन्ति । तमभित्रेत्यात एव द्युस्थानो देवगण इति निरुक्तकाग वदन्ति । गुस्थानः प्रकाशमयः परमेश्वरः स्थानं स्थित्यर्थे यस्य सः । यदा मुर्घ-प्राणस्थानाः विज्ञानिकरणास्तत्रैव देवगणो देवसमृहो वर्चत इति ॥ १६ ॥

भाषार्ध

(यज्ञेन यज्ञम०) विद्वानों को देव कहते हैं और वे सब के पूज्य होते हैं, क्यों कि वे सब दिन परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना, उपासना और आज्ञापालन आदि विश्वान से पूजा करते हैं। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि वेदमन्त्रों से प्रथम ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना करके शुभकर्मों का आरम्भ करें। (ते ह नाकं०) जो २ ईश्वर की उपासना करनेवाले लोग हैं वे २ सब दुःखों से छूट के सब मनुष्यों में आत्यन्त पूज्य होते हैं। (यत्र पूर्वे सा०) जहां विद्वान लोग परमपुरुषार्थ से जिल पद को प्राप्त होके नित्य आनन्द में रहते हैं उसी को मोच्च कहते हैं। क्योंकि उससे निवृत्त होके संसार के दुःखों में कभी नहीं गिरते। इस अर्थ में निरुक्तकार का भी यही आभिप्राय है कि जो परमेश्वर के अनन्त प्रकाश में मोच्च को प्राप्त हुये हैं वे परमेश्वर ही के प्रकाश में सदा रहते हैं, उनको आज्ञानरूप अन्धकार कभी नहीं होता।। १६।।

श्रुद्भ्यः संभृतः ष्टश्चिन्यै रसांच्च विश्वकेर्मणुः सर्मवर्त्ताग्रे।तस्य त्वष्टां विदर्धद्रपर्मेति तन्मर्त्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे॥ १७॥ भाष्यम्

(श्रद्धधः संभृतः) तेन पुरुषेण पृथिव्ये पृथिव्युत्पत्यर्थमद्भयो रसः संभृतः संगृह्य तेन पृथिवी रचिता । एवमिनरसेनाग्नेः सकाशादाप उत्पादिताः । श्राग्नश्र वायोः सकाशाद्वायुराकाशादुत्पादित, श्राकाशः प्रकृतेः, प्रकृतिः स्वसामर्थ्याच । विश्वं सर्वं कर्म कियमाणमस्य स विश्वकर्मा । तस्य परमेश्वरस्य सामर्थ्यमध्ये कारणाख्येऽग्रे सृष्टेः प्राग्जगत्समवर्त्तत वर्त्तमानमासीत् । तदानीं सर्वामिदं जगत्कारणभृतमेव नेद्दशमिति । तस्य सामर्थ्यस्यांशान् गृहीत्वा त्वष्टा रचनकर्तेदं सकलं जगाद्वद्वयत् । पुनश्चेदं विश्वं रूपवन्त्रमेति । तदेव मर्त्यस्य मरणधर्मकस्य विश्वस्य मनुष्यस्यापि च रूपवन्त्वं भवति । (श्राजानमग्रे) वेदाज्ञापनसमये परमात्माज्ञप्तवान्, वेदरूपामाज्ञां दत्तवान् मनुष्याय । धर्मयुक्तेनेव, सकामेन कर्मणा, कर्मदेवत्वयुक्तं शरीरं घृत्वा, विषयेन्द्रयसंयोगजन्यमिष्टं सुखं भवतु, तथा निष्कामेन विज्ञानपरमं मोज्ञाख्यं चेति ॥ १७ ॥

भाषार्थ

(श्रद्भ्य: संभृतः) उस परमेश्वर पुरुष ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिये जल से सारांश रस को प्रहण करके पृथिवी श्रीर अप्रि के परमाणुओं को मिला के पृथिवी रवी हैं। इसी प्रकार श्रिप्त के परमाणु के साथ जल के परमाणुओं को मिला के जल को, वायु के परमाणुओं के साथ श्रिप्त के परमाणुओं को मिला के श्रिप्त को श्रीर वायु के परमाणुओं से वायु को रवा है। वैसे ही श्रपने सामर्थ्य से श्राकाश को भी रवा है जो कि सब तत्त्वों के ठहरने का स्थान है। ईश्वर ने प्रकृति से लेके घास पर्यन्त जगत् को रवा है। इससे ये सब पदार्थ ईश्वर के रचे होने से उसका नाम विश्वकर्मा है। जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था तब वह ईश्वर के सामर्थ्य में कारण्रूरूप से वर्त्तमान था। (तस्य०) जब २ ईश्वर श्रपने सामर्थ्य से इस कार्यक्रप जगत् को रवता है तब २ कार्य जगत् रूप गुणवाला होके स्थूल बन के देखने में श्राता है। (तन्मर्त्यस्य देवत्व०) जब परमेधर ने मनुष्यशरीर श्रादि को रवा है तब मनुष्य भी दिन्य कर्म करके देव कहाते हैं और जब ईश्वर की उपासना से विद्या, विज्ञान श्रादि श्रत्युत्तम गुणों को प्राप्त होते हैं तब भी उन मनुष्यों का नाम देव होता है, क्योंकि कर्म से उपासना श्रीर श्रादि पदार्थों को चलाता है वह संसार में उत्तम सुख पाता है और जो परमेश्वर ही की प्राप्तिक्षप मोत्त की इच्छा करके उत्तम कर्म, उपासना श्रीर झान में पुरुषार्थ करता है वह उत्तम देव होता है।। १७॥

वेदाहमेनं पुरुषं मुहान्तमादित्यवेर्णुं तमेसः पुरस्तीत् । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्थां दि <u>ग</u>तेऽर्यनाय ॥ १८ ॥

भाष्यम्

(वेदाहमेतं पु॰) कि विदित्वा त्वं ज्ञानी भवसीति पृच्छचते ? तर्न्तरमाह—यतः पूर्वोक्तलज्ञणविशिष्टं, सर्वेभ्यो महान्तं, वृद्धनममादित्यवर्णं, स्वप्रकाशविज्ञानस्वरूपं, तमसोऽज्ञानाऽविद्यान्धकारात्परस्तात्पृथम् वर्त्तमानं परमेश्वरं पुरुपमहं वद् जानाम्यतोऽहं ज्ञान्यस्मीति निश्चयः । नैव तमविदित्वा कश्चिज्ञानी भवितु-मईतीति । कृतः । (तमेव विदित्वा॰) मनुष्यस्तमेव पुरुपं परमात्मानं विदित्वा-ऽतिमृत्युं मृत्युमितिकान्तं मृत्योः पृथम्भूतं मोज्ञाख्यमानन्दमेति प्राप्नोति । नैवा-तोऽन्यथेति । एवकारात्तमीश्वरं विहाय नैव कस्यचिदन्यस्य लेशमात्राप्युपासना केनचित्कदाचित्कार्योति गम्यते । कथिमदं विज्ञायतेऽन्यस्योपासना नैव कार्येति १ (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय) इति वचनात् । स्रयनाय व्यावहारिकपारमार्थिक-सुलायाऽन्यो वितीयः पन्था मार्गो न विद्यते । किन्तु तस्यैवोपासनमेव सुलस्य

मार्गोऽतो भिन्नस्येश्वरगणनोपासनाभ्यां मनुष्यस्य दुःखमेव भवतीति निश्वयः । अतः कारणादेष एव पुरुषः सर्वेरुपासनीय इति सिद्धान्तः ॥ १८ ॥

भाषार्थ

(वेदाहमेतं) प्र०-किस पदार्थ को जान के मनुष्य ज्ञानी होता है ? उ०-उस पूर्वोक्त लहाए सिहत परमेश्वर ही को यथावत् जान के ठीक २ ज्ञानी होता है, अन्यथा नहीं। जो सब से बड़ा, सब का प्रकाश करनेवाला और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोपों से अलग है, उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूं। उस को जाने विना कोई मनुष्य यथावत् ज्ञानवान् नहीं हो सकता, क्योंकि (तमेव विदित्वा०) उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्म, मरए आदि कोशों के समुद्र समान दुःख से खूट के परमानन्दस्वरूप मोत्त को प्राप्त होता है। अन्यथा किसी प्रकार से मोत्तसुख नहीं हो सकता। इससे क्या सिद्ध हुआ कि उसी की उपासना सब मनुष्य लोगों को करनी उचित है। उससे भिन्न की उपासना करना किसी मनुष्य को न चाहिये, क्योंकि मोत्त का देनेवाला एक परमेश्वर के विना दूसरा कोई भी नहीं है। इस में यह प्रमाण है कि (नान्यः पन्था०) व्यवहार और परमार्थ के दोनों सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उस का जानना ही है, क्योंकि इस के विना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता ॥ १८॥

प्रजापेतिरचरति गभै श्चन्तरज्ञायमानो बहुधा विजायते । तस्य योर्नि परिपरयन्ति धीरास्तर्शिमन् ह तस्थुर्भुवनानि विखा ॥ १६ ॥

भाष्यम्

(प्रजापति०) स एव प्रजापितः सर्वस्य स्वामी, जीवस्यान्यस्य च जदस्य जगतोऽन्तर्गभें मध्येऽन्तर्य्यामिरूपेणाजायमानोऽनुत्पन्नोऽजः सन् नित्यं चरति । तत्सामध्यीदेवेदं सकलं जगद् बहुधा बहुप्रकारं विजायते विशिष्टतयोत्पद्यते । (तस्य योनिं०) तस्य परब्रह्मणो योनिं सत्यधर्मानुष्टानं वेदविज्ञानमेव प्राप्तिकारणं धीरा ध्यानवन्तः (परिप०) परितः सर्वतः प्रेचन्ते । (तस्मिन्द्र तस्थुर्भु०) यस्मिन्भुवनानि विश्वानि सर्वाणि सर्वे लोकास्तस्थः स्थिति चिन्नरे । द्देति निश्र-यार्थे । तस्मिन्नेव परमे पुरुषे धीरा ज्ञानिगो मनुष्या मोन्नानन्दं प्राप्य तस्थः स्थिरा भवन्तीस्थरंः ॥ १६ ॥

सृष्टिविद्याविषयः संचेपतः ॥

भाषार्थ

(प्रजापति०) जो प्रजा का पित अर्थात् सव जगत् का स्वामी है वही जड़ और वेतन के भीतर और बाहर अन्तर्यामिरूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। जो सब जगत् को उत्पन्न करके अपने आप सदा अजन्मा रहता है. (तस्य योनिं०) जो उस परब्रह्म की प्राप्ति का कारण, सत्य का आचरण और सत्याविद्या है, उसको विद्यान लोग ध्यान से देख के परमेश्वर को सब प्रकार से प्राप्त होते हैं। (तिस्मिन्ह त०) जिस में ये सब भुवन अर्थान् लोक ठहर रहे हैं, उसी परमेश्वर में ज्ञानी लोग भी सत्य निश्चय से मोच्चसुख को प्राप्त होके, जन्म मरण आदि आने जाने से छूट के, आनन्द में सदा रहते हैं।। १६।।

यो देवेभ्य खातपीत यो देवानां पुरोहितः। पूर्वो यो देवेभ्यौ जातो नमें हुचायु ब्राह्मये ॥ २०॥

भाष्यम्

(यो देवेभ्यः) यः पूर्णः पुरुषो देवेभ्यो विद्वज्ञयस्तत्प्रकाशार्थमातपति आसमन्तात्तदन्तःकरणे प्रकाशयित, नान्यभ्यश्च । यश्च देवानां विदुपां पुरोहितः सर्वैः सह मोत्ते विदुपो दघाति । (पूर्वो यो देवेभ्यो जातोः) देवेभ्यो विद्यद्भ्यो यः पूर्वः पूर्वमेव सनातनत्वेन वर्त्तमानः सन् जातः प्रसिद्धोस्ति । (नमे। रुचायः) तस्मै रुचाय रुचिकराय ब्रह्मणे नमोस्तु । यश्च देवेभ्यो विद्वद्भ्यो ब्रह्मो-पदेशं प्राप्य ब्रह्मरुचिक्वीक्षिक्वेद्मणोऽपत्यिमव वर्त्तमानोस्ति । तस्मा अपि ब्राह्मये ब्रह्मसेवकाय नमोस्तु ॥ २०॥

भाषार्थ

(यो देवेध्य०) जो परमात्मा विद्वानों के लिये सदा प्रकाशस्वरूप है, ऋषीत् उन के आत्माओं को प्रकाश में कर देता और वही उन का पुरोहित, अर्थात् अत्यन्त सुखों से धारण और पोषण करनेवाला है, इससे वे फिर दुःखसागर में कभी नहीं गिरते। (पूर्वो यो देवेध्यो जातो०) जो सब विद्वानों से आदि विद्वान और जो विद्वानों के ही ज्ञान से प्रसिद्ध अर्थात् प्रत्यत्त होता है, (नमो क्वाय०) उस अत्यन्त आनन्दस्वरूप और सत्य में किंच करानेवाले ब्रह्म को हमारा नमस्कार हो, और जो विद्वानों से वेदविद्यादि को यथावत् पढ़ के धर्मात्मा अर्थात् ब्रह्म को पिता के समान मान के, सत्यभाव से प्रेम प्रीति करके, सेवा करनेवाला जो विद्वान् मनुष्य है, उसको भी हम लोग नमस्कार करते हैं।। २०।।

रुचं ब्राह्मं जुनयंन्तो देवा श्रुप्रे तदंब्रुवन् । यस्त्वेवं ब्राह्मणो वि-णात्तस्य देवा श्रीमन्वशे ॥ २१ ॥

भाष्यम्

(रुचं ब्राह्मं) रुचं प्रीतिकरं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यिमव ब्रह्मणः सकाशाज्जातं क्वानं जनयन्त उत्पादयन्तो देवा विद्यांसोऽन्येषामग्रे तज्ञ्ञानं तज्ज्ञानसाधनं वाऽ-ब्रुवन् ब्रुवन्तूपदिशन्तु च । (यस्त्वैवं) यस्त्वैवमग्रुना प्रकारेण तद्ब्रह्म ब्राह्मणो विद्यात्, (तु) पश्चात्तस्यैव ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य देवा इन्द्रियाणि वशे श्रसन् भव-न्ति नान्यस्येति ।। २१ ॥

भाषार्थ

(रुवं ब्राह्मं०) जो ब्रह्म का ज्ञान है वही अत्यन्त आनन्द करनेवाला और उस मनुष्य की उसमें रुचि का बढ़ाने वाला है। जिस ज्ञान को विद्वान लोग अन्य मनुष्यों के आगे उपदेश करके उन को आनन्दित कर देते हैं। (यस्त्वैवं ब्राह्मणो०) जो मनुष्य इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है उसी विद्वान के सब मन आदि इन्द्रिय वश में हो जाते हैं, अन्य के नहीं।। २१।।

श्रीरनं ते लुदमीरच पत्न्यांवहोरान्ने पारवें नर्ज्नाणि ह्पम्श्विनौ व्यात्तम् । इष्णिन्निषाणानुं मं इषाण सर्वलोकं मं इषाण ॥ २२ ॥ य० अ० ३१ ॥

भाष्यम्

(श्रीश्र ते॰) हे परमेश्वर! ते तव (श्रीः) सर्वा शोमा (लक्ष्मीः) श्रुम-लक्षणवती धनादिश्व हे तिये पत्न्यों पत्नीवत्सेवमाने स्तः। तथाहोरात्रे हे ते तव (पार्खे॰) पार्श्ववत्स्तः। ये कालचक्रस्य कारणभूतस्यापि कन्नावयववहर्त्तेते सर्य्याचन्द्रमसौ नेत्रे वा, तथैव नन्नत्राणि तवैव सामर्थ्यस्यादिकारणस्यावयवाः सन्ति, तन्त्रयि रूपवद्दित। श्रिश्वनौ द्यावापृथिव्या तवैव (व्यात्तम्) विकाशितं स्वस्मिव वर्त्तते। तथैव यत् किंचित्सौन्दर्यगुण्युक्तं वस्तु जगति वर्तते तद्पि रूपं तवैव सामर्थ्याञ्जातमिति जानीमः। हे विराद्धिकरणेश्वर! मे ममासुं परलोकं मोन्नाख्यं पदं कृपाकटान्नेण (इष्ण्न्) इच्छन्सन् (इषाण्) स्वेच्छया निष्पादयः तथा सर्वलोकं सर्वलोकसुखं सर्वलोकराज्यं वा मद्र्थं कृपया त्विमपाणेच्छ, स्वा-राज्यं सिद्ध कुरु। एवमेव सर्वाः शोभा लच्मिश्च श्रुमलन्नणवतीः सर्वाः किया मे

मदर्थमिषाण, हे भगवन् ! पुरुष ! पूर्णपरमेश्वर ! सर्वशक्तिमन् ! क्रपया सर्वान् शुभान् गुणान् मश्चं देहि । दृष्टानशुभदोषांश्च विनाशय, सद्यः स्वानुप्रहेण सर्वोत्तमः गुणभाजनं मां भवान्करोत्वित ।। अत्र प्रमाणानि ॥ श्रीर्हि पश्चः ॥ श० कां० १ । अत्र दे ।। श्रीर्वे राष्ट्रं श्रीर्वे राष्ट्रस्य मारः ॥ कां० १३ । अ० १ ॥ लच्मीर्लाभाद्या, लच्चमानाद्या, लाञ्छनाद्या लषतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणो, अल्जनेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः, शिष्टे इत्युपिष्टाद्वाचाख्यास्यामः ॥ नि० अ० १ । ख० १० ॥ अत्र श्रीलच्च्योः पूर्वोक्तयोरर्थसंगतिरस्तीति बोध्यम् ॥ २ ॥

इति पुरुपस्कव्याख्या समाप्ता

भाषार्थ

(श्रीश्च ते) हे परमेश्वर ! जो आप की अनन्त शोभारूप श्री और जो अनन्त शुभलच्चण्युक लच्मी है वे दोनों स्त्री के समान हैं अर्थात् जैसे स्त्री पात की सेवा करती है इसी प्रकार आप की सेवा आप ही को प्राप्त होती है, क्योंकि आपने ही सब जगत् को शोभा श्रौर शुभलच्चणों से युक्त कर रक्खा है। परन्तु ये सब शोभा श्रीर सत्यभापणादि धर्म के लच्चणों से लाभ, ये दोनों श्रापकी ही सेवा के लिये हैं। सब पदार्थ ईश्वर के आधीन होने से उसके विषय में यह पत्नी शब्द रूपकालङ्कार से वर्णन किया है। वैसे ही जो दिन ऋौर रात्रि ये दोनों बगल के समान हैं। तथा सुर्घ्य और चन्द्र भी दोनों आप के बगल के समान वा नेत्रस्थानी हैं। और जितने ये नत्त्रत्र हैं वे आप के रूपस्थानी हैं। श्रौर द्यौः जो सूर्य श्रादि का प्रकाश श्रौर विदान त्रार्थात विज्ञली ये दोनों मुखस्थानी हैं। तथा त्रोठ के तुल्य त्रीर जैसा खुला मुख होता है इसी प्रकार पृथिवी श्रीर सूर्य्यलेक के बीच में जो पोल है सो मुख के सहश है। (इब्लन्) हे परमेश्वर ! श्राप की दया से (श्रमुं) परलोक जो मोच-सुख है उस को हम लोग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की कृपादृष्टि से हमारे लिये इच्छा करो तथा मैं सब संसार में सब गुणों से युक्त होके सब लोकों के सुखों का श्रिधिकारी जैसे होऊं वैसी कृपा श्रीर इस जगत् में मुक्त को सर्वे। तम शोभा श्रीर लक्मी से युक्त सदा कीजिये। यह आप से हमारी प्रार्थना है, सो आप कुपा से पूरी कीजिये ।। २२ ।।

इति पुरुषस्करयाख्या समाप्ता

^{*} अत्र "सम्यतेर्वा स्वादाश्चेषकर्मणो' इत्यधिकः पाठा निरुक्ते ।

यत्परममेवमं यचे मध्यमं प्रजापितः समृजे विश्वरूपम् । कियता स्क्रम्भः प्रविवेश तत्र यत्र प्राविशत् किएसहे भव ॥१॥ अथर्व० कां० १०। अनु० ४। सू० ७। मं० ८॥ देवाः पितरो मनुष्यो गन्धर्वाप्स-र गरेच ये। उचित्रष्ठाजितिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः॥२॥ अथर्व० कां० ११। श्रनु० ४। सू० ७। मं० २७॥

भाष्यम्

(यत्परम॰) यत्परमं सर्वोत्कृष्टं प्रकृत्यादिकं जगत्, यच (अवमं) निकृष्टं तृण्वित्तिका क्षुद्रकृषिकीटादिकं चास्ति, (यच म॰) यन्मनुष्यदेह्राद्याकाशपर्यन्तं मध्यमं च, तत्तित्रविधं सर्वं जगत्, प्रजापतिरेव (ससृजे वि॰) स्वसामर्थ्यरूप-कारणादुत्पादितवानस्ति । योऽस्य जगतो विविधं रूपं मृष्टवानस्ति, (कियता॰) अप्तिसित्तिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः स परमेश्वरः, कियता सम्बन्धेन प्रतिवेश, न चैतत् परमेश्वरे, (यन्न॰) यत्त्रिविधं जगन्न प्राविशत्, तत् किय-द्वभूव । तदिदं जगत् परमेश्वरापेत्तयाल्पमेवास्तीति ॥ १ ॥ (देवाः०) देवा विद्वांसः, स्वर्यादयो लोकाश्व, पितरो ज्ञानिनः, मनुष्या मननशीलाः, गन्धवी गानविद्याविदः, सूर्यादयो वा, त्रप्सरस एतेषां स्त्रियश्व, ये चापि जगति मनुष्यादिजातिगणा वर्त्तन्ते ते सर्व उच्छिष्टात्पर्वस्माद् व शिष्टात्परमेश्वरात्तत्मामध्यांच्च जित्तरे जाताः सन्ति । ये (दिवि देवाः दिविश्रिताः) दिवि देवाः सूर्यादयो लोकाः, ये च दिवि श्रिताश्वन्द्रपृथिव्यादयो लोकास्तेषि सर्वे तस्मादेवेत्रेत्वा इति । इत्यादयो मन्त्रा एतद्विषया वेदेषु बह्वः सन्ति ।

इति संत्रेपतः सृष्टिविद्याविषयः समाप्तः

माषार्थ

(यत्परम०) जो उत्तम मध्यम श्रोर नीच स्वभाव से तीन प्रकार का जगत् है उस सब को परमेश्वर ने ही रचा है। उसने इस जगत् में नाना प्रकार की रचना की है। श्रोर एक वही इस सब रचना को यथावत् जानता है। श्रोर इस जगत् में जो कोई विद्वान् होते हैं वे भी कुछ २ परमेश्वर की रचना के गुणों को जानते हैं। वह परमेश्वर सब को रचता है श्रोर श्राप रचना में कभी नहीं श्राता।। १।।

श्वास्मित्रित्यारभ्य किय इवभूवे तिपर्यन्तसन्दर्भस्था ने ''सष्ट्वा, त्रिविधे जगित स्कम्भः प्रजापितः परमेश्वरः स कियता सम्बन्धेन प्रविवेश, तत्र परमेश्वरे यत्त्रिविध जगित्र प्राविशत्, तत्क्व्यद्वभूवेति''
 इम्तितिखित भूमिकायां पाठः ।

(देवा: पितरो०) विद्वान् अर्थात् परिडत लोग और सूर्य्यलोक भी, (ज्ञानिनः) अर्थात् यथार्थविद्या को जानने वाले, (मनुष्याः) अर्थात् विचार करने वाले, (गन्धवाः) अर्थात् गानविद्या के जानने वाले, सूर्यादि लोक और (अप्सरसः) अर्थात् इन सब की कियां, ये सब लोग और दूसरे लोग भी उसी ईश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं। (दिवि देवाः) अर्थात् जो प्रकाश करने वाले और प्रकाशस्वरूप सूर्यादि लोक और (दिविश्रिताः) अर्थात् चन्द्र और पृथिवी आदि प्रकाशरिहत लोक वे भी उसी के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं।। २।। वेदों में इस प्रकार के सृष्टिविधान करने वाले मन्त्र बहुत हैं, परन्तु प्रनथ अधिक न हो जाय इसिलिये सृष्टिविधय संदोप से लिखा है।

रति सृष्टिविद्याविषय:

अथ पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

श्रयेदं विचार्य्यते पृथिव्यादयो लोका अमन्त्याहोस्विकाति ? श्रत्रोच्यते । वेदादिशास्त्रोक्तरीत्या पृथिव्यादयो लोकाः सर्वे अमन्त्येव । तत्र पृथिव्यादिअम- णविषये प्रमाणम् ।

श्रायं गौः १क्षिरक्रमीदसंदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वेः ॥ १॥ यजु० श्र० २। मं० ६॥

भाष्यम्

अस्याभि ० - आयं गौरित्यादिमन्त्रेषु पृथिव्याद्यो हि सर्वे लोका अमन्त्येवेति विज्ञेयम् । (आयं गौः०) अयं गौः पृथिवीगोलः, स्र्य्येश्वन्द्रोऽन्यो लोको वा, पृश्लिमन्तरिक्तमाक्रमीदाक्रमणं कुर्वन् सन् गच्छतीति, तथाऽन्येषि । तत्र पृथिवी मातरं ससुद्रजलमसदत् सपुद्रजलं प्राप्ता सती, तथा (स्वः) स्र्य्यं पितरमिनमयं च । पुरः पूर्वे पूर्वे प्रयन्सन् स्र्य्यस्य परितो याति । एवमेव स्र्य्यो वायुं पितर, माकाशं मातरं च । तथा चन्द्रोगिन पितर, मपो मातरं प्रति चेति योजनीयम् । अत्र प्रमाणानि । गौः, गमा, ज्मेत्याद्येकविंशतिषु पृथिवीनामसु गौरिति पिटतं, यास्ककृते निघएटौ ॥ अ० १ । खं० १ ॥ तथाच, स्वः, पृश्लिः, नाक इति षद्सु साधारणनामसु ॥ निघएदु अ० १ । खं० ४ ॥ पृश्लिरित्यन्तरिवस्य नामोक्रम् । निक्के, गौरिति पृथिव्या नामधेयं, यद्द्रंगता

भवति, यचास्यां भूतानि गच्छन्ति ॥ निरु० अ० २ । खं० ४ ॥ गौरादित्यो भवति, गमयति रसान् , गच्छत्यन्तरिवे अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधिद्रंगता भवति, यचास्यां ज्योतींपि गच्छिन्ति ॥ निरु० अ० २ । खं० १४ ॥ सूर्य्यरिमअन्द्रमा-गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति, सोपि गौरुच्यते ॥ निरु० अ० २ । खं० ६ ॥ स्वरादित्यो भवति ॥ निरु० अ० २ । खं० १४ । गच्छिति प्रतिच्चां अमिति या सा गाः पृथिवी । अङ्ग्यः पृथिवीति तैत्तिरीयोपिनिषदि ॥ यस्माद्यज्ञायते सोऽर्थ-स्तस्य मातापिनृवद् भवति । तथा स्वःशब्देनादित्यस्य प्रहणात् पितुर्विशेषणत्वा-दादित्योऽस्याः पितृवदिति निश्चीयते । यद्द्रंगता, द्रंद्रं सूर्य्याद्गच्छतीति विज्ञेयम् । एवमेव सर्वे लोकाः स्वस्य स्वस्य कत्तायां वाय्वात्मनेश्वरसत्तया च धारिताः सन्तो अमन्तीति सिद्धान्तो बोध्यः ।

भाषार्थ

त्रव सृष्टिविद्याविषय के पश्चात् पृथिवी त्रादि लोक घूमते हैं वा नहीं, इस विषय में लिखा जाता है। इस में यह सिद्धान्त है कि वेदशास्त्रों के प्रमाण और युक्ति से भी पृथिवी और मूर्य्य त्रादि सब लोक घूमते हैं। इस विषय में यह प्रमाण है।

(आयं गौः०) गौ नाम है पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमादि लोकों का । वे सब अपनी २ परिधि में, अन्तरिक्ष के मध्य में, सदा घूमते रहते हैं । परन्तु जो जल है सो पृथिवी की माता के समान है । क्योंकि पृथिवी, जल के परमागुओं के साथ अपने परमागुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई हैं, और मेघमएडल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती हैं, और सूर्य उस के पिता के समान हैं । इस से सूर्य के चारों और घूमती है इसी प्रकार पूर्य का पिता, वायु और आकाश माता । तथा चन्द्रमा का अग्नि पिता और जल माता । उन के प्रति वे घूमते हैं । इसी प्रकार से सब लोक अपनी २ कक्षा में सदा घूमते हैं । इस विषय का संस्कृत में निघएट और निरुक्त का प्रमाण लिखा है, उस को देख लेना । इसी प्रकार सूत्रात्मा जो वायु है उस के आधार और आकर्षण से सब लोकों का धारण और अमण होता है तथा परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि सब लोकों का धारण, अमण और पालन कर रहा है ।। १ ।।

^{*} ब्रह्मानन्दवही, प्रथमानुवाके ।

या गौर्वर्त्तनिं पृथ्येति निष्कृतं प्रयो दुहोना व्रत्ननिरं वारतः । सा प्रव्रवाणा वर्षणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशब्विषां विवस्वते ॥ २ ॥ ऋ० श्र० ८ । श्र० २ । व० १० । मं० १ ॥

भाष्यम्

(या गौर्वर्त्तनिं०) या पूर्वोक्ता गौर्वर्त्तनिं स्वकीयमार्गं (अवारतः) निरन्तरं अमती सती पर्योति । विवस्वतेऽर्थात्सूर्यस्य * परितः सर्वतः स्वस्वमार्गं गच्छति । (निष्कृतं) कथंभूतं मार्गं तत्तद्गमनार्थमीश्वरेण (निष्कृतं) निष्पादितम् । (पयो दुहाना०) अवारतो निरन्तरं पयो दुहानाऽनेकरसफलादिभिः प्राणिनः प्रप्रयती । तथा व्रतनी व्रतं स्वकीयअमणादिसत्यनियमं प्रापयन्ती । (सा,प्र०) दाशुपे दानकर्त्रे, वरुणाय श्रेष्टकर्मकारिणे, देवेम्यो विद्वज्वच्यः, हविपा हविद्विन सर्वाणि सुखानि दाशत् ददाति । किं कुर्वती ? प्रज्ञवाणा सर्वप्राणिनां व्यक्तवाण्या हतुभूता सतीयं वर्त्तत इति ॥ २ ॥

भाषार्थ

(या गाँवं०) जिस २ का नाम गाँ कह आय हैं सो २ लोक अपने २ मार्ग में घूमता और पृथिवी अपनी कत्ता में सूर्य्य के चारों ओर गुमती है। अर्थान् परमे-धर ने जिस २ के घूमने के लिये जो २ मार्ग निष्कृत अर्थान् निश्चय किया है उस उस मार्ग में सब लोक बूमते हैं। (पयो दुहाना०) वह गाँ अनेक प्रकार के रस, फल, फूल, तृण और अन्नादि पदार्थों से सब प्राणियों को निरन्तर पूर्ण करती है। तथा अपने २ घूमने के मार्ग में सब लोक सदा घूमते २ नियम ही से प्राप्त हो रहे हैं। (सा प्रह्मवाणा०) जो विद्यादि उत्तम गुणों का देनेवाला परमेश्वर है उसी के जानने के लिये सब जगत् दृष्टान्त है और जो विद्वान् लोग हैं उन को उत्तम पदार्थों के दान से अनेक सुखों को भूमि देती और पृथिवी, सूर्य, वायु और चन्द्रादि गौ ही सब प्राणियों की वाणी का निमित्त भी है।। २।।

त्वं सोम पितृभिः स्रंविदानोऽनु चार्चापृथिवी त्रातंतन्थ। तस्मै त इन्द्रो हविषां विधेम वृषं स्यांम पतिषो रग्रीणाम् ॥ ३॥ ऋ० ऋ० ६। छ० ४। व० १३। मं० ३॥

भाष्यम्

(त्वं सोम॰) श्रम्याभिप्रा ०-त्र्यास्मिन्मन्त्रे चन्द्रलोकः पृथिवीमनुभ्रमतीत्ययं

[#] सुपांसुलुगिति स्त्रेण विवस्वत इति प्राप्ते विवस्वते चेति पदं जायते ।।

विशेषोस्ति । श्रयं सोमश्रन्द्रलोकः पितृभिः पितृवत्पालकेर्गुणैः सह संविदानः सम्यक् ज्ञातः सन् भूमिमनुश्रमति । कदाचित्स्यूर्यपृथिव्योर्मध्येपि श्रमन्सकागच्छतीत्यर्थः । श्रस्यार्थं भाष्यकरणसमये स्पष्टतया वच्यामि । तथा द्यावापृथिवी एजेते
इति मन्त्रवर्णार्था द्यौः सर्य्यः, पृथिवी च श्रमतश्रलत इत्यर्थः । श्रयीत्स्वस्यां
स्वस्यां कद्यायां सर्वे लोका श्रमन्तीति सिद्धम् ।। ३ ।।

इति पृथिञ्यादिलोकभ्रमणविषयः संदेपतः

भाषार्थ

(त्वं सोम॰) इस मन्त्र में यह बात है कि चन्द्रलोक पृथिवी के चारों श्रोर घूमता है। कभी २ सूर्य श्रोर पृथिवी के बीच में भी श्रा जाता है। इस मन्त्र का श्रार्थ श्रच्छी तरह से भाष्य में करेंगे। तथा (द्यावापृथिवी) यह बहुत मन्त्रों में पाठ है कि द्यौ: नाम प्रकाश करने वाले सूर्य श्रादि लोक श्रोर जो प्रकाशरहित पृथिवी श्रादि लोक हैं वे सब श्रपनी २ कत्ता में सदा घूमते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि सब लोक श्रमण करते हैं। ३।।

इति संदोपतः पृथिव्यादिलोकश्रमण्विषयः

अथाकर्षणानुकर्षणविषयः

गृदा ते हर्ग्यता हरी वाब्रुधार्ते दिवे दिवे। आदित विश्वा सुर्व-नानि येमिरे॥१॥ ऋ० अ०६। अ०१। व०६। मं०३॥ भाष्यम्

(यदा ते०) अस्याभिप्रा०-स्र्य्येण सह सर्वेषां लोकानामाकर्षणमस्तीश्वरेण सह स्र्य्यादिलोकानां चेति । हे इन्द्रेश्वर ! वा वायो ! स्र्य्य ! यदा यस्मिन्काले ते हरी आकर्षणप्रकाशनहरणशीलो बलपराक्रमगुणावश्वौ किरणो वा हर्य्यता हर्य्यतौ प्रकाशवन्तावत्यन्तं वर्धमानौ भवतस्ताभ्यां (आदित्) तदनन्तरं (दिवेदिवे) प्रतिदिनं प्रतिच्रणं च ते तव गुणाः प्रकाशाकर्षणादयो (विश्वा) विश्वािम स्वािन सर्वािन सर्वािन सर्वािन सर्वािन सर्वान्त । स्वािन सर्वािन सर्वािन सर्वािन सर्वािन सर्वािन सर्वािन सर्वािन सर्वािन सर्वािन सर्वां स्वां कचां विद्ययेतस्ततो नैव विचलन्तीित ॥ १॥

भाषार्थ

(यदा ते०) इस मन्त्र का श्राभिप्राय यह है कि सब लोकों के साथ सूर्य्य का श्राकर्षण और सूर्य्य श्रादि लोकों के साथ परमेश्वर का श्राकर्षण है। (यदा

माकर्षणानुकर्पणविषयः ॥

ते०) हे इन्द्र परमेश्वर ! आप के अनन्त बल और पराक्रमगुणों से सब संसार का धारण, आकर्षण और पालन होता है। आप के ही सब गुण सूर्व्यादि लोकों को धारण करते हैं। इस कारण से सब लोक अपनी २ कत्ता और स्थान से इधर उधर चलायमान नहीं होते। दूसरा अर्थ—इन्द्र जो वायु, सूर्व्य है इस में ईश्वर के रचे आकर्षण, प्रकाश और बल आदि बड़े २ गुण हैं। उन से सब लोकों का दिन २ और चण २ के प्रति धारण, आकर्षण और प्रकाश होता है। इस हेतु से सब लोक अपनी २ ही कत्ता में चलते रहते हैं, इधर उधर विचल भी नहीं सकते।। १।

युदा ते मार्स्तार्विशस्तुभ्यंमिन्द्र नियेमिरे । श्रादित्ते विख्वा सुव-नानि येमिरे ॥ २॥ ऋ० अ०६। अ०१। व०६। मं०४॥

भाष्यम्

(यदा ते मारुती) श्रस्याभिप्रा० -श्रत्रापि पूर्वमन्त्रवदाकर्षणविद्यास्तीति । हे पूर्वोक्नेन्द्र ! यदा ते तव मारुतीर्मारुत्यो मरणधर्माणो मरुत्प्रधाना वा विशः प्रजास्तुम्यं येमिरे तवाकर्षणधारणनियमं प्राप्तुवान्त तदैव सर्वाणि विश्वानि भुवनानि स्थिति लभन्ते । तथा तवैव गुणेर्नियेमिरे । श्राकर्षणनियमं प्राप्तवन्ति सान्ति । श्रतण्व सर्वाणि भुवनानि यथाकत्तं भ्रमन्ति वसन्ति च ॥ २ ॥

भाषार्थ

(यदा ते मारुती०) श्राभि०-इस मन्त्र में भी श्राकर्पण विद्या है। हे परमेश्वर! श्राप की जो प्रजा, उत्पत्ति स्थिति श्रोर प्रलयधर्मवाली श्रोर जिसमें वायु प्रधान है वह श्राप के श्राकर्षणादि नियमों से तथा सूर्य्वलोक के श्राकर्षण करके भी स्थिर हो रही है। जब इन प्रजाश्रों को श्राप के गुण नियम में रखते हैं तभी मुखन श्रयीत् सब लोक श्रपनी २ कत्ता में त्रमते श्रोर स्थान में बस रहे हैं॥२॥

युदा सूर्यमुमुं दिवि शुक्षं ज्योतिरधारयः। आदित्ते विश्वा भुवे-नानि येमिरे ॥ ३ ॥ ऋ० ऋ०६। ऋ०१। व०६। मं०५॥

भाष्यम्

(यदा सूर्य) श्रामि ० - श्रत्रापि पूर्ववदाभित्रायः । हे परमेश्वराष्टुं सूर्ये भवान् रचितवानस्ति । यद्दिवि द्योतनात्मके त्विय शुक्रमनन्तं सामध्ये ज्योतिः प्रकाशमयं वर्त्तते, तेन त्वं सूर्यादिलोकानधारयो धारितवानसि । (श्रादित्ते) तदनन्तरं (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि श्रुवनानि सूर्यादयो लोका अपि

(येमिरे) तदाकर्षणिनयमेनैव स्थिराणि सन्ति । श्रयीद्यथा सूर्यस्याकर्षणेन पृथिच्या-दयो लोकास्तिष्ठन्ति, तथा परमेश्वरस्याकर्षणेनैव सूर्यादयः सर्वे लोका निय-मेन सह वर्त्तन्त इति ॥ ३ ॥

भाषार्थ

(यदा सूर्यं०) आभ०-इस मन्त्र में भी आकर्षण विचार है। हे परमेश्वर! जब उन सूर्यादि लोकों को आप ने रचा और आप के ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं और आप अपने अनन्त सामर्थ्य से उन का धारण कर रहे हो, इसी कारण से सूर्य और पृथिवी आदि लोकों और अपने स्वरूप को धारण कर रहे हैं। इन सूर्य आदि लोकों का सब लोकों के साथ आकर्षण से धारण होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर सब लोकों का आकर्षण और धारण कर रहा है। ३।।

व्यस्तभ्नाद्रोदंसी मित्रो श्रद्धंतोन्तुर्वावदकुणोज्ज्योतिषा तमः । विचर्मणीव धिषणे अवक्तयदैश्वानुरो विश्वमधन्त वृष्ण्यम् ॥ ४॥ ऋ० अ०४। अ०५। व०१०। मं०३॥

भाष्यम्

(व्यस्तम्नाद्रोदसी०) अभि०-परमेश्वरसूर्यलोकौ सर्वौद्वोकानाकर्षणप्रकाशाम्यां धारयत इति । हे परमेश्वर ! तव सामर्थ्येनैव वैश्वानरः पूर्वोक्तः सूर्य्या-दिलोको रोदसी द्यावाष्ट्रियच्यौ भूमिप्रकाशौ व्यस्तम्नात्स्तम्भितवानस्ति । अतो भवान् मित्र इव सर्वेपां लोकानां व्यवस्थापकोस्ति । अद्भुत आश्चर्यस्वरूपः स सिवतादिलोको ज्योतिषा तमोन्तरकृणोत्तिरोहितं निवारितं तमः करोति । वाव-त्येव धिषणे धारणकत्र्यौ द्यावाष्ट्रियव्यौ धारणाकर्षणेन व्यवत्त्रयत् । विविधतयै-तयोर्वत्तमानं कारयति । कस्मिन्निय चर्मण्याकर्षितानि लोमानीव । यथा त्विच लोमानि स्थितान्याकर्षितानि भवन्ति, तथेव सूर्य्योदिवलाकर्षणेन सर्वे लोकाः स्थापिताः सन्तीति विद्ययम् । अतः किमागतं ? वृष्ण्यं वीर्यवद्विश्वं सर्वे जगच सूर्य्यादिलोको धारपति, सूर्य्यादेधीरणमीश्वरः करोतीति ।। ४ ।।

भाषार्थ

(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) श्राभि०-इस मन्त्र में भी श्राकर्षणिवचार है। हे परमे-श्वर! श्राप के प्रकाश से ही वैश्वानर सूर्य श्रादि लोकों का धारण श्रोर प्रकाश होता है। इस हेतु से सूर्य श्रादि लोक भी श्रापने २ श्राकर्षण से श्रापना श्रोर पृथिवी

आकर्षणानुकर्पणविषयः ॥

आदि लोकों का भी धारण करने में समर्थ होते हैं। इस कारण से आप सब लोकों के परम मित्र और स्थापन करनेवाले हैं, और आप का सामर्थ्य अत्यन्त आश्चर्यरूप है। सो सिवता आदि लोक अपने प्रकाश से अन्धकार को निवृत्त कर देते हैं। तथा प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप इन दोनों लोकों का समुदाय धारण और आकर्षण व्यवहार में वर्तते हैं। इस हेतु से इन से नाना प्रकार का व्यवहार सिद्ध होता है। वह आकर्षण किस प्रकार से हैं कि जैसे त्वचा में लोमों का आकर्षण हो रहा है वैसे ही सूर्य आदि लोकों के आकर्षण के साथ सब लोकों का आकर्षण हो रहा है और परमेश्वर भी इन सूर्य आदि लोकों का आकर्षण कर रहा है।। ४।।

त्राकृष्णेन रर्जमा वर्त्तमानो निवेशयंन्नमृतं मर्त्यं च । हिर्ण्ययेन सर्विता रथेना देवो यांति सुवनानि पर्स्यन् ॥ १ ॥ य० ८० ३३ ॥ मं० ४३ ॥

भाष्यम्

(आकृष्णेन०) आभि०-अत्राप्याकर्षणविद्यास्तीति । सविता परमातमा सूर्यस्तोको वा रजसा सर्वैलोंकैः सहाकृष्णेनाकर्षणगुणेन सह वर्त्तमानोस्ति । कथंभूतेन गुणेन १ हिरण्ययेन ज्योतिर्मयेन । पुनः कथंभूतेन १ रमणानन्दादिन्यवहारसाधकज्ञानतेजोरूपेण रथेन । किं कुर्वन् सन् १ मर्त्य मनुष्यलोकमपृतं सत्यविज्ञानं किरणसमृहं वा स्वस्वकत्तायां निवेशयन्त्यवस्थापयन्सन् । तथा च मर्त्य
पृथिन्यात्मकं लोकं प्रत्यमृतं मोत्तमोषध्यात्मकं नृष्ट्यादिकं रसं च प्रवेशयन्सन्यूर्थों वर्त्तमानोस्ति । स च सूर्यों देवो द्योतनात्मको अवनानि सर्वान् लोकान्धारयति । तथा पश्यन्दर्शयन्सन् रूपादिकं विभक्तं याति प्रापयतीत्यर्थः । अस्मात्पूर्वमन्त्राद् द्युभिरक्रुभिरिति पदानुवर्त्तनात्स्यर्थो द्युभिः सर्वेदिंवसैरकुभिः सर्वाभीरात्रिभिश्वार्थात्सर्वाल्लोकान्प्रतित्त्वणमाकर्षतीति गम्यते । एवं सर्वेषु लोकेष्वात्मिका
स्वास्वाप्याकर्षणशाक्तरस्त्येव । तथानन्ताकर्षणशाक्तिस्तु खलु परमेश्वरेस्तीति
मन्तन्यम् । रजो लोकानां नामास्ति । अत्राद्धिनरुक्तारा यास्काचार्याः । लोका
रजांस्युच्यन्ते ॥ निरु० अ० ४ । खं० १६ ॥ रथो रहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा
स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिँस्तिष्ठतीति वा, रयतेर्वा, रसतेर्वा ॥ निरु० अ०
६ । खं० ११ ॥ विश्वानरस्यादित्यस्य ॥ निरु० अ० १२ । खं० २१ ॥ अतो

रथशब्देन रमणानन्दकरं ज्ञानं तेजो युद्धते । इत्यादयो मन्त्रा वेदेषु धारणाकर्ष- णविधायका बहुवः सन्तीति बोध्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ

(श्राकृष्णेन०) श्राभि०—इस मन्त्र में भी श्राकर्षण विद्या है। सविता जो परमात्मा, वायू श्रीर सूर्य लोक हैं वे सब लोकों के साथ श्राकर्पण, धारण गुण से सहित वर्त्तते हैं। सो हिरण्यय श्रयीत् श्रनन्त बल, ज्ञान श्रौर तेज से सहित (रथेन) त्रानन्दपूर्वक कीड़ा करने के योग्य ज्ञान और तेज से युक्त हैं । इस में परमेश्वर सब जीवों के हृदयों में अमृत अर्थात् सत्य विज्ञान को सदैव प्रकाश करता है। श्रीर सूर्यलोक भी रस श्रादि पदार्थों को मर्ख श्रर्थात् मनुष्य लोक में प्रवेश करता श्रीर सव लोकों को व्यवस्था से श्रपने २ स्थान में रखता है। वैसे ही परमे-श्वर धर्मात्मा ज्ञानी लोगों को अमृतरूप मोत्त देता और सूर्यलोक भी रसयुक्त जो आधि श्रीर वृष्टि का श्रमृतरूप जल को पृथिवी में प्रविष्ट करता है। सो परमेश्वर सत्य श्रमत्य का प्रकाश श्रीर सब लोकों का प्रकाश करके सब को जनाता है। तथा सूर्य-लोक भी रूपादि का विभाग दिखलाता है। इस मन्त्र से पहिले मन्त्र में (युभिर-क्तुभि:) इस पद से यही ऋर्थ श्राता है कि दिन रात ऋर्थान् सब समय में सब लोकों के साथ मूर्यलोक का और मूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण हो रहा है। तथा सब लोकों में ईश्वर ही की रचना से अपना २ आकर्षण है और परमेश्वर की तो त्राकर्षणारूप शाक्त त्राननत है। यहां लोकों का नाम रज है। श्रीर रथ शब्द के अनेक अर्थ हैं। इस कारण से कि जिस से रमण और आनन्द की प्राप्ति होती है उस को रथ कहते हैं। इस विषय में निरुक्त का प्रमाण इसी मन्त्र के भाष्य में लिखा है सो देख लेना । ऐसे धारण श्रीर श्राकर्षणविद्या के सिद्ध करने वाले मन्त्र वेदों में बहुत हैं ॥ १ ॥

इति धारगाकर्षणविषयः संदोपतः

अथ प्रकाश्यप्रकाशकविषयः संक्षेपतः

सूर्येगा चन्द्रादयः प्रकाशिता भवन्तीत्यत्र विषये विचारः

मृत्येनोत्तिभिता भूमिः सम्येणोत्तिभिता गाः । ऋतेनिदित्यास्तिछिति दिवि सोमो अधिश्रितः ॥ १ ॥ सोमैनादित्या बिलनः सोमैन
पृथिवी मही। अथो नर्ज्वत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥२॥ अथर्व॰
कां॰ १४ । अनु॰ १ । मं॰ १ । २ ॥ कः स्विदेकाकी चरित क उ स्विज्जायते पुनः । किथ्रस्विद्धिमस्य भेषुजं किं वा वर्षनं महत् ॥ ३ ॥
सर्व्य एकाकी चरित चन्द्रमा जायते पुनः । ऋगिनाईमस्य भेषुजं
भूमिरावर्षनं महत् ॥ ४ ॥ य॰ अ॰ २३ । मं॰ ६ । १० ॥

भाष्यम्

(सत्ये: नो०) एवामभि०-अत्र चन्द्रपृथिव्यादिलोकानां सूर्यः प्रकाश-कोस्तीति । इयं भूमिः मत्येन नित्यस्वरूपेण ब्रह्मणोत्तभितोर्ध्वमाकाशमध्ये धारि-तास्ति वायुना सूर्येण च। (सूर्य्येण) तथा द्यौः सर्वः सूर्य्येणोत्ताभितो धारितः। (ऋतेन०) कालेन सूर्येण वायुना वाऽऽदित्या द्वादश मासाः किरणास्त्रसरेणवो बलवन्तः सन्तो वा तिष्ठन्ति । (दिवि सोमो त्र्राधिश्रितः) एवं दिवि द्योतनात्मके सुर्य्यप्रकाशे सोमथन्द्रमा त्राधिश्रित त्राश्रितः सन्प्रकाशितो भवति, त्र्रथीचन्द्र-लोकादिषु स्वकीयः प्रकाशो नास्ति । सर्वे चन्द्रादयो लोकाः धर्यप्रकाशेनैव प्रकाशिता भवन्तीति वेद्यम् ॥ १ ॥ (सोमेनादित्या०) सोमेन चन्द्रलोकेन सहा-दित्याः किरणाः संयुज्य ततो निवृत्य च भूमि प्राप्य बलिनो बलं कर्त्तुं शीला भवन्ति, तेपां बलप्रापकशीलत्वात् । तद्यथा । यावन्तो (यावति ?)ऽन्तरिचदेशे सर्य्यप्रकाशस्यावरणं पृथिवी करोति तावति देशेऽधिकं शीतलत्वं भवति । तत्र सर्घ्यकिरगणपतनाभावात्तदभावे चोष्णत्वाभावात्ते बलकारिग्णो बलवन्तो भवन्ति । सोमेन चन्द्रमसः प्रकाशेन सोमाद्यौषध्यादिना च पृथिवी मही बलवती पृष्टा भवति । श्रथो इत्यनन्तरमेषां नत्तत्राखाम्रुपस्ते समीपे चन्द्रमा श्राहितः स्थापितः सन्वर्तत इति विक्केयम् ॥ २ ॥ (कः स्वि०) को द्येकाकी ब्रह्मायडे चरति ? । कोऽत्र स्वेनैव स्वयं प्रकाशितः सन् भवतीति ?। कः पुनः प्रकाशितो जायते ?। हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधं किमस्ति ?। तथा बीजारोपखार्थं महत् चेत्रमिव किमत्र भवतीति ? प्रश्नाश्चत्वारः ॥ ३॥ एपां क्रमेणोत्तराणि । (सूर्य्य एकाकी ः) श्राह्मिन्संसारे यूर्य्य एकाकी चरति, स्वयं प्रकाशमानः सन्नन्यान्सर्वान् लोकान् प्रकाशयित, तस्यव प्रकाशेन चन्द्रमाः एनः प्रकाशितो जायते, निह चन्द्रमिस स्वतः प्रकाशः कश्चिद्स्तीति । श्राग्निर्हमस्य शीतस्य भेषजमौषधमस्तीति । भूमि-महदावपनं वीजारीपणादेरिधकरणं चेत्रं चेति । वेदेष्वेतिद्विपयप्रतिपादका एवंभूता मन्त्रा बहवः सन्ति ॥ ४ ॥

इति प्रकाश्यवकाशकविषयः

भाषार्थ

(सत्येनी०) इन मन्त्रों में यही विषय और उनका यही प्रयोजन है कि लोक दो प्रकार के होते हैं। एक तो प्रकाश करने वाले श्रौर दूसरे वे जो प्रकाश किये जाते हैं । त्र्यर्थात् सत्यस्वरूप परमेश्वर ने ही त्र्यपने सामर्थ्य से सूर्य्य त्रादि सब लोकों को धारण किया है। उसी के मामर्थ्य में मूर्य्यलोक ने भी अन्य लोकों का धारण और प्रकाश किया है। तथा ऋत क्ष अर्थात् काल महीने सूर्य किरण और वायु ने भी भूदम स्थृल असरेगु आदि पदार्थों का यथावन धारण किया है। (दिनि सोमो०) इसी प्रकार दिवि श्रर्थान् सूर्य के प्रकाश में चन्द्रमा प्रकाशित होता है। उसमें जितना प्रकाश है सो सूर्य प्यादि लोक का ही है। अगर ईश्वर का प्रकाश तो सव में है। परन्तु चन्द्र आदि लोकों में अपना प्रकाश नहीं है। किन्तु सूर्य आदि लोकों से ही चन्द्र छोर पृथिज्यादि लोक अकाशित हो रहे हैं।। १ ।। (सोमेना-दित्या०) जब त्रादित्य की किरण चन्द्रमा के माथ युक्त होके उसमे उलट कर भूमि का प्राप्त हो के वलवाली होती हैं तभी वे शीतल भी होती हैं। क्योंकि आकाश के जिस २ देश में सुर्य के प्रकाश को पृथिवी की छाया रोकती है उस २ देश में शीत भी ऋधिक होता है। जिस २ देश में सूर्य की किरण तिरछी पड़ती है उस २ देश में गर्मी भी कमती होती है। फिर गर्मी के कम होने और शीतलता के अधिक होने से सब मूर्त्तिमान् पदार्थों के परमाणु जम जाते हैं । उन को जमने से पुष्टि होती है । श्रीर जब उन के बीच में सर्घ्य की तेजरूप किरण पड़ती है तब उन में से भाफ

^{*} तथा ऋत अर्थात् काल ने, मही ने सूर्य ने किरण श्रीर वायु ने भी यथायोग्य श्रीर सूचम स्थूल त्रसरेणु श्रादि पदार्थी का घारण किया है। (हस्तालिखित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ऐसा पाठ है)

उठती है। उनके योग से किरण भी बलवाली होती हैं। जैसे जल में सूर्य का प्रितिबिम्ब अत्यन्त चमकता है अरे चन्द्रमा के प्रकाश और वायु से सोमलता आदि अरेपियां भी पुष्ट होती हैं और उन से पृथिवी पुष्ट होती है। इसीलिये ईश्वर ने नच्चत्र लोकों के समीप चन्द्रमा को स्थापित किया है।। २।। (कः स्वि०) इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं। उन के वीच में से पहिला (प्रश्न) कौन एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपने प्रकाश से प्रकाशवाला है? (दूसरा)कोन दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होता है? (तीसरा) शीत का आंपध क्या है? और (चौथा) कौन बड़ा चेत्र अर्थात् स्थूलपदार्थ रखने का स्थान है?।। ३।। इन चारों प्रश्नों का कम से उत्तर देते हैं—(सूर्य एकाकी०)। (१) इस संसार में सूर्य्य ही एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपनी ही कील पर घूमता है। तथा प्रकाशस्वरूप होकर सव लोकों का प्रकाश करने वाला है। (२) उसी सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है। (३) शीत का औपध अगिन है और चाथा यह है पृथिवी साकार चीजों के रखने का स्थान तथा सब बीज थोने का बड़ा खेत है। (४) वेदों में इस विपय के सिद्ध करने वाले मन्त्र बहुत हैं। उन में से यहां एकदेशमात्र लिख दिया है। वेदमाप्य में सब विपय विम्तारपूर्वक आ जावेंगे।। ४।।

इति संसपतः प्रकाश्यप्रकाशकविषयः

अथ गणितविद्याविषयः

एकी च में तिस्रश्चं में तिस्रश्चं में पञ्चं च में पञ्चं च में स्प्र चं में स्प्र चं में नवं च में नवं च में एकदिश च में एकदिश च में एकदिश च में स्प्रदेश च में नवंदश च में एकविश्शतिश्च में एकविश्शतिश्च में पञ्चंविश्शतिश्च में पञ्चंविश्शतिश्च में स्प्रविश्यतिश्च में स्प्रविश्यतिश्च में स्प्रविश्यतिश्च में नवंविश्यतिश्च में स्प्रविश्यतिश्च में स्पर्विश्यतिश्च से स्पर्विश्यतिश्व से से स्पर्विश्यतिश्च से स्प

शितश्च मे चतुर्वि शितश्च मेऽष्टावि छंशितश्च मेऽष्टावि छंशितश्च मे द्वा-त्रि छंश च मे षद् त्रि छंश च च मे षद्त्रि छंश च च च चत्वारि छंश च चे मे चत्वा-रि छंश च चे मे चतुंश्चत्वारि छंश च च मे च तुंश्च त्वारि छंश च च मेऽष्टा चेत्वारि-छंश च च मे च जो ने क लपन्ताम् ॥ २॥ य० श्र० १८ । मं० २४ । २४ ॥

भाष्यम्

श्रभि०-श्रनयोर्मन्त्रयोर्मध्ये खल्वीश्वरेणाङ्कवीजरेखागणितं प्रकाशितमिति । (एका०) एकार्थस्य या वाचिका संख्यास्ति (१) सैकेन युक्ता द्वौ भवतः (२) यत्र द्वावेकेन युक्तौ सा त्रित्ववाचिका (३) ॥ १ ॥ द्वाम्यां द्वौ युक्तौ चत्वारः (४) एवं तिमृभिस्तित्वसंख्यायुक्ता षट् (६) एवमेव चतस्रश्च मे पञ्च च मे इत्यादिषु परस्परं संयोगादिकिययाऽनेकविधाङ्कीर्गणितविद्या सिध्यति। श्रन्य-त्खल्वत्रानेकचकाराणां पाठान्मनुष्यैरनेकविधा गणितविद्याः सन्तीति वेद्यम् । सेयं गणितविद्या वेदाङ्गे ज्योतिषशास्त्रे प्रसिद्धास्त्यतो नात्र लिख्यते । परन्त्वीद्या मन्त्रा ज्योतिषशास्त्रस्थगणितविद्याया मृत्वमिति विद्यायते । इयमङ्कसंख्या निश्चिनतेषु संख्यातपदार्थेषु प्रवक्तते । ये चाज्ञातसंख्याः पदार्थास्तेषां विज्ञानार्थे वीजगिणितं प्रवक्तते । तद्पि विधानमेका चेति । श्रे—कै इत्यादिसंकतेनैतन्मंत्रादिम्यो वीजगिणितं निःसरतीत्यवधेयम् ॥ २ ॥

"श्रेग्न श्रो याँहि वीतये गृणाँनो हर्व्यदातये। निहोता सित्स बहिषि "॥१॥ साम० छं० । प्र०१। खं०१। मं०१॥

यथैका क्रिया द्वचर्थकरी प्रसिद्धेतिन्यायेन म्वरसङ्केताङ्केबीजगणितमपि साध्यत इति बोध्यम्, एवं गणिताविद्याया रेखागणितं तृतीयो मागः सोप्य-त्रोच्यते।

भाषार्थ

(एका च मे०) इन मन्त्रों में यही प्रयोजन है कि श्रद्ध, बीज श्रीर रेखा भेद से जो तीन प्रकार की गिएतिविद्या सिद्ध की है, उन में से प्रथम श्रद्ध जो संख्या है (१), सो दो बार गएने से दो की वाचक होती है। जैसे १+१=२। ऐसे ही एक के श्रागे एक, तथा एक के श्रागे दो, वा दो के श्रागे एक श्राद्धि जोड़ने से भी समम लेना। इसी प्रकार एक के साथ तीन जोड़ने से चार (४), तथा तीन को

तीन (३) के साथ जोड़ने से (६), श्रथवा तीन को तीन से गुएने से ३ 🗙 ३=६ हुए।। १।। इसी प्रकार चार के साथ चार, पांच के साथ पांच, छ: के साथ छ:, श्राठ के साथ श्राठ इत्यादि जोड़ने वा गुएने तथा सब मन्त्रों के श्राशय को फैलाने से सब गिएतविद्या निकलती है। जैसे पांच के साथ पांच (५५), वैसे ही पांच २ छ: २ (४४) (६६) इत्यादि जान लेना चाहिये । ऐसे ही इन मन्त्रों के अर्थी को आगे योजना करने से अङ्कों से अनेक प्रकार की गणितविद्या सिद्ध होती है। क्योंिक इन मन्त्रों के ऋर्थ और अनेक प्रकार के प्रयोगों से मनुष्यों को अनेक प्रकार की गिएतिविद्या श्रवश्य जाननी चाहिये। श्रौर जो कि वेदों का श्रङ्ग ज्योतिषशास्त्र कहाता है उसमें भी इसी प्रकार के मंत्रों के त्राभिप्राय से गिएतविद्या सिद्ध की है। श्रौर श्रङ्कों से जो गिएतविद्या निकलती है वह निश्चित श्रौर श्रसंख्यात पदार्थी में युक्त होती है। श्रीर श्रज्ञात पदार्थों की संख्या जानने के लिये जो बीजगिएत होता है सो भी (एका च मे०) इत्यादि मन्त्रों ही से सिद्ध होता है। (र्श्रं+कें) (ऋं-कं) (कंं-ऋं) इत्यादि सङ्केत से निकलता हैं। यह भी वेदों ही से ऋषि मुनियों ने निकाला है। श्रीर इसी प्रकार मे तीसरा भाग जो रेखागिएत है सो भी वेदों ही से सिद्ध होता है ।। २ ।। (श्रेंग्न श्रा०) इस मन्त्र के संकेतों से भी बीजगिित निकलता है।

इयं वेदिः परे अन्तः पृथिव्या अयं युक्तो भुवंनस्य नाभिः। अयथभोमो वृष्णो अश्वंस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥ ३॥ य० अ० २३। मं० ६२ ॥ कासीत् युमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत्। अन्दः किमासीत् प्रजेगं किमुक्यं यद्देवा देवमर्यजन्त विश्वं ॥ ४॥ ऋ० अ०८। अ० ७। व० १८। मं० ३॥

भाष्यम्

(इयं वेदिः) अभिप्रा०—अत्र मन्त्रयो रेखागणितं प्रकाश्यत इति । इयं या वेदिस्त्रिकोणाः, चतुरस्राः, सेनाकाराः, वर्तुलाकारादियुक्तां क्रियतेऽस्या वेदेराकृत्या रेखागणितोपदेशलचणं विज्ञायते । एवं पृथिव्याः परोऽन्तो यो भागोऽर्थात्सर्वतः सत्रवेष्टनवदस्ति स परिधिरित्युच्यते । यश्रायं यज्ञो हि संगमनीयो रेखागणिते मध्यो व्यासाख्यो मध्यरेखाख्यश्च सोयं भ्रवनस्य भूगोलस्य ब्रह्माएडस्य वा नाभि-

रस्ति । (अय्थं सो०) सोमलोकोप्येवमेव परिध्यादियुक्नोस्ति । (वृष्णो अश्व०) वृष्टिकर्तुः सूर्यस्याग्नेर्वायोर्वा वेगहेतोरपि परिध्यादिकं तथैवास्ति । (रेतः) तेषां वीर्यमोपिधरूपेण सामर्थ्यार्थ विस्तृतमप्यस्तीति वेद्यम् । (ब्रह्मायं वा०) यद् ब्रह्मास्ति तद्वाएयाः (परमं व्योम) ऋर्थात्परिधिरूपेणान्तर्वहिः स्थितमस्ति ॥३॥ (कासीत् प्रमा) यथार्थज्ञानं यथार्थज्ञानवान् तत्साधिका बुद्धिः कासीत् सर्वस्येति शेषः ?। एवम् (प्रतिमा) प्रतिमीयतेऽनया सा प्रतिमा, यया परिमाणं क्रियते सा कासीत् ?। एवमेवास्य (निदानम्) कारणं किमस्ति ?। त्र्याज्यम्) ज्ञातव्यं घृतवत्सारभूतं चास्मिन् जगति किमासीत्, सर्वदुःखनिवारकमानन्देन स्निग्धं सार-भूतं च १। (परिधिः क०) तथास्य सर्वस्य विश्वस्य पृष्ठावरणम् (क त्र्यासीत्) १। गोलस्य पदार्थस्योपिर सर्वतः सूत्रवेष्टनं कृत्वा यावती रेखा लभ्येत स परिधिरि-त्युच्यते । (छन्दः०) स्वच्छन्दं स्वतन्त्रं वस्तु (किमासीत्) ? । (प्रडगं) ग्रहोक्थं स्तोतव्यं (किमासीत्) इति प्रश्नाः । एषाम्रुत्तराणि । (यदेवादे०) यत् यं देवं परमेश्वरं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसः (त्र्ययजन्त) समपूजयन्त, पूजयन्ति, पूजायिष्यन्ति च, स एव सर्वस्य (प्रमा) यथार्थतया ज्ञातास्ति (प्रतिमा) परि-मांगकर्ता । एवमेवाग्रेपि पूर्वोक्तोर्थो योजनीयः । अत्रापि परिधिशब्देन रेखागणि-तोपदेशलचर्णं विज्ञायते । सेयं विद्या ज्योतिपशास्त्रे विस्तरश उक्नास्ति । एवमेत-द्विषयप्रतिपादका ऋषि वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति ।

इति संज्ञेपता गणितविद्याविषयः

भाषार्थ

(इयं वेदिः) श्रिभिप्रा०-इन मन्त्रों में रेखागांशित का प्रकाश किया है। क्योंकि वेदी की रचना में रेखागांशित का भी उपदेश है। जैसे तिकोन, चौकोन, सेनपत्ती के श्राकार श्रीर गोल श्रादि जो वेदी का श्राकार किया जाता है सो श्राय्यों ने रेखागिशित ही का दृष्टान्त माना था। क्योंकि (परो श्रन्तः पृ०) पृथिवी का जो चारों श्रोर घेरा है उस को परिधि श्रीर ऊपर से श्रन्त तक जो पृथिवी की रेखा है उस को व्यास कहते हैं। इसी प्रकार से इन मन्त्रों में श्रादि, मध्य श्रीर श्रन्त श्रादि रेखाश्रों को भी जानना चाहिये श्रीर इसी रीति से तिर्थक् विषुवत् रेखा श्रादि भी निकलती हैं।। ३।। (कासीत्प्र०) श्रश्यात् यथार्थज्ञान क्या है १ (प्रतिमा) जिससे पदार्थों का तोल किया जाय सो क्या चीज है १ (निदानम्) श्रर्थात् कारण

जिससे कार्य उत्पन्न होता है वह क्या चीज है ? (श्राज्यं) जगत् में जानने के योग्य सारभूत क्या है ? (परिधिः०) परिधि किसको कहते हैं ? (छन्दः) स्वतन्त्र वस्तु क्या है ? (प्रड०) प्रयोग और शब्दों से स्तुति करने के योग्य क्या है ? इन सात प्रश्नों का उत्तर यथावत् दिया जाता है । (यहेवा देव०) जिसको सब विद्वान् लोग पूजते हैं वही परमेश्वर प्रमा श्रादि नाम वाला है । इन मन्त्रों में भी प्रमा और परिधि श्रादि शब्दों से रेखागिणत साधने का उपदेश परमात्मा ने किया है । सो यह तीन प्रकार की गाणितिविद्या श्राय्यों ने वेदों से ही सिद्ध की है और इसी श्रार्थावर्त्त देश से सर्वत्र भूगोल में गई है ।

इति संदोपतो गणितविद्याविषयः

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणोपासना-विद्याविषयः

स्तुतिविषयस्तु यो भूतं चेत्यारभ्योक्नो, वच्यते च । अरथेदानीं प्रार्थनाविषय उच्यते ।

तेजों मि तेजो मियं घेहि वीर्घ्यमिस वीर्ग्य मिय घेहि बर्लमिमि वलं मियं घेहि। श्रोजोऽस्योजो मियं घेहि मुन्युरेसि मुन्युं मियं घेहि सहोऽिम सहो मियं घेहि॥१॥ य० अ०१६ । म०६॥ मग्रीदिमिन्द्रं हिन्द्र्यं देघात्वस्मान् रायो मुघवानः सचन्ताम् । अस्मार्कथंसन्त्वाशिषः मृत्या नः सन्त्वाशिषः ॥२॥ य० अ०२ । मं०१० ॥ यां मेघां देवगुणाः पितरंश्चोपासंते । तया माम्य मेघयाग्ने मेघाविनं कुरु स्वाह्रं ॥३॥ य० अ०३२। मं०१४॥

भाष्यम्

श्रामि - - तेजोसीत्यादिमन्त्रेषु परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनादिविषयाः प्रकारय-न्त इति बोध्यम् । (तेजोसि) हे परमेश्वर ! त्वं वीर्य्यमस्यनन्तिवद्यादिगुर्णैः प्रकाशमयोसि, मय्यप्यसंख्यातं तेजो विज्ञानं धेहि । (वीर्य्यमासि) हे परमेश्वर! त्वं वीर्यमस्यनन्तपराक्रमवानासि, कृपया मय्यपि श्वरीरबुद्धिशौर्य्यस्फूर्त्त्यादिवीर्य्य

पराक्रमं स्थिरं धारय । (बलम०) हे महाबलेश्वर ! त्वमनन्तबलमासि, मय्य-प्यनुग्रहत उत्तमं बलं धेहि स्थापय । (श्रोजो०) हे परमेश्वर ! त्वमोजोसि, मय्यप्योजः सत्यं विद्यावलं घेहि । (मन्युरासि०) हे परमेश्वर ! त्वं मन्युर्दुष्टा-न्प्रति कोधकृदास, मय्यपि स्वसत्तया दुष्टान्प्रति मन्युं धेहि। (सहोसि॰) सहनशीलेश्वर ! त्वं सहोसि, मय्यपि सुखदुःखयुद्धादिसहनं घेहि । एवं कृपयै-तदादिश्चभान्गुणान्मह्यं देहीत्वर्थः ॥ १ ॥ (मयीदामिन्द्र०) हे इन्द्र परमैश्वर्य-वन् परमात्मन् ! माये मदात्मानि श्रोत्रादिकं मनश्र सर्वोत्तमं भवान् दधातु । तथाऽस्मांश्र पोषयतु । अर्थात् सर्वोत्तमे पदार्थैः सह वर्तमानानस्मान्सदा कृपया करोतु पालयतु च। (अस्मान् रायो०) तथा नोस्मभ्यं मधं परमं विज्ञानादिधनं विद्यते यस्मिन् स मघवा, भवान् स परमोत्तमं राज्यादिधनमस्मदर्थं दधातु। (सचन्तां ०) सचतां तत्र चास्मान् समवेतान्करोतु । तथा भवन्त उत्तमेषु गुणेषु सचन्तां समवेता भवन्त्वितीश्वराऽऽज्ञास्ति (श्रस्माकः स०) तथा हे भगवन् ! त्वत्कृपयाऽस्माकं सर्वा त्र्याशिष इच्छाः सर्वदा सत्या भवन्तु, मा काश्चिद-स्माकं चक्रवर्त्तिराज्यानुशासनादय त्र्याशिष इच्छा मोघा भवेयुः ॥ २ ॥ (याम्मेधां०) हे अग्ने परमेश्वर ! परमोत्तमया मेधया धारणावत्या धिया बुद्धचा सह (मा) मां मेधाविनं सर्वदा कुरु । का मेधेत्युच्यते । (देवगणाः) विद्व-त्समूहाः, पितरो विज्ञानिनश्च याम्रुपासते, (तया०) तया मेधया (ऋच) वर्त्तमानादिने मां सर्वदा युक्तं कुरु संपादय।(स्वाहा) स्त्रत्र स्वाहाशब्दार्थे प्रमाणं निरुक्तकारा आहुः । स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा, स्वा वागाहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा। तासामेषा भवति ॥ निरु० प्रा० ८ । खं० २० ॥ स्वाहाशब्दस्यायमर्थः । (सु श्राहेति वा) (सु) सुष्ठ कोमलं मधुरं कल्याणकरं प्रियं वचनं सर्वैर्मनुष्यैः सदा वक्कव्यं, (स्वावागाहेति वा) या ज्ञानमध्ये खकीया वाग्वर्त्तते सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वा-च्यम् । (स्वं प्राहेति वा) स्वं स्वकीयपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यं न परपदार्थ प्रति चेति । (स्वाहुतं इविर्फ़ीहोतीति वा) सुष्ठरीत्या संस्कृत्य २ इविः सदा होतव्यमिति स्वाहाशब्दपर्य्यायार्थाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ

अब गिर्णतिवद्या विषय के पश्चात् तेजोसीत्यादि मन्त्रों में केवल ईश्वर की प्रार्थना, याचना, समर्पण श्रीर उपासनाविषय हैं। सो श्रागे लिखा जाता है। परन्तु जानना

चाहिये कि स्तुतिविषय तो (यो भूतं च०) इत्यादि मन्त्रों में कुछ २ लिख दिया है श्रीर आगे भी कुछ लिखेंगे। यहां पहिले प्रार्थनाविषय लिखते हैं। (तेजोऽसि॰)। श्रामीत है परमेश्वर ! त्र्याप प्रकाशरूप हैं, मेरे हृद्रय में भी कृपा से विज्ञानरूप प्रकाश कीजिये। (विर्ध्यमिसि०) हे जगदीश्वर ! श्राप श्रनन्तपराक्रम वाले हैं, मुक्त को भी पूर्ण पराक्रम दीजिये। (बलमिल) हे अनन्त बलवाले महेश्वर ! आप अपने अनुप्रह से मुक्तको भी शरीर श्रीर श्रात्मा में पूर्ण बल दीजिये। (श्रोजो०) हे सर्वशिक्तमन ! श्राप सब सामर्थ्य के निवासस्थान हैं, श्रपनी कहुणा से यथोचित सामर्थ्य का निवासस्थान मुक्तको भी कीजिये। (मन्युराधि०) हं दुष्टों पर क्रोध करने हारे ! आप दुष्ट कामों और दुष्ट जीवों पर कोध करने का स्वभाव मुक्क में भी रिखये। (सहोसि॰) हे सब के सहन करनेहारे ईश्वर ! श्राप जैसे पृथिवी श्रादि लोकों के धारण त्रार नास्तिकों के दुष्टन्यवहारों को सहते हैं वैसे ही सुख, दु:ख, हानि, लाभ, सरदी, गरमी, भूख, प्यास श्रीर युद्ध श्रादि का सहने वाला मुम को भी कीजिये। त्र्रार्थात् सब शुभगुण मुक्त को देके त्राशुभ गुणों से सदा त्रालग राखि-ये ।। १ ।। (मर्यादमिन्द्र०) हे उत्तम ऐरवर्ययुक्त परमेश्वर ! श्राप श्रपनी कृपा से श्रोत्र आदि उत्तम इन्द्रिय और श्रेष्ठ स्वभाव वाले मन को मुक्त में स्थिर कीजिये । अर्थात हम को उत्तम गुण श्रौर पदार्थों के सहित सब दिन के लिये कीजिये। (श्रास्मान् रा०) हे परमधन वाले ईश्वर ! श्राप उत्तम राज्य श्रादि धनवाले हम को सदा के लिये कीजिये । (सचन्तां०) मनुख्यों के लिये ईश्वर की यह श्राज्ञा है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग सब काल में सब प्रकार से उत्तम गुणों का प्रहण श्रीर उत्तम ही कमीं का सेवन सदा करते रहो । (श्रस्माक अस०) हे भगवन् ! श्रापकी कुपा से हम लोगों की सब इच्छा सर्वदा सत्य ही होती रहे, तथा सदा सत्य ही कर्म करने की इच्छा हो, किन्तु चक्रवर्ती राज्य त्र्यादि बड़े २ काम करने की योग्यता हमारे बीच में स्थिर कीजिये ।। २ ।। (याम्मेधाम्०) इस मन्त्र का यह श्राभिप्राय है कि हे परमात्मन ! त्राप त्रापनी कृपा से, जो अत्यन्त उत्तम सत्यविद्यादि शुभगु-णों को धारण करने के योग्य बुद्धि है, उस से युक्त हम लोगों को कीजिय, कि जिस के प्रताप से देव ऋथीत विद्वान और पितर ऋथीत ज्ञानी होके हम लोग ऋ।प की उपासना सब दिन करते रहें । (स्वाहा०) इस शब्द का श्रर्थ निरुक्तकार यास्कमु-निजी ने अपनेक प्रकार से कहा है। सो लिखते हैं, कि (सु आहेति वा) सब

मनुष्यों को अच्छा, मीठा, कल्याए करने वाला श्रौर प्रिय वचन सदा बोलना चाहिये। (स्वा वागाहोति वा) अर्थात् मनुष्यों को यह निश्चय करके जानना चाहिये
कि जैसी बात उन के ज्ञान के बीच में वर्तमान हो जीम से भी सदा वैसा ही बोलें,
उससे विपरीत नहीं। (स्वं प्राहेति वा०) सब मनुष्य अपने ही पदार्थ को अपना
कहें, दूसरे के पदार्थ को कभी नहीं। अर्थात् जितना २ धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उनको
पदार्थ प्राप्त हो उतने ही में सदा सन्तोष करें। (स्वाहुतं ह०) अर्थात् सर्व दिन
अच्छी प्रकार सुगन्धादि द्रव्यों का संस्कार करके सब जगत् के उपकार करने वाले
होम को किया करें। श्रौर स्वाहा शब्द का यह भी श्रथ है कि सब दिन मिध्यावाद
को छोड़ के सत्य ही बोलना चाहिये।। ३।।

स्थिरा वः मन्त्वायुंधा पराणुदें वीळ उत प्रतिष्कभें। युष्माकंमस्तु तिविंदी पनीयमी मा मर्त्यम्य मायिनेः॥ ४॥ ऋ० ऋ०१। ऋ०
३। व०१८। मं०२॥ इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व ख्रुत्राये
पिन्वस्व द्यावांष्टिथिविभ्यां पिन्वस्व। धर्मानि सुधर्मा मन्यस्मे नृम्णानि
धारय ब्रह्मे धारय चत्रं धारय विशे धारय ॥ ४॥ य० ६० ३८।
मं०१४। यज्जात्रेतो दूरमुदैति दैवं तद्धे सुप्तस्य तथ्येवैति । दूरंगमं
द्योतिंद्यां ज्योतिरेकं तन्मे मनेः शिवसंकल्पमस्तु॥ ६॥ य० ऋ०
३४। मं०१॥वाजश्च मे प्रस्वस्यं मे प्रयंतिरच मे प्रसित्तरच मे धीतिश्चं मे ऋतुंश्च मे०।

भाष्यम्

(स्थरा वः) अभि ० — ईश्वरी जीवेभ्य आशीर्ददातीति विश्वेयम् । हे मनुष्याः ! वो युष्माकं (आयुधा) आयुधान्याग्नेयास्त्राद्दीनि, शतद्दीश्वशुण्डीधनुर्वाणास्यादीनि शस्त्राणि च, (स्थिरा) स्थिराणि मदनुग्रहेण सन्तु । (पराणुदे) दुष्टानां शत्रुणां पराजयाय युष्माकं विजयाय च सन्तु । तथा (वीळू) अत्यन्तद्दहानि प्रशंसितानि च । (उत) एवं शत्रुसेनाया आपि (प्रतिष्कमे) प्रतिष्टम्भनाय पराङ्गुखतया पराजयकरणाय च सन्तु । तथा (युष्माकमस्तु तिविषा) युष्माकं तिविषी सेनाऽत्यन्तप्रशंसनीया वस्त चास्तु, येन युष्माकं चक्रवितिराज्यं स्थिरं स्याद्युष्टकर्मकारिणां युष्मद्विरोधिनां शत्रुणां पराजयश्च सदा भवेत्, (मा मर्त्तस्य मा०) परन्त्वयमाशीर्वादः सत्यकमीनुष्टानिभ्यो हि ददामि । किन्तु

मायिनोऽन्यायकारिगो मर्त्यस्य मनुष्यस्य च कदाचिन् मास्तु । श्रर्थाकेव दुष्टकर्म-कारिम्यो मनुष्येम्योऽहमाशीर्वादं कदाचिद्दामीत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥ (इपे पिन्व-स्व०) हे भगवन् ! इपे उत्तमेच्छायै, परमोत्कृष्टायान्नाय, चास्पान् त्वं पिन्वस्व, स्वतन्त्रतया सदैव पुष्टिमतः प्रसन्नान् कुरु, (ऊर्जे॰) वेदविद्याविज्ञानग्रहणाय परमप्रयत्नकारिणो ब्राह्मणवर्णयोग्यान् कृत्वा सदा पिन्वस्व, दृढोत्साहयुक्नानस्मान् कुरु, (चत्रा०) चत्राय साम्राज्याय पिन्वस्व, परमवीर[व]तः चत्रियस्वभावयुक्तान् चक्रवर्त्तिराज्यसहितानस्मान् कुरु, (द्यावापृ०) एवं यथा द्यावापृथिवीम्यां सूर्य्या-ग्निभूम्यादिम्यः पदार्थेम्यः सर्वजगते प्रकाशोपकारौ भवतः, तथैव कलाकौशल-यानचालनादिविद्यां गृहीत्वा सर्वमनुष्योपकारं वयं क्रुर्मः, एतदर्थमस्मान् पिन्वस्वो-त्तमप्रयत्नवतः कुरु । (धर्मासि०) हे सुधर्म परमेश्वर ! त्वं धर्मासि न्यायकार्यासि, त्र्यस्मानिप न्यायधर्मयुक्कान् कुरु । (त्र्रामेनि०) हे सर्वहितकारकेश्वर ! यथा त्वम-मेनिर्निर्वेरोसि तथाऽस्मानपि सर्विमित्रान्निर्वेरान् कुरु । यथा (त्र्यस्म) त्र्यस्मदर्थ (नृम्गानि) कृपया सुराज्यसुनियमसुरत्नादीनि धारय । एवमेवास्माकं (ब्रह्म०) वेदिनिद्यां ब्राह्मणवर्णं च धारय, (चत्रं०) राज्यं चत्रियवर्णं च धारय, (विशम्०) वैश्यवर्णं प्रजां च धारय । ऋर्थात्सर्वोत्तमान् गुणानस्मान्निष्टान् कुर्विति प्रार्थ्यते याच्यते च भवान्, तस्मात् सर्वामस्मिद्दिच्द्रां सम्पूर्णी संपाद्यति ॥ ४ ॥ (यज्जा-त्रतो द्०) यन् मनो जाग्रतो मनुष्यस्य दूरमुदैति, सर्वेषामिन्द्रियाणामुपरि वर्त्तमा-नत्वादिधिष्ठातृत्वेन व्याप्नोति, (ईवम्) ज्ञानादिदिव्यगुण्युक्नं, (तदु०) तत्, उ इति वितर्के, सुप्तस्य पुरुपस्य (तथैव) तेनैव प्रकारेण स्वप्ने दिव्यपदार्थद्रष्टृ (एति) प्राप्नोति, एवं सुपुप्तौ च दिन्यानन्दयुक्ततां चैति । तथा (दूरंगमम्) अर्थाद्दरगमनशीलमस्ति, (ज्योतिषां ज्योति०) ज्योतिषामिन्द्रियाणां सूर्यादीनां च ज्योतिः सर्वपदार्थप्रकाशकं (एकम्) असहायं यन्मनोस्ति, हे ईश्वर ! भवत्कु-पया, (तन्मे॰) तत्, मे मम, मनो मननशीलं सत्, शिवसंकल्पं कल्याणेष्टधर्म-शुभगुणित्रयमस्तु ॥ ६ ॥ एवमेव वाजश्र म इत्यष्टादशाध्यायस्थैर्मन्त्रैः सर्वस्वस-मर्पणं परमेखराय कर्त्तव्यामिति वेदे विहितम् । अतः परमोत्तमपदार्थं मौचमारभ्या-श्रपानादिपर्यन्तमीश्वराद्याचितव्यमिति सिद्धम् ।

भाषार्थ

(स्थिरा वः ०) इस मन्त्र में ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि है मनुष्यो ! तुम लोग सब काल में उत्तम बलवाले हो । किन्तु तुम्हारे (आयुधा)

अर्थात् आग्नेयादि अस और (शतन्नी) तोप, (भुशुन्डी) बन्दृक, धनुष्, बागा अौर तलवार आदि शस्त्र सब स्थिर हों। तथा (परागुदे) मेरी कृपा से तुम्हारे श्रम्भ श्रीर शस्त्र सब दुष्ट शत्रुश्रों के पराजय करने के योग्य होवें। (वीळ्) तथा वे अत्यन्त दृढ़ और प्रशंसा करने के योग्य होवें। (उत प्रतिष्कभे०) अर्थात् तुम्हारे श्रख श्रौर शख सब दुष्ट शतुश्रों की सेना के वेग थांभने के लिये प्रवल हों। तथा (युष्माकमस्तु त०) हे मनुष्यो ! तुम्हारी (तिवषी०) अर्थात् सेना अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हो । जिससे तुम्हारा श्राखण्डित वल श्रीर चक्रवर्त्ति राज्य स्थिर हो-कर दुष्ट शत्रुश्चों का सदा पराजय होता रहे। (मा मर्त्यस्य०) परन्तु यह मेरा श्राशीर्वाद केवल धर्मात्मा, न्यायकारी श्रीर श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये हैं। श्रीर जो (मायि०) श्रर्थात् कपटी, छली, श्रन्यायकारी श्रीर दुष्ट मनुष्य हैं उन के लिये नहीं। किन्तु ऐसे मनुष्यों का तो सदा पराजय ही होता रहेगा। इसलिये तुम लोग सदा धर्मकार्यों ही को करते रहो ॥ ४ ॥ (इषे पिन्वस्व ०) हे भगवन् ! (इषे) हमारी शुभ कर्म करने ही की इच्छ। हो त्र्यौर हमारे शरीरों को उत्तम श्रक्न से सदा पुष्टियुक्त रिखये। (ऊर्जे) श्रर्थात् श्रपनी कृपा से हम को सदा उत्तम पराक्रम-युक्त और दृढ़ प्रयत्न वाले कीजिये। (ब्रह्मणे०) सत्यशास्त्र श्रर्थात् वेदविद्या के पढ़ने पढ़ाने और उससे यथावत उपकार लेने में हम को श्रत्यन्त समर्थ कीजिये, श्रर्थात जिससे हम लोग उत्तम विद्यादि गुणों श्रौर कर्मों करके ब्राह्मणवर्ण हों। (ज्ञत्राय०) हे परमेश्वर ! ऋापके ऋनुप्रह से हम लोग चक्रवर्त्तराज्य श्रौर शरबीर पुरुषों की सेना से युक्त हों कि चात्रियवर्ण के ऋधिकारी हम को कीजिये। (द्यावापु०) जैसे पृथिवी, सूर्य, ऋग्नि, जल और वायु ऋादि पदार्थों से सब जगत् का प्र-काश और उपकार होता है वैसे ही कला, कौशल, विमान आदि यान चलाने के लिये हम को उत्तम सुखसाहित कीजिये, कि जिससे हम लोग सब मुध्टि के उपकार करने वाले हों। (धर्मासि०) हे सुधर्मन् न्याय करनेहारे ईश्वर ! आप न्यायकारी हैं वैसे इम को भी न्यायकारी कीजिये। (अमे०) हे भगवन् ! जैसे आप निर्वेर होके सब से वर्त्तते हो वैसे ही सब से वैर रहित हम को भी कीजिये। (श्रास्मे०) हे परमका**ब**िएक ! हमारे लिये (नृम्णानि) उत्तम राज्य, उत्तम धन श्रीर शुभगुण दीजिये। (ब्रह्म०) हे परमेश्वर आप ब्राह्मणों को हमारे बीच में उत्तमविद्यायुक्त कीजिये। (चत्रम्०) हम को अत्यन्त चतुर, शुरक्षीर श्रीर चत्रियवर्ण का श्रिधिकारी कीजिये। (विशम्०) त्रभीत् वैश्यवर्ण और हमारी प्रजा का रज्ञण सदा कीजिये, कि जिससे हम शुभगुण

वाले होकर अत्यन्त पुरुषार्थी हों ॥ १ ॥ (यज्ञायतो०) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! जैसे जाप्रत् अवस्था में मेरा मन दूर २ घूमने वाला सब इन्द्रियों का स्वामी तथा (दैवम्०) ज्ञान आदि दिव्यगुण वाला और प्रकाशस्वरूप रहता है वैसे ही (तदुसु०) निद्रा अवस्था में भी शुद्ध और आनन्दयुक्त रहे । (ज्योतिषां०) जो प्रकाश का भी प्रकाश करनेवाला और एक है (तन्मे०) हे परमेश्वर ! ऐसा जो मेरा मन है सां आप की कृपा से (शिवस०) कल्याण करनेवाला और शुद्धस्वभावयुक्त हो, जिससे अधमकामों में कभी प्रवृत्त न हो ॥ ६ ॥ इसी प्रकार से (वाजश्च मे०) इत्यादि शुक्त यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय में मन्त्र, ईश्वर के अर्थ सर्वस्वसमर्पण करने के ही विधान में हैं । अर्थात् सब से उत्तम मोच्चसुख से लेके अन्न, जल पर्यन्त सब पदार्थों की याचना मनुष्यों को केवल ईश्वर ही से करनी चाहिये ।

श्रायुर्ग्ज्ञेन कल्पतां प्राणो युज्ञेन कल्पतां चर्तुर्य्ज्ञेन कल्पताः अभित्रं युज्ञेन कल्पतां वार्य्ज्ञेन कल्पतां मनी युज्ञेन कल्पतामातमा युज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा युज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्युज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा युज्ञेन कल्पतां पृष्ठं युज्ञेन कल्पतां युज्ञेन कल्पताम्। स्तोमेश्च यर्जुश्च स्क् च साम च बृहच्चे रथन्तरं च। स्वेदिंवा श्रगनमामृता श्रभम प्रजापतेः प्रजा श्रभूम वेद स्वाहां॥ ७॥ य० श्र० १८। मं० २६॥

भाष्यम्

(त्रायुर्यक्षेन०) यक्षो वै विष्णुः ॥ श० ब्रा०१।२।१३॥ वेवेष्टि व्यामोति सर्व जगत् स विष्णुरीश्वरः, हे मनुष्यास्तेन यक्षेनेश्वरप्राप्त्यर्थ सर्व स्वकीयमायुः कल्पतामिति । यद्स्मदीयमायुरस्ति तदीश्वरेण कल्पतां, परमेश्वराय समर्पितं भवतु । एवमेव (प्राणाः), (चक्षुः), (वाक्) वाणी, (मनः) मननं क्षानं, (त्रात्मा) जीवः, (ब्रह्मा) चतुर्वेद्काता यक्षानुष्ठानकर्त्ता, (ज्योतिः) सूर्यादिप्रकाशः, [(धर्मः) न्यायः] (स्वः) सुर्त्तं, (पृष्ठं) भूम्याद्यधिकरणं, (यक्षो०) म्यभमेधादिः शिल्पिकयामयो वा, (स्तोमः) स्तुतिसमूहः, (यज्ञः) यज्ञवेदाध्ययनम्, (त्रह्मक्) ऋग्वेदाध्ययनम्, (त्राम) सामवेदाध्ययनम्, चकारादथर्ववेदाध्ययनं च, (बृह्च रथन्तरं च) महत्कियासिद्धिफलभोगः शिल्पविद्याजन्यं वस्तु चास्मदीयमेतत्सर्वं परमेश्वराय समर्पितमस्तु, येन वयं कृतक्षाः स्याम। एवं कृते परमकारुणिकः परमेश्वरः सर्वोत्तमं सुलमस्मम्यं दद्यात्, येन वयं

(स्वर्देवा०) सुखे प्रकाशिताः, (अमृता) परमानन्दम्मोचं (अगन्म) सर्वदा प्राप्ताः भवेम। तथा (प्रजापते प्र०) वयं परमेश्वरस्यैव प्रजा (अभूम) अर्था-त्परमेश्वरं विद्वायान्यमनुष्यं राजानं नैव कदाचिन्मन्यामद्द इति । एवं जाते (वेद स्वाद्दा०) सदा वयं सत्यं वदामो, भवदाज्ञाकरणे परमप्रयत्नत, उत्सा-द्दान्तोऽभूम भवेम, मा कदाचिद्धवदाज्ञाविरोधिनो वयमभूम, किन्तु भवत्सेवायां सदैव पुत्रवद्वर्तेमिह ॥ ७॥

भाषार्थ

(श्रायुर्यक्षेन०) यज्ञ नाम विष्णु का है, जो कि सब जगत में व्यापक हो रहा है। उसी परमेश्वर के ऋर्य सब चीज समर्पण कर देना चाहिये। इस विषय में यह मन्त्र है कि सब मनुष्य श्रापनी श्रायु को ईश्वर की सेवा श्रीर उसकी श्राज्ञापालन में समर्पित करें। (प्राणो०) श्रर्थात् श्रपना प्राण भी ईश्वर के श्रर्थ कर देवें। (चतु०) जो प्रत्यत्त प्रमाण श्रीर श्रांख, (श्रीत्रं) जो श्रवण विद्या श्रोर शब्द प्रमाणादि, (वाक्०) वाणी, (मनो०) मन श्रोर विज्ञान, (श्रात्मा०) जीव, (ब्रह्मा) तथा चारों वेद को पढ़ के जो पुरुषार्थ किया है, (ज्योतिः०) जो प्रकाश, (स्वर्य०) जो सब सुख, (पृष्ठम्०) जो उत्तम कर्मी का फल ऋौर स्थान (यज्ञो ०) जो कि पूर्वोक्त तीन प्रकार का यज्ञ किया जाता है, ये सब ईश्वर की प्र-सन्नता के श्रर्थ समर्पित कर देना श्रवश्य है। (स्तोमश्र) जो स्तुति का समृह, (यजुआ ०) सब क्रियाओं की विद्या, (ऋकू च०) ऋग्वेद श्रर्थात् स्तुति स्तोत्र, (साम च०) सब गान करने की विद्या, (चकारात्०) श्रथवेवेद, (बृह्ब०) बड़े २ सब पदार्थ और (रथन्तरं च०) शिल्पविद्या ऋादि के फलों में से जो २ फल अपने श्राधीन हों वे सब परमेश्वर के समर्पण कर देवें। क्योंकि सब वस्तु ईश्वर ही की बनाई हैं। इस प्रकार से जो मनुष्य अपनी सब चीजें परमेश्वर के अर्थ समर्पित कर देता है उसके लिये परमकारुणिक परमात्मा सब सुख देता है, इसमें संदेह नहीं। (स्वर्देवा ०) त्रार्थात् परमात्मा की कृपा की लहर श्रौर परमप्रकाशरूप विज्ञानपाप्ति में शुद्ध होके, तथा सब संसार के बीच में कीर्त्तिमान होके, हम लोग परमानन्दस्वरूप मोच्चसुख को (श्रगन्म०) सब दिन के लिये प्राप्त हों। (प्रजापतेः०) तथा हम सब मनुष्य लोगों को उचित है कि किसी एक मनुष्य को अपना राजा न मानें। क्योंकि ऐसा श्रभागी कौन मनुष्य है कि जो सर्वज्ञ, न्यायकारी सब के

पिता एक परमेश्वर को छोड़ के दूसरे की उपासना करे और राजा माने। इसालिये हम लोग उसी को अपना राजा मान के सत्य न्याय को प्राप्त हों। अर्थात् वही सब मनुष्यों के न्याय करने में समर्थ है अन्य कोई नहीं। (वेट् स्वाहा) अर्थात् हम लोग सर्वज्ञ, सत्यस्वरूप, सत्यन्याय करने वाले परमेश्वर राजा की अपने सत्यभाव से प्रजा हो के यथावत् सत्य मानने, सत्य वोलने और सत्य करने में समर्थ होवें। सब मनुष्यों को परमेश्वर से इस प्रकार की आशा करना उचित है कि हे छपानिधे! आपकी आज्ञा और भिक्त से हम लोग परस्पर विरोधी कभी न हों किन्तु आप और सब के साथ सदा पिता पुत्र के समान प्रेम से वर्ते॥ ७॥

अथोपासनाविषयः संक्षेपतः

युक्तते मनं उत युक्कते धियो विष्या विष्येश्य बृह्तो विष्यिश्चतः । वि होन्नां दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सिवतः परिष्ठतः ॥ १ ॥ ऋ० अ । ऋ० ४ । ऋ० १ ॥ युक्कानः प्रथमं मनेश्वत्त्वायं सिवता धियम् । ऋग्नेज्योतिन्विययं पृथिन्या अध्याभरत् ॥ २ ॥ युक्केन मनसा व्यं देवस्यं सिवतः स्वे। स्वग्र्याय शक्तयां ॥ ३ ॥ युक्कार्यं सिवता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम् । बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सिवता प्रस्वाति तान् ॥ ४ ॥ युक्के वां ब्रह्मं पूर्व्यं नमोभिविश्लोकं एतु पृथ्येव सूरेः । श्रुप्यवन्तु विश्वं ऋमृतस्य पुत्रा आये धामानि दिव्यानि तास्थः ॥ ४ । य० ऋ० ११ । मं० १ । २ । ३ । ४ ॥

भाष्यम्

(युद्धते०) अस्याभि०-अत्र जीवेन सदा परमेश्वरस्यैवोपासना कर्त्तव्येति विधीयते। (विप्राः) ईश्वरोपासका मेधाविनः, (होत्राः) योगिनो मनुष्याः, (विप्रस्य०) सर्वक्षस्य परमेश्वरस्य मध्ये (मनः) (युञ्जते) युक्तं कुर्वान्ति, (उत) अपि धियो बुद्धिवृत्तीस्तस्येव मध्ये युञ्जते। कथंभूतः स परमेश्वरः श सर्वामदं जगत् यः (विद्धे) विद्धे, तथा (वयुनावि०) सर्वेषां जीवानां शुभाशुभानि यानि प्रज्ञानानि प्रजाश्च तानि यो वेद स वयनावित्, (एकः) स एकोऽद्वितीयोस्ति, (इत्) सर्वत्र व्याप्तो ज्ञानस्वरूपश्च, नास्मात्पर उत्तमः कश्चित् पदार्थो वर्त्तत इति। तस्य (देवस्य) सर्वजगत्प्रकाशकस्य, (सवितुः)

सर्वजगदुत्पादकस्ये थरस्य सर्वैर्मनुष्येः (परिष्टुतिः)परितः सर्वतः स्तुतिः कार्य्या, कथंभूता स्तुतिः ? (मही) महतित्यर्थः, एवंकृते सति जीवाः परमेश्वरम्रुपगच्छन्तीति ॥१॥ (युञ्जानो) योगं कुर्वाणः सन् (तत्त्वाय) ब्रह्मादितत्त्वज्ञानाय प्रथमं मनो युञ्जानः सन् योस्ति, तस्य धियं (सविता) कृपया परमेश्वरः स्वस्मिन्नुपयुङ्क्ने, (श्र-ग्नेज्योतिः) यतोऽग्नेरीश्वरस्य (ज्योतिः) प्रकाशस्त्ररूपं (निचाय्य) यथावत् निश्चित्य, (ऋध्याभरत्) स योगी स्वात्मानि पारमात्मानं धारितवान् भवेत्, इद-मेव पृथिच्या मध्ये योगिन उपासकस्य लच्चणमिति वेदितव्यम् ॥ २ ॥ सर्वे मनुष्या एवमिच्छेयुः (स्वर्ग्याय०) मोचसुखाय, (शक्नचा) योगवलोन्नत्या, (देवस्य) स्वप्नकाशस्यानन्दप्रदस्य (सवितः) सर्वान्तर्यामिनः परमेश्वरस्य (सवे) अनन्तैश्वर्ध्ये (युक्तेन मनस०) योगयुक्तेन शुद्धान्तःकरखेन वयं सदो-पयुद्धीमहीति ॥ ३॥ एवं योगाम्यासेन कृतेन (स्वर्यतः) शुद्धभावप्रेम्णा (देवान्) उपासकान् योगिनः (सविता) अन्तर्यामीश्वरः कृपया (युक्त्वाय०) तदात्मसु प्रकाशकरणेन सम्यग् युक्ता (धिया) स्वक्रपाधारवृत्त्या (बृहज्ज्योतिः) त्रानन्तप्रकाशं (दिवं) दिव्यं स्वस्वरूपम् (प्रसुवाति) प्रकाशयति, तथा (करि-ष्यतः) सत्यभक्तिं करिष्यमाणानुपासकान योगिनः (सविता) परमकारुणिकान्त-र्यामी अरो मोत्तदानेन सदानन्दयतीति ॥ ४ ॥ उपासनाप्रदोपासनाग्रहीतारौ प्रति परमेश्वरः प्रतिजानीते, (ब्रह्म पूर्व्यम्) यदा तौ पुरातनं सनातनं ब्रह्म (नमोभिः) स्थिरेणात्मना सत्यभावेन नमस्कारैरुपासाते तदा तद्ब्रह्म ताभ्यामाशीर्ददाति, (श्लोकः) सत्यकीर्त्तिः (वां) (वि) (एतु) व्येतु व्याप्नोतु, कस्य केव १ (सूरेः) परमाविदुषः (पथ्येव) धर्ममार्ग इव, (ये) एवं य उपासकाः (श्रमृ-तस्य मोत्तस्यरूपस्य नित्यस्य परमेश्वरस्य (पुत्राः) तदाज्ञानुष्ठातारस्तत्सेवकाः सन्ति, त एव (दिच्यानि) प्रकाशस्वरूपाणि विद्योपासनायुक्तानि कर्माणि तथा दिव्यानि (धामानि) सुखस्वरूपाणि जन्मानि सुखयुक्तानि स्थानानि वा (त्र्रात-स्थुः) त्रा समन्तात् तेषु स्थिरा भवन्ति, ते (विश्वेः०) सर्वे (वां) उपासनोपदे-ष्ट्रपदेश्यो द्वौ (शृण्यन्तु) प्रख्यातौ जानन्तु । इत्यनेन प्रकारेग्गोपासनां कुर्वागौ वां युवां द्वां प्रतीश्वरोऽहं युजे, कृपया समवतो भवामीति ॥ ५ ॥

भाषार्थ

श्रव ईश्वर की उपासना का विषय जैसा वेदों में लिखा है उस में से कुछ संद्वेप

से यहां भी लिखा जाता है। (युञ्जते मन०) इस का श्रमिप्राय यह है कि जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है। श्रर्थात् उपासनासमय में सब मनस्य अपने मन को उसी में स्थिर करें। श्रीर जो लोग ईश्वर के उपासक (विप्राः) श्रर्थात् बड़े २ बुद्धिमान् (होत्राः) उपासनायोग के प्रहण् करनेवाले हैं, वे (विप्रस्य) सब को जाननेवाला, (बृहतः) सब से बड़ा (विपश्चितः) त्रौर सब विद्यात्रों से युक्त जो परमेश्वर है, उस के बीच में (मनः) (युञ्जते) श्रापने मन की ठीक २ युक्त करते हैं, तथा (उत०) (धियः) श्रपनी बुद्धिवृत्ति श्रर्थात् ज्ञान को भी (युक्जते) सदा परमेश्वर ही में स्थिर करते हैं । जो परमेश्वर इस सव जगत को (विद्धे ०) धारण और विधान करता है, (वयुनाविदेक इन्) जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रजा का भी साची है, वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, कि जिससे परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है। (देवस्य) उस देव ऋर्थात् सब जगत् के प्रकाश श्रौर (सिवतुः) सब की रचना करनेवाले परमेश्वर की (परिप्रुतिः) हम लोग सब प्रकार से स्तुति करें । कैसी वह स्तुति है कि (मही) सब से बड़ी. अर्थान जिस के समान किसी दूसरे की हो ही नहीं सकती ।। १ ।। (युक्जान:) योग को करने वाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्व त्र्यात् ब्रह्मज्ञान के लिये, (प्रथमम) (मनः) जब श्रपने मन को पहिले परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब (सविता) परमेश्वर उनकी (धियम्) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। (अग्नेज्यों०) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (अध्याभरत्) यथावन धारण करते हैं। (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लत्त्रण है ।। २ ।। सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि (वयम्) हम लोग (स्वर्गाय) मोत्तसुख के लिये, (शक्त या) यथायोग्य सामर्थ्य के वल से, (देवस्य) परमेश्वर की मृष्टि में उपासनायोग करके, अपने आत्मा को शुद्ध करें, कि जिससे (युक्तेन मनसा) अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाशरूप त्र्यानन्द को प्राप्त हों ।। ३ ।। इसी प्रकार वह परमेश्वर देव भी (देवान्) उपासकों को (स्वर्यतो धिया दिवम्) अत्यन्त सुख को दे के (सविता) उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश को करता है। तथा (युक्त्वाय) वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उनको युक्त करके उनके आत्माओं में (बृहज्ज्योतिः) बड़े प्रकाश को प्रकट करता है । श्रीर (सविता) जो सय जगत् का पिता है वही (प्रसुवा०) उन उपासकों को ज्ञान और श्रानन्दादि से परि-

पूर्ण कर देता है। परन्तु (किरिष्यतः) जो मनुष्य सत्य प्रेम मिक से परमेश्वर की उपासना करेंगे उन्हीं उपासकों को परमक्ष्णामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोत्तसुख देके सदा के लिये आनन्दयुक्त करदेगा।। ४ । उपासना का उपदेश देनेवाले और प्रह्ण करनेवाले दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि जब तुम (पृर्व्यम्) सनातन ब्रह्म की (नमोभिः) सत्यप्रेमभाव से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कारादि रीति से उपासना करोगे तब मैं तुम को आशीर्वाद देऊंगा कि (श्लोकः) सत्यकीर्ति (वां) तुम दोनों को (एतु) प्राप्त हो । किसके समान ? (पथ्येव स्रेः) जैसे परम विद्वान को धर्ममार्ग यथावत् प्राप्त होता है इसी प्रकार तुम को सत्यसेवा से सत्यकीर्ति प्राप्त हो । किर भी मैं सब को उपदेश करता हूं कि (अमृतस्य पुत्राः) हे मोत्तमार्ग के पालन करनेवाले मनुष्यो ! (शृणवन्तु विश्वे) तुम सब लोग सुनो कि (आये धामानि०) जो दिञ्चलोकों अर्थात् मोत्तसुखों को (आतस्थः) पूर्व प्राप्त हो चुके हैं उसी उपासनायोग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त हो । इसमें संदेह मत करो । इसलिये (युजे) में तुम को उपासनायोग में युक्त करता हूं ।। १ ॥

सीरां युञ्जन्ति क्वयों युगा वितेन्वते पृथंक् । धीरां देवेषुं सुम्न-या ॥ ६ ॥ युनक्क सीरा वियुगा तेनुध्वं कृते योनौं वपतेह बीर्जम् । गिरा चे श्रुष्टिः सभरा असेन्नो नेंदीय इत्सृष्यः पक्वमेयात् ॥ ७॥ य० श्र ० १२ । मं० ६७ । ६८ ॥

भाष्यम्

(कवयः) विद्वांसः कान्तदर्शनाः कान्तप्रज्ञा वा, (धीराः) ध्यानवन्तो योगिनः, (पृथक्) विभागेन (सीराः) योगाभ्यासोपासनार्थं नार्डीर्युञ्जन्ति, स्रर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्ति, तथा (युगा) युगानि योगयुक्नानि कर्माणि (वितन्वते) विस्तारयन्ति। य एवं कुर्वन्ति ते (देवेषु) विद्वत्सु योगिषु (सुम्नया) सुखेनैव स्थित्वा परमानन्दं युञ्जन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः॥ ६॥ दे योगिनो ! यूयं योगाभ्यासोपासनेन परमात्मयोगेनानन्दं (युनक्क) तथुक्ना भवत, एवं मोत्तसुखं सदा (वितनुष्वं) विस्तारयत, तथा (युगा०) उपासना-युक्नानि कर्माणि (सीराः) प्राणादित्ययुक्ना नार्डीश्र युनक्नोपासनाकर्माणि योज-यत। एवं (कृते योनौ) श्रन्तःकरणे शुद्धे कृते परमानन्दयोनौ कारण श्रात्मनि (वपतेह बीजम्) उपासनाविधानेन योगोपासनाया विज्ञानार्ख्यं बीजं वपत,

तथा (गिरा च) वेदवाएया विद्यया (युनक्त) युङ्क, युक्ता भवत, किं च (श्रृष्टिः) चित्रं शीघं योगफलं (नो नेदीयः) नोऽस्मानेदीयोतिशयेन निकटं परमेश्वरानुग्रहेण (असत्) अस्तु, कथंभूनं फलं १ (पक्षं) शुद्धानन्दासिद्धं (एयात्) आ समन्तादियात् प्राप्नुयात्, (इत्मृएयः) उपासनायुक्तास्ता योगवृत्तयः शृएयः सर्वक्रेशहन्त्र्य एव भवन्ति । इदिति निश्रयार्थे । पुनः कथंभूतास्ताः १ (सभराः) शान्त्यादिगुणपुष्टाः । एताभिर्वृत्तिभिः परमात्मयोगं वितनुष्वम् ॥७॥

अत्र प्रमाणम् । श्रुष्टीति चित्रनामाशु अष्टीति ॥ निरु० अ०६। खं०१२। द्विविधा सृणिर्भवति भर्ता च इन्ता च ॥ निरु० अ०१३। खं० ५ ॥

भाषार्थ

(कवयः) जो विद्वान् योगी लोग श्रौर (धीराः) ध्यान करने वाले हैं वे (सीरा युञ्जन्ति) (पृथक्) यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में ऋपने ऋात्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं। (युगा) जो योगयुक्त कम्मों में तत्पर रहते हैं, (वितन्वते) अपने ज्ञान और आनन्द को सदाविस्तृत करते हैं (देवेषु सुम्नया) वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित होके परमानन्द को प्राप्त होते हैं।। ६।। हे उपासक लोगो ! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द को (वितनुष्वं ०) विस्तार करो | इस प्रकार करने से (कृते योनौ) योनि ऋथीत् ऋपने ऋन्तः करण को शुद्ध ऋौर परमानन्द-स्वरूप परमेश्वर में स्थिर करके उसमें उपासनाविधान से विज्ञानरूप (बीजं) बीज को (वपत) श्राच्छी प्रकार से बोत्रो । तथा (गिरा च) पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी करके परमा-त्मा में (युनक्त) युक्त होकर उस की स्तुति प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्ति करो। तथा (श्रव्टिः) तुम लोग ऐसी इच्छा करो कि हम उपासनायोग के फल को प्राप्त होवें। श्रौर (नो नेदीय:) हम को ईश्वर के अनुप्रह से वह फल (श्रसत्) शीघ ही प्राप्त हो । कैसा वह फल है कि (पक्वं) जो परिपक्व शुद्ध परम आनन्द से भरा हुन्ना त्र्यौर मोत्तसुख को प्राप्त करने वाला है। (इत्सृष्यः) त्र्रार्थात् वह उपा-सनायोगवृत्ति कैसी है कि सब क्लेशों को नाश करने वाली श्रौर (सभराः) सब शांति आदि गुर्णों से पूर्ण है। उन उपासनायोगवृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो ॥ ७ ॥

श्रष्टार्विशानि शिवानि श्रमानि महयोगं भजनतु मे । योगं प्रपेशे चैमं च चेमं प्रपेशे योगं च नमोऽहोरात्राभ्योमस्तु ॥ ८ ॥ अथर्व० कांड १६ । श्रनु० १ । सू० ८ ॥ मं०२ ॥ भूग्रानर्गत्ग्राः शच्ग्राः पितृस्त्वामिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ६ ॥ नर्मस्ते श्रस्तु पश्यत् पश्यं मा पश्यत ॥ १० ॥ श्रुन्नाचेन यर्शमा तेर्जसा व्राह्मणवर्चसेन ॥ ११ ॥ श्रथर्व० १३४ । ४७--४६ ॥

भाष्यम्

(ऋष्टाविंशानि०) हे परमेश्वर भगवन् ! कृपयाऽष्टाविंशानि, (शिवानि०) कल्याणानि कल्याणकारकाणि सन्त्वर्थाद्शेन्द्रियाणि, दश प्राणा, मनोबुद्धिचित्ता-इंकागविद्यास्वभावशरीरबलं चेति, (शग्मानि०) सुखकारकाणि भृत्वा (ऋहो-रात्राभ्यां) दिवसे रात्रौ चोपासनाव्यवहारं योगं (मे) मम (भजन्तु) सेवन्तां, तथा भवत्कृपयाऽद्दं (योगं प्र०) प्राप्य (चेमं च), (प्रपद्ये) चेमं प्राप्य, योगं च प्रपद्ये । यतोऽस्माकं सहायकारी भवान् भवदेतदर्थं सततं नमोस्तु ते ॥ = ॥ इमे वच्यमाणाश्र मन्त्रा अथर्ववेदस्य सन्तीति बोध्यम् । (इन्द्र०) हे इन्द्र परमे-रवर ! त्वं (शच्याः) प्रजाया वाएयाः कर्मणो वा पतिरासि, तथा (भूयान्) सर्वशक्तिमन्त्रात् सर्वोत्क्रष्टत्वादातिशेयन बहुरिस, तथा (त्र्यरात्याः) शत्रुभूताया वाएयास्तादृशस्य कर्मणो वा शत्रुरर्थाद्भृयानिवारकोसि, (विभूः) व्यापकः (प्रभूः) समर्थश्वासि, (इति) अनेन प्रकारेणैवंभूतं (त्वा) त्वां (वयम्) सदैव (उपास्महे) अर्थात्तवैवोपासनं कुर्मह इति ॥ है ॥ अत्र प्रमाणम् । वाचो नामसु शर्चीति पठितम् ॥ निघं० अ० १। खं० ११॥ तथा कर्मणां नामसु शवीति पठितम् ॥ निघं० अ० २। खं० १ ॥ तथा प्रज्ञानामसु शचीति पठितम् ॥ निघं० अ० ३ । खं० ६ ॥ ईश्वरोऽभिवदति हे मनुष्याः ! यूयमुपासनारीत्या सदैव (मा) मां (पश्यत) सम्यग् ज्ञात्वा चरत, उपासक एवं जानीयाद्वदेच हे परमेश्वरानन्तविद्यायुक्र ! (नमस्ते अस्तु) ते तुभ्यमस्माकं सततं नमोस्तु भवतु ॥ १० ॥ (अनाद्येन) कस्मै प्रयोजनायानादिराज्यैश्वर्य्येण, (यशसा) सर्वोत्तमसत्कर्मानुष्टानोद्भृतसत्यकीर्त्या, (तेजसा) निर्दीनतया प्रागल्भ्येख च, (ब्राह्मणवर्चसेन) पूर्णविद्यया सह वर्त्तमानानस्मान् हे परमेश्वर! त्वं कृपया सदैव (पश्य) संप्रेच्चस्वैतदर्थं वयं (त्वां) सर्वदोपास्महे ॥ ११ ॥

भाषार्थ

(अष्टाविंशानि शिवानि) हे परमैश्वर्य्ययुक्त मङ्गलमय परमेश्वर ! आप की कृपा

से मुमको उपासनायोग प्राप्त हो, तथा उस से मुमको सुख भी मिले। इसी प्रकार श्राप की कृपा से दश इन्द्रिय, दश प्राण, मन, बुद्धि, चित्ता, श्रहङ्कार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल, ये श्रद्वाईस सब कल्याणों में प्रवृत्त होके उपासनायोग को सदा सेवन करें। तथा हम भी (योगं) उस योग के द्वारा (चेमं) रक्ता को, ऋौर रक्ता से योग को प्राप्त हुन्त्रा चाहते हैं। इसलिये हम लोग रात दिन त्राप को नमस्कार करते हैं ॥ ८ ॥ (भूयानरात्याः) हे जगदीश्वर ! त्राप (शच्या:) सब प्रज्ञा, वाणी त्र्योर कर्म इन तीनों के पति हैं। तथा (भूयान्) सर्वशिक्तमान त्र्यादि विशे-पर्णों मे युक्त हैं । जिससे श्राप (श्ररात्या:) श्रर्थान् दुष्टप्रजा, मिध्यारूपवाणी श्रौर पापकर्मी को विनाश करने में अत्यन्त समर्थ हैं । तथा आप को (विभ:) सब में व्यापक श्रौर (प्रभू:) सब सामर्थ्य वाले जान के हम लोग श्रापकी उपासना करते हैं।। ६।। (नमस्ते ऋस्तु) ऋर्थात् परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि हे उपासक लोगो ! तुम सुफ को प्रेमभाव से अपने आत्मा में सदा देखते रहो । तथा मेरी आज्ञा श्रीर वेदविद्या को यथावन जान के उसी रीति से श्राचरण करो । फिर मनुष्य भी ईश्वर से प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर ! श्वाप कृपादृष्टि से (पश्यमा) हम को सदा देखिये । इसलिये हम लोग त्राप को सदा नमस्कार करते हैं।। १०।। कि (श्रन्नादोन) श्रन्न त्रादि ऐश्वर्य्य, (यशसा) सब से उत्तम कीर्त्ति, (तंजसा) भय से रहित, (ब्राह्मणवर्चमेन) श्रीर सम्पूर्ण विद्या से युक्त हम लोगों को करके कृपा से देखिये। इसलिये हम लोग सदा आप की उपासना करते हैं।। १२।।

श्रम्भो श्रमो महः सह इति त्वापासमहे व्यम् ॥ १२ ॥ श्रम्भो श्रम्ण रेज्ञतं रजः मह इति त्वापासमहे व्यम् ॥ १३ ॥ उकः पृथुः मुभूर्सव इति त्वापासमहे व्यम् ॥ १४ ॥ प्रधो वरे। व्यची लोक इति त्वापासमहे व्यम् ॥ १४ ॥ श्रधो वरे। व्यची लोक इति त्वापासमहे व्यम् ॥ १४ ॥ श्रध्वे० कां० १३ । श्रतु० ४ । मं० ४० । ४१ । ४२ । ४३ ॥

भाष्यम्

(हे ब्रह्मन्) (अम्भः) व्यापकं, शान्तस्वरूपं, जलवत् प्राणस्यापि प्राणम्। आप्ल धातोरसुन्प्रत्ययान्तस्यायं प्रयोगः । (अमः) ज्ञानस्वरूपम्, (महः) पूज्यं सर्वेभ्यो महत्तरं, (सहः) सहनस्यभावं ब्रह्म (त्वा) त्वां ज्ञात्वा (इति) अनेन प्रकारेण (वयं) सततं उपास्महे ॥ १२ ॥ (अम्भः) आद्रार्थो द्विरा-रम्भः । अस्यार्थ उक्तः । (अरुणम्) प्रकाशस्वरूपम्, (रजतम्) रागविषयमा- नन्दस्वरूपम्, (रजः) सर्वलोकैश्वर्य्यसिहितम्, (सहः) सहनशिक्तप्रदम् (इति त्वोपास्महे वयम्) त्वां विहाय नैव कश्चिद्वन्योर्थः कस्यचिदुपास्योस्तीति ॥१३॥ (जरुः) सर्वशिक्तमान्, (पृथुः) त्र्वतीव विस्तृतो व्यापकः (सुभूर्भुवः) सुष्ठु-तया सर्वेषु पदार्थेषु भवतीति सुभूः, त्र्यन्तिरज्ञवद्वकाशरूपत्वाद्धवः (इति) एवं ज्ञात्वा (त्वा०) त्वां (जपास्महे वयम्)॥ १४॥ बहुनामसु जरुरिति प्रत्यज्ञ-मस्ति॥ निघएदु त्र्य०३। खं०१॥ (प्रथः) सर्वजगत्प्रसारकः (वरः) श्रेष्टः, (व्यचः) विविधतया सर्वे जगज्जानातीति, (लोकः) लोक्यते सर्वेर्जनैलोक-यति सर्वोन् वा (इति त्वो०) वयमीद्यक्ष्वरूपं सर्वेष्ठं त्वास्रुपास्महे॥ १५॥

भाषाथ

(श्रम्भो) हे भगवन ! श्राप सब में व्यापक, शान्तस्वरूप श्रौर प्राण के भी प्राण हैं। तथा (श्रमः) झानस्वरूप श्रौर झान को देने वाले हैं। (महः) सब के पूज्य, सब के बड़े श्रौर (सहः) सब के सहन करने वाले हैं। (इति) इस प्रकार का (त्वो०) श्राप को जान के (वयम्) हम लोग सदा उपासना करते हैं।। १२।। (श्रम्भः) (दूसरी वार इस शब्द का पाठ केवल श्रादर के लिये हैं) (श्रक्णम्) श्राप प्रकाशस्वरूप सब दुःखों के नाश करने वाले, तथा (रजतम्) प्रीति का परम हेतु श्रानन्दस्वरूप, (रजः) सब लोकों के ऐश्वर्य्य से युक्त, (सहः) (इस शब्द का भी पाठ श्रादरार्थ है) श्रौर शहनशक्तिवाले हैं। इसलिये हम लोग श्राप की उपासना निरन्तर करते हैं।। १३।। (उरु०) श्राप सब बल वाले, (पृथुः) श्रर्थात् श्रादि श्रन्त रहित, तथा (सुभूः) सब पदार्थों में श्रच्छे प्रकार से वर्त्तमान, श्रौर (भुवः) श्रवकाशस्वरूप से सब के निवासस्थान हैं। इस कारण हम लोग उपासना करके श्राप के ही श्राश्रित रहते हैं।। १४।। (प्रथो वरो०) हे परमात्मन! श्राप सब जगत् में प्रसिद्ध श्रौर उत्तम हैं। (व्यचः) श्रर्थात् सब प्रकार से इस जगत् का धारण, पालन श्रौर वियोग करने वाले तथा (लोकः) सब विद्वानों के देखने श्रर्थात् जानने के योग्य केवल श्राप ही हैं, दूसरा कोई नहीं।। १४।।

युञ्जन्ति ब्रध्नमेर्छषं चर्रन्तं परितस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १६ ॥ ऋ० श्र० १ । ऋ० १ । व० ११ । मं० १ ॥

भाष्यम्

(युञ्जिन्ति) ये योगिनो विद्वांसः, (परितस्थुषः) परितः सर्वतः

सर्वान् जगत्पदार्थान् मनुष्यान्वा चरन्तं ज्ञातारं सर्वज्ञं (श्ररुषं) श्राहेंसकं करुणा-मयम् (रुप हिंसायाम्) (ब्रध्नं) विद्यायोगाम्यासप्रेमभरेख सर्वानन्दवर्धकं महान्तं परमेश्वरमात्मना सह युञ्जन्ति, (रोचनाः) त त्रानन्दे प्रकाशिता रुचि-मया भृत्वा (दिवि) द्योतनात्मके सर्वप्रकाशके परमेश्वरे (रोचन्ते) परमानन्द-योगेन प्रकाशन्ते । इति प्रथमोऽर्थः । श्रथ द्वितीयः । (परित॰) चरन्तमरूषम-ग्निमयं ब्रध्नमादित्यं सर्वे लोकाः पदार्थाश्र (युन्जन्ति) तदाकर्षणेन युक्ताः सन्ति । एते सर्वे तस्यैव (दिवि) प्रकाशे (रोचनाः) रुचिकराः सन्तः (रोचन्ते) प्रकाशन्ते । इति द्वितीयोर्थः । त्रथ तृतीयः । य उपासकाः परितस्थुपः सर्वान् पदार्थान् चरन्तमरुषं सर्वमर्मस्थं (ब्रध्नं) सर्वावयववृद्धिकरं प्राणमादित्यं प्राणाया-मरीत्या (दिवि) द्योतनात्मके परमेश्वरे वर्त्तमानं (रोचनाः) रुचिमन्तः सन्तो युञ्जन्ति युक्तं कुर्वन्ति । त्रातस्ते तस्मिन् मोत्तानन्दे परमेश्वरे रोचन्ते सदैव प्रका-शन्ते ॥ १६ ॥ स्रत्र प्रमाणानि ॥ मनुष्यनामसु तस्थुषः पञ्चजना इति पठितम् ॥ निघं० ऋ० २ । खं० ३ ॥ महत्, ब्रध्न, महन्नामसु पठितम् ॥ निघं० ऋ० ३ । खं० ३ ॥ तथा युव्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तमिति । स्रसौ वा स्रादित्यो ब्रध्नोऽरुषो-ऽम्रुमेवास्मा त्र्यादित्यं युनाक्ने स्वर्गस्य लोकस्य समृष्टचै ।। १ ।। श० कां० १३ । अ २ ।। आदित्यो इ वै प्राणो रियरेव चन्द्रमा, रियर्वा एतत्सर्व यन्मूर्त चामू-र्त्तं च, तस्मान्पूर्त्तिरेव रियः ॥ १ ॥ प्रश्नोपनि० प्रश्न० १ । मं० ५ ॥ परमेश्वरात् महान् कश्चिद्पि पदार्थो नास्त्येवातः प्रथमेऽर्थे योजनीयम् । तथा शतपथप्रमाणं द्वितीयमर्थं प्रति ।। एवमेव प्रश्नोपनिषत्प्रमाणं तृतीयमर्थं प्रति च । कचिन्निघरटा-वश्वस्यापि ब्रध्नारुषौ नाम्मी पठिते । परन्त्वास्मिन् मन्त्रे तद्घटना नैव सम्भवति, शतपथादिच्याख्यानविरोधात् , मूलार्थविरोधादेकशब्देनाप्यनेकार्थग्रहणाच्च । एवं सति भट्टमोत्तपूलरैऋी न्वेदस्ये इंगलेएडभाषया व्याख्याने यदश्वस्य पशोरेव प्रहणं कृतं तद्श्रान्तिपूलमेवास्ति । सायणाचार्य्येणास्य मन्त्रस्य व्याख्यायामादित्यग्रइ-णादेकस्मिश्रंशे तस्य व्याख्यानं सम्यक्कृतमस्ति, परन्तु न जाने भट्टमोत्तमृलरेणा-यमर्थ आकाशाद्वा पातालाद् गृहीतः। अतो विज्ञायते स्वकल्पनया लेखनं कृतमिति ज्ञात्वा प्रमाणाई नास्तीति।

भाषार्थ

(युव्जनित) मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है । इसालिये जो विद्वान लोग हैं वे सब जगत् और जब मनुष्यों के हृदयों में व्याप्त ईश्वर को उपासनारीति से श्रपने

आत्मा के साथ युक्त करते हैं। वह ईश्वर कैसा है कि (चरन्तं) अर्थात् सब का जाननेवाला, (श्ररुषं) हिंसादि दोषरहित. कृपा का समुद्र, (अध्नं) सब श्रानन्दों का बढ़ाने वाला, सब रीति से बड़ा है। इसी से (रोचनाः) ऋर्थात् उपासकों के श्रात्मा, सब श्रविद्यादि दोषों के श्रन्धकार से छूटके, (दिवि) श्रात्माश्रों को प्रका-शित करने वाले परमेश्वर में प्रकाशमय होकर (रोचन्ते) प्रकाशित रहते हैं ।। इति प्रथमोर्थः ।। त्र्यव दूसरा त्र्यर्थ करते हैं, िक (परितस्थुषः) जो सूर्य्यलोक अपनी किरणों से सब मूर्त्तिमान द्रव्यों के प्रकाश खीर आकर्षण करने में (बध्नं) सब से बड़ा और (श्ररुषं) रक्तगुण्युक्त है, श्रौर जिस के श्राकर्षण के साथ सब लोक युक्त हो रहे हैं, (रोचनाः) जिस के प्रकाश से सब पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं, विद्वान लोग उसी को सब लोकों के आकर्षयुक्त जानते हैं।। इति द्वितीयोऽर्थ:।। (युङ्गन्ति) इस मन्त्र का त्रौर तीसरा यह भी ऋर्थ है कि सब पदार्थों की सिद्धि का मुख्य हेत् जो प्राण है, उस को प्राणायाम की रीति से, श्रायन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं । इसी कारण वे लोग मोच्न को प्राप्त हो के सदा आनन्द में रहते हैं । इन तीनों अर्थों में निघण्टु आदि के प्रमाण भाष्य में ।लिखे हैं, सो देख लेना ।। १६।। इस मन्त्र के इन ऋथों को नहीं जान के भट्ट मोचमूलर साहब ने घोड़े का जो ऋथी किया है सो ठीक नहीं है। यदापि सायणाचार्य्य का ऋर्थ भी यथावत् नहीं है, परन्तु मोत्तमूलर साहव के अर्थ से तो अच्छा ही है, क्योंकि प्रोफेसर मोत्तमृलर साहब ने इस अर्थ में केवल कपोल कल्पना की है।

इदानीष्ठुपासना कथंरीत्या कर्त्तव्येति लिख्यते। तत्र शुद्ध एकान्तेऽभीष्टे देशे शुद्धमानसः समाहितो भूत्वा, सर्वाणीन्द्रियाणि, मनश्रेकाग्रीकृत्य, सिच्दानन्दस्वरूपमन्तर्यामिनं न्यायकारिणं परमात्मानं सिव्चिन्त्य तत्रात्मानं नियोज्य च, तस्यैव स्तुतिप्रार्थनानुष्ठाने सम्यक्कृत्वोपासनयेश्वरे पुनः २ स्वात्मानं संलगयेत्। अत्र पतञ्जालिमहाग्रुनिना स्वकृतस्रत्रेषु वेदव्यासकृतभाष्ये चायमनुक्रमो योगशास्त्रे प्रदर्शितः। तद्यथा-योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥१॥ अ०१। स०२॥ अ०१। स०२॥ उपासनासमये व्यवहारसमये वापरमेश्वराद्यितिरिक्वविषयाद्धर्मव्यवहाराच्च मनसो वृत्तिः सदैव निरुद्धा रत्त्रणीयोति। निरुद्धा सती सा कावतिष्ठत इत्यत्रोच्यते॥१॥ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥२॥ अ०१। पा०१॥ स०२॥ स०२॥ यदा सर्वस्माद्व्यवहारान्मनोऽवरुध्यते तद्दास्योपासकस्य मनो द्रष्टुः

सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थिति लभते ॥ २ ॥ यदोपासको योग्युपासनां विद्वाय सांसारिकव्यवहारे प्रवर्त्तते तदा सांसारिकजनवत्तस्यापि प्रवृत्तिर्मवत्याहो-स्विद्विलच्चग्रेत्यत्राइ ।। वृत्तिसारूप्यामितरत्र ।। ३ ।। अ०१ । पा० १। स्र०४॥ इतरत्र सांसारिकव्यवहारे प्रवृत्तेऽप्युपासकस्य योगिनः शान्ता धर्मारूढा विद्या-. विज्ञानप्रकाशा सत्यतत्त्वनिष्ठांऽतीवतीत्रा साधारणमनुष्यविलत्त्रणाऽपूर्वैव वृत्तिर्भव तीति । नैवेदृश्यनुपासकानामयोगिनां कदाचिद्वृत्तिर्जायत इति ।। ३ ।। कति वृत्तयः सन्ति कथं निरोद्धच्या इत्यत्राह । वृत्तयः पंचतय्यः निलष्टाविलष्टाः ॥ ४॥ प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ५ ॥ तत्र प्रत्यचानुमानागमाः प्रमाणानि ।। ६ ॥ विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ७॥ शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ = ॥ अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ ६ ॥ अनुभूतविषयासंप्र-मोषः स्पृतिः ॥ १० ॥ अभ्यासवैराग्याभ्यां तिवरोधः ॥ ११ ॥ अ० १ । पा० १। स्∘ ४।६।७। ⊏।६।१०।११। १२ ॥ उपासनायाः सिद्धेः सहायकारि परमं साधनं किमस्तीत्यत्रोच्यते ॥ ईश्वरप्रियानाद्वा ॥ १२॥ अ०१। पा० १ । मृ० २३ ।। मा० प्रणिधानाज्जिकिविशेषादावर्त्तित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्य-भिध्यानमात्रेण, तदभिध्यानादपि योगिन त्रासमतमः समाधिलाभः फल्ज भवतीति ॥ १२ ॥

भाषार्थ

श्रव जिस रीति से उपासना करनी चाहिये सो श्रागे लिखते हैं। जब २ मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें तब २ इच्छा के श्रनुकृल एकान्त स्थान में बैठकर श्रपने मन को शुद्ध और श्रात्मा को स्थिर करें। तथा सब इन्द्रिय और मन को सिंदानन्दादि लच्चण वाले श्रन्तर्यामी श्रार्थात् सब में न्यापक और न्यायकारी परमात्मा की श्रोर श्रच्छी प्रकार से लगाकर, सम्यक् चिन्तन करके, उस में श्रपने श्रात्मा को नियुक्त करें। फिर उसी की स्तुति, प्रार्थना श्रौर उपासना को वारंवार करके श्रपने श्रात्मा को भलीभांति से उसमें लगा दें। इस की रीति पत्मञ्जलि मुनि के किये योगशास्त्र श्रौर उन्हीं सूत्रों के वेदन्यासमुनिजी के किये भाष्य के प्रमाणों से लिखते हैं। (योगश्चित्त०) चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटा के शुभ गुणों में स्थिर करके, परमेश्वर के समीप में मोच्च को प्राप्त करने को योग कहते हैं। श्रौर वियोग उसको कहते हैं कि परमेश्वर श्रौर उस की श्राह्मा से विरुद्ध बुरा-

इयों में फंस के उस से दूर हो जाना। (प्रश्न) जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटा के स्थिर की जाती है तब कहां पर स्थिर होती है ? इस का उत्तर यह है कि ॥ १ ॥ (तदा द्र०) जैसे जल के प्रवाह को एक छोर से दृढ़ बांध के रोक देते हैं तब वह जिस श्रोर नीचा होता है उस श्रोर चल के कहीं स्थिर हो जाता है, इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है। एक तो चित्त की वृत्ति के रोकने का यह प्रयोजन है श्रीर दूसरा यह है कि ॥ २ ॥ (वृत्तिसा०) उपासक योगी श्रोर संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्षशोकरहित, श्रानन्द से प्रकाशित होकर उत्साह भौर श्रानन्द्युक्त रहती है श्रौर संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्षशोकरूप दुःखसागर में ही दूबी रहती है। उपासक योगी की तो ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है श्रीर संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा श्रन्धकार में फँसती जाती है।। ३ ॥ (वृत्तय:०) श्रर्थात् सब जीवों के मन में पांच प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है। उस के दो भेद हैं, एक क्लिप्ट दूसरी श्राक्लिष्ट, अर्थात् क्लेशसहित श्रीर क्लेशरहित । उनमें से जिनकी वृत्ति विषयास्क, परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है, उन की वृत्ति श्राविद्यादि क्लेशसिंहत श्रीर जो पूर्वोक उपासक हैं उनकी क्लेशरिहत शांत होती हैं ॥४॥ वे पांच वृत्ति ये हैं-पहिली (प्रमाण), दूसरी (विपर्थ्यय), तीसरी (विकल्प), चौथी (निद्रा) श्रौर पांचवीं (स्मृति)।। १ ।। उनके विभाग श्रौर लक्त्रण ये हैं, (तत्र प्रत्यक्ता०)। इसकी व्याख्या वेद विषय के होमप्रकरण में लिख दी है ॥ ६॥ (विपर्ध्ययो०) दुसरी विपर्ध्यय कि जिससे मिध्याज्ञान हो । ऋर्थात् जैसे को तैसा न जानना । श्रथवा श्रन्य में श्रन्य की भावना कर लेना, इस को विपर्व्यय कहते हैं।। ७।। तीसरी विकल्पवृत्ति (शब्दज्ञाना०), जैसे किसी ने किसी से कहा कि एक देश में हमने आदमी के शिर पर सींग देखे थे। इस बात को सुन के कोई मनुष्य निख्य करले कि ठीक है सींग वाले मनुष्य भी होते होंगे। ऐसी वृत्ति को विकल्प कहते हैं। सो भूठी बात है अर्थात् जिस का शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके इसी से इस का नाम विकल्प है।। द।। चौथी (निद्रा), अर्थात् जो वृत्ति अज्ञान और अविद्या के अन्धकार में फँसी हो उस वृत्ति का नाम निद्रा है। पांचर्बी (स्मृति), (श्रनुभूत०) श्रर्थात् जिस व्यवहार वा वस्तु को प्रत्यच देख लिया हो उसी का संस्कार ज्ञान में बना रहता श्रीर उस विषय को

(अप्रमोष) भूले नहीं, इस प्रकार की वृत्ति को स्मृति कहते हैं । इन पांच वृत्तियों को बुरे कामों और अनिश्वर के ध्यान से हटाने का उपाय कहते हैं कि ।। १० ।। (अभ्यास०) जैसा अभ्यास उपासना प्रकरण में आगे लिखेंगे वैसा करें और वैराग्य अर्थात् सब बुरे कामों और दोषों से अलग रहें । इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पांच वृत्तियों को राक के उन को उपासनायोग में प्रवृत्त रखना ।। ११ ।। तथा उस समाधि के योग होने का यह भी साधन है कि (ईश्वरप्र०), ईश्वर में विशेष मिक्त होने से मन का समाधान होके मनुष्य समाधियोग को शीघ प्राप्त हो जाता है ।। १२ ।।

अय प्रधानपुरुषव्यातिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति ? । क्रेशकर्मविपाका-शयैरपरामृष्टः पुरुषाविशेष ईश्वरः ॥ १३ ॥ ऋ० १ । पा० १ । स्० २४ ॥ भा० श्राविद्यादयः वेलशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाक,स्तदनुगुणा वायना श्राशयास्ते च मनासे वर्त्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फ-लस्य भोक्नेति, यथा जयः पराजयो व योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदि-श्यने, यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषाविशेष ईश्वरः । कैवल्यं प्राप्तास्तिर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः ? ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी । यथा मुक्तस्य पूर्वी बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य । यथा वा प्रकृतिजीनस्योत्तराबन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य।स तु सदैव ग्रुकः सदैवेश्वर इति । योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स कि सनिमित्त त्राहोस्विनिनिमत्त इति ?। तस्य शास्त्रं निमित्तम् । शास्त्रं पुनः किं निमित्तम् ? । प्रकृष्टमत्त्वनिमित्तम् । एतयोः शास्त्रोत्कर्पयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमा-नयो नादिः सम्बन्धः । एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति । तच तस्यै-श्वर्यं साम्यातिशयविनिर्भक्षं, न तावदैश्वर्यान्तरेण तद्तिशय्यते, यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात्तस्माद्यत्र काष्टाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः । न च तत्समानमैश्वर्य-मस्ति । कस्मात् । बयोस्तुल्योरेकस्मिन् युगपत् कामितेऽर्थे, नवमिदमस्तु पुराण-मिद्मस्त्वित, एकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघाताद्नत्वं प्रसक्तं, द्वयोश्र तुल्य-योर्युगपत् कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति, श्रर्थस्य विरुद्धत्वात्तस्माद्यस्य साम्यातिशयविनि-र्भुक्तमैथर्यं स ईश्वरः, स च पुरुषविशेष इति । किं च ॥ १३ ॥ तत्र निरतिशयं सर्वज्ञवीजम् ॥ १४ ॥ अप० १ । पा० १ । सूत्र २५ ॥ भा० यदिदमतीतानाग-तप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसम्रुचयातीन्द्रियग्रहण्यमन्पं बह्विति सर्वे इबीज,मेलब्रिवर्धमानं यत्र

निरतिशयं स सर्वज्ञः । श्रास्ति काष्टाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य, सातिशयत्वात्पारिमाणव-दिति । यत्र काष्टाप्राप्तिक्ञीनस्य स सर्वक्षः, स च पुरुषविशेष इति । सामान्यमा-त्रोपसंहारे कृतोपच्चयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थीमिति तस्य संज्ञादिविशेषप्र-तिपत्तिरागमतः पर्व्यन्वेष्या । तस्यात्मानुत्रहाभावेपि भूतानुत्रहः प्रयोजनं, ज्ञानध-मॉपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्वरिष्यामीति । तथा चोक्नम् । श्रादिविद्वात्रिर्माण्चित्तमधिष्ठाय कारुएयाद्भगवान् परमर्पिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति ॥ १४ ॥ स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्त्रेदात् ॥ १४ ॥ श्र० १ । पा० १ । म्र० २६ ।। भा० पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छेद्यन्ते, यत्राव-च्छेदार्थेन कालो नोपावर्त्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः, यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्प-गत्या सिद्धः तथातिकान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥ १५ ॥ तस्य वाचकः प्रणवः ॥ १६ ॥ श्र० १ । पा० १ । सू० २७ ॥ भा० वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य । किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति ? स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः । संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति । यथा-वस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते, श्रयमस्य पिता, श्रयमस्य पुत्र इति । सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्रचपेच्चस्तर्थेव संकेतः क्रियते । संप्रतिप-त्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते । विज्ञातवाच्यवाच-कत्वस्य योगिनः ।। १ ।। तज्जपस्तदर्थभावनम् ।। १७ ।। ऋ० १ । पा०१ । मु० २८ ।। भा० प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेखरस्य भावना । तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते । तथा चोक्रम । स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेतु । स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशत इति ॥ १७ ॥

भाषार्थ

श्रव ईसर का लक्षण कहते हैं कि (क्लेशकर्म०)। श्रवीत् इसी प्रकरण में आगे लिखे हैं जो श्रविद्यादि पांच क्लेश और श्रच्छे बुरे कर्मों की जो २ वासना इन सब से जो सदा श्रालग श्रीर वन्धराहित है उसी पूर्ण पुरुष को ईश्वर कहते हैं। फिर वह कैसा है जिससे श्रिधिक वा तुल्य दूसरा पदार्थ कोई नहीं, तथा जो सदा श्रानन्द-क्रानस्वरूप, सर्वशिक्तमान् है उसी को ईश्वर कहते हैं। क्योंकि ॥ १३ ॥ (तत्र

निरित) जिस में नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है वही ईश्वर है। जिसके ज्ञानादि गुरा अनन्त हैं, जो ज्ञानादि गुराों की पराकाष्टा है, जिसके सामध्यं की अवधि नहीं। और जीव के सामध्यं की अवधि प्रत्यन्न देखने में आती है। इसिलिये सब जीवों को उचित हैं कि अपने ज्ञान बढ़ाने के लिये सदेव परमेश्वर की उपासना करते रहें।। १४।। अब उस की भिक्त किस प्रकार से करनी चाहिये सो आगे लिखते हैं। (तस्य बा॰) जो ईश्वर का आंकार नाम है सो पिता पुत्र के सम्बन्ध के समान है और यह नाम ईश्वर को छोड़ के दूसरे अर्थ का बाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं उनमें से आंकार सब से उत्तम नाम हैं। इसिलिये।। १५।। (तज्ञप०) इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थविचार सदा करना चाहिये कि जिससे उपासक का मन एकाव्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो, जिससे उस के हदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेमभिक्त सदा बढ़ती जाय। फिर उससे उपासकों को यह भी फल होता है कि।। १६।।

किंचास्य भवति १। ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्र ॥ १८ ॥ अ०१। पा०१। मू० २६।। भा० ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदी-रवरप्रशिधानाम भवन्ति । स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति । यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवल अनुपसर्गः, तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदीयः पुरुष इत्येवमधिगच्छति !! श्रथ केऽन्तरायाः ये चित्तस्य विचेपकाः १ के पुनस्ते कियन्ता वेति १ ॥ १८ ॥ व्याधिस्त्यानसंशयत्रमादालस्याविरतिश्रान्तिदर्शनालव्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविद्येपास्तेऽन्तरायाः ॥ १६ ॥ श्र० १ । पा० १ । सू० ३० ॥ भा० नवा-न्तरायाश्चित्तस्य विद्येषाः, सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्त्येतेषामभावे न भवन्ति पूर्वीक्वा-श्चित्तवृत्तयः। व्याधिर्धातुरसकरण्यैषम्यम्, स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य, संशय उभयकोटिस्पृक् विज्ञानं स्यादिदमेवं नेवं स्यादिति । प्रमादः समाधिसाधनानाम-भावनम्, श्रालस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः । श्राविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्द्धः । भ्रान्तिद्र्शनं विपर्ययज्ञानम् । अलब्धभूमिकत्वं समा-धिभूमेरलाभः । अनवस्थितन्त्रं यद्मब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा, समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदैवस्थितं स्यादिति । एते चित्तवित्तेषा नव योगमला योगप्रतिपत्ता योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते ॥ १६ ॥ दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विचेपसइभ्रुवः ॥ १६ ॥ अ०१। पा०१। सू०३१ ॥ भा० दुःखमा-

ध्यात्मिकं, श्राधिभौतिकं, श्राधिदैविकं च । येनाभिहताः गागिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम् । दीर्मनस्यम् इच्छाभिघाताचेतसः चोभः । यद्कनन्येजयति कंपयति तद्क्षमेजयत्वम् । पाणो यद्वाशं वायुमाचामति स श्वासः यत्कौष्ट्रचं वायुं निस्सारयति स प्रश्वासः । विद्येपसहभुवः । विद्यिप्तचित्तस्येते भवन्ति समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति । त्र्रथैते विचेपाः समाधिप्रतिपद्याः ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः । तत्राभ्यासस्य विषयम्रुपसंहराश्वद-माइ ॥ १६ ॥ तत्प्रतिषेघार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ २० ॥ ग्र० १ । पा० १ । ह्य० ३२ ।। भा० विच्लेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तमभ्यस्येत् । यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं चाणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं, नास्त्येव विचिष्तम् । यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येका-व्रिमत्यतो न प्रत्यर्थनियतम् । योपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते, तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहाचित्तस्य धर्मः, तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं चाणिकत्वात् । श्रथ प्रवाहांशस्येव प्रत्ययस्य धर्मः, स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्य-यप्रवाही वा, प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विज्ञिप्तचित्तानुपपत्तिः । तस्मादेकम-नेकार्थमवस्थितं चित्तमिति । यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्, श्रथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्पत्ती भवेत् । श्रन्यप्र-त्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ना भवेत् । कथिन्चित्समाधीय-मानमप्येतद् गोमयपायसीयं न्यायमाचिपति । किंच स्वात्मानुभवापह्ववः चित्त-स्यान्यत्वे प्राप्नोति । कथम् १यदइमद्रात्तं तत् स्पृशामि, यच्चास्पार्त्तं तत्पश्यामीति । अहमिति प्रत्ययः कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्त्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमा-श्रयेत् । स्वानुभवग्राह्यश्रायमभेदात्मा श्रहमिति प्रत्ययः । नच प्रत्यवस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभ्रयते । प्रमाणान्तरञ्च प्रत्यत्तवलेनैव व्यवहारं लभते । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम् । यस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम ? ॥ २० ॥

भाषार्थ

इस मनुष्य को क्या होता हैं ? । (ततः प्र०) अर्थात् उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति और (अन्तराय) उस के अविद्यादि क्रेशों तथा रोगरूप विद्नों का नाश हो जाता है। वे विद्र नव प्रकार के हैं ।। २७ ।। (व्याधि) एक व्याधि अर्थात् धातुक्रों की विषमता से ज्वर त्रादि पीड़ा का होना । (दसरा) स्त्यान श्रार्थात् सत्य कर्मों में श्राप्रीति । (तीसरा) संशय श्रार्थात् जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे उस का यथावत् ज्ञान न होना । (चौथा) प्रमाद ऋथीत् समाधिसाधनीं के प्रहरण में प्रीति श्रौर उनका विचार यथावत् न होना। (पांचवां) श्रालस्य अर्थात् शरीर और मन में आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना । (छठा) अविरति अर्थात् विषय सेवा में तृष्णा का होना । (सातवां) भ्रान्तिदरीन अर्थात् उत्तरे ज्ञान का होना । जैसे जड़ में चेतन श्रीर चेतन में जड़बुद्धि करना तथा ईश्वर में श्रनीश्वर श्रीर श्रनीश्वर में ईश्वरभाव करके पूजा करना। (श्राठवां) श्रलब्धभूमि-कत्व श्रर्थात् समाधि की प्राप्ति न होना । श्रौर (नववां) श्रनवस्थितत्व श्रर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर भी उस में चित्त स्थिर न होना । ये सब चित्त की समाधि होने में विद्येप अर्थात उपासनायोग के शत्र हैं ।। १६ ॥ अब इन के फल लिखते हैं (द:खदौर्म ०) । श्रर्थात् दःख की प्राप्ति, मनका दुष्ट होना, शरीर के श्रवयवों का कम्पना, श्वास और प्रश्वास के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेशों का होना जो कि चित्त को विज्ञिप्त कर देते हैं। ये सब केलश श्रशान्त चित्तवाले को प्राप्त होते हैं शान्तचित्तवाले को नहीं। ऋौर उन के छुड़ाने का मुख्य उपाय यही है ॥ २०॥ कि (तत्प्रतिषेधा०) जो केवल एक श्रद्धितीय ब्रह्मतत्त्व है उसी में प्रेम श्रीर सर्वदा उसी की श्राज्ञा पालन में पुरुषांध करना है वही एक उन विघ्नों के नाश करने की वन्नहप शख्न है ऋन्य कोई नहीं। इसलिये सब मनुष्यों को अच्छी प्रकार प्रेमभाव से परमेश्वर के उपासनायोग में नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये कि जिससे वे सब विन्न दूर हो जायं। आगे जिस भावना से, उपासना करने वाले को व्यवहार में श्रपने चित्त को. प्रसन्न करना होता है सो कहते हैं ॥ २० ॥

मैत्रीकरुणामुदितोपेचाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तः प्रसादनम् ॥ २१ ॥ अ० १ । पा० १ । स० ३३ ॥ भा० तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंमोगापश्चेषु मैत्रीं भावयेत्, दुःखितेषु करुणां, पुण्यात्मकेषु मृदितां, अ-पुण्यशीलेषुपेचाम् । एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म जपजायते । ततश्च चित्तं प्रसीदित । प्रसन्तमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥ २१ ॥ प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां ना प्राणस्य ॥ २२ ॥ अ० १ । पा० १ । स० ३४ ॥ भा० कोष्ठचस्य वायोनीसि-कापुटाम्यां प्रयत्नविशेषाद्दमनं प्रच्छर्दनं, विधारणं प्राणायामः । ताभ्यां वा

मनसः स्थिति सम्पादयेत् । छर्दनं भित्तान्त्रवमनवत् प्रयत्नेन शरीरस्थं प्राणं बाह्यदेशं निरसार्य्य यथाशाकि बहिरेव स्तम्भनेन चित्तस्य स्थिरता सम्पादनीया ।। २२ ।। योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धित्तये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।। २३ ।। अ०१। पा० २ । स्० २८ ।। एषाम्रपासनायोगाङ्गानामनुष्टानाचरणादशुद्धिरज्ञानं प्रति-दिनं चीणं भवति ज्ञानस्य च वृद्धियीवन्मोत्तप्राप्तिभवति ॥ २३ ॥ यमनियमास-नप्राणायामप्रत्याद्वारघारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २४ ॥ श्र० १ । पा० २ । स् ० २६ ।। तत्राहिंसासत्यास्त्येयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ २६ ॥ श्र० १ । पा० २ । स्र० ३० ॥ भा० तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभृतानामनभिद्रोहः । उत्तरे च यमनियमास्तन्यूलास्तित्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते । तद-वदातरूपकारणायैवोपादीयन्ते, (तथा चोक्नम्), स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहानि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदाभ्यो निवर्त्तमान-स्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति । सत्यं, यथार्थे वाङ्मनसे । यथा दृष्टं, यथाऽनु-मितं, यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्रेति । परत्र स्ववोधसङ्कान्तये वागुका सा यदि न विष्टिचता आन्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेत् । इत्येषा सर्वभूतोपकारार्थं प्र वृत्ता, न भूतोपघाताय । यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैवस्यात्र सत्यं भवेत् , पापमेव भवेत् । तेन पुरायाभासेन पुरायप्रकृतिरूपकेन कष्टं तमः प्राप्तु-यात् । तस्मात्परीच्य सर्वभूतहितं सत्य ब्र्यात् । स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयामिति । ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्यो-षस्थस्य संयमः। विषयाणामर्जनरत्त्रणत्त्रयसङ्गहिंसादोषदशेनादस्वीकरणमपरिग्रहः। इत्येते यमाः ॥ २४ ॥ एषां विवरणं प्राकृतभाषायां वच्यत ।

भाषार्थ

(मैत्री) त्रार्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुस्ती हैं उन सबों के साथ मित्रता करना। दुःखियों पर कृपादृष्टि रखनी। पुण्यात्माओं के साथ प्रसम्बता। पापियों के साथ उपेचा अर्थात् न उनके साथ प्रीति रखना और न वैर ही करना। इस प्रकार के वर्त्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है।। २२।। (प्रच्छर्दन०) जैसे भोजन के पछि किसी प्रकार से वमन हो जाता है वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुख-पूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे, पुनः धीरे २ भीतर लेके पुनरिप

ऐसे ही करे । इसी प्रकार वारंवार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वरा में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से श्रात्मा भी स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप श्चर्न्तयामी व्यापक परमेश्वर है उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये। जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है फिर गोता लगा जाता है इसी प्रकार अपने श्रात्मा को परमेश्वर के बीच में वारंवार मग्न करना चाहिये ।। २३ ॥ (योगा-क्नानः) श्रागे जो उपासनायोग के स्नाठ श्रङ्ग लिखते हैं जिनके श्रनुष्ठान से श्रवि-शादि दोषों का चय श्रीर ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोच्न को प्राप्त हो जाता है । २४ ।। (यमनियमा०) अर्थात् एक (यम), दृसरा (नियम), तीसरा (आसन), चौथा (प्रागायाम), पांचवां (प्रत्याहार), छठा (धारणा). सातवां (ध्यान) और त्राठवां (समाधि) ये सव उपासनायोग के श्रङ्ग कहाते हैं श्रीर श्राठ श्रङ्गों का सिद्धान्तरूप फल संयम है ।। २५ ।। (तत्राहिंसा०) उन श्राठों में से पहिला यम है। सो पांच प्रकार का है। एक (श्रहिंसा) श्रर्थात् सब प्रकार से, सब काल में, सब प्राणियों के साथ, बैर छोड़ के प्रेम प्रीति से वर्त्तना । दसरा (सत्य) अर्थात् जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही सत्य बोले, करे और माने। तिसरा (श्रास्तेय) श्रार्थात् पदार्थ वाले की श्राज्ञा के विना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना, इसी को चोरीत्याग कहते हैं। चौथा (ब्रह्मचर्घ्य) अर्थात विद्या पढ़ने के लिये बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना और पच्चीसर्वे वर्ष से लेके श्राङ्तालीस वर्ष पर्य्यन्त विवाह का करना, परस्त्री, वेश्या श्रादि का त्यागना, सदा ऋतुगामी होना, विद्या को ठीक २ पढ़ के सदा पढ़ाते रहना श्रीर उपस्थ इन्द्रिय का सदा नियम करना। पांचवां (श्रपरिग्रह) श्रर्थात् विषय श्रीर श्रभिमानादि दोषों से रहित होना, इन पांचों का ठीक २ श्रनुष्टान करने से उपासना का बीज बोया जाता है। दूसरा, श्रङ्ग उपासना का नियम है जो कि पांच प्रकार का है।। २४।।

॥ ते तु ॥ शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रसिधानानि नियमाः ॥ २६ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ३२ ॥ शौचं बाह्यमाम्यन्तरं च । बाह्यं जलादिना-ऽऽम्यन्तरं रागद्वेषाऽसत्यादित्यागेन च कार्यम् । संतोषो, धर्मानुष्ठानेन सम्यक् प्रसमता सम्पादनीया । तपः, सदैव धर्मानुष्ठानमेव कर्त्तव्यम् । [स्वाध्यायः]

वेदादिसत्यशास्त्राणामध्ययनाध्यापने प्रणवजपो वा । ईश्वरप्रिण्धानम्, परमगुरवे परमेश्वराय सर्वात्मादिद्रव्यसमपणामित्युपासनायाः पञ्च नियमा द्वितीयमङ्गम् ॥ २६ ॥ त्रथाहिंसा धर्मस्य फलम् ॥ श्राहेंसाप्रतिष्ठायां तत्सिश्चयौ
वैरत्यागः ॥ २० ॥ त्रथ सत्याचरणस्य फलम् ॥ सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ २० ॥ त्रथ चौरीत्यागफलम् ॥ अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ २६ ॥ त्रथ ब्रह्मचर्याश्रमानुष्ठानेन यद्धभ्यते तदुच्यते ॥ ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३० ॥ अथापरिग्रहफलग्रुच्यते ॥ अपरिग्रहस्थैय्ये जन्मक्यंता
संबोधः ॥ ३१ ॥ त्रथ शौचानुष्ठानफलम् ॥ शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परेरसंसर्गः
॥ ३२ ॥ किंच सत्वशुद्धिसोमनस्यैकाग्रेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥३३॥
संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ३४ ॥ कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिच्यात्तपसः ॥ ३५ ॥
स्वाध्यायादिष्टदेवता संप्रयोगः ॥ ३६ ॥ समाधिसिद्धिरीश्वरप्रिण्धानात् ॥ ३७॥
योग० त्र० १ । पा० १ । स० ३५ । ३६ । ३० । ३८ । ३६ । ४० । ४१ ।

माषार्थ

(पहिला) (श्रोच) अर्थात् पिवत्रता करनी सो भी दो प्रकार की हैं। एक भीतर की और दूसरी बाहर की। भीतर की शुद्धि धर्माचरण, सत्यभाषण, विद्या-भ्यास, सत्सङ्ग आदि शुभगुणों के आचरण से होती हैं और बाहर की पिवत्रता जल आदि से, शरीर स्थान मार्ग वस्त्र खाना पीना आदि शुद्ध करने से होती हैं। (दूसरा) (सन्तोप) जो सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना और दुःख में शोकातुर न होना, किन्तु आलस्य का नाम सन्तोष नहीं है। (तीसरा) (तपः) जैसे सोने को अगिन में तपा के निर्मल कर देते हैं वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभगुणों के आचरणहूप तप से निर्मल कर देना। (चौथा) (स्वाध्याय) अर्थात् मोच्चिद्याविधायक वेद शास्त्र का पढ़ना पढ़ाना और ओंकार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना कराना और (पांचवां) (ईश्वरप्रणिधानम्) अर्थात् सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण, आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिये समर्पण करना, ये पांच नियम भी उपासना का दूसरा आङ्ग है। अब पांच यम और पांच नियमों के यथावत् अनुष्ठान का फल कहते हैं । २६।। (अहिंसाप्र०) अर्थात् जब आहिंसा धर्म निश्चय हो जाता है तब उस

पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाता है, किन्तु उस के सामने वा उस के सङ्ग से श्रन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है ।। २७ ।। (सत्यप्र०) तथा सत्याचरण का ठीक २ फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता श्रीर करता है तब वह जो २ योग्य काम करता श्रीर श्ररना चाहता है वे २ सब सफल हो जाते हैं।। २८ ।। चोरीत्याग करने से यह बात होती है कि (अस्तेय०) अर्थात् जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है तब उसको सब उत्तम २ पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं। श्रीर चोरी इसका नाम है कि मालिक की आज्ञा के विना अधर्म से उसकी चीज को कपट से वा छिपाकर ले लेना ।। २६ ।। (ब्रह्मचर्य०) ब्रह्मचर्य सेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थ इन्द्रिय का संयम रक्खे, वेदादि शास्त्रों को पढ़ता पढ़ाता रहे, विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे श्रौर परस्त्रीगमन श्रादि व्यभिचार को मन कर्म वचन से त्याग देवे। तब दो प्रकार का वीर्य श्रर्थात् बल बढ़ता है। एक शरीर का दूसरा बुद्धि का। उस के बढ़ने से मनुष्य श्रात्यन्त श्रानन्द में रहता है ॥ ३० ॥ (श्रपरिग्रहस्थै ०) श्रपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासिक से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब मैं कौन हूं, कहां से आया हूं और मुक्त को क्या करना चाहिये अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा इत्यादि शुभ गुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है। ये ही पांच यम कहाते हैं। इन का प्रहण करना उपासकों को श्रवश्य चाहिये ।। ३१ ।। परन्तु यमों का नियम सहकारी कारण है, जो कि उपासना का दसरा श्रंग कहाता है श्रौर जिसका साधन करने से उपासक लोगों का श्रत्यन्त सहाय होता है। सो भी पांच प्रकार का है। उन में से प्रथम शौच का फल लिखा जाता है (शौचात्स्वां०) पूर्वोक्त दो प्रकार के शौच करने से भी जब अपना शरीर श्रीर उस के सब श्रवयव बाहर भीतर से मलीन ही रहते हैं, तब श्रीरों के शरीर की भी परीचा होती है कि सब के शरीर मल श्रादि से भरे हुए हैं। इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से ऋपना शरीर मिलाने में घृणा ऋर्थात् संकोच कर के सदा ऋलग रहता है।। ३२।। श्रोर उसका फल यह है कि (किञ्च०) श्रर्थात् शौच से अन्त:करण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकामता, इन्द्रियों का जय तथा श्रात्मा के देखने ऋर्थात जानने की योग्यता प्राप्त होती है। तदनन्तर ।। ३३॥ (संतोषाद०)

अर्थात् पूर्वोक्त संतोष से जो सुख मिलता है वह सब से उत्तम है और उसी को मोज्ञ सुख कहते हैं ।। ३४ ।। (कायेन्द्रिय०) श्रर्थात् पूर्वोक्त तप से उन के शरीर और इन्द्रियां श्रशुद्धि के ज्ञय से दृढ़ होके सदा रोगरहित रहती हैं । तथा ।। ३४ ।। (स्वाध्याय०) पूर्वोक्त स्वाध्याय से इष्ट देवता श्रर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग श्रर्थात् सामा होता है । फिर परमेश्वर के श्रनुप्रह का सहाय, श्रपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शिव्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है । तथा ।। ३६ ।। (समाधि०) पूर्वोक्त प्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है । तथा ।। ३७ ।।

तत्र स्थिरसुखमासनम् ॥ ३८ ॥ ऋ०१ । पा०२। सू० ४६ ॥ भा० तद्यथा पद्मासनं, वीरासनं, भद्रासनं, स्वस्तिकं, दण्डासनं, सोपाश्रयं, पर्य्यक्कं, क्रौञ्चनिषद्नं, इस्तिनिषद्नमुष्ट्रनिषद्नं, समसंस्थानं, स्थिरसुखं, यथासुखं चेत्ये-वमादीनि ॥ २८ ॥ पद्मासनादिकमासनं विदध्यात्, यद्वा यादशीच्छा तादशमा-सनं कुर्यात् ॥ ३८ ॥ ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ३६ ॥ ऋ०१ । पा०२ । सू० ४८ ।। मा० शीतोध्यादिाभेर्बन्द्वैरासनजयानाभिभूयते ॥ ३६ ॥ तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोगितिविच्छेदः प्रागायामः ॥ ४०॥ अ०१। पा०२। सू०४६॥ भा० सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः कोष्ठयस्य वायोर्निस्सारणं प्रश्वा-सस्तयोगीतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥ ४० ॥ त्रासने सम्यक् सिद्धे कृते बाह्याभ्यन्तरगमनशीलस्य वायोर्धुक्रचा शनैः शनैरभ्यासेन जयकरणमर्थात् स्थिरी-कृत्य गत्यभावकरणं पाणायामः ॥ ४० ॥ स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्मवृत्तिर्देशका-लसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूच्मः ॥ ४१ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ४० ॥ भा० यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः, यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः सत्र्याभ्यन्तरः, वृतीयस्तम्भवृत्तिर्यत्रोमयाभावः सक्रत्प्रयत्नाद्भवति, यथा तप्तन्यस्तप्रुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्धुगपद्गत्यभाव इति ॥ ४१ ॥ बालबुद्धिमिरङ्गु-ल्यङ्गुष्टाभ्यां नासिकाचिद्रमवरुध्य यः प्राणायामः क्रियते स खलु शिष्टैस्त्याज्य एवास्ति । किन्त्वत्र बाह्याभ्यन्तराङ्गेषु शान्तिशैथिल्ये सम्पाद्य, सर्वाङ्गेषु यथावत् स्थितेषु सत्सु, बाह्यदेशं गतं प्राणं तत्रैव यथाशाक्ति संरुध्य प्रथमो बाह्याख्यः प्राणा-यामः कर्त्तव्यः, तथोपासकैयीं बाह्यादेशादन्तः प्रविशति तस्यायभ्यन्तर एव यथा-शक्ति निरोधः कियते, स आभ्यन्तरो बितीयः सेवनीयः । एवं बाह्याभ्यन्तराभ्या-

मनुष्ठितास्यां द्वास्यां कदाचिदुभयोर्धुगपत्संरोधो यः कियते स स्तम्भवृत्तिस्तृतीयः प्राणायामोऽस्यसनीयः ॥ ४० ॥ बाह्यास्यन्तरिवयाचेपी चतुर्थः ॥ ४१ ॥ अ० १ : पा० २ । द्व० ५१ ॥ भा० देशकालसंख्याभिर्वाद्वाविषयः परिदृष्ट आचिप्तः तथास्यन्तरिवषयः परिदृष्ट आचिप्तः नभयथा दीर्धमूच्मः तत्पूर्वको भूमिजयात् कमेणोभयोर्गत्यमावश्रतुर्थः प्राणामस्तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकु-द्वारुष्य एव देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्धमूच्मश्रतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विष्यावधारणात् कमेण भूमिजयादुभयाचेपपूर्वको गत्यभावश्रतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेष इति यः प्राणायाम अभयाचेपी स चतुर्थो गद्यते । तद्यथा यदो-दराद् बाह्यदेशं प्रतिगन्तुं प्रथमचणे प्रवर्तते तं सलच्यं पुनः बाह्यदेशं प्रत्येव प्राणाः प्रचेप्तन्याः पुनश्र यदा बाह्यदेशादास्यन्तरं प्रथममागच्छेत्तमास्यन्तर एव पुनः प्रथाशक्ति गृदीत्वा तत्रैव स्तस्भयेत्स द्वितीयः । एवं द्वयोरेतयोः कमेणाभ्यासेन गत्यभावः कियते स चतुर्थः प्राणायामः । यस्तु खलु तृतीयोस्ति स नैव बाह्यस्यन्तराभ्यासस्यापेचां करोति किन्तु यत्र यत्र देशे प्राणो वर्तते तत्र तत्रैव सकुत्स्तस्भनीयः । यथा किमप्यद्भुतं दृष्ट्वा मनुष्यश्रकितो भवति तथैव कार्य्यमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

भाषार्थ

(तत्र स्थिर०) अर्थात् जिस में सुखपूर्वक शरीर श्रीर श्रात्मा स्थिर हो उसको श्रासन कहते हैं। श्रथवा जैसी रुचि हो वैसा श्रासन करे।। ३८।। (ततो द्वन्द्वा०) जब श्रासन टढ़ होता है तव उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता है श्रीर न सर्दी गर्मी श्रिधक बाधा करती है।। ३९॥ (तिस्मिन्सिति०) जो वायु बाहर से भीतर को श्राता हैं उस को श्वास श्रीर जो भीतर से बाहर जाता हैं उस को प्रधास कहते हैं। उन दोनों के जाने श्राने को विचार से रोके। नासिका को हाथ से कभी न पकड़े। किन्तु झान से ही उस के रोकने को प्राणायाम कहते हैं श्रीर यह प्राणायाम चार प्रकार से होता है।। ४० । (स तु बाह्या) श्रथीत एक बाह्य विषय, पृसरा श्राभ्यन्तर विषय, तीसरा स्तम्भवृत्ति श्रीर चौथा जो बाहर भीतर रोकने से होता है।। ४१॥ अर्थात् जो कि (बाह्याभ्यं०) इस सूत्र का विषय। वे चार प्राणायाम इस प्रकार के होते हैं कि जब भीतर से बाहर को श्वास निकले तब उस को बाहर ही रोक दे, इस को प्रथम प्राणायाम कहते हैं। जब

बाहर से श्वास भीतर को द्यावे तब उस को जितना रोक सके उतना भीतर ही रोक दे, इस को दूसरा प्राणायाम कहते हैं। तिसरा स्तम्भवृत्ति है कि न प्राण को बाहर निकाले द्योर न बाहर से भीतर लेजाय, किन्तु जितनी देर सुख से हो सके उस को जहां का तहां ज्यों का त्यों एक दम रोक दे। द्योर चौथा यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को त्यावे तब बाहर ही कुछ र रोकता रहे द्योर जब बाहर से भीतर जावे तब उस को भीतर ही थोड़ा र रोकता रहे, इस को बाह्याभ्यन्तराद्येपी कहते हैं। श्रीर इन चारों का अनुष्ठान इसिलये है कि जिससे विस्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे।। ४२।।

ततः चीयते प्रकाशावरणम् ॥ ४२ ॥ ऋ० १ । पा०२ । स्०५२ ॥ एवं प्राणायामाभ्यासाचत्परमेशवरस्यान्तर्यामिनः प्रकाशसत्यविवेकस्यावरणाख्यम-ज्ञानमस्ति तत्त्रीयते चयं प्रामोतीति ।। ४२ ।। किंच धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ४३ ॥ ऋ० १ । पा० २ । स्व० ५३ ॥ भा० प्राणायामाभ्यासादेव प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्येति वचनात् ॥ ४३ ॥ प्राणायामानुष्ठानेनोपा-सकानां मनसो ब्रह्मध्याने सम्यग्योग्या भवति ॥ ४३ ॥ श्रथ कः प्रत्याहारः १ । स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ४४ ॥ श्र**० १ । पा० २ । स्० ५४ ।। यदा चित्तं जितं** भवति परमेश्वरस्मरणालम्बना-द्विषयान्तरे नैव गच्छति तादिन्द्रियाणां प्रत्याहारोऽर्थाश्विरोघो भवति । कस्य केषामिव १ यथा चित्तं परमेश्वरस्वरूपस्थं भवति । तथैवेन्द्रियाएयप्यर्थाधित्ते जिते सर्विमिन्द्रियादिकं जितं भवतीति विश्लेयम् ॥ ४४ ॥ ततः परमावश्यतेन्द्रि-यागाम् ॥ ४५ ॥ ऋ० १ । पा० २ । सू० ५५ ॥ ततस्तदनन्तरं स्वस्त्रविषया-संप्रयोगेऽर्थात्स्वस्वविषया।श्रेवृत्तौ सत्यामिन्द्रियाणां परमा वश्यता यथाविष्ठजयो जायते । स उपासको यदा यदेश्वरोपासनं कर्त्तुं प्रवर्त्तते तदा तदैव चित्तस्येन्द्रि-याणां च वश्यत्वं कर्तुं शक्नोतीति ॥ ४५ ॥ देशवन्धश्रित्तस्य धारणा॥ ४६ ॥ अ०१। पा०३। स०१॥ भा० नामिचके, हृदयपुण्डरीके, मूर्धिन, ज्योतिषि, नासिकांग्रे, जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति बन्धो धारणा ॥ ४६ ॥ तत्र प्रत्ययेकतानता ध्यानम् ॥ ४७ ॥ अ० १। पा० ३ । सू० २ ॥ तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्यान्तरेखापरामृष्टो ध्यानम् ॥ ४७ ॥ तदेवार्थमात्रानिर्भासं स्वरूपशून्यमिव

समाधिः ॥ ४८ ॥ अ० १ । पा० ३ । स्० ३ ॥ ध्यानसमाध्योरयं भेदः, ध्याने मनसो ध्यानृध्यानध्येयाकारेण विद्यमाना वृत्तिर्भवति, समाधौ तु परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्य इव भवतीति ॥ ४८ ॥ त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४८ ॥ अ० १ । पा० ३ । स्० ४ ॥ भा० तदेतद् धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः । एकाविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते । तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति ॥ ४८ ॥ संयमश्रोपासनाया नवमांगम् ।

भाष.र्थ

इस प्रकार प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का ढांकने वाला आवरण जो अज्ञान है वह नित्यप्रति नष्ट होता जाता है श्रीर ज्ञान का प्रकाश धीरे २ वढ़ता जाता है। उस श्रभ्यास से यह भी फल होता है कि। ४३।। (किञ्च धारणा॰) परमेश्वर के बीच में मन और आत्मा की धारणा होने से मोचापर्यन्त उपासनायोग श्रौर ज्ञान की योग्यता बढ़ती जाती है। तथा उससे व्यवहार श्रौर परमार्थ का विवेक भी बराबर बढ़ता रहता है। इसी प्रकार प्राणायाम करने से भी जान लेना ॥ ४४ ॥ (स्वविषया०) प्रत्याहार उस का नाम है कि जब पुरुष श्रपने मन को जीत लेता है तब इन्द्रियों का जीतना श्रपने श्राप हो जाता है, क्योंकि मन ही इन्द्रियों का चलाने वाला है ॥ ४४ ॥ (ततः पर०) तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहां ऋपने मन को ठहराना वा चलाना चाहे उसी में ठहरा श्रीर चला सकता है। फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, श्रसत्य में कभी नहीं ॥ ४६ ॥ (देशवं०) जब उपासना योग के पूर्वीक पांचों श्रङ्ग सिद्ध हो जाते हैं तब उसका **छठा श्रङ्ग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है। (धारणा) उसको कहते हैं कि मन** को चञ्चलता से छुड़ा के नाभि. हृदय, मस्तक, नासिका श्रौर जीभ के श्रमभाग श्रादि देशों में स्थिर करके श्रोंकार का जप श्रीर उस का श्रर्थ जो परमेश्वर है उस का विचार करना । तथा ।। ४७ ॥ (तत्र प्र०) धारणा के पछि उसी देश में ध्यान करने श्रौर श्राश्रय लेने के योग्य जो श्रन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है उस के प्रकाश श्रीर श्रानन्द में श्रत्यन्त विचार श्रीर प्रेम भाक्त के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बचि में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप श्रीर ज्ञान में मग्न हो जाना, इसी का नाम ध्यान है। इन सात

श्रङ्गों का फल समाधि है।। ४८॥ (तदेवार्षं०) जैसे श्राम्त के बीच में लोहा भी श्राम्तरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके, अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जान के, आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं। ध्यान और समाधि में इतना ही भेद हैं कि ध्यान में तो ध्यान करने वाला जिस मन से जिम चीज का ध्यान करता है वे तीनों विद्यमान रहते हैं। परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के श्यानन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है, वहां तीनों का भेदभाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुवकी मारके थोड़ा समय भीतर ही कका रहता है वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न हो के फिर वाहर को श्रा जाता है।। ४९॥ (त्रयमेकत्र०) जिस देश में धारणा की जाय उसी में ध्यान श्रोर उसी में समाधि श्रर्थात् ध्यान करने के योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को संयम कहते हैं। जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है, श्रर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है उन में बहुत सूदम कालका भेद रहता है। परन्तु जब समाधि होती है तब श्रानन्द के बीच में तीनों का फल एक ही होजाता है।। ४०॥

अथोपासनाविषये उपनिषदां प्रमाणानि

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।। कठोपनि० अ०१ । वल्ली०२ । मं० २४ ।। तपःश्रद्धे ये द्युपसन्त्यरपय शान्ता विद्वांसो भैच्यचय्याँ चरन्तः । स्वर्यद्वारेण ते विरज्ञाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो स्वव्ययात्मा ।। २ ।। स्वग्ड०१ । ख०२ । मं०११ ।। अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुग्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तरा-काशस्तिस्मन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।। ३ ।। तं चेद् ब्र्युर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुग्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ ४ ॥ स ब्र्याद्यावान्वा अयम्माकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृद्य आकाश उमे आस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च स्वर्याचन्द्रमसावुमौ विद्युन्नद्वाराणि यच्चास्येहास्ति यच नास्ति सर्वं तदिस्मन् समाहितोमिति ॥ ४ ॥ तं चेद् ब्र्युरस्मिश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वश्समा- हित्रसर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैनज्जरावाप्नोति प्रध्वश्सते वा किं

ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ६ ॥ स ब्र्याकास्य जरयेतज्जीर्य्यति न वधेनास्य इन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिता एप आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु-विशोको विजियत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्करणो यथाद्येवेह प्रजा अन्वाविश्वान्ति यथानुशासनं यं यमन्तमिकामा भवन्ति यं जनपदं यं चेत्रभागं तं तमेवापजीवन्ति ॥ ७ ॥ छान्दोग्योपनि० प्रपा० = । खं० १ । म० १ । २ । ३ । ४ ॥ यस्य सर्वस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते । सेयं तस्य परमेश्वरस्योपासना द्विविधास्ति । एका सगुणा द्वितीया निर्गुणा चेति । तद्यथा । (स पर्य्यगाच्छुक्र०) इत्यस्मिन् मन्त्रे शुक्तशुद्धमिति सगुणोपासनम् । अकायमन्वणमस्नाविरमित्यादि निर्गुणोपासनं च। तथा । एको देवः सर्वभृतेषु गृद्धः सर्वव्यापी सर्वभृतान्तरात्मा । सर्वोध्यद्धः सर्वभृताधिवासः साची चेता केवलो निर्गुणश्राश्वा

भाष्यम्

यह उपासनायोग दुष्ट मनुष्य को मिद्ध नहीं होता । क्योंकि (नाविरतो०) जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से घलग होकर श्रापने मन को शान्त और श्रात्मा को पुरुषार्थी नहीं करता, तथा भीतर के ज्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तव तक कितना ही पढ़े वा सुने उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥ १ ॥ (तपःश्रद्धे०) जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उस की आज्ञा में श्रायन्त प्रेम कर के श्रारण्य त्रर्थात् शुद्ध हृदयरूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं। जो लोग अधर्म के छोड़ने और धर्म के करने में हड़, तथा वेदादि सत्य विद्यात्रों में विद्वान हैं, जो भिचाचर्य श्रादि कर्म करके संन्यास वा किसी श्रन्य श्राश्रम में हैं, इस प्रकार के गुणवाले मनुष्य (सूर्य्यद्वारेण०) प्राणद्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य में प्रवेश करके, (विरजा:) अर्थान सब दोषों से छट के, परमानद्द मोच को प्राप्त होते हैं, जहां कि पूर्ण पुरुष, सब में भरपूर, सब से जूहम, (ऋमृत:) श्रर्थात् श्रविनाशी श्रौर जिस में हानि लाभ कभी नहीं होता ऐसे परमेश्वर को प्राप्त होके सदा त्र्यानन्द में रहते हैं। जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपा-सना करके उस में प्रवेश किया चाहें उस समय इस रीति से करें कि ।। २ ।। (श्रथ यदिद०) कएठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में श्रीर उदर के ऊपर जो हद-यदेश है, जिस को ब्रह्मपुर श्रर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उस के वीच में जो गर्त है उस में कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है, और उस

के बीच में जो सर्वशाकिमान परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह श्रानन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है।। ३।। श्रौर कदा-चित् कोई पूछे कि (तं चेद् ब्रूयु०) श्रर्थात् उस हृदयाकाश में क्या रक्खा है जिसकी खोजना की जाय ? तो उसका उत्तर यह है। कि ॥ ४ ॥ (स बूयादा०) हृदय देश में जितना आकाश है वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर ही से भररहा है और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य आदि प्रकाश तथा पृथिवीलोक, आगि, वायु, सूर्य, चन्द्र, बिजुली श्रोर सब नचत्र लोक भी ठहर रहे हैं। जितने दीखने वाले श्रोर नहीं दीखने वाले पदार्थ हैं वे सब उसी की सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं।। ४।। (तं चेद् ब्रुयु०) इसमें कोई ऐसी शङ्का करे कि जिस ब्रह्मपुर हृद्याकाश में सब भूत श्रीर काम स्थिर होते हैं उस हृदयदेश के वृद्धावस्था के उपरान्त नाश हो जाने पर उस के बीच में क्या वाकी रह जाता है कि जिस को तुम खोजने को कहते हो ? तो इसका उत्तर यह है ।। ६ ।। (स ब्रूयात्) सुनो भाई ! उस ब्रह्मपुर में जो परिपूर्ण परमेश्वर है उस को न तो कभी वृद्धावस्था होती है और न कभी नाश होता है। उसी का नाम सत्य ब्रह्मपुर है कि जिस में सब काम परिपूर्ण होजाते हैं। वह (अपहतपाप्मा०) श्रर्थात् सब पापों से रहित शुद्धस्वभाव, (विजरः) जरा श्रव^{स्}थाराहत, (विशोकः) शोक-रहित, (विजियत्सोऽपि०) जो खाने पीने की इच्छा कभी नहीं करता, (सत्यकामः) जिस के सब काम सत्य हैं, (सत्यसंकल्पः) जिस के सव संकल्प भी सत्य हैं, उसी श्राकाश में प्रलय होने के समय सब प्रजा प्रवेश कर जाती है श्रीर उसी के रचने से उत्पत्ति के समय फिर प्रकाशित होती है। इस पूर्वोक्त उपासना से उपासक लोग जिस २ काम की, जिस २ देश की, जिस २ चेत्रभाग अर्थात् अवकाश की इच्छा करते हैं उन सब को वे यथावत् प्राप्त होते हैं।। ७।। सो उपासना दो प्रकार की है। एक सगुण श्रौर दूसरी निर्गुण । उनमें से (स पर्व्यगा०) इस मन्त्र के श्रार्थानुसार शुक्र श्रार्थात् जगत् का रचने वाला वीर्यवान तथा शुद्ध, कवि, मनीषी, परिभ और स्वयंभ इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण है और अकाय, श्रव्रण, श्रस्नाविर० इत्यादि गुर्गों के निषेध होने से वह निर्गुण कहाता है। तथाः—

एको देव इत्यादिसगुणोपासनम्, निर्गुणश्रेति वचनािकर्गुणोपासनम् । तथा सर्वज्ञादिगुणैः सह वर्त्तमानः सगुणः, श्रावद्यादिक्रेशपरिमाणक्रित्वादिसंख्याशब्द-

उपासनाविषयः ॥

स्पर्शरूपरसगन्धादिगुणेभ्यो निर्गतत्वािकर्गुणः । तद्यथा । परमेश्वरः सर्वज्ञः, सर्वव्यापी, सर्वाध्यद्यः, सर्वस्वामी चेत्यादिगुणेः सह वर्त्तमानत्वात् परमेश्वरस्य सगुणोपासनं विज्ञेयम्, तथा सोऽजोऽर्थाज्जन्मरहितः, (अत्रणः) छेदरहितः, निराकारः आकाररहितः, अकायः शरीरसम्बन्धरहितः, तथैव रूपरसगन्धस्पर्श-संख्यापरिमाणादयो गुणास्तास्मन्न सन्तीदमेव तस्य निर्गुणोपासनं ज्ञातव्यम् । अतो देहधारणेनेश्वरः सगुणो भवति देहत्यागेन निर्गुणश्वेति या मृदानां कल्पनास्ति सा वेदादिशास्त्रप्रमाणविरुद्धा विद्यद्तुभवविरुद्धा चास्ति । तस्मात्सज्जनैव्यर्थेयं रीतिः सदा त्याज्येति शिवम् ।

भाषार्थ

(एको देवः०) एक देव इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण और (निर्गुणश्च०) इस के कहने से निर्गुण सममा जाता है। तथा ईश्वर के सर्वझ, सर्वशिक्तमान, शुद्ध, सनातन, न्यायकारी, दयालु, सब में व्यापक, सब का श्राधार, मङ्गलमय, सब की उत्पत्ति करने वाला श्रीर सब का स्वामी इत्यादि सत्यगुणों के ज्ञानपूर्वक उपासना करने को सगुणोपासना कहने हैं। श्रीर वह परमेश्वर कभी जन्म नहीं लेता, निराकार श्रयांत् श्राकारवाला कभी नहीं होता, श्रकाय श्रयांत् शरीर कभी नहीं धारता, श्रव्रण श्रयांत् जिसमें छिद्र कभी नहीं होता, जो शब्द स्पर्श रूप रस श्रीर गन्धवाला कभी नहीं होता, जिसमें दो तीन श्रादि संख्या की गणना नहीं बन सकती, जो लम्बा चौड़ा श्रीर हलका भारी कभी नहीं होता इत्यादि गुणों के निवारणपूर्वक उसका स्मरण करने को निर्गुण उपासना कहते हैं। इससे क्या सिद्ध हुश्चा कि जो श्रज्ञानी मनुष्य ईश्वर के देहधारण करने से सगुण श्रीर देहत्याग करने से निर्गुण उपासना कहते हैं, सो यह उन की कल्पना सब वेद शास्त्रों के प्रमाणों श्रीर विद्वानों के श्रनुभव से विरुद्ध होने के कारण सज्जन लोगों को कभी न मानना चाहिये। किन्तु सब को पूर्वोक्त रीति से ही उपासना करनी चाहिये।

इति संदेवतो ब्रह्मोपासनाविधानम्

अथ मुक्तिविषयः संक्षेपतः

एवं परमेश्वरोपासनेनाविद्याऽधर्माचरणानिवारणाच्छुद्धविज्ञानधर्मानुष्टानोन्न।तभ्यां जीवा मुक्तिं प्राप्नोतीति । अथात्र योगशास्तस्य प्रमाणानि तद्यथा । अविद्यास्मिताराग्रेवपाभिनिवेशाः पंचक्तेशाः ॥ १ ॥ अविद्याचेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुः
विच्छिन्नोदाराणाम् ॥ २ ॥ अनित्याग्रुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरिवचा ॥ ३ ॥ द्वर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ४ ॥ सुखानुशयी रागः
॥ ४ ॥ दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ६ ॥ स्वरसवाही विदुषोपि तथारूढोऽभिनिवेशः
॥ ७ ॥ अ० १ । पा० २ । मू० २ ॥ तदमावात्संयोगाभावो द्वानन्तद्दशे
कैवल्यम् ॥ अ० १ । पा० २ । मू० २ ॥ तद्वराग्यादपि दोपवीजन्नये कैवल्यम्
॥६॥ अ० १ । पा० ३ । मू० ५० ॥ सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ १ ॥
अ० १ । पा० ३ । मू० ५६ ॥ पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं
स्वरूपप्रतिष्टा वा चितिशक्तिरिति ॥ १२ ॥ अ० १ । पा० ४ । मू० ३४ ॥
अथ न्यायशास्त्रप्रमाणानि ॥ दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिध्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये
तदनन्तरापायादपर्वर्गः ॥ १ ॥ वाधनालन्नणं दुःखमिति ॥ २ ॥ तदत्त्यन्तविमोन्नोऽपवर्गः ॥ ३ ॥ न्यायद० अ० १ । आहिक १ । मू० २ । २१ । २२ ॥

भाषार्थ

इसी प्रकार परमेश्वर की उपासना करके, अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्मा-चरण आदि दुष्ट गुणों का निवारण करके, शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके, जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। अब इस विषय में प्रथम योगशास्त्र का प्रमाण लिखते हैं। पूर्व लिखी हुई चित्त की पांच वृत्तियों को यथावत रोकने और मोच्च के साधन में सब दिन प्रवृत्त रहने से-नीचे लिखे हुए पांच क्लेश नष्ट हो जाते हैं। वे क्लेश ये हैं। (आविद्या०) एक (आविद्या), दूसरा (आस्मिता), तिसरा (राग), चौथा (द्वेष) और पांचवां (आभिनिवेश)।। १।। (आविद्याचेत्र०) उन में से आस्मितादि चार क्लेशों और मिण्याभाषणादि दोषों की माता आविद्या है। जो कि मृद जीवों को अन्धकार में फसा के जन्ममरणादि दुःखसागर में सदा इवाती है। परन्तु जब विद्वान और धर्मात्मा उपासकों की सत्यविद्या से ऋविद्या (विच्छित्र) ऋषीत् छिन्नभिन्न होके (प्रसुप्ततनु) नष्ट हो जाती है तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं ।। २ ।। श्रविद्या के लज्ञण ये हैं (श्रवित्या०)। (श्रवित्य) अर्थात् कार्य्य (जो शरीर श्रादि स्थूल पदार्थ तथा लोक लोकान्तर में नित्यबुद्धि), तथा जो (नित्य) श्रर्थात् ई श्वर, जीव, जगत् का कारण, क्रिया क्रियावान् , गुण गुणी श्रौर धर्म धर्मी हैं इन नित्य पदार्थी का परस्पर सम्बन्ध है इन में अनित्यबुद्धि का होना यह अविद्या का प्रथम भाग है। तथा (ऋशुचि) मल मूत्र ऋादि के समुदाय दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्रबुद्धि का करना, तथा तलाव, वावड़ी, कुण्ड, कूंत्र्या स्त्रीर नदी श्रादि में तीर्थ श्रीर पाप छुड़ाने की वृद्धि करना श्रीर उन का चरणामृत पीना, एकादशी आदि मिथ्या ब्रतों में भूख प्यास आदि दुःखों का सहना, स्परी इन्द्रिय के भोग में ऋत्यन्त प्रीति करना इत्यादि ऋशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना और सत्यविद्या, सत्यभाषण, धर्म, सत्संग, परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना, सब से प्रेमभाव से वर्त्तना त्रादि शुद्धव्यवहार और पदार्थों में ऋपवित्रबुद्धि करना यह अविद्या का दूसरा भाग है। तथा दुःख में सुखबुद्धि अर्थात् विपयतृष्णा, काम, कोध, लोभ, मोह, शोक, ईर्षा, द्वेष आदि दुःखरूप व्यवहारों में सुख मिलने की श्राशा करना, जितेन्द्रियता, निष्काम, शम, संतोष, विवेक, प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता श्रादि सुखरूप व्यवहारों में दु:खबुद्धि का करना यह श्रविद्या का तीसरा भाग है। इसी प्रकार अनात्मा में आत्मबुद्धि अर्थात् जड़ में चेतनभाव और चेतन में जड़भावना करना श्रविद्या का चतुर्थ भाग है। यह चार प्रकार की श्रविद्या संसार के श्रज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होके उनको मदा नचाती रहती है। परन्तु विद्या अर्थात् पूर्वोक श्रानित्य, श्रशुचि, दुःख श्रौर श्रानात्मा में श्रानित्य, अपवित्रता, दुःस श्रौर श्रनात्मवुद्धि का होना तथा नित्य, शुचि, सुख श्रीर श्रात्मा में नित्य, पवित्रता, सुख और श्रात्मबुद्धि करना यह चार प्रकार की विद्या है। जब विद्या से श्रविद्या की निवृत्ति होती है तब बन्धन से छूट के जीव मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ (श्रास्मिता ०) दूसरा क्लेश श्रास्मिता कहाता है । श्रार्थात् जीव श्रीर बुद्धि को मिले के समान देखना, अभिमान और श्रहङ्कार से अपने को बड़ा समफना। इत्यादि व्यवहार को श्रास्मिता जानना । जब सम्यक् विज्ञान से श्राभिमान श्रादि के नाश होने से इस की निवृत्ति हो जाती है तब गुणों के प्रहण में रुचि होती है ॥ ४ ॥ तीवरा (सुलातु०) राग अर्थात् जो २ सुल संसार में साज्ञात् भोगने में आते

हैं उनके संस्कार की स्मृति से जो रुष्णा के लोभसागर में बहना है इसका नाम राग है। जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब संयोग, वियोग, संयोग-वियोगान्त हैं, श्रर्थात् वियोग के अन्त में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग तथा वृद्धि के अन्त में चय और चय के अन्त में वृद्धि होती है तब इसकी निवृत्ति हो जाती है ।। ५ ।। (दु:खानु०) चौथा द्वेष कहाता है। श्रथीत् जिस श्रथं का पूर्व श्रनुभव किया गया हो उस पर श्रौर उसके साधनों पर सदा क्रोधबुद्धि होना । इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति से ही होती है ॥ ६ ॥ (खरसवा०) पांचवां (ऋभिनिवेश) क्लेश है । जो सब प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहें, ऋथीत कभी मरें नहीं, सो पूर्वजन्म के अनुभव से होती है। त्रौर इससे पूर्वजन्म भी सिद्ध होता है। क्योंकि छोटे २ कृमि चीटी त्रादि को भी मरण का भय बराबर बना रहता है। इसी से इस क्लेश को अभिनिवेश कहते हैं। जो कि विद्वान् मूर्ख तथा चुद्रजन्तुओं में भी बराबर दीख पड़ता है। इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होगी कि जब जीव, परमेश्वर श्रौर प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्यद्रव्य के संयोग वियोगको श्रनिख जान लेगा | इन क्लेशों की शान्ति से जीवों को मोच्चसुख की प्राप्ति होती है।।७॥ (तद्भावात्०) श्रर्थात् जब श्रविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं तव जीव सब बन्धनों श्रौर दुःखों से छूट के मुक्ति को प्राप्त होजाता है।। ८।। (तद्वैराग्या०) त्र्यर्थात् शोकरहित त्र्यादि सिद्धि से भी विरक्त होके सब क्लेशों त्र्यौर दोषों का बीज जो ऋविद्या है उसके नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करे, क्योंकि उसके नाश के विना मोच्न कभी नहीं हो सकता।। ६।। तथा (सत्त्व-पुरुष) त्र्यर्थात् सत्त्व जो बुद्धि पुरुष जो जीव इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है अन्यथा नहीं ।। १०।। (तदा विवेक०) जब सब दोषों से श्रतग होके ज्ञान की श्रोर श्रात्मा मुकता है तब कैवल्यमोत्त्वधर्म के संस्कार से चित्त परिपूर्ण होजाता है, तभी जीव को मोच प्राप्त होता है, क्योंकि जब तक बन्धन के कामों में जीव फसता जाता है तब तक उस को मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है।। ११।। कैवल्यमोत्त का लन्नण यह है कि (पुरुषार्थ) अर्थात् कारण के सत्त्व, रजी और तमोगुण और उन के सब कार्य्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर, आत्मा में विज्ञान श्रीर शुद्धि यथावत् हो के, स्वरूपप्रतिष्ठा जैसा जीव का तत्त्व है वैसा ही स्वाभाविकशाकि श्रौर गुर्णों से युक्त हो के, शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप विज्ञान प्रकाश अौर नित्य आनन्द में जो रहना है उसी को

कैक्ल्यमोत्त कहते हैं ।। १२ ।। अब मुिक्तिविषय में गोतमाचार्य के कहे हुए न्याय-शास्त्र के प्रमाण लिखते हैं (दु:खजन्म)। जब मिध्याज्ञान अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाती है तब जीव के सब दोष नष्ट हो जाते हैं। उसके पीछे (प्रवृत्ति०) अर्थात् अर्थम, अन्याय, विषयासिक आदि की वासना सब दूर होजाती है। उसके नाश होने से (जन्म) अर्थात् फिर जन्म नहीं होता। उस के न होने से सब दु:खों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। दु:खों के अभाव से पूर्वोक्त परमानन्द मोत्त में अर्थात् सब दिन के लिये परमात्मा के साथ आनन्द ही आनन्द भोगने को बाकी रह जाता है। इसी का नाम मोत्त है।। १।। (बाधना०) सब प्रकार की बाधा अर्थात् इच्छाविधान और परतन्त्रता का नाम दु:ख है।। २।। (तदत्यन्त०) फिर उस दु:ख के अत्यन्त अभाव और परमात्मा के नित्य योग करने से जो सब दिन के लिये परमानन्द प्राप्त होता है उसी सुख का नाम मोत्त है।। ३।।

अथ वेदान्तशास्त्रस्य प्रमाणानि

अभावं वादिरिराह क्षेवम् ॥ १॥ भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ २॥ द्वादशाह्वदुभयविधं वादरायणोतः ॥ ३॥ अ० ४। पा० ४। स० १०। ११। १२॥ यदा पञ्चाविष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्र न विचे- छते तामाहुः परमां गितम् ॥ १॥ तां योगिमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधा- रणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययो ॥ २॥ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मत्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समस्तुते ॥ ३॥ यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृद्यस्येह प्रन्थयः। अथ मत्योऽमृतो भवत्ये- तावदनुशासनम् ॥ ४॥ कठो० वल्ली० ६ । मं० १० । ११ । १४ । १४ ॥ दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥ ४॥ य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानम्रुपासते तस्मानेषाध्य सर्वे च लोका आत्माः सर्वे च कामाः स सर्वाध्य लोकानाप्नोति सर्वाध्य कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य जानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ६॥ यदन्तरापस्तद्ब्रह्म * तदमृतध्य स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रप्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां

^{* &#}x27;'यदन्तरा तर्ष्रक्षेति'' पाठ उपनिषदि ।

यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापित्स सहाहं यशसां यशः॥ ७॥ बान्दोग्यो-पिन० प्रपा० ८। खं०१२,१४॥ अणुः पन्था वितरः पुराणो माॐस्पृष्टो वित्तो मयैव। तेन धीरा आपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गं लोकिमितो विद्युक्ताः॥ ८॥ तिस्मिन्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च। एषपन्था ब्रह्मणा हानुवित्त-स्तेनीते ब्रह्मवित्तेम्यः पुष्यक्रच्च॥ ६॥ प्राणस्य प्राणमुत चतुषश्च हुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यानं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमञ्च्यं मनसैवाप्तव्यं नेह नानिति किंचन ॥ १०॥ मृत्योः स मृत्युमामोति य इह नानेव पश्यति। मनसैवानुद्रष्टव्येमतद्रप्रमेयं ध्रुवम् ॥ ११॥ विरजः पर आकाशात् अज आत्मा महाध्रुवः। तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः॥ १२॥ श० कां० १४॥ अ० ७। ब्रा० २। कंडिका ११, १२, २१, २२, २३॥

भाषांध

श्रव व्यासोक्त वेदान्तदरीन श्रीर उपनिपदों में जो मुक्ति का स्वरूप श्रीर लच्चण लिखा सो त्रागे लिखते हैं। (श्रभावं) न्यासजी के पिता जो वादरि श्राचार्घ्य थे उनका मुक्तिविषय में ऐसा मत है कि जब जीव मुक्तदशा को प्राप्त होता है तब वह शुद्ध मन से परमेश्वर के साथ परमानन्द मोज्ञ में रहता है ऋौर इन दोनों से भिन्न इन्द्रियादि पदार्थों का ऋभाव होजाता है।। १।। तथा (भावं जैमिनि०) इसी विषय में व्यासजी के मुख्य शिष्य जो जैमिनि थे उनका ऐसा मत है कि जैसे मोच में मन रहता है वैसे ही शुद्धसंकल्पमय शरीर तथा प्राणादि श्रीर इन्द्रियों की शुद्ध शाकि भी बराबर बनी रहती है। क्योंकि उपनिषद् में (स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधा भवति) इत्यदि वचनों का प्रमाण है कि मुक्तजीव सङ्कल्पमात्र से ही दिव्यशरीर रच लेता है और इच्छामात्र ही से शीघ्र छोड़ भी देता है और शुद्ध ज्ञान का सदा प्रकाश बना रहता है।। २।। (द्वादशाह) इस मुक्तिविषय में वादरायण जो व्यासजी थे उन का ऐसा मत है कि मुक्ति में भाव और अभाव दोनों ही बने रहते हैं। श्रर्थात् क्लेश, श्रज्ञान श्रीर श्रशुद्धि श्रादि दोषों का सर्वथा श्रभाव हो जाता है श्रीर परमानन्द, ज्ञान, शुद्धता त्र्यादि सब सत्य गुर्णों का भाव बना रहता है। इस में दृष्टान्त भी दिया है कि जैसे वानप्रस्थ आश्रम में बारह दिन का प्राजापत्यादि व्रत करना होता है उस में थोड़ा भोजन करने से चुधा का थोड़ा अभाव श्रीर पूर्ण भोजन न करने से जुधा का कुछ भाव भी बना रहता है। इसी प्रकार मोच में भी पूर्वोक्त रीति से भाव और अभाव समम लेना । इत्यादि निरूपण मुक्ति का वेदान्त शास्त्र में किया है।। ३।। श्रव मुिकविषय में उपनिषद्कारों का जो मत है सो भी श्रागे लिखते हैं कि (यदा पञ्चाव०) श्रर्थात् जब मनके सहित पांच ज्ञानेन्द्रिय परमेश्वर में स्थिर होके उसीमें सदा रमण करती हैं श्रीर जब बुद्धि भी ज्ञान से विरुद्ध चेष्टा नहीं करती उसी को परमगित अर्थात् मोत्त कहते हैं ।। १ ।। (तां योग०) उसी गति ऋथीत् इन्द्रियों की शुद्धि ऋौर स्थिरता को विद्वान् लोग योग की धारणा मानते हैं। जब मनुष्य उपासनायाग से परमेश्वर को प्राप्त होके प्रमादराहित होता है तभी जानो कि वह मोच को प्राप्त हुन्ना । वह उपासनायोग कैसा है कि प्रभाव श्रायीत शद्धि और सत्यगुणों का प्रकाश करनेवाला तथा (अप्ययः) अर्थात् सब अशुद्धि दोषों त्र्यौर त्र्यसत्य गुर्णों का नाश करनेवाला है। इसिलये केवल उपासना योग ही मुक्ति का साधन है ॥ २ ॥ (यदा सर्वे०) जब इस मनुष्य का हृदय सब बुरे कामों से अलग होके शुद्ध हो जाता है तभी वह अमृत अर्थात् मोच को प्राप्त होके श्रानन्दयुक होता है। (प्रश्न) क्या वह मोत्तपद कहीं स्थानान्तर वा पदार्थाविशेप है ? क्या वह किसी एक ही जगह में है वा सब जगह में ?। (उत्तर) नहीं, ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है वही मोत्तपद कहाता है श्रीर मुक्त पुरुष उसी मोत्त को प्राप्त होते हैं।। ३ ।। तथा (यदा सर्वे ०) जब जीव की श्रविद्यादि बन्धन की सब गांठें छिन्न भिन्न होके टूट जाती हैं तभी वह मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ४॥ (प्र०) जब मोच्न में शरीर श्रौर इन्द्रियां नहीं रहतीं तब वह जीवात्मा व्यवहार को कैसे जानता श्रौर देख सकता ? (उ०) (दैवेन०) वह जीव शुद्ध इन्द्रिय श्रीर शुद्धमन से इन श्रानन्दरूप कामों को देखता और भोगता भया उस में सदा रमण करता है, क्योंकि उसका मन और इन्द्रियां प्रकाशस्वरूप हो जाती हैं।। १।। (प्र०) वह मुक्त जीव सब सृष्टि में घूमता है श्रथवा कहीं एक ही ठिकाने बैठा रहता है ? (उ०) (य एते ब्रह्मलोके०) जो मुक पुरुष होते हैं वे ब्रह्मलोक अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त होके और सब के आत्मा परमेश्वर की उपासना करते हुए उसी के आश्रय से रहते हैं। इसी कारण से उन का श्राना जाना सब लोकलोकान्तरों में होता है, उन के लिये कहीं रुकावट नहीं रहती, श्रीर उन के सब काम पूर्ण हो जाते हैं, कोई काम श्रपूर्ण नहीं रहता । इसलिये जो मनुष्य पूर्वोक्त रीति से परमेश्वर को सब का श्रात्मा जान के उस की उपासना करता है वह अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त होता है। यह बात प्रजापति परमेश्वर सब जीवों के लिये वेदों में बताता है।। ६।। पूर्व प्रसङ्ग का श्राभिप्राय यह है कि मोत्त की इच्छा सब जीवों को करनी चाहिये। (यदन्तरा०) जो कि आत्मा का भी अन्तर्यामी है उसी को ब्रह्म कहते हैं, और वही अमृत अर्थात् मोत्तस्वरूप है, और जैसे वह सब का अन्तर्यामी है वैसे उस का अन्तर्यामी कोई भी नहीं, किन्तु वह श्रपना श्रन्तर्यामी श्राप ही है। ऐसे प्रजानाथ परमेश्वर के व्याप्तिरूप सभास्थान को मैं प्राप्त होऊं, ऋोर इस संसार में जो पूर्ण विद्वान ब्राह्मण हैं उनके बीच में (यशः) ऋर्थात् कीर्त्ति को प्राप्त होऊं, तथा (राज्ञाम्) चत्रियों (विशाम्) ऋर्थात् व्यवहार में चतुर लोगों के बीच यशस्वी होऊं। हे परमेश्वर ! मैं कीर्त्तियों का भी कीर्तिरूप होके त्राप को प्राप्त हुत्र्या चाहता हूं। आप भी कृपा कर के मुक्त को सदा अपने समीप रिवये ।। ७ ।। अब मुक्ति के मार्ग का स्वरूप वर्णन करते हैं । (असू: पन्था) मुक्ति का जो मार्ग है सो अगु अर्थात् अत्यन्त सूदम है, (वितरः) उस मार्ग से सब दुःखों के पार सुगमता से पहुंच जाते हैं, जैसे हढ़ नौका से समुद्र को तर जाते हैं। तथा (पुराणः) जो मुक्ति का मार्ग है वह प्राचीन है दूसरा कोई नहीं। सुमः को (स्पृष्टः) वह ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुआ है। उसी मार्ग से विमुक्त मनुष्य सब दोष और दुःखों से छूटे हुए, (धीरा:) अर्थात् विचारशील और ब्रह्मवित्, वेदविद्या श्रौर परमेश्वर के जानने वाले जीव (उत्क्रम्य) श्रर्थात् अपने सत्य पुरुषार्थ से सब दुःखों का उल्लङ्घन करके, (स्वर्गलोकं०) सुखस्वरूप ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं ।। ८ ।। (तस्मिञ्छुक्र०) श्रर्थात् उसी मोत्तपद में (शुक्त) श्वेत, (नील) शुद्ध घनश्याम, (पिङ्गल) पीला श्वेत, (हरित) हरा श्रीर (लोहित) लाल ये सब गुए वाले लोक लोकान्तर ज्ञान से प्रकाशित होते हैं। यही मोच का मार्ग परमेश्वर के साथ समागम के पीछे प्राप्त होता है। उसी मार्ग से ब्रह्म का जानने वाले तथा (तेजसः०) शुद्धस्वरूप श्रीर पुण्य का करने वाला मनुष्य मोत्त-सुख को प्राप्त होता है, अन्य प्रकार से नहीं ।। ६ ॥ (प्राणस्य प्राण्) जो पर-मेश्वर प्राण का प्राण, चतु का चतु, श्रोत्र का श्रोत्र, श्रश्न का श्रश्न श्रौर मन का मन है, उस को जो विद्वान निश्चय करके जानते हैं वे पुरातन ऋौर सब से श्रेष्ठ ब्रह्म को मन से प्राप्त होने के योग्य मोच्नसुख को प्राप्त होके आनन्द में रहते हैं, (नेह ना) जिस सुख में किंचित् भी दुःख नहीं है ॥ १० ॥ (मृत्योः स मृत्यु०) जो अनेक ब्रह्म अर्थात् दो, तीन, चार, दश, बीस जानता है वा अनेक पदार्थों के संयोग स बना जानता है वह वारंवार मृत्यु श्रथीत् जन्ममरण को प्राप्त होता है, क्योंकि वह ब्रह्म एक और चेतनमात्रस्वरूप ही है तथा प्रमादरहित और व्यापक हो

के सब में स्थिर है। उसको मन से ही देखना होता है, क्योंकि ब्रह्म आकाश से भी सूद्रम है।। ११।। (विरजः परआ) जो परमात्मा विद्योपरहित, आकाश से परम सूद्रम, (अजः) अर्थात् जन्मरित और महाध्रुव अर्थात् निश्चल है ज्ञानी लोग उसी को जान के अपनी बुद्धि को विशाल कर और वह इसी से ब्राह्मण कहाता है।। १२।।

स होवाच । एतद्वै तद्त्ररं गागि ब्राह्मणा त्राभिवदन्त्यस्थूलमनखबद्दस्वमदीर्घ-मलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽयाय्वनाकाशमसङ्गमस्पर्शमगन्धमरसमचचुष्कमश्रोत्रम-वागमनोऽतेजस्कमप्राण्ममुखमनामागोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसं-वृतमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं न तदश्रोति कञ्चन न तदश्रोति कश्चन॥१३॥ श० कां०१४। अ०६। ब्रा०८। कं०८॥ इति मुक्तैः प्राप्तच्यस्य मोच्चस्वरूपस्य सचिदानन्दादिलचग्णस्य परब्रह्मण्डः प्राप्तचा जीवस्सदासुखी भवतीति बोध्यम्।

अथ वैदिकप्रमाणम्

ये युज्ञेन द्विष्णा समेका इन्द्रंस्य सुख्यमं मृत्त्वमां नुश । तेभ्यों भद्रमं क्षिरसो वो अस्तु प्रति गुभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० २ । व० १ । मं० १ ॥ स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वां। यत्रे देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामे अध्येरयन्त ॥ २ ॥ य० अ० ३२ । मं० १० ॥

भाष्यम्

श्रविद्यास्मितेत्यारभ्याध्यैरयन्तेत्यन्तेन मोत्तस्वरूपनिरूपणमस्तीति वेदि-तव्यम् । एषामर्थः प्राकृतभाषायां प्रकाश्यते

भाषार्ध

(स होवाच ए०) याज्ञवल्क्य कहते हैं, हे गार्गि ! जो परब्रह्म नारा, स्थूल, सूर्म, लघु, लाल, चिक्कन, छाया, श्रान्धकार, वायु, श्राकारा, सङ्गः शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस, नेत्र, कर्ण, मन, तेज, प्राण, मुख, नाम, गोत्र, बृद्धावस्था, मरण, भय, श्राकार, विकारा, संकोच, पूर्व, श्रापर, भीतर, बाह्य श्रार्थात् वाहर, इन सब दोष श्रीर गुणों से रहित मोच्चस्वरूप है, वह साकार पदार्थ के समान किसी को प्राप्त नहीं होता श्रीर न कोई उसको मूर्त द्रव्य के समान प्राप्त होता है, क्योंकि वह सब में परिपूर्ण,

सब से ऋलग, ऋद्भतस्वरूप परमेश्वर है, उस को प्राप्त होने वाला कोई नहीं हो सकता, जैसे मूर्त्त द्रव्य को चत्तुरादि इन्द्रियों से सात्तान् कर सकता है। क्योंिक वह सब इन्द्रियों के विषयों से त्रालग और सब इन्द्रियों का त्रात्मा है। तथा (ये यज्ञेन) अर्थात् पूर्वोक ज्ञानस्वरूप यज्ञ श्रोर श्रात्मादि द्रव्यों की परमेश्वर को दिज्ञाण देने से वे मुक्त लोग मोच सुख में प्रसन्न रहते हैं। (इन्द्रस्य) जो परमेश्वर की सख्य श्रर्थातु मित्रता से मोन्नभाव को प्राप्त हो गये हैं उन्हीं के लिये भद्र नाम सब सुख नियत किये गये हैं। (श्रङ्गिरसः) श्रर्थात् उन के जो प्राण हैं वे (सुमेधसः) उन की बुद्धि को ऋत्यन्त बढ़ाने वाले होते हैं ऋौर उस मोचप्राप्त मनुष्य को पूर्वमुक्त लोग श्रपने समीप श्रानन्द में रख लेते हैं श्रीर फिर वे परस्पर श्रपने ज्ञान से एक दूसरे को प्रीतिपूर्वक देखते श्रीर मिलते हैं। (स नो बन्धु०) सब मनुष्यों को यह जानना चाहिये कि वही परमेश्वर हमारा बन्धु श्रर्थात् दुःख का नाश करने वाला, (जनिता) सब सुखों को उत्पन्न श्रीर पालन करने वाला है। तथा वही सब कामों को पूर्ण करता श्रौर सब लोकों को जानने वाला है कि जिस में देव श्रर्थात् विद्वान लोग मोच को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं श्रीर वे तीसरे धाम अर्थात् शुद्ध सत्त्व से सिहत होके सर्वोत्तम सुख में सदा स्वच्छन्दता से रमण करते हैं।। २।। इस प्रकार संत्तेप से मुिकविषय कुछ तो वर्णन कर दिया श्रौर कुछ श्रागे भी कहीं २ करेंगे, सो जानलेना। जैसे (वेदाहमेतं) इस मन्त्र में भी मुक्ति का विषय कहा गया है।

इति मुक्तिविषय: संदेपन:

अथ नौविमानादिविद्याविषयस्संक्षेपतः

तुग्रो ह भुज्युमेश्वनोदमेघे र्यि न कश्चिन्ममृवां श्रवीहाः । तम्हथुनोभिरोत्मन्वतीभिरन्तरिच्युद्धिरपोदकाभिः ॥१ ॥ तिस्रः चपुस्त्ररहातिब्रजिद्धिर्नासंत्या भुज्युमूहथुः पत्रङ्गः । सुमुद्रस्य धन्वश्चा-द्रस्य पारे त्रिभीरथैः शतपद्धिः षडेश्वैः॥२॥ ऋ० अ०१। अ० ८। व०८। मं०३।४॥

भाष्यम

एनाममिश्रायः । तुग्रो हेत्यादिषु मन्त्रेषु शिल्पविद्या विधीयत इति ।

(तुत्रो ६०) तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु, अस्माद्धातोरीणादिके स्क्प्रत्यये कृते तुम्र इति पदं जायते। यः कश्चिद् धनाभिलाषी भवेत् स (रियं) धनं कामयमानो (भुज्युं) पालनभोगमयं धनादिपदार्थभोगामिच्छन् विजयं च, पदार्थविद्यया स्वाभिलाषं प्राप्तुयात्। स च (ऋश्विना०) पृथिवीमयैः काष्टलोष्टादिभिः पदार्थेर्नावं रचयित्वाऽग्निजलादिप्रयोगेण (उदमेघे) समुद्रे गमयेदागमयेच, तेन द्रच्यादिसिद्धिं साधयेत् । एवं कुर्वन् (न काश्चन् ममृवान्) योगचेमाविरदः सन् न मरणं कदाचित् प्राप्नोति, कुतः, तस्य कृतपुरुषार्थत्वात् । श्रतो नावं (श्रवाहाः) श्रथीत् समुद्रे द्वीपान्तरगमनं प्रति नावो वाहनावहने परमप्रयत्नेन नित्यं कुर्यात्। को साधायत्वा १ (ऋश्विना)। द्यौरिति द्योतनात्मकाग्निप्रयोगेण पृथिव्या पृथिवी-मयेनायस्ताम्ररजतधातुकाष्टादिमयेन चेयं क्रिया साधनीया । ऋश्विनौ युवां तौ साधितौ ह्रौ नावादिकं यानं (ऊइथुः) देशान्तरगमनं सम्यक्सुखेन प्रापयतः । पुरुषच्यत्ययेनात्र प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुषप्रयोगः । कथंभूतैर्यानैः ? (नौभिः) समुद्रे गमनागमनदेतुरूपाभिः । (त्रात्मन्वतीभिः), स्वयं स्थिताभिः स्वात्मीय-स्थिताभिर्वा । राजपुरुवैर्च्यापारिभिश्र मनुष्यैर्च्यवद्वारार्थं समुद्रमार्गेण तासां गमना-गमने नित्यं कार्ये इति शेषः । तथा ताभ्यामुक्तप्रयत्नाभ्यां भूयांस्यन्यान्यपि विमानादीनि साधनीयानि । एवमेव (अन्तरित्तपुद्धिः) अन्तरित्तं प्रति गन्तृभि-र्विमानाख्ययानैः साधितैः सर्वैर्मनुष्यैः परमैवर्ये सम्यक् प्रापणीयम् । पुनः कथम्भूतामिनौभिः ? (अपोदकाभिः) अपगतं द्रीकृतं जललेपो यासां ता अपोदका नावः, अर्थात् सचिकनाः । ताभिः, उदरे जलागमनरहिताभिश्र सपुद्रे गमनं कुर्यात् । तथैव भूयानैभूमौ, जलयानैर्जले, अन्तरित्तयानैश्रान्तरित्ते चेति त्रिविधं यानं रचियत्वा, जलभूम्याकाशगमनं यथावत् कुर्य्यादिति ॥ १ ॥ अत्र प्रमाणम् । श्रथातो दुस्थाना देवतास्तासामश्चिनौ प्रथमागामिनौ मवतोऽश्विनौ यद् व्यश्तुवाते सर्वे, रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्यो,ऽश्वेरश्विनावित्यौर्णवाभस्तत्काव-रिवेनौ द्यावापृथिन्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके सुर्य्याचन्द्रमसावित्येके ॥ निरु० अ० १२। खं०१ ॥ तथाश्विनौ चापि भर्तारौ जर्भरीभर्तारावित्यर्थस्तुर्फरी तू इन्तारौ॥ उदन्यजेवेत्युदकजे इव रत्ने साम्रुद्रे॥ निरु० श्र० १३। खं०५॥ एतैः प्रमार्णेरेतत्सिध्यति वायुजलाग्निपृथिवीविकारकलाकौशलसाधनेन त्रिविधं यानं रचनीयमिति ॥ १ ॥ (तिस्रः चपस्त्रिरहा०) कथंभूतैनीवादिाभेः १ तिस्रृ-भी रात्रिभिह्निभिर्दिनैः, (श्रार्द्रस्य) जलेन पूर्णस्य समुद्रस्य तथा (धन्वनः) स्थलस्यान्तरिबस्य पारे, (आतित्रजिद्धः) श्रत्यन्तवेगवाद्धः । पुनः कथम्भूतैः १ (पतङ्गः) प्रतिपातं वेगेन गन्तिभः, तथा (त्रिभीरथैः) त्रिभी रमणीयसाधनैः, (शतपाद्धः) शतेनासंख्यातेन वेगेन पद्म्यां यथा गच्छेत्तादृशैरत्यन्तवेगवद्धिः, (षडश्वैः) षडश्वा आशुगमनहेतवो यन्त्राण्यग्निस्थानानि वा येषु तानि षड-श्वािन तैः षडश्वैगीनैक्षिषु मार्गेषु सुलेन गन्तव्यमिति शेषः । तेषां यानानां सिद्धिः केन द्रव्येण भवतीत्यत्राह १। (नासत्या) पूर्वोक्ताम्यामश्विभ्याम् । श्रत एवोक्तं नासत्यौ द्यावापृथिव्यौ । तानि यानानि (ऊह्थुः) इत्यत्र पुरुषव्यत्ययेन प्रथमस्य स्थाने मध्यमः, प्रत्यत्तविषयवाचकत्वात् । श्रत्र प्रमाणम् । व्यत्ययो बहुलम् । अष्टाध्याय्याम् ॥ श्र० ३। पा० १। स्० ८५ ॥ श्रत्राह महाभाष्य-कारः ॥ सुप्तिङुपग्रहालिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च । व्यत्ययमिच्छिति शास्त्रकृदेषां सोपि च सिध्यति बाहुलकेनेति महाभाष्यप्रामाण्यात् ॥ तावेव नास-त्यावश्विनौ सम्यग् यानानि वहत इत्यत्र सामान्यकाले लिड्विधानात् ऊह्थुरिन्त्युक्तम् । तावेव तेषां यानानां ग्रख्ये साधने स्तः । एवं कुर्वतो अञ्चुग्रुत्तमसुखभोगं प्राप्तुयुर्नान्यथेति ॥ २ ॥

भाषार्ध

श्रव मुिक के आगे समुद्र, भूमि और श्रन्ति में शीघ्र चलने के लिये यानविद्या लिखते हैं, जैसी कि वेदों में लिखी है। (तुषो ह०) तुजि धातु से रक् प्रत्यय
करने से तुप्र शब्द सिद्ध होता है। उसका श्रर्थ हिंसक, बलवान प्रह्ण करने वाला
और स्थान वाला है। क्योंकि वैदिक शब्द सामान्य श्रर्थ में वर्त्तमान हैं। जो शतु
को हनन करके श्रपने विजय बल और धनादि पदार्थ और जिस २ स्थान में सवारियों से श्रत्यन्त सुख का प्रह्ण किया चाहे उन सबों का नाम तुप्र है। (रियें)
जो मनुष्य उत्तम विद्या, सुवर्ण श्रादि पदार्थों की कामनावाला है उसका जिनसे
पालन और भोग होता है उन धनादि पदार्थों की प्राप्ति, भोग और
विजय की इच्छा को आगे लिखे हुए प्रकारों से पूर्ण करे। (अश्विना)
जो कोई सोना, चांदी, तांबा, पीतल, लोहा और लकड़ी आदि
पदार्थों से धनेक प्रकार की कलायुक्त नौकाओं को रच के उनमें श्राग्नि, वायु और
जल श्रादि का यथावत् प्रयोग कर और पदार्थों को भर के व्यापार के लिये (उदमेषे)
समुद्र और नद आदि में (श्रवाहाः) श्रावे जावे तो उसके द्रव्यादि पदार्थों की

उन्नति होती है। जो कोई इस प्रकार से पुरुषार्थ करता है वह (न कश्चिन्मसृवान्) पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रत्तासहित होकर दुःख से मरण को प्राप्त कभी नहीं होता, क्योंकि वह पुरुषार्थी होके आलसी नहीं रहता । वे नौका आदि किन को सिद्ध करने से होते हैं ? श्रर्थात् जो श्राग्न, वायु श्रौर पृथिव्यादि पदार्थों में शीव्रगमनादि गुण और अधि नाम से सिद्ध हैं वे ही यानों को धारण और प्रेरणा आदि अपने गुणों से वेगवान करदेते हैं। वेदोक्त युक्ति से सिद्ध किये हुए नाव, विमान श्रौर रथ अर्थात् भूमि में चलने वाली सवारियों का (ऊह्थुः) जाना आना जिन पदार्थों से देश देशान्तर में सुख से होता है। यहां पुरुषव्यत्यय से (ऊहतुः) इस के स्थान में (ऊहथु:) ऐसा प्रयोग किया गया है। उनसे किस २ प्रकार की सवारी सिद्ध होती है सो लिखते हैं। (नौभिः) श्रर्थात् समुद्र में सुख से जाने श्राने के लिये अत्यन्त उत्तम नौका होती हैं। (आत्मन्वतीभिः) जिनसे उनके मालिक अथवा नौकर चला के जाते त्राते रहें । व्यवहारी त्रार राजपुरुष लोग इन सवारियों से समुद्र में जावें श्रावें । तथा (श्रन्तरिच्नपुद्धिः) श्रर्थात् जिनसे श्राकाश में जाने श्राने की क्रिया सिद्ध होती है। जिनका नाम विमान शब्द करके प्रसिद्ध है। तथा (अपो-दकाभिः) वे सवारी ऐसी शुद्ध अौर चिक्कन होनी चाहियें जो जल से न गलें और न जल्दी टूटें फूटें। इन तीन प्रकार की सवारियों की जो रीति पहिले कह आये श्रीर जो श्रागे कहेंगे उसी के श्रनुसार बराबर उनको सिद्ध करें। इस श्रर्थ में निरुक्त का प्रमाण संस्कृत में लिखा है सो देख लेना उस का ऋथे यह है (श्रथातो गुस्था-नादे) वाय श्रीर श्रामि श्रादि का नाम श्राधि है, क्योंकि सब पदार्थों में धनञ्जय-रूप करके वायु श्रीर विद्युत् रूप से श्राग्नि ये दोनों व्याप्त हो रहे हैं। तथा जल श्रीर श्राप्रि का नाम भी श्राधि है, क्योंकि श्राप्रि ज्योति से युक्त श्रीर जल रस से युक्त हो के ज्याप्त हो रहा है। (ऋथै:) ऋथीत् वे वेगादि गुणों से भी युक्त हैं। जिन पुरुषों को विमान आदि सवारियों की सिद्धि की इच्छा हो वे वाय, अग्नि और जल से उन को सिद्ध करें यह श्रीर्णनाभ श्राचार्य्य का मत है। तथा कई एक ऋषियों का ऐसा मत है कि श्राप्ति की ज्वाला श्रीर पृथिवी का नाग श्राश्वि है। पृथिवी के विकार काष्ट्र और लोहा आदि के कलायन्त्र चलाने से भी अनेक प्रकार के वेगादि गुए सवारियों वा अन्य कारीगरियों में किये जाते हैं। तथा कई एक विद्वानों का ऐसा मत है कि (श्रहोरात्री) श्रर्थात् दिन रात्रि का नाम श्राश्व है, क्योंकि इन से भी सब पदार्थों के संयोग श्रीर वियोग होने के कारण से वेग उत्पन्न होते हैं, श्रर्थात्

जैसे शरीर श्रोर श्रोपिध श्रादि में वृद्धि श्रीर त्तय होते हैं। इसी प्रकार कई एक शिल्पविद्या जानने वाले विद्वानों का ऐसा भी मत है कि (सूर्य्याचनद्रमसौ) सूर्य श्रौर चन्द्रमा को श्राप्ति कहते हैं, क्योंकि सूर्य्य श्रौर चन्द्रमा के श्राकर्षणादि गुणों से जगत के पृथिवी ऋादि पदार्थों में संयोग वियोग, वृद्धि त्तय श्रादि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं। तथा (जर्भरी) और (तुर्फरी) ये दोनों पूर्वोक्त आधि के नाम हैं। (जर्भरी) श्रर्थात् विमान श्रादि सवारियों के धारण करने वाले श्रीर (तुर्फरी) श्रर्थात् कलायन्त्रों के हनन से वायु, श्रिप्ति, जल श्रीर पृथिवी के युक्तिपूर्वक प्रयोग से विमान आदि सवारियों का धारण पोषण और वेग होते हैं। जैसे घोड़े और बैल चाबुक मारने से शीघ चलते हैं वैसे ही कलाकौशल से धारण श्रौर वायु श्रादि को कलाओं करके प्रेरने से सब प्रकार की शिल्पविद्या सिद्ध होती है। (उदन्यजे) श्रयीत् वायु, श्राग्नि श्रीर जल के प्रयोग से समुद्र में सुख करके गमन हो सकता है ॥ १ ॥ (तिस्रः चपस्त्रि०) नासत्या० जो पूर्वोक्त ऋधि कह ऋाये हैं वे (भुन्यु-मूहथुः) त्र्यनेक प्रकार के भोगों को प्राप्त करते हैं, क्योंकि जिन के वेग से तीन दिन रात में (समुद्र) सागर, (धन्वन्०) त्राकाश त्रौर भूमि के पार नौका विमान श्रौर रथ करके (ब्रजद्भिः) सुखपूर्वक पार जाने में समर्थ होते हैं, (त्रिभीरथैः) श्रर्थात् पूर्वोक तीन प्रकार के वाहनों से गमनागमन करना चाहिये। तथा (षडरवैः) छ: अश्व अर्थात् उन में अग्नि और जल के छ: घर बनाने चाहियें। जैसे उन यानों से अनेक प्रकार के गमनागमन हो सकें तथा (पतङ्गेः) जिन से तीन प्रकार के मार्गों में यथावत् गमन हो सकता है।। २।।

अनार्म्भणे तर्द्वारयेथामनास्थाने श्रीयभणे संमुद्रे। यद्श्विना ज्रहर्थुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नार्वमातस्थिवांसम् ॥ ३ ॥ यमेश्विना दृद्धुः रवेतमरवम्धारवाय शरवदित्स्वस्ति। तद्वां दात्रं महि कीत्तेंन्यं भृत्येको वाजी सदमिद्धव्यो अर्थः ॥ ४ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ८ । व० ८ । ६ । मं० ४ । १ ॥

भाष्यम्

हे मनुष्याः ! पूर्वोक्ताभ्यां प्रयत्नाभ्यां कृतसिद्धयानैः, (श्रनारम्भणे) श्राल-म्बरिहते, (श्रनास्थाने) स्थातुमशक्ये, (श्रग्रभणे) हस्तालम्बनाविद्यमाने, (समुद्रे) समुद्रवन्त्यापो यस्मिन् तस्मिन् जलेन पूर्णे, श्रन्तरिन्ने वा, कार्य्यसि- द्धचर्यं युष्माभिर्गन्तव्यमिति । श्रारिवना ऊहथुर्भुज्युमिति पूर्ववद्विवेयम् । तद्यानं सम्यक् प्रयुक्ताम्यां ताम्यामिथम्यां (अस्तं) विप्तं चालितं सम्यक् कार्यं साध-यतीति । कथम्भूतां नावं सम्रद्रे चालयेत् ? (शतारित्राम्) शतानि अरित्राणि लोहमयानि सपुद्रस्थलान्तरित्तमध्ये स्तम्भनार्थानि गाधग्रहणार्थानि च भवन्ति यस्यां तां शतारित्राम् । एवमेव शतारित्रं भूम्याकाशविमानं प्रति योजनीयम् । तथा तदेतत् त्रिविधं यानं शतकलं शतयन्धनं शतस्तम्भनसाधनं च रचनीय-मिति । तद्यानैः कथम्भूतं भ्रुज्युं भोगं प्राप्नुवन्ति ? । (तस्थिवांसं) स्थितिमन्त-मित्यर्थः ॥ ३ ॥ यद्यस्मादेवं भोगो जायते तस्मादेवं सर्वमनुष्यैः मयत्नः कर्त्तच्यः । (यमश्चिना०) यं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यामग्निजलाभ्यामश्विभ्यां शुक्रवर्णै वाष्पाख्यमश्चं (श्रघाश्वाय) शीघ्रगमनाय शिल्पविद्याविदो मनुष्याः प्राप्नुवन्ति तमेवाश्वं गृहीत्वा पूर्वोक्नानि यानानि साधयन्ति । (शश्वत्) तानि शश्विमरन्तरमेव (स्वस्ति) सुखकारकाणि भवन्ति । तद्यानसिद्धि (श्रिधिनादद्युः) इत्तस्ताभ्या-मेवायं गुणो मनुष्पेर्शाह्य इति । (वाम्) अत्रापि पुरुषव्यत्ययः । तयोरश्विनोर्मध्ये यत्सामर्थ्यं वर्त्तते तत् की दृशं ? (दात्रं) दानयोग्यं, सुखकारकत्वात् पोषकं च, (महि) महागुण्युक्रम्, (कीर्त्तेन्यम्) कीर्त्तनीयमत्यन्तप्रशंसनीयम् । कृत्यार्थे तवैकेनकेन्यत्वन इति केन्यप्रत्ययः । अन्यभ्यस्तच्छ्रेष्ठोपकारकम् (भृत्) अभृत् भवतीति । अत्र लर्ड्थे लुङ् विहित इति वेद्यम् । स चाग्न्याख्यो (वाजी) वेग-वान्, (पैद्वः०) यो यानं मार्गे शीघ्रवेगेन गमियतास्ति, पेद्वपतकावश्वनाम्नी । निघं० अ०१। खं०१४॥ (सदमित्) यः सदं नेगं इत् एति प्राप्नोतीती-दृशोश्वोऽग्निरम्मीभिः (इन्यः) प्राद्योस्ति । (अर्थः) तमश्वमय्यों वैश्यो विश्व-ग्जनोऽवश्यं गृह्णीयात् ॥ अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः, इति पाणिनिस्त्रात्, अर्यो वैश्यम्बामिवाचीति ॥ ४ ॥

त्रयंः प्वयो मधुवाहेने रथे सोमस्य नेनामनु विश्व इद्वितुः। त्रयः स्क्रम्भासः स्क्रिनासं आरभे । त्रिनंक्षं याथस्त्रिवंश्विना दिवां ॥ ४ ॥ ऋ० अछ० १ । अ० ३ । वर्ग ४ । मं० २ ॥

भाष्यम्

(मधुवाहने) मधुरगतिमति रथे (त्रयः पवयः) वज्रतुल्याश्रकसमूहाः कलायन्त्रयुक्ता दृढाः शीघं गमनार्थे त्रयः कार्य्याः । तथैव शिल्पिभिः (त्रयः स्कम्भासः) स्तम्भनार्थाः स्तम्भास्त्रयः कार्य्याः । (स्कभितासः) किमर्थाः सर्वकलानां स्थापनार्थाः । (विश्वे) सर्वे शिल्पिनो विद्वांसः (सोमस्य)सोमगुणविशिष्टस्य सुखस्य (वेनां)कमनीयां कामनासिद्धिं विदुर्जानन्त्येव । अर्थात् (अश्विना) अश्विभ्यामेवैतद्यानमारन्धुमिन्द्वेयुः । कुतः, तावेवाश्विनौ तद्यानसिद्धिं (याथः) प्रापयत इति । तत्कीदशमित्यत्राह (त्रिनिक्तम्) (त्रिर्दिवा)
तिसुभी रात्रिभिक्तिभिर्दिनैश्वातिद्रमपि मार्गं गमयतीति वोध्यम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ

(अनारम्भरो०) हे मनुष्य लोगो ! तुम पूर्वीक प्रकार से अनारम्भरा अर्थान श्रालम्बरहित समुद्र में श्रपने काय्यों की सिद्धि करने योग्य यानों को रच लो (तद्वीरयेथाम्) वे यान पूर्वोक्त अश्विनी से ही जाने आने के लिये सिद्ध होते हैं। (श्रनास्थाने) श्रर्थात् जिस श्राकाश श्रौर समुद्र में विना श्रालम्ब से कोई भी नहीं ठहर सकता, (श्रयमणे) जिसमें हाथ से पकड़ने का त्रालम्ब कोई भी नहीं मिल सकता (समुद्रे) ऐसा जो पृथिवी पर जल से पूर्ण समुद्र प्रत्यन्त है, तथा श्रान्तरित्त का भी नाम समुद्र है, क्योंकि वह भी वर्षा के जल से पूर्ण रहता है, उन में किसी प्रकार का श्रालम्बन सिवाय नौका श्रीर विमान से नहीं मिल सकता. इससे इन यानों को पुरुषार्थ से रच लेवें। (यद्श्विना) (ऊह्युर्भु०) जो यान बायु श्रादि श्रश्वि से रचा जाता है वह उत्तम भोगों को प्राप्त कर देता है, क्योंकि (श्रस्तं) जो उन से चलाया जाता है वह पूर्वोक्त समुद्र, भूमि श्रीर श्रन्तरिच्च में सब काय्यों को सिद्ध करता है। (शतारित्राम्) उन नौकादि सवारियों में सैकड़ह ऋरित्र अर्थात् जल का थाह लेने, उनके थांभने और वायु आदि विघ्रों से रचा के लिये लोह आदि के लंगर भी रखना चाहिये, जिन से जहां चाहे वहां उन यानों को थांभे, इसी प्रकार उन में सैकड़ह कलबन्धन श्रीर थांभने के साधन रचने चाहियें । इस प्रकार के यानों से (तस्थिवांसम्) स्थिर भोग को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं।। ३॥ (यमश्विना) जो श्राश्वि श्रर्थात् श्राग्नि श्रीर जल हैं उन के संयोग से (खेतमश्वं) भाफरूप श्रश्व श्रत्यन्त वेग देने वाला होता है। जिस से कारीगर लोग सवारियों को (अघाश्वाय) शीघ्र गमन के लिये वेगयुक्त कर देते हैं जिस वेग की हानि नहीं हो सकती उसको जितना बढ़ाया चाहे उतना बढ़ सकता है। (शश्वदित्स्वस्ति०) जिन यानों में बैठ के समुद्र और अन्तरित्त में निरन्तर स्वस्ति अर्थात नित्य

सुख बढ़ता है। (दद्धुः) जो कि वायु श्रानि श्रीर जल श्रादि से वेग गुण उत्पन्न होता है उस को मनुष्य लोग सुविचार से बहुए। करें। (वाम्) यह सामर्थ्य पूर्विक श्राश्वसंयुक्त पदार्थों ही में है। (तत्) सो सामर्थ्य कैसा है कि (दात्रम्) जो दान करने के योग्य, (महि) श्रर्थात् बड़े २ शुभ गुर्हों से युक्त, (कीर्त्तेन्यम्) श्रत्यन्त प्रशंसा करने के योग्य श्रीर सब मनुष्यों को उपकार करने वाला (भूत्) है। क्योंकि वही (पैद्वः) अश्व मार्ग में शीघ्र चलाने वाला है। (सदमित्) अर्थात् जो श्रात्यन्त वेग से युक्त है (हच्यः) वह प्रहण श्रीर दान देने के योग्य है। (ऋर्घः) वैश्य लोग तथा शिल्पविद्या का स्वामी इस को अवश्य प्रहण करे, क्योंकि इन यानों के विना द्वीपान्तर में जाना त्र्याना कठिन है।। ४।। यह यान किस प्रकार का बनाना चाहिये कि (त्रयः पवयो मधु०) जिस में तीन पहिये हों, जिन से वह जल श्रौर पृथिवी के ऊपर चलाया जाय श्रौर मधुर वेगवाला हो, उस के सव श्रङ्ग वत्र के समान दढ हों, जिन में कलायन्त्र भी दढ़ हों, जिनसे शीव गमन होवे, (त्रयः स्कम्भासः) उन में तीन २ थम्भे ऐसे बनाने चाहियें कि जिन के श्रा<mark>धार सब कलायन्त्र लगे रहें, तथा (स्क</mark>भितास:) वे थल्भे भी दृसरे काष्ट वा लोहे के साथ लगे रहें, (श्रारा) जो कि नाभि के समान मध्यकाष्ठ होता है उसी में सब कलायन्त्र जुड़े रहते हैं। (विश्वे) सब शिल्पिविद्वान् लोग ऐसे यानों को सिद्ध करना श्रवश्य जानें । (सोमस्य वेनाम्) जिन से सुन्दर सुख की कामना सिद्ध होती है, (रथे) जिस रथ में सब क्रीड़ासुखों की प्राप्ति होती है, (त्रारभे) उस के श्रारम्भ में श्रश्व श्रर्थात् श्राग्नि श्रौर जल ही मुख्य हैं। (त्रिर्नर्क याथिस्र्वाश्वना दिवा) जिन यानों से तीन दिन श्रौर तीन रात में द्वीप द्वीपान्तर में जा सकते 8 11 8 11

त्रिनों ऋश्विना यज्ञता दिवे दिवे परि श्रिधातुं पृथिवीमेशायतम् ।
तिस्रो नौसत्या रथ्या परावतं आत्मेव वातः स्वसंराणि गच्छतम्
॥ ६॥ ऋ० अष्ट० १। अ० ३। व० ५। मं० १॥ अश्त्रितं वां दिवस्पृथु तिथें सिन्धूनां रथेः । धिया युयुक्त इन्देवः ॥ ७॥ ऋ० अष्ट०
१। अ० ३। व० ३४। मं० ३॥ वि ये आर्जन्ते सुमेलाम ऋष्टिभिः
प्रच्यावयन्ते। अच्युता चिदोर्जसा । मनोजुवो यन्मेहते। रथेःवा वृषंवातासः पृषंतीरयुग्ध्वम् ॥ ८॥ ऋ० अ० १। ऋ० ६। व० ६। मं० ४॥

भाष्यम्

यत्पूर्वोक्तं भूमिसमुद्रान्तिरवेषु गमनार्थं यानमुक्तं तत् पुनः कीदृशं कर्तव्यमित्यत्राह् । (परि त्रिधातु) श्रयस्नाम्ररजतादिधातुत्रयेण रचनीयम् । इदं कीद्यग्वेगं भवतीत्यत्राह् । (श्रात्मेव वातः) श्रागमनागमने । यथात्मा मनश्र शीघ्रं
गच्छत्यागच्छति तथेव कलाप्रेरितौ वाय्वग्नी श्रश्चिनौ तद्यानं त्वरितं गमयत
श्रागमयतश्चेति विक्षेयमिति संदेपतः ॥ ६ ॥ तच्च कीदृशं यानमित्यत्राहः,
(श्रारित्रं) स्तम्भनार्थसाधनयुक्तं, (पृथु) श्रातिवस्तीर्णम् । ईदृशः स रथः
श्रग्न्यश्वयुक्तः (सिन्धूनाम्) महासम्भद्राणां (तीर्थे) तरणे कर्त्तच्येऽलं वेगवान्
भवतीति बोध्यम् । (धिया यु) तत्र त्रिविधे रथे (इन्द्वः) जलानि वाष्यवेगार्थं (युयुत्रे) यथावयुक्तानि कार्य्याणि । येनातीव शीघ्रगामी स रथः स्यादिति ।
(इन्द्वः) इति जलनामस् । निघएटौ श्रध्याये प्रथमे खण्डे १२ पठितम् । (उन्देरिचादेः) । उणादौ प्रथमे पादे स्त्रम् । स् ० १२ ॥७॥ हे मनुष्याः ! (मनोजुवः)
मनोवद्गतयो वायवो यन्त्रकलाचालंनैस्तेषु रथेषु पूर्वोक्तेषु त्रिविधयानेषु यूयम्
(श्रयुग्ध्वम्) तान् यथावद्योजयत । कथम्भूता श्रग्निवाय्वाद्यः । (श्रावृष्
वातासः) जलसेचनयुक्ताः । येष् संयोगे वाष्यजन्यवेगोत्पत्त्या वेगवन्ति तानि
यानानि सिद्धयन्तीत्यपदिश्यते ॥ = ॥

भाषार्थ

फिर वह सवारी कैसी बनाना चाहिये कि (त्रिनों श्राक्षिना य०) (पृथिवीम-शायतम्) जिन सवारियों से हमारा भूमि, जल और श्राकाश में प्रतिदिन श्रानन्द से जाना श्राना बनता है, (परित्रिधातु पृ०) वे लोहा, तांबा, चांदी श्रादि तीन धातुश्रों से बनती है। श्रीर जैसे (रध्या परावतः०) नगर वा प्राम की गिलयों में फट पट जाना श्राना बनता है वैसे दूर देश में भी उन सवारियों से शीघ र जाना श्राना होता है। (नासत्या०) इसी प्रकार विद्या के निमित्त पूर्वोक्त जो श्रिश्व है उन से बड़े २ कठिन मार्ग में भी सहज से जाना श्राना करें। जैसे (श्रातमेव वातः स्व०) मन के वेग के समान शीघ्र गमन के लिये सवारियों से प्रतिदिन सुख से सब भूगोल के बीच जावें श्रावें ॥ ६ ॥ (श्रारित्रं वाम्) जो पूर्वोक्त श्रारित्रयुक्त यान बनते हैं वे (तीर्थे सिन्धूनां रथः) जेः रथ बड़े २ समुद्रों के मध्य से भी पार पहुंचाने में श्रेष्ठ होते हैं, (दिवस्पृथु) जो विस्तृत श्रीर श्राकाश तथा समुद्र में जाने

नौविमानादिविद्याविषयः ॥

श्राने के लिये अत्यन्त उत्तम होते हैं, जो मनुष्य उन रथों में यन्त्र सिद्ध करते हैं वे सुखों को प्राप्त होते हैं। (धिया युयुज्र०) उन तीन प्रकार के यानों में (इन्दवः) वाष्पवेग के लिये एक जलाशय बना के उस में जलसेचन करना चाहिये जिससे वह ऋत्यन्त वेग से चलने वाला यान सिद्ध हो ।। ७ ।। (वि ये भ्राजन्ते०) हे मनुष्य लोगो ! (मनोजुवः) श्रर्थात् जैसा मन का वेग है वैसे वेग वाले यान सिद्ध करो । (यन्मरुतो रथेषु) उन रथों में (मरुत्) अर्थात् वायु और अग्नि को मनोवेग के समान चलाश्रो श्रौर (श्रा वृषत्रातासः) उन के योग में जलों का भी स्थापन करो । (पृषतीरयुग्ध्वम्) जैसे जल के वाष्प घूमने की कलात्र्यों को वेग वाली कर देते हैं वैसे ही तुम भी उनको सब प्रकार से युक्त करो । जो इस प्रकार से प्रयत्न करके सवारी सिद्ध करते हैं वे (विम्राजन्ते) त्र्यर्थात् विविध प्रकार भोगों से प्रकाश-मान होते हैं और (सुमखास ऋष्टिभिः) जो इस प्रकार से इन शिल्पविद्यारूप श्रेष्ठ यज्ञ करने वाले सब भोगों से युक्त होते हैं (श्राच्युता चिदोजसा०) वे कभी दुःखी होके नष्ट नहीं होते और सदा पराक्रम से बढ़ते जाते हैं, क्योंकि कलाकौशलता से युक्त वायु श्रीर श्राप्ति श्रादि पदार्थीं की (ऋष्टि) श्रर्थात् कलाश्रों से (प्रच्या०) पूर्व स्थान को छोड़ के मनोवेग यानों से जाते त्राते हैं, उन ही से मनुष्यों को सुख भी बढ़ता है, इसिलये इन उत्तम यानों को अवश्य सिद्ध करें ॥ ८ ॥

मा नौ नावा मेनीनां यातं पाराय गन्तेवे। युञ्जाथीमिश्वना रथम् ॥ ६ ॥ ऋ० अष्ठ० १ । ऋ० ३ । व० ३४ । मं०२ ॥ कृष्णं नियानं हरयः सुपूर्णा अपो वसाना दिवसुत्पंतन्ति । त आवंवृञ्चन्त्स-देनाहृतस्यादिद् घृतेने पृथिवी व्यंचते ॥ १० ॥ द्वादंश प्रधयश्चक्रमेकं श्रीणि नभ्यानि क उ तिचकते। तिस्मन्तसाकं त्रिशाना गङ्कवोऽर्णिताः षृष्ठिनं चेलाचुलासेः ॥ ११ ॥ ऋ० अष्ठ० २ । ऋ० ३ । व० २३ । मं० १ । २ ॥

भाष्यम्

समुद्रे भूमौ अन्तरिच्चे गमनयोग्यमार्गस्य (पाराय) (गन्तवे) वन्तुं यानानि रचनीयानि । (नावा मतीनाम्) यथा समुद्रगमनवृत्तीनां मेघाविनां नावा नौकया पारं गच्छिन्ति तथैव (नः) अस्माकमि नौकत्तमा भवेत् । (आयुञ्जा-थाम०) यथा मेघाविभिरग्निजले आसमन्ताद्यानेषु युज्येते तथास्माभिरिप योज-

नीये भवतः । एवं सर्वेर्भनुष्येः समुद्रादीनां पारावारगमनाय पूर्वोक्तयानरचने प्रयत्नः कर्त्तन्य इत्यर्थः ॥ मेधाविनामसु निघएते । अध्याये तृतीये । १५ खण्डे मतय इति पठितम् ॥६॥ हे मनुष्याः ! (सुपर्णाः) क्षोभनपतनशीलाः (हरयः) अपन्यादयोऽश्वाः, (अपोवसानाः) जलपात्राच्छादिता अधस्ताज्ज्वालारूपाः काष्टेन्धनैः प्रज्वालिताः कलाकौशलअमणयुक्ताः कृताश्रेत्तदा (कृष्णं) पृथिवीनिकारमयं (नियानं) निश्चितं यानं (दिवसुत्प०) द्योतनात्मकमाकाशमृत्पतन्ति कर्ष्यं गमयन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥ (द्वादश प्रधयः) तेषु यानेषु प्रधयः सर्वकलायुक्तानामराणां धारणार्था द्वादश कर्त्तन्याः, (चक्रमेकम्) तन्मध्ये सर्वकलाम्प्रामणार्थमेकं चकं रचनीयम्, (त्रीणि नम्यानि) मध्यस्थानि मध्यावयवधारणार्थानि त्रीणि यन्त्राणि रचनीयानि, तैः (साकं त्रिशता) त्रीणि शतानि (शङ्कवोऽर्पिताः) यन्त्रकला रचयित्वा स्थापनीयाः, (चलाचलासः)ताः कलाः चलाः चालनार्हाः, अचलाः स्थित्यर्हाः, (षष्टिः) षष्टिसंख्याकानि कलायन्त्राणि स्थापनीयानि । तस्मिन् याने एतदादिविधानं सर्वे कर्त्तन्यम् । (क उ त्रचिकते) इत्येतत् कृत्यं को विजानाति, (न) निद्द सर्वे । इत्याद्य एतिद्विध्या वेदेषु बह्वो मन्त्रास्सन्त्यप्रसङ्गादत्र सर्वे नोल्लीख्यन्ते ॥ ११ ॥

भाषार्थ

हे मनुष्यो ! (त्रा नो नावा मतीनाम्) जैसे बुद्धिमान् मनुष्यों के बनाये नाव श्रादि यानों से (पाराय) ममुद्र के पारावार जाने के लिये सुगमता होती हैं वैसे ही (त्रा०) (युक्षायाम्) पूर्वों का वायु त्रादि श्राश्व का योग यथावत् करो । (रथम्) जिस प्रकार उन यानों से समुद्र के पार और वार में जा सको । (नः) हे मनुष्यो ! त्रात्रो श्राप्त में मिल के इस प्रकार के यानों को रचें जिनसे सब देश देशान्तर में हमारा जाना त्राना वने ।। ६ ।। (कृष्णं नि०) त्राग्निजलयुक्त (कृष्णं) अर्थात् खेंचने वाला जो (नियानं) निश्चित यान है, उसके (हरयः) वेगादि गुण रूप (सुपर्णाः) त्रच्छी प्रकार गमन कराने वाले जो पूर्वोक्त श्रग्न्यादि श्रश्व हैं, वे (त्रपोवसानाः) जलसेचनयुक्त वाष्प को प्राप्त होके (दिवसुत्पतन्ति०) उस काष्ठ लोहा त्रादि से बने हुए विमान को श्राक्तशा में उड़ा चलते हैं । (त श्रावष्ट०) वे जब चारों श्रोर से सदन श्रर्थात् जल से वेगयुक्त होते हैं तव (श्रद्धतस्य) श्रर्थात् यथार्थ सुख के देने वाले होते हैं । (पृथिवी घृ०) जब जलकलाओं के द्वारा पृथिवी यथार्थ सुख के देने वाले होते हैं । (पृथिवी घृ०) जब जलकलाओं के द्वारा पृथिवी

जल से युक्त की जाती है तब उससे उत्तम २ भोग प्राप्त होते हैं ।। १० ।।) द्वादश प्रधय:) इन यानों के बाहर भी थम्भे रचने चिहियें, जिनमें सब कलायन्त्र लगाये जायं, (चक्रमेकम्) उनमें एक चक्र बनाना चाहिये जिसके घुमाने से सब कला घूमें, (त्रीणि नभ्यानि०) फिर उसके मध्य में तीन चक्र रचने चाहियें कि एक के चलाने से सब रुक जायं, दूसरे के चलाने से आगे चलें और तीसरे के चलाने से पछि चलें, (तस्मिन् साकं त्रिशता०) उनमें तीन तिनसौ (शङ्कवः) बड़ी बड़ी कीलें द्यर्थान् पेच लगाने चाहियें कि जिनसे उनके सब श्रङ्ग जुड़ जायं श्रीर उनके निकालने से सब श्रलग २ हो जायं, (षष्टिर्न चलाचलासः) उनमें ६० (साठ) कलायन्त्र रचने चाहियें, कई एक चलते रहें श्रीर कुछ बन्द रहें, श्रर्थात् जब विमान को ऊपर चढ़ाना हो तब भाफघर के ऊपर के मुख वन्द रखने चाहियें श्रौर जब ऊपर से नीचे उतारना हो तव ऊपर के मुख अनुमान से खोल देना चाहिये, ऐसे ही जब पूर्व को चलाना हो तो पूर्व के बन्द करके पश्चिम के खोलने चाहियें श्रीर जो पश्चिम को चलाना हो तो पश्चिम के बन्द करके पूर्व के खोल देने चाहियें, इसी प्रकार उत्तर दिच्चिए में भी जान लेना।(न) उन में किसी प्रकार की भूल न रहनी चाहिये।(क उ तचिकेत) इस महा-गम्भीर शिल्पविद्या को सब साधारण लोग नहीं जान सकते । किन्तु जो महाविद्वान् हस्तिकिया में चतुर श्रीर पुरुषार्थी लोग हैं वे ही सिद्ध कर सकते हैं। इस विषय के वेदों में बहुत मन्त्र हैं, परन्तु यहां थोड़ा ही लिखने में ब्राद्धिमान् लोग बहुत समक्त लेंगे ।।११।।

इति नीविमानादिविद्याविषयः संज्ञीयतः

अथ तारविद्यामूलं संक्षेपतः

युवं पेदवे पुरुवारमाश्वना स्पृधां श्वेतं तेरुतारं दुवस्यथः। शर्थेर्-भिद्यं पृतेनामु दुष्टरं चुर्कृत्यभिन्द्रंमिव चर्षणीसहम्॥ ८॥ ऋ० अष्ट० १। अ०८। व०२१। मं०४०॥

भाष्यम्

अस्याभि ॰ — अस्मिन् मन्त्रे ताग्विद्यावीं जं प्रकाश्यत इति । हे मनुष्याः ! (अश्विना ॰) अश्विनोगुणयुक्तं, (पुरुवारं) बहु भिविद्यद्भिः स्वीकर्त्तव्यं बहूत्तम-गुणयुक्तम्, (श्वेतं) अग्निगुणविद्युन्मयं शुद्धधातानिर्मितम्, (आभिद्यं) प्राप्तविद्युन

हत्रकाशम्, (पृतनासु दुष्टरं) राजसेनाकार्य्येषु दुस्तरं स्नवितुमशन्यं, (चर्कृत्यं) वारंवारं सर्वाक्रियासु योजनीयम्, (तरुतारं) ताराख्यं यन्त्रं यूयं कुरुत । कथम्भूतेर्गुणैर्युक्तं ? (शर्येः) पुनः पुनईननप्रेरणगुणैर्युक्तम्, कस्मै प्रयोजनाय ! (पेदवे) परमोत्तमव्यवहारासिद्धिप्रापणाय । पुनः कथम्भूतं ? (स्पृधां) स्पर्द-मानानां शत्रूणां पराजयाय स्वकीयानां वीराणां विजयाय च परमोत्तमम् । पुनः कथम्भूतं ? (चर्षणीसहम्) मनुष्यसेनायाः कार्यसहनशीलम् पुनः कथम्भूतं ? (इन्द्रमिव) सर्यवत् द्रस्थमिप व्यवहारप्रकाशनसमर्थम् । (युवं) युवामिश्वनौ (दुवस्यथः) पुरुषव्यत्ययेन पृथिवीविद्यदाख्याविश्वनौ सम्यक् साधियत्वा तत्ता-राख्यं यन्त्रं नित्यं सेवध्विमिति बोध्यम् ॥ ६॥

भाषार्थ

(युवं पेदवे ०) श्राभिप्रा ० -- इस मन्त्र से ताराविद्या का मृत जाना जाता है । पृथिवी से उत्पन्न धातु तथा काष्टादि के यन्त्र श्रौर विद्युत् श्रर्थात् विज्ञुली इन दोनों के प्रयोग से ताराविद्या सिद्ध होती है। क्योंकि (अद्यावापृथिव्योरित्येके०) इस निरुक्त के प्रमाण से इनका श्राश्व नाम जान लेना चाहिये। (पेदवे) श्रार्थात् वह श्रात्यन्त शीघ्र गमनागमन का हेतु होता है। (पुरुवारम्) श्रर्थात् इस् तारविद्या से बहुत उत्तम व्यवहारों के फलों को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं । (स्प्रधाम्) अर्थात् लड़ाई करने वाले जो राजपुरुष हैं उनके लिये यह तारिवद्या श्रत्यन्त हितकारी है। (श्वेतं०) वह तार शुद्ध धातुत्र्यों का होना चाहिये। (श्रांभेद्युम्) त्र्यौर विद्युत् प्रकाश से युक्त करना चाहिये। (पृतनासु दुष्टरम्) सब सेनात्र्यों के बीच में जिसका दुःसह प्रकाश होता श्रौर उल्लंघन करना श्रशक्य है, (चईत्यम्) जो सब क्रियाश्रों के वारंवार चलाने के लिये योग्य होता है। (शर्थैं:) अनेक प्रकार कलाओं के चलाने से अनेक उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये विद्युत् की उत्पत्ति करके उसको ताड़न करना चाहिये। (तरुतारम्) जो इस प्रकार का ताराख्य यन्त्र है उसको सिद्ध करके शीत से सेवन करो । किस प्रयोजन के लिये ? (पेदवे०) परम उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिये तथा दुष्ट शत्रुत्रों के पराजय और श्रेष्ठ पुरुषों के विजय के लिये तारविद्या सिद्ध करनी चाहिये। (चर्षणीसहं०) जो मनुष्यों की सेना के युद्धादि श्रमेक काय्यों के सहन करने वाला है। (इन्द्रिमव०) जैसे समीप श्रीर दूरस्थ पदार्थों का प्रकाश सूर्य

^{*} भवाप्रियावित्येके, निरु० छ**० १२, सं०** १॥

करता है वैसे तारयन्त्र से भी दूर त्रारे समीप के सब व्यवहारों का प्रकाश होता है। (युवं) (दुवस्यथः) यह तारयन्त्र पूर्वोक्त ऋश्वि के गुणों ही से सिद्ध होता है। इसको बड़े प्रयत्न से सिद्ध करके सेवन करना चाहिये। इस मन्त्र में पुरुषव्यत्यय पूर्वोक्त नियम से हुआ है अर्थात मध्यम पुरुष के स्थान में प्रथम पुरुष समम्भना चाहिये॥ १॥

इति तारिबद्यामूलं संदोपतः

अथ वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशः संक्षेपतः

सुमित्रिया न श्राप श्रोषंधयः सन्तु । दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽ-स्मान् द्वेष्टि यं चं व्यं द्विष्मः ॥ १ ॥ य॰ श्र॰ ६ । मं॰ २२ ॥ भाष्यम

अस्याभिप्रायार्थः — इदं वैद्यकशास्त्रस्यायुर्वेदस्य मूलमस्ति । हे परमवैद्येशर ! भवत्कृपया (नः) अस्मभ्यं (ओषधयः) सोमादयः, (सुमित्रिया) अत्र (इयाडियाजीकाराणामुपसङ्ख्यानम्) इति वार्त्तिकेन जसः स्थाने 'डियाच्' इत्यादेशः, सुमित्राः सुखप्रदा रोगनाशकाः सन्तु, यथाविद्विज्ञाताश्च । तथैव (आपः) प्राणाः सुमित्राः सन्तु । तथा (योस्मान्द्वेष्टि) योऽधर्मात्मा कामकोध्यादिर्वा रोगश्च विरोधी भवति, (यं च वयं विष्मः) यमधर्मात्मानं रोगं च वयं विष्मः, (तस्मै॰) दुर्मित्रिया दुःखप्रदा विरोधिन्यः सन्तु । अर्थात् ये सुपध्यकारिणस्तेम्य आषधयो मित्रवद् दुःखनाशिका भवन्ति । तथैव कुपध्यकारिम्यो मनुष्येम्यश्च शश्चवद् दुःखाय भवन्तीति । एवं वैद्यकशास्त्रस्य मूलार्थविधायका वेदेषु बह्वो मन्त्राः सन्ति, प्रसङ्गाभावाकात्र लिख्यन्ते । यत्र तत्र ते मन्त्राः सन्ति तत्र तत्रवे तेषामर्थान् यथावदुदाहरिष्यामः ।

भाषार्थ

(सुमित्रिया न०) हे परमेश्वर ! आप की कृपा से (आपः) अर्थात् जो प्राण् और जल आदि पदार्थ तथा (ओषधयः) सोमलता आदि सब ओषधि (नः) हमारे लिये (सुमित्रियाः) (सन्तु) सुखकारक हों, तथा (दुर्मित्रियाः) जो दुष्ट, प्रमादी, हमारे द्वेषी लोग हैं और हम जिन दुष्टों से द्वेष करते हैं उनके लिये विरो-धिनी हों। क्योंकि जो धर्मात्मा और पथ्य के करनेवाले मनुष्य हैं उन को ईश्वर के रचे सब पदार्थ सुख देनेवाले होते हैं श्रोर जो कुपध्य करनेवाले तथा पापी हैं उनके लिये सदा दुःख देनेवाले होते हैं। इत्यादि मन्त्र वैद्यकविद्या के मूल के प्रकारा करनेवाले हैं।

इति वैद्यकविद्याविषयः संस्रेपतः

अथ पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः

श्रम्नीते पुनेर्सामु चतुः पुनेः प्राणिमह नो घेष्टि भोगम्। ज्योक् पेरयेम स्य्येमुचरेन्त्रमन्नमते मृडयो नः स्वास्ति ॥१॥ पुनेनों श्रमुं पृथिवी देदातु पुनर्योदेंवी पुनेर्न्तिरंत्तम्। पुनेनेः सोमेस्तन्वं ददातु पुनेः पूषा पृथ्यांश्रेया स्वस्तिः॥२॥ ऋ० अ००। अ०१। व०२३। मं०१।२॥

भाष्यम्

एतेषामभि॰ एतदादिमन्त्रेष्वत्र पूर्वजन्मानि पुनर्जन्मानि च प्रकाश्यन्त इति । (असुनीते॰) असवः प्राणा नीयन्ते येन सोऽसुनीतिस्तत्सम्बुद्धौ हे असुनीते ईश्वर ! मरणानन्तरं द्वितीयशरीरधारणे वयं सदा सुलिनो भवेम । (पुनरस्मा॰) अर्थाचदा वयं पूर्व शरीरं त्यक्षा द्वितीयशरीरधारणं कुर्मस्तदा (चृद्धः) चश्चरित्युपलच्चणमिन्द्रियाणाम्, पुनर्जन्माने सर्वाणीन्द्रियाणयस्मासु धेहि । (पुनः प्राणमि॰) प्राणमिति वायोरन्तः करणस्योपलच्चणम्, पुनर्द्वितीयजन्माने प्राणमन्तः करणं च धेहि । एवं हे भगवन् ! पुनर्जन्मसु (नः) अस्माकं (भोगं) भोगपदार्थान् (ज्योक्) निरन्तरमस्मासु धेहि । यतो वयं सर्वेषु जन्मसु (ज्यन्तः) सूर्य्यं श्वासप्रश्वासात्मकं प्राणं प्रकाशमयं सर्व्यत्तोकं च निरन्तरं पश्येम । (अनुमते) हे अनुमन्तः परमेश्वर ! (नः) अस्मानं सर्वेषु जन्मसु (मृद्धय) सुल्य, भवत्कृपया पुनर्जन्मसु (खिस्त) सुल्यमेव भवेदिति प्रार्थ्यते ॥ १ ॥ (पुनर्नो) हे भगवन् ! भवदनुप्रहेण (नः) अस्मम्यं (असुं) प्राणमन्त्रमयं वलं च (पृथिवी पुनर्ददातु), तथा (पुनर्वोः०) पुनर्जन्मानि द्योदेवी द्योतमाना सर्व्यज्योतिरसुं ददानु, (पुनर्नः सोमस्त०) तथा सोम अोषधिसमृह्जन्यो रसः पुनर्जन्माने तन्वं शरीरं ददानु, (पुनः पूषा०) हे

परमेश्वर ! पुष्टिकर्त्ता भवान् (पथ्यां) पुनर्जन्मानि धर्ममार्ग ददातु, तथा सर्वेषु जन्मसु (या स्वस्तिः) सा भवत्क्रपया नोऽस्मभ्यं सदैव भवत्विति प्रार्थ्यते भवान् ॥ १ ॥

भाषार्थ

(असुनीते०) हे सुखदायक परमेश्वर ! आप (पुनरस्मासु चत्तुः) कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियां स्थापन कीजिये । तथा (पुनः प्राणं०) प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, आहंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिये । (इह नो धेहि भोगं०) हे जगदिश्वर ! इस संसार अर्थात् इस जन्म और परजन्म में हम लोग उत्तम २ भोगों को प्राप्त हों । तथा (ज्योक् पश्येम सूर्य्यमुच्चरन्तम्) हे भगवन् आप की कृपा से सूर्य्यलोक, प्राण और आप को विज्ञान तथा प्रेम से सदा देखते रहें । (अनुमते मृड्या नः स्वस्ति) हे अनुमते ! सब को मान देने हारे ! सब जन्मों में हम लोगों को (मृड्य) सुखी रिखये । जिससे हम लोगों को स्वस्ति अर्थात् कल्याण हो ॥ १ ॥ (पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पु०) हे सर्वशिक्तमन् ! आप के अनुप्रह से हमारे लिये वारंवार पृथिवी प्राण् को, प्रकाश चत्तु को और अन्तरित्त स्थानादि अवकाशों को देते रहें । (पुनर्नेः सोमस्तन्वं ददातु) पुनर्जन्म में सोम अर्थात् ओषधियों का रस हम को उत्तम शरीर देने में अनुकृत रहे । तथा (पूषा०) पृष्टि करनेवाला परमेश्वर कृपा करके सब जन्मों में हम को सब दुःख निवारण करने वाली पण्यरूप स्वस्ति को देवे ।।२॥

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन पुनः श्राच्यः पुनः श्रोत्रं म आगन । वैश्वानरो अदेग्धरतनूपा अगिननेः पातु दुरितादेवचात् ॥ ३ ॥ यज्ञ० अ० ४ । मं० १४ ॥ पुनर्मेत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च । पुनर्गनयो धिष्ण्या यथास्थाम केल्पन्तामिहैव ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० ७ । अनु० ६ । स्क ६७ । मं० १ ॥ आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद तनो वपंषि कृणुषे पुरुणि । धास्युर्णोनिं प्रथम आविवेशा यो वाच्मनंदितां चिकेते ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० ४ । अनु० १ । स्क १ । मं० २ ॥

भाष्यम्

(पुनर्मन: पु॰) हे जगदीश्वर! भवदनुग्रहेण विद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्तं मन आयुश्व

(मे) महामागन्युनः पुनर्जन्मसु प्राप्तुयात्, (पुनरात्मा) पुनर्जन्मिन मदात्मा विचारः शुद्धः सन् प्राप्तुयात्, (पुनश्रक्षः) चक्षः श्रोत्रं च मह्यं प्राप्तुयात् । (वैश्वानरः) यः सकलस्य जगतो नयनकत्ती, (त्र्यदब्धः) दम्भादिदोषराहितः, (तन्पाः) शरीरादिरच्चकः, (श्रग्निः) विज्ञानानन्दस्वरूपः परमेश्वरः (पातु दुरि॰) जन्मजन्मान्तरे दुष्टकर्मभ्योऽस्मान् पृथक्कृत्य पातु रह्ततु, येन वयं निष्पापा भूत्वा सर्वेषु जन्मसु सुखिनो भवेम ॥ ३ ॥ (पुनर्म०) हे भगवन् ! पुनर्जन्मनीन्द्रियमथीत् सर्वाणीन्द्रिया, एयात्मा प्राणधारको बलाख्यः, (द्रविशं) विद्यादिश्रेष्ठधनं, (ब्राह्मणं च) ब्रह्मनिष्ठात्वं, (पुनरग्नयः) मनुष्यशरीरं धार-यित्वाऽऽइवनीयाद्यग्न्याधानकरणं (मैतु) पुनः पुनर्जन्मस्वेतानि मामाप्नुवन्तु, (धिष्णया यथास्थाम) हे जगदीश्वर ! वयं यथा येन प्रकारेण पूर्वेषु जन्मसु धिष्ण्या धारणवत्या धिया सोत्तमशरीरेन्द्रिया आस्थाम तथैवहासिमन् संसारे पुनर्जन्मानि बुद्धचा सह स्वस्वकार्य्यकरणे समर्था भवेम, येन वयं केनापि कारणेन न कदाचिद्रिकला भवेम ॥ ४ ॥ (ऋ। यो ध०) यो जीवः (प्रथमः) पूर्व-जन्मनि (धम्मािश) याद्यािन धर्मकार्याशि (त्राससाद) कृतवानस्ति, स (ततो वर्पूषि०) तस्माद् धर्मकरणाद्वहून्युत्तमानि शरीराणि पुनर्जन्मनि कृणुषे धारयति । एवं यश्राधर्मकृत्यानि चकार स नैव पुनः पुनर्मनुष्यशरी-राशि प्राप्नोति, किन्तु पश्वादीनि हि शरीराशि धारियत्वा दुःखानि सुङ्के। इदमेव मन्त्रार्धेनेश्वरो ज्ञापयति । (धास्युर्योनिं०) धास्यतीति धास्युरर्थात् पूर्वजन्मकृतपापपुण्यफलभोगशीलो जीवात्मा, (प्रथमः) पूर्व देहं त्यका, वायुजलौषध्यादिपदार्थान् (श्राविवेश) प्रविश्य, पुनः क्रुतपापपुरायानुसा-रिणीं योनिमाविवेश प्रविशतीत्यर्थः । (यो वाचम०) यो जीवोऽनुदिता-मीश्वरोक्नां वेदवाणीं श्रा समन्ताद् विदित्वा धर्ममाचरति स पूर्वविद्विद्वच्छरीरं धृत्वा सुखमेव सुङ्क्ते। तदिपरीताचरणस्तिर्य्यग्देहं धृत्वा दुःखभागी भवतीति विज्ञेयम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ

(पुनर्मनः पुनरात्मा) हे सर्वज्ञ ईश्वर! जब जब हम जन्म लेवें तब २ हम को शुद्ध मन, पूर्ण श्रायु, श्रारोग्यता, प्राण, कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चत्तु श्रीर श्रोत्र प्राप्त हों, (वैश्वानरोऽदब्धः) जो विश्व में विराजमान ईश्वर है वह सब

जन्मों में हमारे शरीरों का पालन करे। (श्राग्निनी:) सब पापों के नाश करने वाले त्राप हमको (पातु दुरितादवद्यात्) बुरे कामों श्रौर सब दुःखों से पुनर्जन्म में श्रलग रक्खें ।। ३ ।। (पुनर्मेंदिवन्द्रियम्) हे जगदीश्वर ! आप की कृपा से पुनर्जन्म में मन श्रादि ग्यारह इन्द्रिय मुक्त को प्राप्त हों, श्रर्थात् सर्वदा मनुष्य देह ही प्राप्त होता रहे । (पुनरात्मा) ऋर्थात् प्राणों को धारण करने हारा सामर्थ्य मुक्त को प्राप्त होता रहे । जिससे दूसरे जन्म में भी हम लोग सौ वर्ष वा श्रच्छे श्राचरण से श्रधिक भी जीवें। (द्रविगां) तथा सत्यविद्यादि श्रेष्ठ धन भी पुनर्जन्म में प्राप्त होते रहें । (ब्राह्मगां च०) स्रौर सदा के लिये ब्रह्म जो वेद है उसका व्याख्यान सहित विज्ञान तथा श्राप ही में हमारी निष्ठा बनी रहे । (पुनरग्नय:) तथा सब जगत् के उपकार के श्रर्थ हम लोग श्रमिहोत्रादि यज्ञ को करते रहें। (धिष्ण्या यथास्थाम) हे जगदीश्वर ! हम लोग जैसे पूर्वजन्मों में शुभ गुण धारण करनेवाली बुद्धि से उत्तम शरीर श्रौर इन्द्रियसिहत थे वैसे ही इस संसार में पुनर्जन्म में भी बुद्धि के साथ मनुष्यदेह के कृत्य करने में समर्थ हों। ये सब शुद्धबुद्धि के साथ (मैतु) मुक्त को यथावत् प्राप्त हों। (इहैव) जिन से हम लोग इस संसार में मनुष्यजन्म को धारण करके धर्म, त्र्यर्थ, काम त्र्यौर मोत्त को सदा सिद्ध करें त्र्यौर इस सामग्री से त्राप की भिक को पेम से सदा किया करें। जिस करके किसी जन्म में हमको कभी दुःख प्राप्त न हो ।। ४ ॥ (आ यो धर्माणि०) जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है, (ततो वपंषि क्रुगुषे पुरूणि) उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है। (धास्युर्योनिं०) जो पूर्वजन्म में किए हुए पाप पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभावयुक्त जीवात्मा है वह पूर्व शरीर को छोड़ के वायु के साथ रहता है। (पुनः०) जल स्रोपिध वा प्रारा श्चादि में अवेश करके वीर्य्य में अवेश करता है तदनन्तर योनि श्चर्थात गर्भाशय में स्थिर होके पुनः जन्म लेता है। (यो वाचमनुदितां चिकेत) जो जीव अनुदित वाणी श्रर्थात् जैसी ईश्वर ने वेदों में सत्यभाषण करने की श्राज्ञा दी है वैसा ही (आचिकेत) यथावत् जान के बोलता है श्रीर धर्म ही में (ससाद) यथावत् स्थित रहता है, वह मनुष्ययोनि में उत्तम शरीर धारण करके श्रानेक सुखों को भोगता है अर्थर जो अधर्माचरण करता है वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट पतङ्ग पशु आदि के शरीर को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है ।। ४ ।।

द्वे मृती श्रेश्रणवं पितृणामहं देवानीमुत मर्त्यानाम्। ताभ्यानि मिदं विश्वमेजत्समेति यदेन्तरा पितरं मातरं च ॥६॥य० श्र० १६। मं०४७॥ मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः। नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै॥१॥ श्राहारा विविधा सुकाः पीता नानाविधाः स्तनाः। मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृद्द-स्तथा॥२॥ श्रवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुरचैव समन्वितः॥ निरु० श्र०१४। खं०६॥

भाष्यम्

(बे सृती०) अस्मिन् संसारे पापपुणयफलभोगाय बौ मार्गी स्तः । एकः पितृणां ज्ञानिनां, देवानां विदुषां च बितीयः (मर्त्यानां) विद्याविज्ञानर-हितानां मनुष्याणाम् । तयोरेकः पितृयानों, द्वितीयो देवायानश्रेति । यत्र जीवो मातापितृभ्यां देहं घृत्वा पापपुणयफले सुखदुःखे पुनः पुनर्भुङ्के, अर्थात् पूर्वापर-जन्मानि च धारयित सा पितृयानाख्या सृतिरस्ति । तथा यत्र मोचाख्यं पदं लब्ध्वा जन्ममरणाख्यात् संसाराबिधुच्यते सा बितीया सृतिर्भवति । तत्र प्रथमायां सृतौ पुण्यसञ्चयफलं भुक्त्वा पुनर्जायते च्रियते च । बितीयायां च सृतौ पुनर्न जायते न म्रियते चेत्यहमेवम्भूते बे सृती (अष्टणवं) श्रुतवानस्मि । (ताभ्या-विदं विश्व०) पूर्वोक्ताभ्यां बाभ्यां मार्गाभ्यां सर्व जगत् (एजत्समेति०) कम्पमानं गमनागमने समेति सम्यक् प्राप्नोति । (यदन्तरा पितरं मातरं च) यदा जीवः पूर्व शरीरं त्यक्त्वा वायुजलौषध्यादिषु अमित्वा पितृशरीरं मातृशरीरं वा प्रविश्य पुनर्जन्म प्राप्नोति तदा त सशरीरो जीवो भवतीति विश्वयम् ॥६॥ अत्र मृतश्राहं पुनर्जात इत्यादि निरुक्तकारैरपि पुनर्जन्मधारणम्कानिति बोध्यम् ॥७॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ८ ॥ पातं० अ० १।पा०२। सू०६॥ पुत्रहत्पत्तिः वेत्यभावः ॥ ६॥ न्या० अ० १। आ०१। स०१६॥

(स्वरस॰) योगशास्त्र पतञ्जलिमहाम्नुनिना तदुपरि भाष्यकर्जा वेद्व्यासेन च पुनर्जन्मसद्भावः प्रतिपादितः । या सर्वेषु प्राणिषु जन्मारभ्य मरणत्रासाख्या प्रवृत्तिर्देश्यते तया पूर्वापरजन्मानि मवन्तीति विज्ञायते । क्रुतः । जातमात्रक्रमिरपि मरणत्र।समनुभवति । तथा विदुषोप्यनुभवो भवतीत्यतो जीवेनानेकानि शरीराणि घार्यन्ते। यदि पूर्वजन्मिन मरणानुभवो न भवेश्वेत्ति तत्संस्कारोपि न स्याश्वेव संस्कारेण विना स्मृतिभवित स्मृत्या विना मरणत्रासः कथं जायेत । कुतः । प्रा-िष्णमात्रस्य मरणभयदर्शनात् पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति वेदितव्यम् ॥ = ॥ (पुनरु०) तथा महाविदुषा गोतमेनिर्षेणा न्यायदर्शने तद्धाष्यकर्त्रा वात्स्यायने-नापि पुनर्जन्मभावो मतः यत् पूर्वशरीरं त्यक्त्वा पुनर्धितीयशरीरधारणं भवित तत्प्रेत्यमावाख्यः पदार्थो भवतीति विद्वेयम् । प्रेत्यार्थान्मरणं प्राप्य भावोऽर्थात् पुनर्जन्म घृत्वा जीवो देहवान् भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(दे मृती ०) इस संसार में हम दो प्रकार के जन्मों को (श्रशृण्वम्) सुनते हैं। एक मनुष्य-शरीर का धारण करना श्रौर दूसरा नीच गति से पशु, पत्ती, कीट, पतङ्ग, वृत्त त्रादि का होना । इन में मनुष्यशरीर के तीन भेद हैं । एक पितृ श्रर्थात् ज्ञानी होना, दूसरा देव अर्थात् सब विद्यात्रों को पढ़के विद्वान होना, तीसरा मर्त्य श्रर्थात् साधारण मनुष्यशरीर का धारण करना । इन में प्रथम गति श्रर्थात् मनुष्य-शरीर पुण्यात्माश्रों श्रौर पुण्यपाप तुल्यवालों को होता है श्रौर दूसरा जो जीव अधिक पाप करते हैं उनके लिये है। (ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति०) इन्हीं भेदों से सब जगत के जीव अपने २ पुरुष और पापों के फल भोग रहे हैं। (यदन्तरा पितरं मातरं च) जीवों को माता श्रौर पिता के शरीर में श्रवेश करके जन्मधारण करना, पुनः शरीर का छोड़ना, फिर जन्म को प्राप्त होना वारंवार होता है। जैसा वेदों में पूर्वापर जन्म के धारण करने का विधान किया है वैसा ही निरुक्तकार ने भी प्रतिपादन किया है। जब मनुष्य को ज्ञान होता है तब वह ठीक २ जानता है कि (मृतश्राहं पु०) मैंने अनेक वार जन्ममरण को प्राप्त होकर नाना प्रकार के हजारह गर्भाशयों का सेवन किया।। १।। (त्राहारा वि०) त्रानेक प्रकार के भोजन किये; अनेक माताओं के स्तनों का दुग्ध पिया, अनेक माता पिता और सुहृदों को देखा ।। २ ।। (अवाक्सुखः) मैंने गर्भ में नीचे सुख ऊपर पग इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं से युक्त होके अनेक जन्म धारण किये, परन्तु अब इन महादु:खों से तभी छूटूंगा कि जब परमेश्वर में पूर्ण प्रेम श्रीर उसकी श्राज्ञा का पालन करूंगा। नहीं तो इस जन्ममरणरूप दुःखसागर के पार जाना कभी नहीं हो सकता। तथा योगशास्त्र में भी पुनर्जन्म का विधान किया है (स्वरस०) (सर्वस्य प्रा०)।

हरएक प्राणियों की यह इच्छा नित्य देखने में श्राती है कि (भूयासमिति) श्रार्थात् में सदैव सुग्वी बना रहूं, मरूं नहीं। यह इच्छा कोई भी नहीं करता कि (मान भूवं) श्रार्थात् में न होऊं। ऐसी इच्छा पूर्वजन्म के श्रामाव से कभी नहीं हो सकती। यह श्राभिनिवेश क्लेश कहलाता है जो कि कृमिपर्थ्यन्त को भी मरण का भय बराबर होता है। यह व्यवहार पूर्वजन्म की सिद्धि को जनाता है।। तथा न्या-यदर्शन के (पुनरु०) सू०, श्रीर उमी के वात्स्या० भा० में भी कहा है कि जो उत्पन्न श्रार्थात् किसी शरीर को धारण करता है वह मरण श्रार्थात् शरीर को छोड़ के पुनरुत्पन्न दूसरे शरीर को भी श्रवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार मर के पुनर्जन्म लेने को प्रेत्यभाव कहते हैं।। ६।।

त्र्यत्र केचिदेकजन्मवादिनो वदन्ति । यदि पूर्वजन्मासीत्तर्हि तत्स्मरणं कुतो न भवतीत्यत्र ब्रुमः। भोः! ज्ञाननेत्रग्रुट्घाट्य द्रष्टव्यमस्मिन्नेव शरीरे जन्मतः पञ्चवर्षपर्व्यन्तं यद्यत्सुखं दुःखं च भवति, यच जागरितावस्थास्थानां सर्वव्यव-इाराणां सुषुप्त्यवस्थायां च, तदनुभूतस्मरणं न भवति, पूर्वजन्मवृत्तस्मरणस्य तु का कथा। (प्रश्नः) यदि पूर्वजन्मकृतयोः पापपुरुषयोः सुखदुःखफले हीश्व-रोऽस्मिन् जन्मानि ददाति तयोश्रास्माकं साचात्काराभावात् सोऽन्यायकारी भवति, नातोऽस्माकं शुद्धिश्वेति ? । श्रत्र ब्र्मः । द्विविधं ज्ञानं भवत्येकं प्रत्यत्तं, द्वितीय-मानुमानिकं च । यथा कस्यिचेद्वैद्यस्यावैद्यस्य च शरीरे ज्वरावेशो भवेत्तत्र खलु वैद्यस्तु विद्यया कार्य्यकारणसङ्गत्यनुमानतो ज्वरनिदानं जानाति नापरश्च, परन्तु वैद्यकविद्यारहितस्यापि ज्वरस्य प्रत्यत्तत्वात् किमपि मया कुपथ्यं पूर्वं कृतिमिति जानाति, विना करणेन कार्यं नैव भवतीति दशनात्। तथैव न्यायकारीश्वरोपि विना पापपुरायाम्यां न कस्मैचित् सुखं दुःखं च दातुं शक्नोति । संसारे नीचो-चसुखिदुः खिद्शीनाद् विज्ञायते पूर्वजन्मकृते पापपुर्यये वभूवतुरिति । श्रत्रैकजन्मवा-दिनामन्येऽपीदशाः प्रश्नाः सन्ति, तेषां विचारेणोत्तराणि देयानि । किञ्च, न बुद्धिमतः प्रत्यखिललेखनं योग्यं भवति तेद्युदेश्यमात्रेणाधिकं जानन्ति । ग्रन्थोपि भूयान भवेदिति मत्वाऽत्राधिकं नोल्लिख्यते ।

भाषार्थ

इसमें अनेक मनुष्य ऐसा प्रश्न करते हैं कि जो पूर्वजन्म होता है तो हम को उस का झान इस जन्म में क्यों नहीं होता ? (उत्तर) आंख खोल के देखों कि

जब इसी जन्म में जो २ सुख दुःख तुमने बाल्यावस्था में श्रर्थात् जन्म से पांच वर्ष पर्व्यन्त पाये हैं उनका ज्ञान नहीं रहता, श्रथवा जो कि नित्य पठन पाठन श्रौर व्यवहार करते हैं उनमें से भी कितनी ही बातें भूल जाते हैं, तथा निद्रा में भी यही हाल हो जाता है कि अब के किये का भी ज्ञान नहीं रहता, जब इसी जन्म के व्यवहारों को इसी शरीर में भूल जाते हैं तो पूर्व शरीर के व्यवहारों का कब ज्ञान रह सकता है। तथा ऐसा भी प्रश्न करते हैं कि जब हम को पूर्वजन्म के पाप पुरुष का ज्ञान नहीं होता और ईश्वर उनका फल सुख वा दुःख देता है इससे ईश्वर का न्याय वा जीवों का सुधार कभी नहीं हो सकता ? (उत्तर) ज्ञान दो प्रकार का होता है। एक प्रत्यच दूसरा अनुमानादि से। जैसे एक वैद्य श्रीर दूसरा अवैद्य. इन दोनों को ज्वर श्राने से वैद्य तो इस का पूर्व निदान जान लेता है श्रीर दसरा नहीं जान सकता । परन्तु उस पूर्व कुपथ्य का कार्य्य जो ज्वर है वह दोनों को प्रत्यत्त होने से वे जान लेते हैं कि किसी कुपथ्य से ही यह ज्वर हुआ है अन्यथा नहीं। इस में इतना विशेष है कि विद्वान ठीक २ रोग के कारण श्रौर कार्य्य को निश्चय करके जानता है और वह श्राविद्वान कार्य्य को तो ठीक २ जानता है परन्तु कारण में उसको यथावत् निश्चय नहीं होता । वैसे ही ईश्वर न्यायकारी होने से किसी को विना कारण से सुख वा दुःख कभी नहीं देता। जब हम को पुण्य पाप का कार्य्य सुख त्र्यौर दुःख प्रत्यच्च है तब हम को ठीक निश्चय होता है कि पूर्वजन्म के पाप पुरुषों के विना उत्तम मध्यम और नीच शरीर तथा बुद्धचादि पदार्थ कभी नहीं मिल सकते । इससे हम लोग निश्चय करके जानते हैं कि ईश्वर का न्याय श्रोर हमारा सुधार ये देानों काम यथावत् बनते हैं । इत्यादि प्रश्नोत्तर बुद्धिमान् लोग अपने विचार से यथावत् जान लेवें । मैं यहां इस विषय के बढ़ाने की त्रावश्यकता नहीं देखता ।

इति पुनर्जन्मविषयः संस्वेपतः

अथ विवाहविषयः संक्षेपतः

गुभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्यो जरदेष्टिर्घथासेः। भगो श्रर्थ्यमा संविता पुरंन्धिमेश्चं त्वा दुर्गार्हेपत्याय देवाः॥१॥ इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्चतम्। श्रीडंन्तौ पुत्रैर्नप्तृंभिर्मो- र्दमा<u>नौ</u>स्वे गृहे ॥२॥ ऋ० अ०८। अ०३। व०२७। २८॥ मं०१।२॥

भाष्यम्

श्रनयोरभि०-त्रत्रत्र विवाहविधानं क्रियत इति । हे कुमारि युवतिकन्ये ! (सौभगत्वाय) सन्तानोत्पत्त्यादिश्रयोजनसिद्धये (ते) तव इस्तं (गृम्णामि) गृह्णामि, त्वया सहाइं विवाइं करोमि, त्वं च मया सह । हे ख्रि! (यथा) येन प्रकारेश (मया पत्या) सह (जरदृष्टिः) (त्र्यासः) जरावस्थां प्राप्तयास्तर्यव त्वया स्त्रिया सह जरदष्टिरहं भवेयं वृद्धावस्थां प्रामुयाम । एनमावां सम्प्रीत्या परस्परं धर्ममानन्दं कुर्घ्याविह । (भगः) सकलैश्वर्घ्यसम्पन्नः, (श्रर्ध्यमा) न्याय-व्यवस्थाकर्ता, (सविता) सर्वजगदुत्पादकः, (पुरन्ध्रः) सर्वजगद्धारकः परमे-श्वरः (मह्यं गाईपत्याय) गृहकार्य्याय त्वां मदर्थं दत्तवान , तथा (देवाः) अत्र सर्वे विद्वांसः साचिणः सन्ति । यद्यावां प्रतिज्ञोत्नंघनं क्रय्योवहि तर्हि परमे-रवरदराड्यो विद्यदराड्यो च भवेवेति ॥ १ ॥ विवाहं कृत्वा परस्परं स्त्रीपुरुषी कीदृशवर्त्तमानौ भवेतामेतद्रथमीश्वर त्राज्ञां ददाति (इहैव स्तं०) हे स्त्रीपुरुषौ ! युवां ब्राविहास्मिल्लोके गृहाश्रमे सुखेनैव सदा (वस्तम्) निवासं कुर्यातम् , (मा वियौष्टं) तथा कदाचिद्धिरोधेन देशान्तरगमनेन वा वियुक्ती वियोगं प्राप्तों मा भवेताम् । एवम्मदाशीर्वादेन धर्मं कुर्वाणौ सर्वोपकारिगौ मद्भक्तिमाचरन्तौ (विश्व-मायुर्व्यश्तुतम्) विविधसुखरूपमायुः त्राप्तुतम् । पुनः (स्वे गृहं) स्वकीये गृहे पुत्रैनेप्तृभिश्व सह मोदमानौ सर्वानन्दं प्रामुवन्तौ (कीडन्तौ) सद्धमिकया कुर्वन्तौ सदैव भवतम् । इत्यनेनाप्येकस्याः स्त्रिया एक एव पतिर्भवत्वेकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री चेति । श्रर्थाद् नेकस्त्रीभिः सह विवाहनिषेघो नरस्य तथाऽनेकैः पुरुषैः सहैक-स्याः स्त्रियाश्रेति, सर्वेषु वेद्मन्त्रेष्वेकवचनस्यैव निर्देशात् । एवं विवाहाविधायका वेदेष्वनेकं मन्त्राः सन्तीति विज्ञेयम् ।

भाषार्थ

(गृभ्णामि ते) (सौभगत्वाय हस्तं) हे िक ! मैं सौभाग्य अर्थात् गृहाश्रम में सुख के लिये तेरा हस्त प्रहण करता हूं और इस बात की प्रतिज्ञा करता हूं िक जो काम तुम को अप्रिय होगा उसकी मैं कभी न करूंगा। ऐसे ही स्त्री भी पुरुष से कहे कि जो व्यवहार आपको अप्रिय होगा उसकी मैं भी कभी न करूंगी। और हम

दोनों व्यभिचारादि दोषरहित होके वृद्धावस्थापर्यन्त परस्पर त्रानन्द के व्यवहारों को करेंगे। हमारी इस प्रतिज्ञा को सब लोग सत्य जानें कि इससे उलटा काम कभी न किया जायगा । (भगः) जो ऐक्थर्यवान् , (श्रर्यमा) सव जीवों के पाप पुण्य के फलों को यथावत् देने वाला, (सविता) सब जगत् का उत्पन्न करने और सब ऐश्वर्य का देने वाला तथा (पुरान्धः) सव जगत् का धारण करने वाला परमेश्वर है वही हमारे दोनों के बीच में साची है। तथा (मह्यं त्वा०) परमेश्वर श्रांर विद्वानों ने मुक्त को तेरे लिये और तुक्त को मेरे लिये दिया है कि हम दोनों परस्पर प्रीति करेंगे तथा उद्योगी होकर घर का काम अच्छी तरह से करेंगे और मिथ्या-भाषणादि से बचकर सदा धर्म ही में वर्तींगे । सब जगत् का उपकार करने के लिये सत्यविद्या का प्रचार करेंगे श्रीर धर्म से पुत्रों को उत्पन्न करके उनको सुशिचित करेंगे इत्यादि प्रतिज्ञा हम ईश्वर की साची से करते हैं कि इन नियमों का ठीक २ पालन करेंगे। इसरी स्त्री श्रीर इसरे पुरुष से मन से भी व्यभिचार न करेंगे। (देवा:) हे विद्वान लोगो ! तुम भी हमारे साची रहो कि हम दोनों गृहाश्रम के लिये विवाह करते हैं। फिर स्त्री कहे कि मैं इस पति को छोड़ के मन, वचन और कर्म से भी दूसरे पुरुष को पति न मानूंगी। तथा पुरुप भी प्रतिज्ञा करे कि मैं इसके सिवाय दूसरी स्त्री को अपने मन, कर्म और वचन से कभी न चाहुंगा ।।१।। (इहैव स्तं०) विवाहित स्त्री पुरुपों के लिये परमेश्वर की आज्ञा है कि तुम दोनों गृहाश्रम के शुभ व्यवहारों में रहो । (मा वियौष्टं) ऋर्थान विरोध करके ऋलग कभी मत हो श्रीर व्यभिचार भी किसी प्रकार का मत करो । ऋतुगामित्व से सन्तानों की उत्पत्ति, उनका पालन श्रीर सुशिज्ञा, गर्भस्थिति के पीछे एक वर्ष पर्व्यन्त ब्रह्मचर्थ्य श्रीर लड़कों को प्रसूता स्त्री का दुग्ध बहुत दिन न पिलाना इत्यादि श्रेष्ठ व्यवहारों से (विश्वमा०) सौ (१००) वा १२५ वर्ष पर्यन्त त्र्रायु को सुख से भोगो। (क्रीडन्तौ०) अपने घर में आनन्दित होके पुत्र और पौत्रों के साथ नित्य धर्म-पूर्वक कीड़ा करो । इससे विपरीत व्यवहार कभी न करो श्रौर सदा मेरी श्राज्ञा में वर्त्तमान रहो । इत्यादि विवाहविधायक वेदों में बहुत मन्त्र हैं । उनमें से कई एक मन्त्र संस्कारविधि में भी लिखे हैं वहां देख लेना।

इति संदोपतो विवाहविषय:

अथ नियोगविषयः संक्षेपतः

कुहं स्विद्योषा कुह वस्तीरिश्वना कुहां भिष्टितं करतः कुहोषतः। को वां शयुका विषवेव देवरं मर्ग्य न योषां कृणुते स्वस्थ आ॥१॥ ऋ० अ००। अ०८। व०१८। सं०२॥इयं नारीं पतिलोकं वृंणाना निर्पयत उपत्वा मर्ग्य प्रेतम्। धर्म पुराणमेनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥२॥ अथर्व० कां०१८। अनु०२। स्०१। मं० १॥ उदीष्वं नार्ग्यभि जीवलोकं गतासुंमेतमुपेशेष् एहि। द्रस्त्याभस्यं दिधिषोस्तवेदं पत्युंजिन्तिवस्भि सं बंभूथ॥३॥ ऋ० मं०१०। सू०१८। सं०८०।

भाष्यम्

एपामभि ० – श्रत्र विधवाविस्त्रीकिनियोगव्यवस्था विधीयत इति । (क्रहस्वि-दोपा) हे विवाहितौ स्त्रीपुरुपा ! युवां (कुह) कस्मिन्स्थाने (दोपा) रात्रौ (वस्तोः) वसथः, (कुइ० ऋश्विना) दिवसे च क वासं कुरुथः, (कुहाभि०) काभिपित्वं प्राप्ति (करतः) कुरुतः, (कुहोपतुः) क युवयोर्निजवासस्थानमऽस्ति, (को वां शयुत्रा) शयनस्थानं युवयोः कास्ति । इति स्त्रीपुरुपौ प्रति प्रश्नेन द्विवचनोचारणेन चैकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री कर्तुं योग्यास्ति । तथैकस्याः स्त्रिया एक एव पुरुषश्च, द्वयोः परस्परं सदैव प्रीतिर्भवेत्र कदाचिद्वियोगव्यभिचारौ भवेतामिति द्योत्यते । (विधवेव देवरं) कं केव १ यथा देवरं द्वितीयं वरं नियोगेन प्राप्तं विधवा इव । अत्र प्रमाणम् । देवरः कस्माद् ब्रितीयो वर उच्यते ॥ निरु० अ० ३ । खं० १५ ॥ विधवाया द्वितीयपुरुषेण सह नियोगकरणे त्राज्ञास्ति, तथा पुरुषस्य च विधवया सह । विधवा स्त्री मृतकस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कुर्याच कुमारेण सह, तथा कुमारस्य विधवया सह च । ऋर्थात् कुमारयोः स्त्रीपु-रुषयोरेकवारमेव विवाहः स्यात्, पुनरेवं नियोगश्च । नैव द्विजेषु द्वितीयवारं विवाहो विधीयते । पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्णं एव विधीयते, तस्य विद्याव्यव-हारराहितत्वात् । नियोजितौ स्त्रीपुरुषौ कथं परस्परं वर्त्तेतामित्यत्राह । (मर्थं न योषा) यथा विवाहितं मनुष्यं (सधस्थे) समानस्थाने सन्तानार्थं योषा विवाहिता स्त्री (कुणुते) आकृणुते, तथैव विधवा विगतस्त्रीकश्च सन्तानोत्पत्तिकरणार्थं परस्परं

नियोगं कृत्वा विवाहितस्त्रीपुरुपवद्वत्तेयाताम् ॥ १ ॥ (इयं नारी०) इयं विधवा नारी (प्रेतं) मृतं पतिं विहाय (पतिलोकं) पतिसुखं (वृणाना) स्वीकर्तुमिच्छन्ती सती (मर्त्य) हे मनुष्य ! (त्वा) त्वासुपनिपद्यते, त्वां पतिं प्राप्नोति, तव समीपं नियोगविधानेनागच्छति, तां त्वं यहाणाऽस्यां सन्तानान्युत्पाद्य । कथम्भूता सा १ (धम पुराणं) वेदप्रतिपाद्यं सनातनं धम्ममनुपालयन्ती सती त्वां नियोगेन पति वृणुते । त्वमपीमां वृणु । (तस्ये) विधवायं (इह्) ऋस्मिन् समये लोके वा (प्रजां धेहि) त्वमस्यां प्रजोत्पत्तिं कुरु, (द्रविणं) द्रव्यं विध्यं (च) ऋस्यां धेहि, ऋषीत् गर्भाधानं कुरु ॥ २ ॥ (उद्दिक्वं ना०) हे विधवं ! नारि ! (एतं) (गतासुं) गतप्राणं यतं विवाहितं पतिं त्यका (ऋमिजीवलोकं) जीवन्तं देवरं द्वितीयवरं पतिं (एहि) प्राप्नुहि. (उपशेपे) तस्यवेष सन्तानं भवते, (तवेदं) व्यदि नियुक्तपत्यथों नियोगः कृतस्ति (दिधिपोः) तस्यव सन्तानं भवते, (तवेदं) इद्मेव विधवायास्तव (जिनत्वं) सन्तानं भवति । हे विधवं ! विगतिववाहित-स्त्रीकस्य पत्युश्चेतिन्वयोगकरणार्थं त्वं (उदीर्ष्वं) विवाहितपतिमरणानन्तरिममं नियोगिमिच्छ, तथा (ऋभिसंवभूथ) सन्तानोत्पत्तिं कृत्वा सुखसंयुक्ता मव ॥३॥

भाषार्थ

नियोग उसको कहते हैं जिससे विधवा स्त्री और जिस पुरुप की स्त्री मर गई हो वह पुरुप ये दोनों परस्पर नियोग करके सन्तानों के। उत्पन्न करते हैं। नियोग करने में ऐसा नियम है कि जिस स्त्री का पुरुप वा किसी पुरुप की स्त्री मरजाय, अथवा उन में किसी प्रकार का स्थिर रोग होजाय वा नपुंसक वन्ध्यादोप पड़जाय और उनकी युवावस्था हो, तथा सन्तानोत्पत्ति की इच्छा हो तो उस अवस्था में उन का नियोग होना अवश्य चाहिये। इसका नियम आगे लिखते हैं। (कुहस्वित् ०) अर्थात् तुम दोनों विवाहित स्त्री पुरुषों ने (दोषा) रात्रि में कहां निवास किया था ? (कुह वस्तोरश्विना) तथा दिन में कहां वसे थे ? (कुहाभिपित्वं करतः) तुमने अन्न वस्त्र धन आदि की प्राप्ति कहां की थी ? (कुहोषतुः) तुम्हारा निवासस्थान कहां है, (को वां शयुत्रा) रात्रि में तुम कहां शयन करते हो ? वेदों में पुरुष और स्त्री के विवाहविषय में एक ही वचन के प्रयोग करने से यह निश्चित हुआ कि वेदरीति से एक पुरुष के लिये एक ही स्त्री और एक स्त्री के लिये एक ही पुरुष होना

चाहिये श्रधिक नहीं। श्रीर न कभी इन द्विजों का पुनर्विवाह वा नियोग होना चाहिये । (विधवेव देवरम्) जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ संतानो-त्पित करती है वैसे तुम भी करो। विधवा का जो दूसरा पित होता है उसको देवर कहते हैं। इससे यह नियम होना चाहिये कि द्विजों अर्थात् ब्राह्मण चत्रिय वैश्यों में दो २ सन्तानों के लिये नियोग होना और शुद्रकुल में पुनर्विवाह मरणपर्य्यन्त के लिये होना चाहिये । परन्तु माता, गुरुपत्नी, भिगनी, कन्या, पुत्रवधू आदि के साथ नियोग करने का सर्वथा निपेध है । यह नियोग शिष्ट पुरुषों की सम्मति श्रीर दोनों की प्रसन्नता से हो सकता है। जब दूसरा गर्भ रहे तब नियोग छूट जाय श्रीर जो कोई इस नियम को तोड़े उसको द्विजकुल में से अलग करके शुद्रकुल में रख दिया जाय ।। १ ॥ (इयं नारी पतिलोकं०) जो विधवा नारी पतिलोक ऋर्थातु पतिसुख की इच्छा करके नियोग किया चाहं तो (प्रेतम्) अर्थान् वह पति मरजाने के श्रानन्तर दूसरे पति को प्राप्त हो । (उप त्वा मर्त्य०) इस मंत्र में स्त्री श्रीर पुरुष को परमेश्वर श्राज्ञा देता है कि हे पुरुष ! (धर्म पुराणमनुपालयन्ती) जो इस सनातन नियोग धर्म की रचा करने वाली स्त्री है उस के संतानोत्पित्त के लिये (तस्यै प्रजां द्रविणां चेह धेहि) धर्म से वीर्य्यदान कर, जिस से वह प्रजा से युक्त होके आनन्द में रहे। तथा स्त्री के लिये भी आज्ञा है कि जब किसी पुरुष की स्त्री मरजाय श्रीर वह संतानीत्पत्ति किया चाहे तव स्त्री भी उस पुरुष के साथ नियोग करके उसको प्रजायुक्त करदे । इसलिये मैं श्राज्ञा देता हूं कि तुम मन, कर्म श्रीर शरीर से व्यभिचार कभी मत करो, किन्तु धर्मपूर्वक विवाह श्रीर नियोग से सन्तानोत्पत्ति करते रहो ॥ २ ॥ (उदीर्ष्व नारी) हे स्त्रि ! अपने मृतक पति को छोड़ के (श्राभिजीवलोकं) इस जीवलोक में (एतमुपशेष एहि) जो तेरी इच्छा हो तो दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त हो । नहीं तो ब्रह्मचर्था-श्रम में स्थिर होकर कन्या श्रौर स्त्रियों को पढ़ाया कर । श्रौर जो नियोगधर्म में स्थित हो तो जब तक मरण न हो तब तक ईश्वर का ध्यान श्रौर सत्य धर्म के श्रनुष्ठान में प्रवृत्त होकर (हस्तप्राभस्य दिधिषोः) जो कि तेरा हस्त प्रहण करनेवाला दूसरा पित है उस की सेवा किया कर । वह तेरी सेवा किया करे श्रौर उसका नाम दिधिषु है। (तवेदं) वह तरे सन्तान की उत्पत्ति करनेवाला हो श्रौर जो तरे लिये नियोग किया गया हो तो वह तेरा सन्तान हो। (पत्यू जीनत्वम०) श्रीर जो

नियुक्त पति के लिये नियोग हुआ हो तो वह संतान पुरुष का हो। इस प्रकार नियोग से अपने २ सन्तानों को उत्पन्न करके दोनों सदा सुखी रहो।। ३।।

हुमां त्विमिन्द्र मीद्दः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशांस्यां पुत्रानाधेहि पितिमेकाद्यशं कृषि॥४॥ सोमः प्रथमो विविदे गन्ध्वो विविदे उत्तरः। तृतीयो ऋग्निष्टे पितस्तुरीयस्ते मनुष्युजाः॥४॥ ऋ० ऋष्ट० ८। ऋष्याय ३। व० २८। २०। मं०४।४॥ ऋदेवृष्टन्यपितिष्ट्वी हैिषे शिवा पृशुभ्यः सुयमां सुवर्चाः। प्रजाविता वीर्स्ट्रेवृक्तांमा स्योनेममार्गि गाहिपत्यं सपर्ये॥६॥ अथवी० कां० १४। अनु० २। मं० १८॥

भाष्यम्

इदानीं नियोगस्य सन्तानोत्पत्तेश्व परिगशानं क्रियते। कतिवारं नियोगः कर्त्तव्यः, कियन्ति सन्तानानि चोत्पाद्यानीति ?। तद्यथा-(इमां त्विमन्द्र ०) हे इन्द्र विवाहितपते ! (मीदुः) हे वीर्य्यदानकर्त्तः ! त्वामेमां विवाहितस्त्रियं वीर्घ्यसेकेन गर्भयुक्तां कुरु । तां (सुपुत्रां) श्रेष्ठपुत्रवर्ती (सुभगां) त्र्यनुत्तमसुख-युक्तां (कृणु) कुरु, (दशास्यां) त्र्रास्यां विवादितस्त्रियां दशपुत्रानाधेहि उत्पादय, नातोऽधिकमिति । ईश्वरेण दशसन्तानोत्पादनस्यैवाज्ञा पुरुषाय दत्तेति विज्ञेयम् । तथा (पतिमेकादशं कृषि) हे स्त्रि ! त्वं विवाहितपति गृहीत्वैकादशपतिपर्य्यन्तं नियोगं कुरु । अर्थात् कस्याञ्चिदापत्कालावस्थायां प्राप्तायामेकैकस्याभावे सन्ता-नोत्पत्त्यर्थं दशमपुरुषपर्य्यन्तं नियोगं क्रुर्यात् । तथा पुरुषोऽपि विवाहितस्त्रियां मृतायां सत्यां सन्तानाभावे एकैकस्या अभावे दशम्या विधवया सह नियोगं करो-त्वितीच्द्रा नास्ति चेन्मा कुरुताम् ॥ ४ ॥ त्रयोत्तरोत्तरं पतीनां संज्ञा विधीयते । (सोमः प्रथमः) हे स्त्रि ! यस्त्वां प्रथमः (विविदे) विवाहितः पतिः प्रामोति स सौकुमार्थ्यादिगुणयुक्तत्वात् सोमसंज्ञो भवति । (गन्धर्वो वि०) यस्तु (उत्तरः) द्वितीयो नियुक्तः पतिर्विधवां त्वां विविदे प्रामोति स गन्धर्वसंज्ञा लभते । कुतः। तस्य भोगाभिज्ञस्वात् । (तृतीयो अ०) येन सह त्वं तृतीयवारं नियोगं करोषि सोऽग्निसंज्ञो जायते । कुतः । द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां भ्रक्तभौगया त्वया सह नियुक्त-त्वादग्निदाहवत्तस्य शरीरस्थधातवो दद्यन्त इत्यतः। (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) हे स्त्रि ! चतुर्थमारभ्य दशमपर्य्यन्तास्तव पतयः साधारणबलवीर्यत्वान्मनुष्यसंज्ञा भवन्तीति बोध्यम् । तथैव खीणामपि सोम्या, गन्धव्योग्नायी, मनुष्यजाः संज्ञास्त- त्तद्गुणयुक्कत्वाद्भवन्तीति ॥ ४ ॥ (अदेष्टघ्न्यपतिध्नि) हे अदेषृध्नि ! देवर-सेविके ! हे अपतिध्न ! विवाहितपतिसेविके ! स्त्रि ! त्वं शिवा कल्याणगुणयुक्ना, (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) गृहकृत्येषु शोभनियमयुक्ना, गृहसम्बन्धिपशुभ्यो हिता, श्रेष्ठकान्तिविद्यासहिता, तथा (प्रजावती वीरसः) प्रजापालनतत्परा, वीरसन्ता-नोत्पादिका, (देषृकामा) नियोगेन द्वितीयवरस्य कामनावती, (स्योना) सम्यक् सुखयुक्ना सुखकारिणी सती (इमम्बन्धि गाईपत्यं) गृहसम्बन्धिनमाहव-नीयादिम्पन, सर्व गृहसम्बन्धिन्यवहारं च (सपर्य्य) प्रीत्या सम्यक् सेवय । अत्र स्थियाः पुरुषस्य चापत्काले नियोगव्यवस्था प्रतिपादितास्तीति वेदितव्यम्। इति ॥६॥

भाषार्थ

(इमां) ईश्वर मनुष्यों को श्राज्ञा देता है कि हे इन्द्र ! पते ! ऐश्वर्ययुक्त ! तृ इस स्त्री को वीर्यदान दे के सुपुत्र घारे सौभाग्ययुक्त कर । हे वीर्यप्रद ! (दशास्यां पुत्रानाधेहि)। पुरुष के प्रति वेद की यह आज्ञा है कि इस विवाहित वा नियोजित स्त्री में दश मन्तानपर्यन्त उत्पन्न कर ऋधिक नहीं। (पतिमेकादशं कृधि०) तथा हे स्त्री ! तू नियोग में ग्यारह पति तक कर । ऋर्थान् एक तो उन में प्रथम विवाहित श्रीर दशपर्यन्त नियोग के पति कर श्राधिक नहीं। इसकी यह व्यवस्था है कि विवाहित पति के मरने वा रोगी होने से दूसरे पुरुष वा स्त्री के साथ सन्तानों के श्रभाव में नियोग करे। तथा दूसरे को भी मरण वा रोगी होने के श्रमन्तर तीसरे के साथ करले । इसी प्रकार दशवें तक करने की ऋाज्ञा है । परन्तु एक काल में एक ही वर्ियदाता पित रहे दूसरा नहीं । इसी प्रकार पुरुष के लिये भी विवाहित स्त्री के मरजाने पर विधवा के साथ नियोग करने की त्राज्ञा है त्रीर जब वह भी रोगी हो वा मरजाय तो सन्तानोत्पत्ति के लिये दशमस्त्रीपर्यन्त नियोग करलेवे ।। ४ ।। श्रव पतियों की संज्ञा कहते हैं (सोम: प्रथमो विविदे) उनमें से जो विघाहित पति होता है उसकी सोमसंज्ञा है, क्योंकि वह सुकुमार होने से मृदु त्रादि गुणयुक्त होता है। (गन्धर्वो विविद उत्तरः) दूसरा पति जो नियोग से होता है सो गन्धर्वसंज्ञक अर्थात् भोग में अभिज्ञ होता है। (तृतीयो श्राप्रिष्टे पति: ०) तीसरा पति जो नियोग से होता है वह श्राप्रिसंज्ञक श्रर्थात् तेजस्वी श्राधिक उमरवाला होता है। (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) श्रीर चौथे से ले के दशमपर्व्यन्त जो नियुक्त पति होते हैं वे सब मनुष्यसंज्ञक कहाते हैं, क्योंकि वे मध्यम

होते हैं ॥ १ ॥ (अदेवृष्ट्यपितिन्नी०) हे विधवा कि ! तू देवर और विवाहित पित को सुख देने वाली हो किन्तु उनका अप्रिय किसी प्रकार से मत कर और वे भी तेरा अप्रिय न करें। (एधि शिवा०) इसी प्रकार मङ्गलकाय्यों को करके सदा सुख बढ़ाते रहो। (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) घर के पशु आदि सब प्राणियों की रचा करके, जितेन्द्रिय होके, धर्मयुक्त श्रेष्ठकाय्यों को करती रहो। तथा सब प्रकार के विद्या-रूप उत्तम तेज को बढ़ाती जा। (प्रजावती वीरसूः) तू श्रेष्ठप्रजायुक्त हो। बड़े २ वीर पुरुषों को उत्पन्न कर। (देवृकामा) जो तू देवर की कामना करने वाली है, तो जब तेरा विवाहित पित न रहे वा रोगी तथा नपुंसक हो जाय तब दूसरे पुरुप से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर। (स्योनेमिन्न गाईपत्यं सपर्य्य) और तू इस अग्निहोत्रादि घर के कामों को सुखरूप होके सदा प्रीति से सेवन कर।। ६ ।। इसी प्रकार से विधवा और पुरुष तुम दोनों आपत्काल में धर्म करके सन्तानोत्पत्ति करो और उत्तम उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करते जाओ। गर्भहत्या वा व्यभिचार कभी मत करो। किन्तु नियोग ही कर लो, यही व्यवस्था सब से उत्तम है।

इति नियोगविषयः संत्तेपतः

अथ राजप्रजाधर्मविषयः संक्षेपतः

त्रीणि राजाना बिद्धे पुरूणि पिरे विश्वानि भूषधः सदाँसि। अपे-रयम् मनेसा जगुन्वान्वते गेन्ध्वी अपि वायुकेशान्॥१॥ ऋ० श्र०३। अ०२। व०२४। मं०१॥ जुत्रस्य योनिरसिक्षत्रस्य नाभि-रसि। मा त्वां हिश्रमीन्मा मां हिश्रसीः॥२॥ य० अ०२०। मं० १॥ यञ्च ब्रह्मं च जुत्रं चे सम्यञ्ची चरतः सह। तं लोकं पुण्यं पर्नेषं स्यत्रं देवाः महाग्निनां॥३॥ य० अ०२०। मं०२४॥

भाष्यम्

एषामभि ० — अत्र मन्त्रेषु राजधर्मी विधीयत इति । यथा सर्यचन्द्रौ राजानौ सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवत,स्तथा सर्यचन्द्रगुणशीलौ प्रकाशन्याययुक्तौ व्यव-हारौ, त्रीणि सदांसि (भूषथः) भूषयतोऽलङ्कुरुतः । (विदये) ताभिः सभाभिरेव

^{*} प्रज्ञेषमिति यजुषि पाठः ॥

युद्धे (पुरूषि) बहूनि विजयादीनि सुखानि मनुष्याः प्राप्नुवन्ति । तथा (परि विश्वानि) राजधम्मीदियुक्ताभिस्सभाभिर्विश्वस्थानि सर्वाणि वस्तूनि प्राणिजातानि च भूषयन्ति सुखयन्ति । इदमत्र बोध्यम् । एका राजार्घ्यसभा, तत्र विशेषतो राजकार्य्याएयेव भवेयुः । द्वितीयाऽऽर्य्यविद्यासभा, तत्र विशेषतो विद्याप्रचारोञ्जती एव कार्य्ये भवतः । वृतीयाऽऽर्य्यधर्मसभा, तत्र विशेषतो धर्मोत्रातिरधर्महानि-श्रोपदेशेन कर्तव्या । परन्त्वेतास्तिस्रस्सभाःसामान्ये कार्य्ये मिलित्वैव सर्वानुत्तमान् व्यवहारान् प्रजासु प्रचारयेयुरिति । यत्रैतासु सभासु धर्मात्मभिर्विद्यद्भिः सारासार-विचारेण कर्त्तव्याकर्त्तव्यस्य प्रचारो निरोधश्व क्रियते, तत्र सर्वीः प्रजाः सदैव सुखयुक्ता भवन्ति । यत्रैको मनुष्यो राजा भवति तत्र पीडित।श्रेति निश्रयः । (ऋपश्यमत्र) इद्मत्राहमपश्यम् । ईश्वरोऽभिवद्ति, यत्र सभया राजप्रबन्धो भवाति तत्रैव सर्वाभ्यः प्रजाभ्यो हितं जायत इति । (व्रते) यो मनुष्यः सत्या-चरणे (मनक्षा) विज्ञानेन सत्यं न्यायं (जगन्वान्) विज्ञातवान् , स राजसभा-मईति नेतरश्च । (गन्धर्वान्) पूर्वोक्नासु सभासु गन्धर्वान् पृथिवीराजपालना-दिव्यवहारेषु कुशलान् (अपि वायुकेशान्) वायुवदूतप्रचारेण विदितसर्वव्यवहा-रान् सभासदः क्रुर्यात् । केशास्त्र्र्य्यरश्मयस्तद्वत्सत्यन्यायप्रकाशकान्, सर्व-हितं चिकीर्षृन् , धर्मात्मनः, सभासदस्स्थापयितुमहमाज्ञापयामि, नेतरां-श्रेतीश्वरोपदेशः सर्वेर्मन्तव्य इति ।। १ ।। (चत्रस्य योनिरसि) हे परमेश्वर ! त्वं यथा चत्रस्य राजव्यवहारस्य योनिर्निमित्तमित, तथा (चत्रस्य नाभिरास) एवं राजधर्मस्य त्वं प्रबन्धकर्त्तासि । तथैव नोऽस्मानपि कृपया राज्यपालनाने-मित्तान् चत्रधर्मप्रवन्धकर्नृश्च कुरु । (मात्वाहि छंसीन्मा माहि छंसीः) तथाऽस्माकं मध्यात् कोपि जनस्त्वा मा हिंसीदर्थोद्भवन्तं तिरस्क्रत्य नास्तिको मा भवतु, तथा त्वं मां मा हिंसीरथीन्मम तिरस्कारं कदाचिन्मा कुर्य्याः । यतो वयं भवत्मृष्टौ राज्याधिकारिणस्सदा भवेम ॥ ३ ॥ (यत्र ब्रह्म च चत्रं च) यत्र देशे ब्रह्म परमेश्वरो, वेदो वा, ब्राह्मणो, ब्रह्मविच्चैतत्सर्व ब्रह्म तथा (चत्रं) शौर्य्यधैर्यी-दिगुणवन्तो मनुष्याश्रेतौ द्वौ (सम्यञ्चौ) यथाबद्विज्ञानयुक्तावविरुद्धौ (चरत: सह) तं लोकं तं देशं पुषयं पुषययुक्तं (यज्ञेषं)यज्ञकरणेच्छाविशिष्टं विजानीमः, (यत्र देवाः सहाग्निना) यस्मिन्देशे विद्वांसः परमेश्वरेणाग्निहोत्रादियज्ञातुष्ठा-नेन च सह वर्त्तन्ते तत्रैव प्रजाः सुखिन्यो भवन्तीति विज्ञेयम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ

सब जगत का गजा एक परमेश्वर ही है और सब संसार उस की प्रजा है। इसमें यह यजुर्वेद के श्राठारहवें श्राध्याय के २६ वें मन्त्र के वचन का प्रमाण है | (वयं प्रजापते: प्रजा अभूम) श्रर्थात् सत्र मनुष्य लोगों को निश्चय करके जानना चाहिये कि हम लोग परमेश्वर की प्रजा हैं और वही एक हमारा राजा है। (त्रीणि राजाना) तीन प्रकार की सभा ही को राजा मानना चाहिये, एक मनुष्य को कभी नहीं । वे तीनों ये हैं-प्रथम राज्यप्रवन्ध के लिचे एक आर्थ्यराजसभा कि जिससे विशेष करके सब राजकार्य्य ही सिद्ध किये जावें, दूसरी आर्यविद्यासभा कि जिससे सव प्रकार की विदाओं का प्रचार होता जाय, तीसरी ऋार्य्य प्रमसभा कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे। इन तीन सभाओं से (विद्ये) अर्थान् युद्ध में (पुरूषि परिविधानि भूषथ:) सब शत्रुओं को जीत के नाना प्रकार के सुखों से विश्व को परिपूर्ण करना चाहिये ॥ १ ॥ (ज्ञत्रस्य योनिरसि) हे राज्य के देने वाले परमेश्वर ! आप ही राज्यसुख के परम कारण हैं. (च्वास्य नाभिग्मि) आप ही राज्य के जीवनहेतु हैं तथा चत्रियवर्ण के राज्य का कारण और जीवन सभा ही है, (मां त्वा हि असीन्मा माहि असी:) हे जगदीश्वर ! सब प्रजा आप को छोड़ के किसी दसरे को अपना राजा कभी न माने और आप भी हम लोगों को कभी मत छोड़िये, किन्तु आप श्रौर हम लोग परस्पर सदा श्रानुकृल वर्ते ॥ २ ॥ (यत ब्रह्म च च्रत्रं च) जिस देश में उत्तम विद्वान् ब्राह्मण विद्यासभा श्रीर राजसभा विद्वान शूरवीर चत्रिय लोग ये सब मिलके राजकामों को सिद्ध करते हैं, वही देश धर्म श्रौर शुभ कियाश्रों से संयुक्त हो के सुख को प्राप्त होता है। (यत्र देवाः सहभिनना०) जिस देश में परमेश्वर की आज्ञापालन और अग्निहोत्रादि सिक्तियाओं से वर्त्तमान विद्वान होते हैं वही देश सब उपद्रवों से रहित होके श्राखण्ड राज को नित्य भोगता है ।। ३ ।।

देवस्य त्वं सिं सिं तुः प्रमुवेऽश्विनीर्धाहुभ्यां पूष्णो हम्तभ्याम् । श्रुश्विनोर्भेषंज्येन तेजंसे ब्रह्मवर्धुसायाभिषिञ्चामि । इन्द्रंभ्येन्द्रियेण वर्णाय श्रिये यरासेऽभिष्श्रिमि ॥ ४ ॥ कौसि कत्मोसि कस्मै त्वा कार्य त्वा । सुश्लोक सुमंङ्गल सत्यराजन ॥ ४ ॥ शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषः केशारच रमश्रीण । राजां मे प्राणो श्रुमृतंश्रम्ब्राद् चर्णुविराद् श्रोत्रम् ॥ ६ ॥ य० अ० २० । मं० ३ । ४ । ४ ॥

भाष्यम्

(देवस्य त्वा सवितः) हे सभाध्यत्त ! स्वप्रकाशमानस्य, सर्वस्य जगत उत्पादकस्य, परमेश्वरस्य (प्रसवे) श्रस्यां प्रजायां, (श्राश्विनोर्बाहुम्यां) स्र्याचन्द्रमसोबोहुभ्यां बलवीर्याभ्यां, (पूष्णो हस्ताभ्यां) पुष्टिकर्तुः प्राण-स्य ग्रहणदानाभ्यां, (श्रश्चिनोर्भेषज्येन) पृथिव्यन्तरिच्चौपधिसमृहेन सर्वरोगनि-वारकेण सह वर्त्तमानं त्वां (तेजसे) न्यायादिसद्गुणप्रकाशाय, (ब्रह्मवर्चसाय) पूर्णविद्याप्रचाराय, (श्राभिषिश्चामि) सुगन्धजलैर्मूर्द्धीन मार्जयामि । तथा (इन्द्र-स्येन्द्रियेण) परमेश्वरस्य परमैश्वर्य्येण विज्ञानेन च (बलाय) उत्तमबलार्थ, (श्रिये) चक्रवर्त्तिराज्यलच्मीप्राप्त्यर्थं, त्वा, (यशसे) त्र्यातेश्रेष्ठकीर्त्यर्थं च (अभिषिञ्चामि) राजधर्मपालनार्थं स्थापयामीतीश्वरोपदेशः ॥ ४ ॥ (कोसि) हे परमात्मन् ! त्वं सुखस्वरूपोसि, भवानस्मानि सुराज्येन सुखयुक्नान् करोतु । (कतमोसि) त्वमत्यन्तानन्दयुक्नोसि, अस्मानिप राजसभाप्रबन्धेनात्यन्तानन्द-युक्तान्सम्पादय । (कस्मै त्वा) त्र्रातो नित्यसुखाय त्वामाश्रयामः । तथा (काय त्वा) सुखरूपराज्यप्रदाय त्वासुपास्महे । (सुश्लोक) हे सत्यकीर्ते ! (सुमङ्गल) हे सुष्टुमङ्गलमय सुमङ्गलकारक ! (सत्यराजन्) हे सत्यप्रकाशक सत्यराज्यप्रदेश्वरास्मद्राजसभाया भवानेव महाराजाधिराजोस्तीति वयं मन्यामहे ॥ १ ॥ सभाध्यत्त एवं मन्येत, (शिरो मे श्रीः) राज्यश्रीर्मे मम शिरोवत, (यशो मुखं) उत्तमकीर्त्तिर्मुखवत्, (त्विषिः केशाश्र रमश्रूणि) सत्यन्यायदीप्तिः मम केशरमश्रुवत्, (राजा मे प्राणः) परमेश्वरः, शरीरस्थो जीवनहेतुवायुश्र म्म राजवत्, (अपृतधसप्राद्) मोत्ताख्यं सुखं, ब्रह्म, वेदश्व सम्राट् चक्रवर्ति-राजवत्, (चन्नुर्विराद् श्रोत्रम्) सत्यविद्यादिगुणानां विविधप्रकाशकरणं श्रोत्रं च बुर्वत् । एवं सभासदोपि मन्येरन् । एतानि सभाध्य चस्य सभासदां चाङ्गानि सन्तीति सर्वे विजानीयुः ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(देवस्य त्वा सिवतुः) जो कोई राजा सभाध्यक्त होने के योग्य हो उसका हम लोग श्राभिषेक करें श्रोर उससे कहें कि हे सभाध्यक्त ! श्राप सब जगत् को प्रकाशित श्रोर उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर की (प्रसवे) सृष्टि में प्रजापालन के लिये

^{*} वेदरवेति स्थाने 'च इत्येव पाठो ह० लि० भूमिकायाम् ॥

(श्रिश्विनोर्बाहुभ्याम्) सूर्य्य चन्द्रमा के बल श्रीर वीर्घ्य से (पूब्लो हस्ताभ्याम्) पुष्टि करने वाले प्राण को प्रहण श्रीर दान की शक्तिरूप हाथों से श्राप को सभाष्यच होने में स्वीकार करते हैं। (ऋश्विनोर्भेंपज्येन) परमेश्वर कहता है कि पृथिवीस्थ ऋौर श्रद्ध वायु इन त्र्योपिधयों से दिन रात में सब रोगों से तुम को निवारण करके, (तेजसे) सत्यन्याय के प्रकाश, (ब्रह्मवर्चसाय) ब्रह्म के ज्ञान और विद्या की वृद्धि के लिये, तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वर के परमैश्वर्य श्रीर श्राज्ञा के विज्ञान से (बलाय) उत्तम सेना, (श्रिये) सर्वोत्तम लद्मी श्रौर (यशसे) सर्वोत्तम कीर्त्ति की प्राप्ति के लिये, मैं तुम लोगों को सभा करने की आज्ञा देता हूं कि यह आज्ञा राजा श्रीर प्रजा के प्रबन्ध के श्रर्थ है। इससे सब मनुष्य लोग इस का यथावत् प्रचार करें ।। ४ ।। हे महाराजेश्वर ! आप (कोसि कतमोसि) सुग्वस्वरूप अत्यन्त श्रानन्दकारक हैं, हम लोगों को भी सब श्रानन्द से युक्त कीजिये। (सुश्लोक) हे सर्वोत्तम कीर्त्ति के देने वाले ! तथा (सुमङ्गल) शोभनमङ्गलरूप श्रानन्द के करने वाले जगदीश्वर ! (सत्यराजन्) सत्यस्वरूप श्रौर सत्य के प्रकाश करने वाले हम लोगों के राजा तथा सब सुखों के देने वाले आप ही हैं। (कस्मै त्वा काय त्वा) उसी अत्यन्त सुख, श्रेष्ठ विचार और आनन्द के लिये हम लोगों ने आप का शरण लिया है, क्योंिक इसीसे हम को पूर्ण राज्य और सुख निम्संदेह होगा ॥ ४ ॥ सभाष्यत्त, सभासद् श्रौर प्रजा को ऐसा निश्चय करना चाहिये कि (शिरो मे श्री:) श्री मेरा शिरस्थानी, (पशो मुखं) उत्तम कीर्त्ति मेरा मुखवत् , (त्विपिः केशाश्च श्म-श्रुणि) सत्यगुणों का प्रकाश मेरे केश श्रीर डाढ़ी मूछ के समान, तथा (राजा मे ्राणः) जो ईश्वर सब का ऋाधार ऋौर जीवनहेतु है वही प्राणिप्रय मेरा राजा, (अमृत सम्प्राट्) अमृतस्वरूप जो ब्रह्म और मोत्तसुख है वही मेरा चक्रवर्त्ती राजा, तथा (चतुर्विराट् श्रोत्रम्) जो त्र्यनेक सत्यविद्यात्र्यों के प्रकाशयुक्त मेरा श्रोत्र है वहीं मेरी श्रांख है।। ६॥

बाह्न में बर्लिमिन्द्रियथंहरतीं में कभी वीर्यम्। आतमा क्षत्रमुरो मर्म ॥ ७ ॥ पृष्ठीमें राष्ट्रमुद्रमधंसी ग्रीवारच ओणी। उक् और्रनी जानुंनी विशो मेऽङ्गांनि सर्वतः ॥ ८ ॥ य० अ०२०। मं०७। ८ ॥

(बाहू मे बलं) यदुत्तमं बलं तन्मम बाहुवदस्ति, (इन्द्रिय ७ इस्तौ मे)

शुद्धं विद्यायुक्तं मनः, श्रोत्रादिकं च मम प्रहणसाधनवत् । (कर्म वीर्य्यं) यदु-रामपराक्रमधारणं तन्मम कर्मवत्, (श्रात्मा चत्रमुरो मम) यन्मम हृद्यं तत् चत्रवत् ॥ ७॥

(पृष्ठीमें राष्ट्रम्) यद्राष्ट्रं तन्मम पृष्ठभागवत् । (उदरमश्रंसौ) यौ सेनाको-शौस्तस्तत्कमे मम हस्तम्लोद्रवत् । (ग्रीवाश्व श्रोणी) यत्प्रजायाः सुखेन भूषितपुरुषार्थिकरणं तत्कमे मम नितम्बाङ्गवत् । (ऊक्त अरत्नी) यत्प्रजायाः व्यापारे गणितविद्यायां च निपुणीकरणं तन्ममोर्वरत्न्यङ्गवद्स्ति । (जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः)यत्प्रजाराजसभयोः सर्वश्वा मेलरचणं तन्मम कर्म जानुवत् । एवं पूर्वोक्नानि सर्वाणि कर्माणि ममावयववत् सन्ति । यथा स्वाङ्गेपु प्रीतिस्तत्पालने पुरुषस्य श्रद्धा भवति तथा प्रजापालने च स्वकीया वुद्धिस्सर्वैः कार्य्येति ॥ ८ ॥ भाषार्थ

(बाहू में वलं) जो पूर्ण वल है वहीं मेरी भुजा, (इन्द्रिय छै हम्तों) जो उत्तम कर्म और पराक्रम से युक्त इन्द्रिय और मन है वे मेरे हाथों के समान, (आत्मा च्रत्रमुरों मम) जो राजधर्म, शौर्ट्य, धैर्ध्य और इद्रय का ज्ञान है यही सब मेरे आत्मा के समान है।। ७।। (पृष्ठीमें राष्ट्रं) जो उत्तम राज्य है सो मेरी पीठ के समतुल्य, (उद्रम सौ) जो राज्य सेना और कोश है वह मेरे हम्स का मूल और उद्रर के समान, तथा (प्रीवाश्च श्रोणी) जो प्रजा को सुख से भूपित और पुरुपार्थी करना है सो मेरे कण्ठ और श्रोणी अर्थान् नाभि के अधोभागस्थान के समतुल्य, (उद्घ अरत्नी) जो प्रजा को ज्यापार और गणितविद्या में निपुण करना है सो ही अरत्नी और उद्घ अङ्ग के समान, तथा (जानुनी) जो प्रजा और राजसभा का मेले रखना यह मेरी जानु के समान है, (विशो मेऽङ्गानि सर्वतः) जो इस प्रकार से प्रजापालन में उत्तम कर्म करने हैं ये सब मेरे अङ्गों के समान हैं।। ८।।

प्रति च्रिष्टे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु । प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे प्रति चार्वापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि युद्रे ॥ १०॥ त्रातार्मिन्द्रमिवितार्मिन्द्रथहे इवे सुहव्थंशूर्मिन्द्रम् । ह्रयामि शुक्रं पुरुहृतमिन्द्रथं स्वस्ति नो मुघवा घात्विन्द्रः ॥ ११ ॥ य० अ०२०। मं०१०। ४०॥

(प्रतिचत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे) ऋहं परमेश्वरो धर्मेण प्रतीते चत्रे प्रतिष्ठितो

मवामि, विद्याधर्मप्रचारिते देशे च । (प्रत्यक्षेषु) प्रत्यक्षं प्रतिगां च तिष्ठामि । (प्रत्यक्षेषु) सर्वस्य जगतोऽङ्गमङ्गं प्रतितिष्ठामि । तथा चात्मानमात्मानं प्रतितिष्ठामि । (प्रतिप्राणे) प्राणं प्राणं प्रत्येवं पुष्टं पुष्टं पदार्थं प्रतितिष्ठामि । (प्रति द्यावापृथिव्योः) दिवं दिवं प्रति पृथिवीं पृथिवीं प्रति च तिष्ठामि । (यज्ञे) तथा यज्ञं यज्ञं प्रति तिष्ठाम्यदमेव सर्वत्र व्यापकोस्मीति । मामिष्टदेवं समाश्रित्य ये राजधर्ममनुसरन्ति तेषां सदैव विजयाम्युद्यों भवतः । एवं राजपुरुपेश्वापि प्रजापालने सर्वत्र न्यायविज्ञानप्रकाशो रच्चणीयो यतोऽन्यायाविद्याविनाशः स्यादिति ॥ १०॥ (त्रातारमिन्द्र०) यं विश्वस्य त्रातारं रच्चकं, परमेश्वर्यवन्तं, (सुद्द्र-वर्श्व शूर्मिन्द्रं) सुद्द्वं शोभनयुद्धकारिणमत्यन्तशूरं, जगतो राजानमनन्तवलवन्तं, (श्चकं) शिक्कमन्तं शिक्कप्रदं च, (पुरुद्दृतं) बहुभिः शूरेः सुसेवितं, (इन्द्रं) न्यायेन राज्यपालकं, (इन्द्रंशद्देवने) युद्धे युद्धे स्वविजयार्थं इन्द्रं परमात्मानं (ह्वयामि) त्राह्वयामि त्राश्रयामि । (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) स परम-धनप्रदातेन्द्रः सर्वशक्तिमानीश्वरः सर्वेषु राज्यकार्येषु नोऽस्मभ्यं स्वस्ति (धातु) निरन्तरं विजयसुखं द्धातु ॥ ११ ॥

भाषार्थ

(प्रतिच्नते प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे) जो मनुष्य इस प्रकार के उत्तम पुरुषों की सभा में न्यायपूर्वक राज्य करते हैं उनके लिये परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग धर्मात्मा होके न्याय से राज्य करो, वयों कि जो धर्मात्मा पुरुष हैं में उन के चात्रधर्म श्रौर सब राज्य में प्रकाशित रहता हूं श्रौर वे सद्य मेरे समीप रहते हैं । (प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु०) उन की सेना के श्रश्व श्रौर गौ श्रादि पशुश्रों में भी मैं स्वसत्ता से प्रतिष्ठित रहता हूं। (प्रत्यक्षेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मन्) तथा सब सेना राजा के श्रक्षों श्रौर उनके श्रात्माश्रों के वीच में भी सदा प्रतिष्ठित रहता हूं। (प्रतिप्राणेषु प्रतितिष्ठामि पृष्टे) उनके प्राण श्रौर पृष्ट व्यवहारों में भी सदा व्यापक रहता हूं। (प्रतिद्यावापृथ्वव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे जितना सूर्यादि प्रकाशरूप श्रौर पृथिव्यादि श्रप्रकाशरूप जगन् तथा जो श्रश्वमेधादि यज्ञ हैं इन सब के बीच में भी मैं सर्वदा व्यापक होने से प्रतिष्ठित रहता हूं। इस प्रकार से तुम लोग मुक्स को सब स्थानों में परिपूर्ण देखो॥ १०॥ जिन लोगों की ऐसी निष्ठा है उनका राज्य सदा बढ़ता रहता है। (त्रातारिमन्द्रं) जिन मनुष्यों का

ऐसा निश्चय है कि केवल परमैश्वर्थवान परमात्मा ही हमारा रक्तक है, (श्रावता) जो ज्ञान श्रोर श्रानन्द का देने वाला है, (सुह्व १ श्रूरामिन्द्र १ हवेहवे) वही इन्द्र परमात्मा प्रतियुद्ध में जो उत्तम युद्ध करानेवाला, श्रूरवीर श्रोर हमारा राजा है, (ह्यामि शक्तं पुरुहूतमिन्द्रं) जो श्रानन्त पराक्रमयुक्त ईश्वर है, जिसका सब विद्वान् वेदादि शास्त्रों से प्रतिपादन श्रोर इष्ट करते हैं, वही हमारा सब प्रकार से राजा है। (स्वस्ति नो मधवा धात्विन्द्रः) जो इन्द्र परमेश्वर मधवा श्रार्थात् परमविद्यारूप धनी श्रोर हमारे लिये विजय श्रादि सब सुखों का देनेवाला है, जिन मनुष्यों को ऐसा निश्चय है उनका पराजय कभी नहीं होता।। ११।।

हुमं देवा असप्तनधस्रंवध्वं महते चत्रायं महते चयेष्ठयांय महते जानराज्यायेन्द्रंस्योन्द्र्यायं। हुममुमुष्यं पुत्रमुष्यं पुत्रमुष्यं विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाधराजां॥ १२॥ य० अ० ६॥ मं० ४०॥ इन्द्री जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसि राजयाते। चकृत्य ईडच्यो वन्यंश्रोपसयो नमस्यो भवेह॥ १३॥ त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूराभिभूतिर्जनानाम्। त्वं दैवीर्विशं हुमा वि राजायुष्मत्ज-त्रमुजरं त अस्तु॥ १४॥ अधर्व० कां०६। अनु० १०। सू०६८। मं०१।२॥

भाष्यम्

(देवाः) हे देवा विद्वांसः सभासदः! (महते चत्राय) अतुलराजधर्माय, (महते ज्येष्ठचाय) अत्यन्तज्ञानवृद्धव्यवहारस्थापनाय, (महते जानराज्याय) जनानां विदुषां मध्ये परमराज्यकरणाय, (इन्द्रस्येन्द्रियाय) सर्व्यस्य प्रकाशवन्यायव्यवहारप्रकाशनायान्यायान्धकारविनाशाय, (अस्ये विशे) वर्त्तमानाये प्रजाये यथावत्सुखप्रदानाय (इमं) (असपत्न ध्मुवध्वम्) इमं प्रत्यचं शत्रूद्भवराहितं निष्कण्टकस्रुत्तमराजधर्म्म सुवध्वमीशिध्वमेश्वर्यसिहतं कुरुत । यूयमप्येवं जानीत (सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाध्रराजा) वेदविदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सोम्यगुणसम्पन्नः सकत्वविद्यायुक्तोस्ति स एवसभाध्यच्यत्वेन स्वीकृतः सन् राजास्तु। हे सभासदः! (अमी) ये प्रजास्था मनुष्याः सन्ति तान् प्रत्यप्येवमाञ्चा श्राव्या, (एष वो राजा) अस्माकं वो युष्माकं च स * सभासत् कोयं राजसभाव्यवहार

^{*} स इति इ० जि० भूमिकायां नास्ति।

एव राजास्तीति । एतदर्थं वयं (इमममुख्य पुत्रममुख्ये पुत्रं) प्रख्यातनाम्नः पुरुषस्य प्रख्यातनाम्न्याः स्त्रियाश्च सन्तानमभिषिच्याध्यत्तत्वे खीकुम्म इति ॥१२॥ (इन्द्रो जयाति) स एवेन्द्रः परमेश्वरः सभाव्रबन्धो वा जयाति विजयोत्कर्षं सदा प्रामोतु, (न पराजयाते) स मा कदाचित्पराजयं प्रामोतु, (श्रिधिराजो राजमु राजयाते) स राजाधिराजो विश्वस्येश्वरः सर्वेषु चक्रवर्त्तिराजसु माग्रङलिकेषु वा स्वकीयसत्यप्रकाशन्यायेन सहास्माकं मध्ये सदा प्रसिध्यताम् । (चर्कृत्यः) यो जगदीश्वरः सर्वेर्मनुष्यैः पुनः पुनरुपासनायोग्योक्ति, (ईड्यः) अस्माभिः स एवैकः स्तोतुं योग्यः, (वन्द्यश्च) पूजनीयः, (उपसद्यः) समाश्रयितुं योग्यः, (नमस्यः) नमस्कर्तुं योग्योस्ति । (भवेह) हे महाराजेश्वर ! त्वयुत्तमप्रकारेणास्मिन् राज्ये सत्कृतो भव । भवत्सत्कारेण सह वर्त्तमाना वयमप्यस्मिन् चऋवर्त्तराज्ये सदा सत्कृता भवेम ॥ १३ ॥ (त्विमन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे इन्द्र परमेश्वर ! त्वं सर्वस्य जगतोऽधिराजोसि । * ''श्रव इवाचरतीति सर्वस्य श्रोता च'' । स्वक्रुपया मामिप तादृशं कुरु । (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) हे भगवन् ! त्वं भूः सदा भवसि । यथा जनानामभिभूतिरभीष्टस्यैश्वर्यस्य दातासि तथा मामप्यनुग्रहेण करोतु । (त्वं देवीर्विश इमा विराजा) हे जगदीश्वर ! यथा त्वं दिव्यगुणसम्पन्ना, विविधोत्तमराजपालिताः, प्रत्यत्तविषयाः प्रजाः सत्यन्यायेन पालयासे तथा मामपि कुरु। (†युष्मत्त्वत्रमजरं ते ऋस्तु) हे महाराजाधिराजेश्वर ! तब यदिदं सना-तनं राजधर्मयुक्तं नाशरहितं विश्वरूपं राष्ट्रमस्ति तदिदं भवदत्तमस्माकमस्त्विति याचितः सन्नाशीर्ददातीदं मद्रचितं भूगोलाख्यं राष्ट्रं युष्मदधीनमस्त् ॥ १४ ॥

भाषार्ध

(इमं देवा श्रासपत्त०) श्रव ईश्वर सब मनुष्यों को राज्यव्यवस्था के विषय में श्राह्मा देता है कि हे विद्वान् लोगों! तुम इस राजधर्म को यथावत् जानकर श्रपने राज्य का ऐसा प्रवन्ध करों कि जिससे तुम्हारे देश पर कोई शत्रु न श्रा जाय। (महते त्त्राय०) हे शूरवीर लोगों! श्रपने त्त्रियधर्म, चक्रवार्ति राज्य, श्रेष्ठकीर्ति, सर्वोत्तम राज्यप्रवन्ध के श्रर्थ, (महते जानराज्याय) सब प्रजा को विद्वान् करके ठीक २ राज्यव्यवस्था में चलाने के लिये, तथा (इन्द्रस्येन्द्रियाय) बड़े ऐश्वर्य सत्य

^{* &}quot; एतिश्विह्न मध्यगतः पाठो नास्ति ह० लि० भूमिकायाम् । † श्रायुष्मदिति पाटो ह० लि० भूमिकायाम् ।

न्याय के प्रकाश करने के अर्थ (सुबध्वं) अच्छे २ राज्यसम्बन्धी प्रबन्ध करो कि जिन से सब मनुष्यों को उत्तम सुख बढ़ता जाय ॥ १२ ॥ (इन्द्रो जयाति) हे बन्धु लोगो ! जो परमात्मा अपने लोगों का विजय कराने वाला, (न पराजयाता) जो हम को दूसरों से कभी हारने नहीं देता, (अधिराजो) जो महाराजाधिराज (राजस राजयाते) सब राजाश्रों के बीच में प्रकाशमान होकर हम को भी भूगोल में प्रकाशमान करने वाला है, (चर्कृत्यः) जो श्रानन्दस्वरूप परमात्मा सब जगत् को सुखों से पूर्ण करने हारा, तथा (ईडचो वन्दाश्च) सब मनुख्यों को स्तुति श्रीर वंदना करने के योग्य, (उपसद्यो नमस्यः) सब को शरण लेने झौर नमस्कार करने के योग्य है, (भवेह) सो ही जगदीश्वर हमारा विजय कराने वाला, रच्चक, न्याया-धीश और राजा है। इसालिये हमारी यह प्रार्थना है कि हे परमेश्वर ! आप क्रपा करके हम सबों के राजा हजिये और हम लोग आप के पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी हो कर त्र्याप के राज्य को सत्यन्याय से सुशोभित करें ।। १३ ।। (त्विमन्द्राधिराजः श्रवस्यः) हे परमेश्वर ! त्राप ही सब संसार के त्राधिराज श्रौर श्राप्तों के समान सत्यन्याय के उपदेशक, (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) श्राप ही सदा नित्यस्वरूप श्रीर सज्जन मनुष्यों को राज्य ऐश्वर्य के देने वाले, (त्वं दैवीविंश इमा विराजा) त्राप ही इन विविध प्रजात्रों को सुधारने श्रौर दुष्ट राजात्रों का युद्ध में पराजय कराने वाले हैं । (युस्मत्त्त्रत्रमजरं ते श्वस्तु) हे जगदीश्वर ! श्राप का राज्य नित्य तरुए बना रहे कि जिससे सब संसार को विविध प्रकार का सुख मिले। इस प्रकार जो मनुष्य अपने सत्य प्रेम अौर पुरुषार्थ से ईश्वर की भक्ति और उस की श्राज्ञा पालन करते हैं उन को वह श्राशीर्वाद देता है कि मेरे रचे हुए भूगोल का राज्य तुम्हारे श्राधीन हो ।। १४ ।।

स्थिरा वेः सन्त्वायुंघा पराणुदें चीलू उत प्रतिष्कभे । युष्पार्क-मस्तु तर्विष्ठी पनीयस्ती मा मत्यस्य सायिनः ॥ १४ ॥ ऋ० ऋ०१। ऋ०३। व०१८। मं०२॥ तं सभा च समितिरच सेनां च॥ १६॥ ऋथर्व०कां०१४। श्रानु०२। सू०६। मं०२॥ हमं चीरमनुं हर्षध्व-सुग्रमिन्द्रं सखायो अनु संरभध्वम्। ग्राम्जितं गोजितं वर्जवाहुं जर्यन्तमस्त्रं प्रमुणन्तमोर्जसः॥ १७॥ ऋथर्व०कां०६। श्रानु०१०। सू०६७। मं०३॥ सभ्यं सभां में पाद्वि ये च सभ्याः सभासदः। त्वयेद्गाः पुरुहृत् विश्वमागुर्व्यक्षवम् ॥ १८ ॥ श्रथर्वे कां० १६ । श्रनु० ७ । सू० ५५ । मं० ६ ॥

भाष्यम्

(स्थिरा व:०) ऋस्यार्थः प्रार्थनाविषय उक्तः ॥ १५ ॥ (तं सभा च) राजसभा प्रजा च तं पूर्वीक्नं सर्वराजाधिराजं परमेश्वरं तथा सभाध्यज्ञमभिषिच्य राजानं मन्येत । (समितिश्र) तमनुश्रित्येव समितिर्युद्धमाचरणीयम् । (सेना च) तथा वीरपुरुषाणां या सेना सापि परमेश्वरं, ससभाध्यत्तां सभां, स्वसेनानीं चानु-श्रित्य युद्धं कुर्य्यात् ॥ १६ ॥ ईश्वरः सर्वान्मनुष्यान्प्रत्युपदिशाति (सलायः) हे सखायः ! (इमं वीरम्रुग्रामिन्द्रं) शत्रूणां इन्तारं, युद्धकुशलं, निर्भयं, तेजस्विनं प्रति राजपुरुषं तथेन्द्रं परमैश्वर्यवन्तं परमेश्वरं (अनुहर्षध्वं) सर्वे यूयमनुमोदय-ध्वमेवं कृत्वैव दुष्टशत्रूणां पराजयार्थ (अनुसंरभध्वं) युद्धारम्भं कुरुते । कथम्भूतं तं ? (ग्रामजितं) येन पूर्वं शत्रूणां समूहा जिताः, (गोजितं) येनेन्द्रियाणि पृथिन्यादिकं च जितं, (वज्रवाहुं) वज्रः प्राणो वलं वाहुर्यस्य, (जयन्तं) जयं प्राप्तुवन्तं, (प्रवृण्यन्तमोजसा) त्र्योजसा बलेन शत्रून् प्रकृष्टतया हिंसन्तं (ऋज्म) वयं तमाश्रित्य सदा विजयं प्राप्तुमः ॥ १७ ॥ (सभ्य सभां मे पाहि) हे सभा-यां साधो परमेश्वर ! मे मम सभां यथावत् पालय । म इत्यस्मच्बव्दिनिर्देशात्स-वीन्मनुष्यानिदं वाक्यं गृह्णातीति । (ये च सभ्याः सभासदः) ये सभाकर्मसु साधवश्रतुराः सभायां सीद्नित तेऽस्माकं पूर्वोक्तां त्रिविधां सभां पान्तु यथावद्र-चन्तु (त्वयेद्राः पुरुहृत) हे बहुभिः पूजित परमात्मन् ! त्वया सह ये सभाध्यचाः सभासदः, इद्गाः इतं राजधर्मज्ञानं गच्छन्ति, त एव सुखं प्राप्नुवन्ति । (विश्व-मायुर्व्यश्नवम्) एवं सभापालितोऽहं सर्वे जनः शतवार्षिकं सुखयुक्रमायुः प्राप्तुयाम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ

(स्थरा व: सन्त्वायुधा०) इस मन्त्र का ऋर्थ प्रार्थनादि विषय में कर दिया है।। १४।। (तं सभा च) प्रजा तथा सब सभासद् सब राजाओं के राजा परमेश्वर को जान के सब सभाओं में सभाध्यत्त का श्राभिषेक करें। (सिमितिश्च) सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और सर्वोपकारक धर्म का ही आश्रय करके युद्ध करें। तथा (सेना च) जो सेना, सेनापित और सभाध्यत्त हैं वे सब सभा के आश्रय से विचारपूर्वक उत्तम सेना को बना के सदैव प्रजापालन और युद्ध करें।। १६।। ईश्वर

सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि (सखाय:) हे बन्धुलोगो ! (इमं वारं) हे शूर्वार लोगो !-याय श्रोर हद्भिक से श्रनन्त बलवान परमेश्वर को इष्ट करके (श्रनुहर्षध्वं) शूर्विर लोगों को सदा श्रानन्द में रक्खो ! (उप्रिमन्द्रं) तुम लोग श्रत्यन्त उप परमेश्वर के सहाय से एक संमित होकर (श्रनुसंरमध्वं) दुष्टों को युद्ध में जीतने का उपाय रचा करो । (प्रामिनितं) जिसने सब भूगोल तथा (गोजितं) सब के मन श्रोर इन्द्रियों को जीत रक्खा है, (बज्रवाहुं) प्राण जिसके बाहु श्रोर (जयन्तं) जो हम सब को जिताने वाला है (श्रज्म) उसी को इष्ट जान के हम लोग श्रपना राजा मानें । (प्रमृण्तिमोजसा) जो श्रपने श्रनन्त पराक्रम से दुष्टों का पराजय करके हम को सुख देता है ।। १७ ।। (सभ्य सभां में पाहि) हे सभाके योग्य परमेश्वर ! श्राप हम लोगों की राजसभा की रच्चा की जिये । (येच सभ्या: सभासदः) हम लोग जो सभा के सभासद हैं सो श्राप की श्र्पा से सभ्यतायुक होकर श्रच्छी प्रकार से सत्य न्याय की रच्चा करें । (त्वयदेगा: पुरुहत्त) हे सब के उपास्यदेव ! (विश्वमायुर्व्यश्नवम्) हम लोग श्राप ही के सहाय से श्राप की श्राज्ञा का पालन करते रहें, जिससे संपूर्ण श्रायु को सुख से भोगें ।। १८ ।।

जिन्छा उग्रः सहसे तुरायेति मूक्तमुग्रवत्सहस्रतत्त् ज्ञस्य रूपं, मन्द्र श्रोजिष्ठ इत्योजस्वत्तत्त् ज्ञस्य रूपम् ॥ १ ॥ वृहत्पृष्ठं भवति, च्रंत्रं वै वृहत्त् त्रेणेव तत्त्वं समर्धयत्यथो च्रंत्रं वै वृहत्तत्मा यजमानस्य निष्केवल्यं तचद्बृहत्पृष्ठं भवति ॥ २ ॥ ब्रह्म वै रथन्तरं च्रंत्रं वृहद् ब्रह्मणि खलु वै च्रंत्रं प्रतिष्ठितं च्रंत्रे ब्रह्म ॥ ३ ॥ श्रोजो वा इत्द्रियं वीर्यं पञ्चद्श, श्रोजः च्रंत्रं विर्यं राजन्यस्तदेनमे।जसा च्रंत्रण वीर्यंण समर्द्ध्यति । तद्भारद्वाजं भवति भारद्वाजं वै बृहत् ॥ ४ ॥ ऐ० पं० ८ । श्र० १ । कं० २ । ३ ॥ तानहमनु राज्याय साम्त्राज्याय भोज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय माहा-राज्यायाधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठायां रोहामीति ॥ ४ ॥ नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मणे इति विष्कृत्वो ब्रह्मणे नमस्करोति । ब्रह्मणे एव तत्त्व्वं वशमेति तद्मन्त्रं वे ब्रह्मणः च्रंत्रं वशमेति तद्माष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते ॥ ६ ॥ ऐ० पञ्चि० ८ । श्र० २ । कं० ६ । ६ ॥

राजप्रजाधर्मविषयः ॥

भाष्यम्

इयं राजधर्मव्याख्या वेदरीत्या संचेपेण लिखिताऽतोऽग्र ऐतरेयशतपथ-ब्राह्मणादिग्रन्थरीत्या संचेपतो लिख्यते । तद्यथा-(जिनष्ठा उग्रः०) राज-सभायां, जनिष्ठा ऋतिशयन जना विद्वांसो धर्मात्मनः, श्रेष्टप्रकृतीन मनुष्यान् प्रति, सदा सुखदास्सौम्या भवेयुः । तथा दुष्टान् प्रत्युत्रो व्यवहारा धार्य्य इति ॥ कुतो, यद्राजकम्मीस्ति तद् विविधं भवत्येकं सहस्वद् वितीयमुग्रवदर्थात्काचिदेश-कालवस्त्वनुसारेण सहनं कर्त्तव्यम्, क्वचित्तिद्वपर्यये राजपुरुपैर्दुष्टेषुग्रो दएडो निपातनीयश्रैतत्त्वत्रस्य धर्मस्य स्वरूपं भवति । तथा (मन्द्र त्र्योजिष्टः०) उत्तम-कर्मकारिभ्य त्रानन्दकरा दुष्टेभ्यो दुःखप्रदश्चात्युत्तमवीरपुरुपसेनादिपदार्थसामग्न्या सहितो यो राजधर्मोस्ति स च चत्रस्य स्वरूपमस्ति ॥ १ ॥ (वृहत्पृष्टं ०) यत्चत्रं कर्म तत्सर्वेभ्यः कृत्येभ्यो वृहन्महद्स्ति, तथा पृष्ठमर्थाभिर्वलानां रचकं सत् पुन-रुत्तमसुखकारकं भवति । एतेनोक्नेन च चत्रराजकर्म्मणा मनुष्यो राजकर्म्मवर्द्धयति, नातोऽन्यथा चत्रधर्मस्य वृद्धिभवितुमहति । तस्मात्चत्रं सर्वस्मात्कर्मणो बृहद्यजमा-नस्य प्रजास्थस्य जनस्य राजपुरुषस्य वात्मात्मवदानन्दप्रदं मवति । तथा सर्वस्य संसारस्य निष्केवल्यं निरन्तरं केवलं सुग्वं सम्पाद्यितुं यतः समर्थं भवति तस्मा-त्तत्त्वत्रकमे सर्वेभ्यो महत्तरं भवतीति ॥ २ ॥ (ब्रह्म व रथन्तरं०) ब्रह्मशब्देन सर्वविचायुक्तो ब्राह्मणवर्णो यहाते, तस्मिन् खलु चत्रधर्मः प्रतिष्ठिता भवति, नेव कदाचित्सत्यविद्यया विना चत्रधर्मस्य वृद्धिरच्रेणे भवतः । तथा (चत्रे ब्रह्म) राजन्ये ब्रह्माऽर्थात् सत्यविद्या प्रतिष्ठिता भवति । नैवास्मादिना कदाचिद्रिद्याया वृद्धिरत्तरे सम्भवतस्तस्माबिद्याराजन्यवद्दारौ मिलित्वेव राष्ट्रसुखोचितं कर्तुं शक्तुत इति ॥ ३ ॥ (स्रोजो वा इन्द्रियं०) राजपुरुषेर्वलपराऋमवन्तीन्द्रियाणि सदैव रत्ताणीयान्यर्थाज्जितेन्द्रियतयैव मदैव वर्त्तितव्यम् । कृतः, स्रोज एव चत्रं, वीर्घ-मेव राजन्य इत्युक्तत्वात् । तत्तस्मादोजसा चत्रेण वीर्य्येण राजन्येनैनं राजधर्म मनुष्यः समद्भियति, सर्वसुखैरेधमानं करोतीदमेव भारद्वाजं भरणीयं, बृहदर्थान्मह-त्कर्मास्तीति ॥ ४॥ (तानइमनुराज्याय०) सर्वे मनुष्या एवामिच्छां कृत्वा पुरुषार्थं कुर्युः । परमेखरानुग्रहेणाहमनुराज्याय सभाध्यत्तत्वप्राप्तये तथा माण्डलि-कानां राज्ञामुपरि राजसत्ताप्राप्तये, (साम्राज्याय) सार्वभीमराज्यकरणाय, (भौ-ज्याय) धर्मन्यायेन राज्यपालनायोत्तमभोगाय च, (स्वाराज्याय) स्वस्मै राज्य-प्राप्तये, (वैराज्याय) विविधानां राज्ञां मध्ये महत्त्वेन प्रकाशाय, (पारमेष्ठ्याय)

परमराज्यस्थितये, (माहाराज्याय) महाराज्यसुखभोगाय, तथा (श्राधिपत्याय) श्राधिपतित्वकरणाय, (स्वावश्याय) स्वार्थप्रजावशत्वकरणाय च, (श्रातिष्ठायां) अत्युत्तमा विद्यांसस्तिष्ठन्ति यस्यां सा अतिष्ठा सभा, तस्यां सर्वेर्गुणैः सुखेश्र रोहामि वर्द्धमानो भवामीति ॥ ५ ॥ (नमो ब्रह्मणे०) परमेश्वराय त्रिवारं चतुर्वारं वा नमस्कृत्य राजकर्मारम्भं कुर्यात् । यत् चत्रं ब्रह्मणः परमेश्वरस्य वशमेति तद्राष्ट्रं सम्यक् ऋद्धियुक्तं वीरवद् भवति । तास्मिक्नेव राष्ट्रं वीरपुरुषो जायते नान्यत्रेत्याह परमेश्वरः ॥ ६ ॥

भाषार्थ

इस प्रकार वेदरीति से राजा श्रीर प्रजा के धर्म संचेप से कह चुके। इसके श्रागे वेद की सनातन व्याख्या जो ऐतरेय श्रीर शतपथत्राह्मणादि प्रनथ हैं उनकी साची भी यहां लिखते हैं। (जिनष्टा उपः) राजात्रों की सेना श्रीर सभा में जो पुरुष हों, वे सब दुष्टों पर तेजधारी, श्रेष्टों पर शान्तरूप, सुख दु:ख के सहन करने वाले और धन के लिये अत्यन्त पुरुपार्थी हों। क्योंकि दुष्टों पर कृद्धस्वभाव श्रीर श्रेष्ठों पर सहनशील होना यही राज्य का स्वरूप है ।। १ ।। (मन्द्र श्रोजिष्ठ०) जो त्र्यानिन्दत त्र्यौर पराक्रमयुक्त होना है वही राज्य का स्वरूप है। क्योंकि राज्य-व्यवहार सब से बड़ा है। इस में शूरवीर श्रादि गुण्युक्त पुरुषों की सभा श्रीर सेना रख कर श्राच्छे प्रकार राज्य को बढ़ाना चाहिये ।। २ ।। (ब्रह्म वे रथन्तरं०) ब्रह्म श्चर्यात परमेश्वर श्रौर वेदविद्या से युक्त जो पूर्ण विद्वान ब्राह्मण है वही राज्य के प्रबन्धों में सुखप्राप्ति का हेतु होता है। इसलिये श्रच्छे राज्य के होने से ही सत्यविद्या प्रकाश को प्राप्त होती है। उत्तम विद्या श्रीर न्याययुक्त राज्य का नाम श्रोज है। जिसको दण्ड के भय से उल्लंघन वा अन्यथा कोई नहीं कर सकता। क्योंकि स्रोज अर्थात् बल का नाम चत्र श्रीर पराक्रम का नाम राजन्य है। ये दोनों जब परस्पर मिलते हैं तभी संसार की उन्नति होती है। इसके होने श्रीर परमेश्वर की कृपा से मनुष्य के राजकर्म, चक्रवर्त्तिराज्य, भोग का राज्य, अपना राज्य, विविध राज्य, परमेष्ठि राज्य, प्रकाशारूप राज्य, महाराज्य, राजों का ऋधिपतिरूप राज्य ऋौर ऋपने वश का राज्य इत्यादि उत्तम २ सुख बढ़ते हैं । इसलिये उस परमात्मा को मेरा वारंवार नमस्कार है कि जिसके अनुप्रह से हम लोग इन राज्यों के अधिकारी होते हैं ॥ ६ ॥

स प्रजापतिका, श्रयं वै देवानामोजिष्ठो बिलष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारियष्णुतम इममेवाभिषिश्चामहा इति तथेति तद्वै तदिन्द्रमेव॥७॥ सम्राजं साम्राज्यं भोजं भोजिएतरं स्वराजं स्वाराज्यं विराजं वैराज्यं राजानं राजािपतरं परमेष्ठिनं पारमेष्ठयं च्रत्रमजिन च्रित्रयोऽजिन विश्वास्य भूतस्यािधपितरजिन विशामसाजिन पुरां भेसा जन्यस्याणां हन्ताजिन ब्रह्मणो गोप्ताजिन धर्मस्य गोप्ताजिनीति ॥ ऐतरे॰ पं॰ ८ । कं॰ १२ ॥ स परमेष्ठी प्राजापत्योऽभवत् ॥ ८ ॥ ऐत० पं॰ ८ । म्रू॰ १ । कं॰ १४ ॥ स एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेणां भिषकः च्रत्रियः सर्वा जित्रीर्जयित सर्वान् लोकान् विन्दित सर्वेषां राज्ञां श्रेष्ठयप्रतिष्ठां परमतां गच्छति साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठयं राज्यं माहाराज्यमािधपत्यं जित्वािमह्रोके स्वयंभः भवराङमृतोऽमुष्टमन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप् वामृतः सम्भवति यमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण च्रियं शापियत्वाऽभिषिञ्चित ॥ ६ ॥ ऐत० पं॰ ८ । श्रं॰ ४ । कं॰ १६ ॥

भाष्यम्

(स प्रजापितका०) सर्वे सभासदः प्रजास्थमनुष्याः स्वामिनेष्टेन पूज्यतमेन परमेश्वरेषेव सह वर्जमाना मवेयुः । सर्वे मिलित्वेवं विचारं कुर्युर्थतो न कदाचित्सुखहानिपराजयो स्याताम् । यो देवानां विदुषां मध्ये (श्रोजिष्टः) पराक्रमवन्तमः, (विलष्टः) सर्वोत्कृष्टवलसाहितः, (सिहष्टः) श्रातिशयेन सहनशीलः, (सत्तमः) सर्वेर्गुर्णेरत्यन्तश्रेष्टः, (पारिषणुतमः) सर्वेभ्यो युद्धादिदुःखेभ्योऽतिशयेन सर्वास्तारियृतमो विजयकारकतमोऽस्माकं मध्ये श्रेष्टतमोस्तीति । वयं निश्चित्य तमेव पुरुषममिषिष्टचाम इतीच्छेयुः । तथैव खल्वस्त्वित सर्वे प्रतिजानीयुरेवं भूतस्योत्तमपुरुषस्याभिषेककरणं, सर्वेश्वर्यप्रापकत्त्वादिन्द्रमित्याहुः ॥ ७ ॥ (सम्राजं०) एवम्भूतं सार्वभौमराजानं, (साम्राज्यं) सार्वभौम्यराज्यं, (भोजं) उत्तमभोगसाधकं, (भोजिपतरं) उत्तमभोगानां रचकं (स्वराजं) राजकर्मसु प्रकाशमानं सिष्ट्यादिगुणैस्स्वहृदये देदीप्यमानं, (स्वाराज्यं) स्वकीयराज्यपालनं, (विराजं) विविधराज्यपालिकरं, (राजानं) श्रेष्टश्वर्येण प्रकाशमानं, (राजितरं) राज्ञां रचकं, (परमेष्टिनं) परमोत्कृष्टे राज्ये स्थापयितुं योग्यं, (पारमेष्टचं) परमेष्टिसम्पादितं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं वयमभिषिष्टचामहे । एवमभिषिक्रस्य पुरुषस्य सुखयुक्रं चत्रमजनि प्रादुर्भवतीति ।

श्रजनीति बन्दिस लुङ्लङ्लिट इति वर्चमानकाले लुङ् । (चत्रियोजनि) तथा चत्रियो वीरपुरुषः (विश्व०) सर्वस्य प्राणिमात्रस्याधिपतिः सभाध्यत्तः (विशामना०) दृष्टप्रजानामत्ता विनाशकः, (पुरां भे०) शत्रुनगराणां विनाशकः, (ऋसुराणां इन्ता) दुष्टानां इन्ता इननकत्ती, (ब्रह्मणो०) वेदस्य रत्तकः, (धर्मस्य गो०) धर्मस्य च रत्तकोजिन प्रादुर्भवतीति । (स परमेष्टी प्रा॰) स राजधर्मः समाध्यः चादिमनुष्यैः (प्राजापत्यः) त्र्रार्थात् परमेश्वर इष्टः करणीयः । न तिक्विशेष्टिः केनचिन्मनुष्येखेषः कर्तुं योग्योस्त्यतः सर्वे मनुष्याः परमेश्वरपूजका भवेयुः ॥ ⊏॥ यो मनुष्यो राज्यं कर्तुमिच्छेत्स (एतेनैन्द्रेगा०) पूर्वोक्नेन सर्वेश्वर्य्यप्राप्तिनिमित्तेन (महाभिषेकेणा०) त्राभिषिकः स्वीकृतः (चत्रियः) चत्रधर्भवान् (सर्व०) सर्वेषु युद्धेषु जयति, सर्वत्र विजयं तथा सर्वानुचमांह्लोकांश्र विन्दति प्रामोति, सर्वेषां राज्ञां मध्ये श्रेष्टचं सर्वोत्तमत्वं, पूर्वोक्षां प्रतिष्टां, या परेषु शत्रुषु विजयन हर्पनिमित्ता तथा परेपां शत्रुणां दीनत्विनिमित्ता सा, परमता सभा तां वा गच्छति प्राप्नोति, तया सभया पूर्वोक्नं साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्टचं महाराज्यमाधिपत्यं राज्यं च जित्वाऽस्मिन् लोके चक्रवर्त्तिसार्वभौमो महाराजाधिराजो भवति, तथा शरीरं त्यक्नार्शस्मन्स्वर्गे सुखस्त्ररूपं लोके परब्रह्मारी स्वयम्भूः स्वाधीनः (स्वराद्) स्वप्रकाशः (अष्टतः) प्राप्तमोत्तसुखः सन्सर्वा-न्कामानाप्नोति, (त्र्याप्तामृतः) पूर्णकामोऽजरामरः सम्भवति, (यमेतेनन्द्रेण) एतेनोक्नेन सर्वेश्वर्थेण (शापियत्वा) प्रतिज्ञां कारियत्वा यं सकलगुणोत्कृष्टं चित्रियं (महाभिषे०) त्राभिषिञ्चन्ति सभासदः सभायां स्वीकुर्वन्ति तस्य राष्ट्रे कदाचिदनिष्टं न प्रसज्यत इति विज्ञेयम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ

जो त्तत्र अर्थात् राज्य परमेश्वर आधीन और विद्वानों के प्रवन्ध में होता है वह सब सुखकारक पदार्थ और वीर पुरुषों से अत्यन्त प्रकाशित होता है। (स प्रजा-पितका०) और वे विद्वान एक अद्वितीय परमेश्वर के ही उपासक होते हैं। वयोंकि वही एक परमात्मा सब देवों के वीच में अनन्त विद्यायुक्त और अपार बलवान है। तथा अत्यन्त सहनस्वभाव और सब से उत्तम है। वही हम को सब दुःखों के पार उतार के सब सुखों को प्राप्त कराने वाला है। उसी परमात्मा को हम लोग अपने और सभा में अभिषेक करके अपना न्यायकारी राजा सदा के लिये मानते हैं। तथा

जिसका नाम इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्ययुक्त है वही हमारा सम्राट् अर्थात् चक्रवर्त्ती राजा श्रीर वहीं हम को भी चक्रवर्त्ती राज्य देनेवाला है। जो पिता के सदृश सब प्रकार से हमारा पालन करने वाला, स्वराट् ऋर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप श्रौर प्रकाशस्वरूप राज्य का देनेवाला है, तथा जो विराद् अर्थात् सब का प्रकाशक, विविध राज्य का देनेवाला है, उसी को हम राजा श्रीर सव राजाश्रों का पिता मानते हैं। क्योंकि वही परमेष्ठी सर्वोत्तम राज्य का भी देनेवाला है। उसी की कृपा से मैंने राज्य को प्रसिद्ध किया अर्थात मैं चत्रिय और सब प्राणियों का अधिपति हन्ना। तथा प्रजामों का संप्रह, दुष्टों के नगरों का भेदन, श्रासुर श्रर्थात चोर डाकुश्रों का ताड़न, ब्रह्म श्रर्थात वेदिवद्या का पालन और धर्म की रत्ता करनेवाला हुआ हूं। जो त्तिय इस प्रकार के गुए और सत्य कमों से अभिपिक अथीत युक्त होता है वह सब युद्धों को जीत लेता है। तथा सब उत्तम सुख और लोकों का अधिकारी बन कर सव राजाओं के बीच में श्रत्यन्त उत्तमता को प्राप्त होता है। जिससे इस लोक में चक्रवर्ती राज्य श्रीर लदमी को भोग के मरणानन्तर परमेश्वर के समीप सब सुखों को भोगता है। क्योंिक ऐन्द्र अर्थात् महाऐश्वर्ययुक्त अभिपेक से चत्रिय को प्रतिज्ञापूर्वक राज्याधिकार मिलता है। इसलिये जिस देश में इस प्रकार का राज्यप्रवन्ध किया जाता है वह देश श्रत्यन्त सुख को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

च्चं वै स्विष्टकृत्। च्चं वै साम। साम्राज्यं वै साम॥ श॰ कां॰ १२। य० ८। ब्रा॰ ३। कि एड० १६। २३॥ ब्रह्म वै ब्राह्मणः च्च अर्थरा-जन्यस्तदस्य ब्रह्मणा च च्चेण चो भयतः श्रीः पिरगृहीता भवति। युद्धं वै राजन्यस्य वीर्ध्यम् ॥ श॰ कां॰ १३। अ०१। ब्रा॰ ४। कि एड० ३।६॥ राष्ट्रं वा अश्वमेधः॥ श० कां॰ १३। अ०१। ब्रा॰ ६। कं०३। राजन्य एव शौर्ध्यं महिमानं द्धाति तस्मात्पुरा राजन्यः शूर इषच्योऽतिब्याधी महारथो जज्ञे॥ श० कां० १३। अ०१। ब्रा॰ ९। कि एड० २॥

भाष्यम्

(चत्रं वै ॰) चत्रमर्थाद्राजसभाप्रवन्धेन यद्यथावत्प्रजापालनं क्रियते तदेव स्विष्टकृदर्थादिष्टसुखकारि, (चत्रं वे साम ॰) यद्वै दुष्टकर्मणामन्तकारि तथा सर्वस्याः प्रजायाः सान्त्वप्रयोगकर्तृ च भवति, (साम्राज्यं वै ॰) तदेव श्रेष्ठं राज्यं वर्णयन्ति । (ब्रक्क वै॰) ब्रह्मार्थाद्वेदं परमेश्वरं च वेत्ति स एव ब्रह्मणो भवितुमईति। (चत्र ७) यो जितेन्द्रियो विद्वान् शौर्यादिगुण्युक्तो महावीरपुरुषः चत्रधर्मे स्वीक-रोति स राजन्यो भवितुर्वहित । (तदस्य ब्रह्मणा०) तादशैर्बाह्मणैः राजन्येश्व सहास्य राष्ट्रस्य सकाशादुभयतः श्री राज्यलच्मीः परितः सर्वतो गृहीता भवति, नैवं राजधर्मानुष्ठानेनास्याः श्रियः कदाचिद्वासान्यथात्वे भवतः । (युद्धं वै०) अत्रैदं बोध्यं युद्धकरणमेव राजन्यस्य वीर्ध्य वलं भवति, नानेन विना महाधनसुखयोः कदाचित्प्राप्तिर्भवति । कुतः । निघं० स्र० २। खं० १७। संग्राम-स्यैव महाधनसंज्ञत्वात् । महान्ति धनानि प्राप्तानि भवन्ति यस्मिन्स महाधनः संग्रामो, नास्माद्दिना कदाचिन् महती प्रतिष्ठा महाधनं च प्राप्तुतः । (राष्ट्रं वा त्रक्षमेधः) राष्ट्रपालनमेव चत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति, नार्ख इत्वा तद-ङ्गानां होमकरणं चेति । (राजन्य एव०) पुरा पूर्वोक्वेर्पुको राजन्यो यदा शौर्य्य महिमानं द्याति तदा सार्वभौमं राज्यं कर्तुं समर्थो भवति । तस्मात्कारणा-द्राजन्यः शूरो, युद्धोत्सुको, निर्भयः, (इषव्यः) शस्त्रास्त्रप्रचेषणे कुशलः, (त्राति-व्याधी) अत्यन्ता व्याधाः शत्रूणां हिंसका योद्धारो यस्य, (महारथः) महान्तो भूजलान्तरिचगमनाय रथा यस्येति । यस्मिन् राष्ट्रे ईदशो राजन्यो जन्ने जातोस्ति नैव कदाचित्तस्मिन्भयदुःखे सम्भवतः ॥ १३ ॥

भाषार्थ

(चत्रं वै०) राजसभाप्रबन्ध से जो यथावत् प्रजा का पालन किया जाता है वही स्विष्टकृत् अर्थात् अच्छी प्रकार चाहे हुए सुख का करने वाला होता है। (चत्रं वै सा०) जो राजकम्मे दुष्टों का नाश और श्रेष्टों का पालन करने वाला है वही साम्राज्यकारी अर्थात् राजसुखकारक होता है। (ब्रह्म वै०) जो मनुष्य ब्रह्म अर्थात् परभेश्वर और वेद का जानने वाला है वही ब्राह्मण होने योग्य है। (चत्रं०) जो इन्द्रियों को जीतने वाला, पिएडत, शूरतादि गुण्युक्त, श्रेष्ठ, वीरपुरुष चत्रधमें को स्वीकार करता है सो चात्रिय होने के योग्य है। (तदस्य ब्रह्मणा०) ऐसे ब्राह्मण और चित्रयों के साथ न्यायपालक राजा को अनेक प्रकार से जच्मी प्राप्त होती और उसके खजाने की हानि कभी नहीं होती। (युद्धं वै०) यहां इस बात को जानना चाहिये कि जो राजा को युद्ध करना है वही उसका बल होता है। उसके विना बहुत धन और सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती। क्योंकि निघएदु में संप्राम ही का नाम महाधन हैं। सो उसको महाधन इसलिये कहते हैं कि उससे बड़े २

उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं। क्योंकि विना संप्राम के श्रयन्त प्रतिष्ठा श्रीर धन कभी नहीं प्राप्त होता श्रीर जो न्याय से राज्य का पालन करना है वही चित्रयों का श्रथ- मेध कहाता है। किन्तु घोड़े को मार के उसके श्रङ्गों का होम करना यह श्रधमेध नहीं है। (राजन्य एव०) पूर्वोक्त राजा जब शूरतारूप कीर्त्ति को धारण करता है तभी सम्पूर्ण पृथिवी के राज्य करने को समर्थ होता है। इसलिये जिस देश में युद्ध को श्रायन्त चाहने वाला, निर्भय, शक्ष श्रस्त चलाने में श्रातिचतुर श्रीर जिसका रथ पृथिवी, समुद्र श्रीर श्रन्तिरत्त में जाने श्राने वाला हो ऐसा राजा होता है वहां भय श्रीर दुःख नहीं होते।

श्रीवें राष्ट्रम् ॥ श्र० कां० १३ । त्र० २ । त्रा० ६ । कं० २ ॥ श्रीवें राष्ट्रस्य भारः ॥ श० १३ । २ । ६ । ३ ॥ श्रीवें राष्ट्रस्य मध्यम् ॥ श० १३ । २ । ६ । ४ ॥ च्वेमो वै राष्ट्रस्य शितम् ॥ श० १३ । २ । ६ । ४ ॥ विद्वे गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहित तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥ श० १३ । २ । ६ । ६ ॥ विश्वमेव राष्ट्र्याद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विश्वमत्ति न पुष्टं पशु मन्यत इति ॥ शत० कां० १३ । त्र०२ । न्ना० ६ । कं० ८ ॥

भाष्यम्

(श्रीवें राष्ट्रम्) या विद्याद्यनमगुण्यू नितः सेव राष्ट्रं भवति । (श्रीवें राष्ट्रस्य भारः) सेव राज्यश्री राष्ट्रस्य सम्भारो भवति । (श्रीवें राष्ट्रस्य मध्यम्) राष्ट्रस्य मध्यभागोपि श्रीरेवास्ति । (चेमो वे रा०) चेमो यद्रचणं तदेव राष्ट्रस्य भयनविकरपद्रवं सुखं भवति । (विद्वै गभो०) विद्या प्रजा सा गभाष्ट्यास्ति, (राष्ट्रं पसो०) यद्राष्ट्रं तत्पसाख्यं भवति, तस्माद्यद्राष्ट्रसम्बन्धि कर्म तद्विशि प्रजायामाविश्य तामाद्दन्त्यासमन्तात्करप्रदृणेन प्रजाया उत्तमपदार्थानां इरणं करोति, (तस्माद्राष्ट्रीवि०) यस्मात्सभया विनैकाकी पुरुषो भवति तत्र प्रजा सदा पीडिता भवति, तस्मादेकः पुरुषो राजा नैव कर्चव्यो, नैकस्य पुरुपस्य राज्यमानुष्ठाने यथावत् सामध्यं भवति, तस्मात्सभयेव राज्यप्रवन्धः कर्तुं शक्यो-स्ति । (विश्वमेव राष्ट्र्या०) यत्रैको राजास्ति तत्र राष्ट्राय विशं प्रजामाद्यां भच्लियां भोज्यवत्ताडितां करोति। यत्स्मात्स्वसुखार्थं प्रजाया उत्तमान्पदार्थान् गृह्यन्सन् प्रजाये पीडांददाति तस्मादेको राष्ट्री विश्वमत्ते, (न पुष्टं पश्चम०) तथा मांसाद्दारी पुष्टं पशुं

दृष्ट्वा इन्तुमिच्क्रति तथैको राजा न मत्तः कश्चिद्धिको भवेदितीर्ध्यया नैव प्रजा-स्थस्य कस्यचिन्मनुष्यस्योत्कर्षे सहते । तस्मात्सभाप्रबन्धयुक्केन राज्यव्यवहारेणैव भद्रमित्येवं राजधर्मव्यवहारप्रतिपादका मन्त्रा बहवः सन्तीति ।

भाषार्थ

(श्रीवें राष्ट्रं) श्री जो है लह्मी वही राज्य का स्वरूप, सामग्री श्रोर मध्य है। तथा राज्य का जो रच्या करना है वही शोभा अर्थात् श्रेष्ठभाग कहाता है। राज्य के लिये एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि जहां एक को राजा मानते हैं वहां सब प्रजा दुखी और उसके उत्तम पदार्थों का श्रभाव हो जाता है, इसी से किसी की उन्नति नहीं होती। इसी प्रकार सभा करके राज्य का प्रवन्ध श्राय्यों में श्रीमन्महाराज युधिष्ठिरपर्य्यन्त बराबर चला श्राया है कि जिसकी साची महाभारत के राजधमें श्रादि प्रनथ तथा मनुस्मृत्यादि धमेशास्त्रों में यथावत् लिखी है। उनमें जो कुछ प्रचिप्त किया है उसको छोड़ के बाक़ी सब श्रच्छा है, क्योंकि वह वेदों के श्रनुक्ल है। श्रोर श्राय्यों की यह एक बात बड़ी उत्तम थी कि जिस सभा वा न्यायाधीश के सामने श्रन्याय हो वह प्रजा का दोप नहीं मानते थे, किन्तु वह दोष सभाष्यच्न, सभासद् श्रोर न्यायाधीश का ही गिना जाता था। इसलिये वे लोग सत्य न्याय करने में श्रत्यन्त पुरुषार्थ करते थे कि जिससे श्रार्थावर्त्त के न्यायघर में कभी श्रन्याय नहीं होता था श्रोर जहां होता था वहां उन्हीं न्यायाधीशों को दोष देते थे। यही सब श्रार्थों का सिद्धान्त है श्रर्थात् इन्हीं वेदादि शास्त्रों की रीति से श्रार्थों ने भूगोल में करोड़ों वर्ष राज्य किया है, इसमें कुछ सन्देह नहीं।

इति संदोपतो राजप्रजाधमीविषयः



अथ वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः

तत्र वर्णविषयो मन्त्रो "ब्राह्मणो य मुखमासी"दिश्युक्तस्तद-र्थश्च। तस्यायं शेषः ॥ वृणा वृणोतेः ॥ १ ॥ नि० त्र० २ ॥ व्राह्म हि ब्राह्मणः । च्रत्रथं हीन्द्रः, च्रत्रः राजन्यः ॥ २ ॥ श० कां० ४ । त्र० १ । ब्रा० १ । कं० ११ ॥ बाह्न वै मित्रावरुणी पुरुषो गर्तः ॥ श० कां० ४ । त्र० ४ । ब्रा० ३ । कं० १४ ॥ वीर्यं वा एतद्राजन्यस्य

वर्णाश्रमविषयः॥

यद्वाहू वीर्व्यं वा एतद्पार रसः ॥ श० कां० ४ । ऋ०४ । ब्रा०३ । कं०१७ ॥ इषवो वै दिद्यवः । ३ ॥ श० कां०४ । ऋ०४ । ब्रा०४ । कं०२ ॥

भाष्यम्

वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्यरणीया वरीतुमही, गुणकर्माणि च दृष्टा यथायोग्यं वियन्ते ये ते वर्णाः ॥ १॥ (ब्रह्म हि ब्राह्मणः) ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्त्तमानो विद्याद्युत्तमगुणयुक्कः पुरुष ब्राह्मणो भविन्तुमहिति । तथैव (चत्रछं हीन्द्रः०) चत्रं चित्रयकुलम्, यः पुरुष इन्द्रः परमेश्वर्यवान् शत्रूणां चयकरणाद्युद्धोत्सुकत्वाच प्रजापालनतत्परः (राजन्यः) चित्रयो भवितुमहिति ॥ २॥ (मित्रः) सर्वेभ्यः सुखदाता, (वरुणः) उत्तमगुणकर्मधारणेन श्रेष्टः, इमावेव चित्रयस्य द्वौ बाहुवद् भवेताम् । (वा) अथवा वीर्य पराक्रमो बलं चतदुभयं राजन्यस्य चित्रयस्य बाहू भवतः । अपां प्राणानां यो रस आनन्दस्तं प्रजाभ्यः प्रयच्छतः चित्रयस्य वीर्यं वर्धते । तस्य (इषवः) वाणाः, शस्त्रास्नाणामुपलचणमेतत्, (दिद्यवः) प्रकाशकाः सदा भवेयुः ॥३॥

भाषार्थ

श्रव वर्णाश्रमविषय लिखा जाता है। इस में यह विशेष जानना चाहिये कि प्रथम मनुष्यजाति सब की एक हैं, सो भी वेदों से सिद्ध है, इस विषय का प्रमाण सृष्टि-विषय में लिख दिया है। तथा (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) यह मन्त्र सृष्टि विषय में लिख चुके हैं। वर्णों के प्रतिपादन करनेवाले वेदमन्त्रों की जो व्याख्या ब्राह्मण श्रीर निरुक्तादि प्रन्थों में लिखी है वह कुछ यहां भी लिखते हैं। मनुष्यजाति के ब्राह्मण, चत्रिय, वैश्य, शूद्ध ये वर्ण कहाते हैं। वेदरीति से इन के दो भेद हैं, एक श्राय्ये श्रीर दूसरा दस्यु। इस विषय में यह प्रमाण है कि (विजानीह्मार्थ्यान्ये च दस्यवो०) श्रर्थात् इस मन्त्र से परमेश्वर उपदेश करता है कि हे जीव ! तू श्रार्थ्य श्रयात् श्रेष्ठ श्रीर दस्यु श्रर्थात् दुष्टस्वभावयुक्त डाकू श्रादि नामों से प्रसिद्ध मनुष्यों के ये दो भेद जान ले। तथा (उत शूद्धे उत श्रार्थ्ये) इस मन्त्र से भी श्रार्थ्य ब्राह्मण चित्रय वैश्य श्रीर श्रनार्थ्य श्रर्थात् श्रनाङ्गी जो कि शूद्ध कहाते हैं ये दो भेद जाने गये हैं। तथा (श्रसुर्था नाम ते लोका०) इस मन्त्र से भी देव श्रीर श्रसुर श्रर्थात् विद्वान श्रीर मूर्ख ये दो ही भेद जाने जाते हैं। श्रीर इन्हीं दोनों के विरोध

को देवासुर संग्राम कहते हैं। ब्राह्मण, चित्रय, वैश्य श्रौर शुद्ध ये चार भेद गुण कमों से किये गये हैं। (वर्णो०) इन का नाम वर्ण इसिलये हैं कि जैसे जिस के गुण कमें हों वैसा ही उस को श्रिधकार देना चाहिये। (ब्रह्म हि ब्रा०) ब्रह्म श्रिथांत् उत्तम कमें करने से उत्तम विद्वान् ब्राह्मणवर्ण होता है। (च्रत्र १) हि०) परमैश्वर्य (बाहू०) बल, वीर्थ्य के होने से मनुष्य चित्रयवर्ण होता है, जैसा कि राजधर्म में लिख श्राये हैं

त्राश्रमा त्रिप चत्वारः सन्ति ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासभेदात् । ब्रह्मचर्येण सिद्ध्या शिक्षा च ग्राह्मा । गृहाश्रमेणोत्तमाचरणानां श्रेष्ठानां पदार्थानां
चोन्नितिः कार्य्या । वानप्रस्थेनैकान्तसेवनं ब्रह्मोपासनं विद्याफलविचारणादि च
कार्य्यम् । संन्यासेन परब्रह्ममोत्तपरमानन्दप्रापणं क्रियते, सदुपदेशेन सर्वस्मा
त्रानन्ददानं चेत्यादि चतुर्भिराश्रमैर्धमिर्थकाममोत्ताणां सम्यक् सिद्धिः सम्पादनीया । एतेषां मुख्यतया ब्रह्मचर्य्येण सिद्ध्यासुशिक्तादयः श्रभगुणाः सम्यग्राह्माः ।
त्रित्र ब्रह्मचर्याश्रमे प्रमाणम्—

श्राचार्यं उपनयंमानो ब्रह्मचारिएं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्री-स्तिस्र उद्दे विभित्ते तं जातं द्रष्टुंमिभ्संयन्ति देवाः॥१॥ इयं मिनत्पृथिवी चौद्धितीयोतान्तरित्तं मिमधा पृणाति। ब्रह्मचारी मिमधा मेखंलया अमेण लोकांस्तपंसा पिपत्ति॥२॥ पूर्वी जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी प्रमे वसान्स्तप्सोद्तिष्ठत्। तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्मज्ये-ष्ठं देवाश्च सर्वे श्चमृतेन साकम्॥३॥ श्चथर्व० कां०११। श्चनु०३। स्०१। मं०३।४।४॥

भाष्यम्

(श्राचार्य्य उ०) श्राचार्यो विद्याध्यापको ब्रह्मचारिणमुपनयमानो विद्या-पठनार्थमुपवीतं दृढ्वतमुपिद्शन्नन्तर्गर्भिमेव कृणुते करोति । तं तिस्रो रात्रीसिदिन-पर्यन्तमुद्दे विभक्ति । श्रर्थात् सर्वा शिचां करोति पठनस्य च रीतिमुपिद्शति । यदा विद्यायुक्तो विद्यान् जायते तदा तं विद्यासु जातं प्रार्दुभूतं देवा विद्वांसो द्रष्टुमिभसंयन्ति प्रसन्नतया तस्य मान्यं कुर्वन्ति । श्रस्माकं मध्ये महाभाग्योद्येने-श्वरानुग्रहेण च सर्वमनुष्योपकारार्थं त्वं विद्वान् जात इति प्रशंसान्ति ॥ १ ॥ (इयं समित्) इयं पृथिवी द्यौः प्रकाशोन्तरिन्तं चानया समिधा स ब्रह्मचारी पृणाति, तत्रस्थान् सर्वान् प्राणिनो विद्यया होमेन च प्रसन्नान् करोति, (सिमधा) मिनहोत्रादिना, मेखलया ब्रह्मचर्य्यचिह्नधारणेन च, (अमेण) परिश्रमेण, (तपसा) धर्मानुष्ठानेनाध्यापनेनोपदेशेन च (लोकां०) सर्वान् प्राणिनः पिपर्ति प्रष्टान्प्रसन्नान्करोति ॥ २ ॥ (पूर्वो जातो ब्रह्म०) ब्रह्मणि वेदे चिरतुं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी, (धर्म वसानः) अत्यन्तं तपश्चरन्, ब्राह्मणोऽर्थोद्वेदं परमेश्वरं च विदन्, पूर्वः सर्वेषामाश्रमाणामादिमः सर्वाश्रमभूषकः, (तपसा) धर्मानुष्ठानेन (उदतिष्ठत्) ऊर्ध्वे उत्कृष्टबोधे व्यवहारे च तिष्ठति । तस्मात्कारणात् (ब्रह्मज्येष्ठं) ब्रह्मैव परमेश्वरो विद्या वा ज्येष्ठा सर्वोत्कृष्टा यस्य तं ब्रह्मज्येष्ठम्, (अपृतेन) परमेश्वरमोत्तवोधेन परमानन्देन साकं सह वर्त्तमानं (ब्राह्मणं) ब्रह्मविदं (जातं) प्रसिद्धं (देवाः) सर्वे विद्वांसः प्रशंसन्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ

श्रव श्रागे चार श्राश्रमों का वर्णन किया जाता है। ब्रह्मचर्च्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ श्रीर संन्यास ये चार श्राश्रम कहाते हैं। इन में से पांच वा श्राठ वर्ष की उमर से श्राडतालीस वर्ष पर्य्यन्त प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम का समय है। इसके विभाग पितृयज्ञ में में कहेंगे। वह सुशिचा और सत्यविद्यादि गुण प्रहण करने के लिये होता है। दूसरा गृहाश्रम जो कि उत्तम गुणों के प्रचार श्रीर श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नति से सन्तानों की उत्पत्ति श्रीर उनको सुशिचित करने के लिये किया जाता है। तीसरा वानप्रस्थ जिससे ब्रह्मविद्यादि साचात साधन करने के लिये एकान्त में परमेश्वर का सेवन किया जाता है। चौथा संन्यास जो कि परमेश्वर अर्थात् मोच्नसुख की प्राप्ति और सत्योपदेश से सब संसार के उपकार के ऋथे किया जाता है। धर्म, ऋथे, काम और मोत्त इन चारों पदार्थी की प्राप्ति के लिये इन चार श्राश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है। इन में से प्रथम ब्रह्मचर्थ्याश्रम जो कि सब आश्रमों का मूल है उसके ठीक २ सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं । इस आश्रम के विषय में वेदों के अनेक प्रमाण हैं, उन में से कुछ यहां भी लिखते हैं। (आचार्य उ०) अर्थात जो गर्भ में बस के माता श्रौर पिता के सम्बन्ध से मनुष्य का जन्म होता है वह प्रथम जन्म कहाता है श्रीर दूसरा यह है कि जिसमें श्राचार्य्य पिता श्रौर विद्या माता होती है। इस दूसरे जन्म के न होने से मनुष्य को मनुष्यपन नहीं प्राप्त होता । इसिलये उस को प्राप्त होना मनुष्यों को अवश्य चाहिये । जब आठवें वर्ष पाठशाला में जाकर श्राचार्थ्य श्रर्थात् विद्या पढ़ाने वाले के समीप रहते हैं तभी से उनका नाम ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी हो जाता है। क्योंकि वे ब्रह्म वेद श्रोर परमेश्वर के विचार में तत्पर होते हैं। उनको श्राचार्य तीन रात्रिपर्य्यन्त गर्भ में रखता है। श्रर्थात् ईश्वर की उपासना धर्म परस्पर विद्या के पढ़ने श्रोर विचारने की युक्ति श्रादि जो मुख्य २ वातें हैं वे सब तीन दिन में उनको सिखाई जाती हैं तीन दिन के उपरान्त उनको देखने के लिये श्रध्यापक श्रर्थात् विद्वान लोग श्राते हैं। १।। (इयं समित्०) फिर उस दिन होम करके उनको प्रतिज्ञा कराते हैं कि जो ब्रह्मचारी पृथिवी, सूर्य्य श्रीर श्रन्तरिच्च इन तीनों प्रकार की विद्याश्रों को पालन श्रीर पूर्ण करने की इच्छा करता है सो इन समिधाश्रों से पुरुषार्थ करके सब लोकों को धर्मानुष्ठान से पूर्ण श्रानन्दित कर देता है।। २।। (पूर्वे जातो ब्र०) जो ब्रह्मचारी पूर्व पढ़ के ब्राह्मण् होता है वह धर्मानुष्ठान से श्रत्यन्त पुरुषार्थी होकर सब मनुष्यों का कल्याण करता है। (ब्रह्म ज्येष्टं०) फिर उस पूर्ण विद्वान ब्राह्मण् को जो कि श्रमृत श्रर्थात् परमेश्वर की पूर्ण भक्ति श्रीर धर्मानुष्ठान से युक्त होता है देखने के लिये सब विद्वान् श्राते हैं।। ३।।

ब्रह्मचाय्यैति सिमिधा सिम्हः कार्ष्ण वसानो दीचितो दीर्घ-१ सम्प्रः । स स्मय एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकाःत्संग्रभ्य मुहुराच-रिकत ॥ ४ ॥ ब्रह्मचारी जनयन ब्रह्मापो लोकं प्रजापितं परमेष्ठिनं विराजम् । गभी भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततहे ॥४॥ ब्रह्मचय्यैण तपेसा राजा राष्ट्रं विरक्ति । ख्राचाय्यौ ब्रह्मचय्यैण ब्रह्म-चारिणिमिच्छते ॥ ६ ॥ ब्रह्मचय्यैण कन्याध्यवानं विन्दते पतिम् । ख्रमुद्दान् ब्रह्मचय्यैणारवी घासं जिगीषति ॥ ७ ॥ ब्रह्मचय्यैण तप्सा देवा सृत्युमुपोचनत । इन्द्री ह ब्रह्मचय्यैण देवेभ्यः स्वर्धराभरत् ॥ ८ ॥ श्रथवि० कां० ११ । अनु० ३ । स्० ४ । मं० ६ । ७ । १७ । १८ । १८ ॥

भाष्यम्

(ब्रह्मचार्थ्येति ०) स ब्रह्मचारी पूर्वोक्तया (समिधा) विद्यया (समिद्धः) प्रकाशितः, (कार्ष्णं) मृगचमीदिकं (वसानः) आच्छादयन्, (दीर्घश्मश्रुः) दीर्घकालपर्थ्यन्तं केशश्मश्रूणि धारितानि येन सः, (दीचितः) प्राप्तदीचः (एति) परमानन्दं प्राप्नोति । तथा (पूर्वस्मात्) ब्रह्मचर्यानुष्ठानभूतात्सम्रद्वात् (उत्तरं)

गृहाश्रमं समुद्रं (सद्य एति) शीघं प्राप्नोति, एवं निवासयोग्यान्सर्वीन् (लोका-न्त्सं०) संगृह्य मुहुर्वारंवारं (आचरिकत्) धर्मोपदेशमेव करोति ॥ ४ ॥ (ब्रह्म-चारी) स ब्रह्मचारी (ब्रह्म) वेदविद्यां पठन्, (श्रपः) प्राणान्, ((लोकं) दर्शनं, (परमेष्ठिनं) प्रजापतिं (विराजं) विविधप्रकाशकं परमेश्वरं (जनयन्) प्रकटयन् , (श्रमृतस्य) मोत्तस्य (योनी)विद्यायां (गर्भी भूत्वा) गर्भविश्वयमेन स्थित्वा यथावद्विद्यां गृहीत्वा, (इन्द्रो ह भूत्वा) सूर्य्यवत्प्रकाशकः सन् (श्रसुरान्) दुष्टकर्म-कारिया मूर्जान्पापिडनो जनान् दैत्यरचःस्वभावान् (तर्तह्) तिरस्करोति, सर्वाभिवारयति । यथेन्द्रः सूर्योऽसरान्मेघान् रात्रिं च निवारयति तथैव ब्रह्मचारी सर्वशुभगुणप्रकाशकोऽशुभगुणनाशकथ भवतीति ॥ ५ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण०) तपसा ब्रह्मचर्य्येण कृतेन राजा राष्ट्रं विरच्चति, विशिष्टतया प्रजा राचितुं योग्यो भवति । आचारयोपि कृतेन ब्रह्मचर्ययेणैव विद्यां प्राप्य ब्रह्मचारिणमिच्यते स्वी-कुर्यान्नान्यथेति ॥ ६ ॥ अत्र प्रमाणम् । आचार्यः कस्मादाचारं ग्राइयत्याचि-नोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा ॥ निरुक्त अ०१। खं०४॥ (ब्रह्मचर्य्येण०) एवमेव कृतेन ब्रह्मचर्येग्रैव कत्या युवतिः सती युवानं स्वसद्दशं पति विन्दते, नान्यथा, न चातः पूर्वमसद्देशं वा । अनुदानित्युपलच्चणं वेगवतां पशूनां, ते पश-वोऽश्वश्र घासं यथा, तथा कृतेन ब्रह्मचर्य्येण स्वविरोधिनः पशृन् जिगीपन्ति युद्धेन जेतुमिच्छन्ति । श्रतो मनुष्यैस्त्ववश्यं ब्रह्मचर्यं कर्त्तव्यमित्यभिप्रायः॥७॥ (ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा०) देवा विद्यांसो, ब्रह्मचर्य्येण वेदाध्ययनेन ब्रह्माविज्ञानेन तपसा धर्मानुष्टानेन च, पृत्युं जन्मपृत्युप्रभवदःखग्रुपाघ्नत, नित्यं घ्नन्ति, नान्यथा । ब्रह्मचर्य्येण सुनियमेन (हेति किलार्थे) यथा इन्द्रः सूर्य्यो देवेम्य इन्द्रियेभ्यः स्वः सुखं प्रकाशं चाभरद्वारयति । तथा विना ब्रह्मचर्य्येण कस्यापि नैव विद्यासुखं च यथावद्भवति । अतो ब्रह्मचर्यानुष्टानपूर्वका एव गृहाश्रमाद्यस्त्रय आश्रमाः सुखमे-धन्ते। अन्यथा पूलामावे कुतः शाखाः, किन्तु पूले दृढेशाखापुष्पफलच्छायादयः सिद्धाः भवन्त्यवेति ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(ब्रह्मचार्येति०) जो ब्रह्मचारी होता है वही ज्ञान से प्रकाशित, तप और बड़े २ केश श्मश्रुत्र्यों से युक्त दीचा को प्राप्त होते विद्या को प्राप्त होता है। तथा जो कि शीघ ही विद्या को भ्रह्म करके पूर्व समुद्र जो ब्रह्मचर्थ्याश्रम का श्रनुष्टान है उसके पार उतर के उत्तर समुद्रस्वरूप गृहाश्रम को प्राप्त होता है ऋौर अच्छी प्रकार विद्या का संग्रह करके विचारपूर्वक अपने उपदेश का सौभाग्य बढ़ाता है।।४।। (ब्रह्मचारी ज०) वह ब्रह्मचारी वेद्विद्या को यथार्थ जान के प्राण्विद्या, लोकविद्या तथा प्रजापति परमेश्वर जो कि सब से बड़ा और सब का प्रकाशक है उस का जानना, इन विद्याओं में गर्भरूप श्रौर इन्द्र श्रर्थात् ऐश्वर्य्य युक्त हो के श्रासुर श्रर्थात् मृखीं की श्रविद्या को छेदन कर देता है।। १।। (ब्रह्मचर्य्येण त०) पूर्ण ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़ के श्रीर सत्यधर्म के अनुष्ठान से राजा राज्य करने को श्रीर श्राचार्घ्य विद्या पढ़ाने को समर्थ होता है श्राचार्य्य उसको कहते हैं कि जो श्रात्याचार को छुड़ा के सत्याचार का श्रीर श्रनथीं को छड़ा के श्रर्थों का प्रहरण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है।। ६।। (ब्रह्मचर्च्येग क०) ऋर्थात् जव वह कन्या ब्रह्मचर्याश्रम से पूर्ण विद्या पढ़ चुके तब अपनी युवा-वस्था में पूर्ण जवान पुरुष को अपना पति करे। इसी प्रकार पुरुष भी सुशील धर्मा-त्मा स्त्री के साथ प्रसन्नता से विवाह करके दोनों परस्पर सुख दुःख में सहायकारी हों । क्योंकि धानड्वान् धार्थात् पशु भी जो पूरी जवानी पर्यन्त ब्रह्मचर्य धार्थात् सुनियम में रक्खा जाय तो अत्यन्त वलवान हो के निर्वल जीवों को जीत लेता है ।। ও ।। (ब्रह्मचर्य्येण त०) ब्रह्मचर्य्य श्रीर धर्मानुष्ठान से ही विद्वान् लोग जन्म मरण को जीत के मोत्तसुख को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे इन्द्र ऋथीत् सूर्य्य परमेश्वर के नियम में स्थित हो के सव लोकों का प्रकाश करने वाला हुत्रा है वैसे ही मनुष्य का श्रात्मा ब्रह्मचर्य्य से प्रकाशित हो के सब को प्रकाशित कर देता है। इससे ब्रह्म-चर्याश्रम ही सब श्राश्रमों से उत्तम है।। ८॥

इति ब्रह्मचर्याश्रमविषयः संदोपतः

अथ गृहाश्रमविषयः

यद् ग्रामे यदरंग्ये यत्मभायां यदिन्द्रिये । यदेनश्चकृमा व्यमिदं तद्वं यजामहे स्वाहां ॥ ६ ॥ देहि मे द्दांमि ते नि में घेहि नि तें दघ । निहारं च हरांसि मे निहारं निहराणि ते स्वाहां ॥ १० ॥ गृहा मा बिभीत मा वेंपध्वमूर्ज बिश्रत एमसि । ऊर्ज बिश्रद्वः सुमनाः सुमेघा गृहानैमि मनसा मोदेमानः ॥ ११ ॥ येषामध्येति प्रवसन्येषु सीमन्सो बहुः। गृहानुपं ह्रयामहे ते नी जानन्तु जान्तः । ॥ २१॥ उपहृता इह गाव उपहृता अञ्चावयः। अथो अर्थस्य कीलाल । उपहृतो गृहेषु नः। चेमाय वः शान्त्यै प्रपेग्ने शिवअ ग्रमअ शंयोः शंयोः॥ १३॥ य० अ० ३। मं० ४४। ४०। ४१। ४२। ४३॥

भाष्यम्

(एपामभि०) एतेषु गृहाश्रमविधानं ऋियत इति। (यद् ग्रामे०) यद् ग्रामे गृहाश्रमे वसन्तो वयं पुरायं विद्याप्रचारं सन्तानोत्पात्तमत्युत्तमयामाजिकानियमं सर्वोपकारकं, तथैवारएये वानप्रस्थाश्रमे ब्रह्मविचारं विद्याध्ययनं तपश्चरणं, सभा-सम्बन्धे यच्छ्रेष्ठं, इन्द्रिये मानसन्यवहारे च यदुत्तमं कर्म च कुर्मस्तत्सर्वमीश्वरमी-च्रप्राप्त्यर्थमस्तु । यच अमेशीनः पापं च कृतं तत्सर्विमिदं पापमवयजामह आश्रमा-नुष्ठानेन नाशयामः ॥ ६ ॥ (देहि मे०) परमेश्वर त्राज्ञापयति हे जीव ! त्वमेवं वद, मे महां देहि, मत्सुखार्थ विद्यां द्रव्यादिकं च त्वं देहि, श्रहमि ते तुभ्यं ददामि । मे महं मदर्थं त्वमुत्तमस्वभावदानमुदारतां सुशीलतां च धेहि धारय, ते तभ्यं त्वदर्थमहमद्दप्येवं त्त दथे । तथैव धर्मव्यवहारं ऋयदानादानाख्यं च हरासि प्रयच्छ, तथैवाहमपि ते तुभ्यं त्वदर्थं निहराणि नित्यं प्रयच्छानि ददानि । स्वाहेति सत्यभाषणं, सत्यमानं, सत्याचरणं, यन्यवचनश्रवणं च सर्वे वयं मिलित्वा कुर्य्यामेति सत्येनैव सर्व व्यवहारं कुर्य्युः ॥ १० ॥ (गृडा०) हे **गृहाश्रममिच्छन्तो मनुष्याः ! स्वयंवरं** विवाई कृत्वा यूयं गृहाणि प्राप्तुत । गृहाश्रमा-नुष्ठाने (मा विभीत) भयं मा श्राप्नुत । तथा (मा वेपध्वं) मा कम्पध्वम् । (ऊर्ज विभ्रत एमसि) ऊर्ज बलं पराऋमं च विभ्रतः, पदार्थानमसि वयं प्राप्नुम इतीच्छत । (ऊर्जं बिश्रद्धः) वो युष्माकं मध्ये ऽहमूर्जं विश्रत्सन् , (सुमनाः) शुद्धमनाः, सुमेधोत्तमबुद्धियुक्तः, (मनसा मोदमानः) प्राप्तानन्दः (गृहानैमि) गृहाि प्रामोिम ॥ ११ ॥ (येषामध्येति प्र०) येषु गृहेषु प्रवसतो मनुष्यस्य (बहु:) ऋधिक: (सौमनसः) ऋानन्दो भवति । तत्र प्रवसन् येष! यान्पदार्था-न्सुखकारकान्स (अध्येति) स्मरति, (गृहानुपह्वयामहे) वयं गृहेषु विवाहादिषु सत्कारार्थं तान् गृहसम्बन्धिनः सखिदन्ध्वाचार्य्यादीन्निमन्त्रयामहे । (ते नः) विवाहिनयमेषु कृतप्रतिज्ञानस्मान् (जानतः) प्रौढज्ञानान्, युवावस्थास्थान्स्वेच्छया कृतविवाहान्, ते (जानन्तु) श्रस्माकं सान्तिणः सान्त्विति ॥ १२ ॥ (उपहूता

इह०) हे परमेश्वर! भवत्क्ठपया इहास्मिन गृहाश्रमे (गावः) पशुपृथिवीन्द्रिय-विद्याप्रकाशाह्णादादयः (उपद्ताः) अर्थात्सम्यक् प्राप्तो भवन्तु । तथा (अजावयः) उपद्ता अस्मद् नुकूला भवन्तु । (अथो अवस्य की०) अथो इति पूर्वोक्तपदार्थ-प्राप्त्यनन्तरं नोऽस्माकं गृहेष्वश्रस्य भोक्तव्यपदार्थसपूहस्य कीलालो विशेषेणोत्त-मरस उपद्दतः सम्यक् प्राप्तो भवतु । (वेमाय वः शान्त्यै०) वो युष्मान्, अत्र पुरुषव्यत्ययोस्ति तान्पूर्वोक्तान्प्रत्यचान्पदार्थान् (वेमाय) रच्चणाय (शान्त्यै) सुखाय प्रपद्ये प्रामोमि । तत्प्राप्त्या (शिवं) निश्श्रेयसं कल्याणं पारमार्थिकं सुखं (शग्मं) सांसारिकमाम्युद्यिकं सुखं च प्राप्तुयाम् । शंयोः (निघं० ४ । १) शमिति (शग्ममिति १) निघण्टौ पदनामास्ति । परोपकाराय गृहाश्रमे स्थित्वा पूर्वोक्तस्य द्विविधस्य सुखस्योन्नतिं कुर्माः ॥ १३ ॥

भाषार्थ

(यदु शमे ०) गृहाश्रमी को उचित है कि जब वह पूर्ण विशा को पढ़ चुके तब अपने तुल्य स्त्री से स्वयंवर करे और वे दोनों यथावत उन विवाह के नियमों में चलें जो कि विवाह भीर नियोग के प्रकरणों में लिख श्राये हैं। परन्तु उन से जो विशेष कहना है सो यहां लिखते हैं। गृहस्य स्त्री पुरुषों को धर्म उन्नाति श्रीर प्राम-वासियों के हित के लिये जो २ काम करना है, तथा (यदरण्ये) वनवासियों के साथ हित और (यत्सभायाम्) सभा के बीच में सत्य विचार श्रौर श्रपने सामर्थ्य से संसार को सुख देने के लिये, (यदिन्द्रिये०) जितेन्द्रियता से ज्ञान की घृद्धि करनी चाहिये सो २ सब काम अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ यथावत् करें। श्रौर (यदेनश्वकु) पाप करने की बुद्धि को हम लोग मन, वचन श्रौर कर्म से छोड़ कर सर्वथा सब के हितकारी बनें ।। ६ ।। परमेश्वर उपदेश करता है कि (देहि मे०) जो सामाजिक नियमों की व्यवस्था के श्रानुसार ठीक २ चलना है यही गृहस्थ की परम उन्नति का कारण है जो वस्तु किसी से लेवें त्रायवा देवें सो भी सत्यव्यवहार के साथ करें। (नि मे धेहि, नि ते दधे) अर्थात् मैं तेरे साथ यह काम करूंगा और तू मेरे साथ ऐसा करना, ऐसे व्यवहार को भी सत्यता से करना चाहिये। (निहारं च हरासि में नि०) यह वस्तु मेरे लिये तूं देवा तेरे लिये मैं दंगा इस को भी यथावत् पूरा करें। श्रायीत किसी प्रकार का मिध्या व्यवहार किसी से न करें। इस प्रकार गृहस्थ लोगों के सब व्यवहार सिद्ध होते हैं। क्योंकि जो गृहस्थ विचारपूर्वक सब के हितकारी

काम करते हैं उनकी सदा उन्नति होती है।। १०।।(गृहा मा विभीत०) हे गृहाश्रम की इच्छा करने वाले मनुष्य लोगो ! तुम लोग स्वयंवर श्रर्थात् श्रपनी इच्छा के श्रनुकूल विवाह करके गृहाश्रम को प्राप्त हो श्रीर उससे डरो वा कम्पो मत । किन्तु उससे बल, पराकम करनेवाले पदार्थों को प्राप्त होने की इच्छा करो। तथा गृहाश्रमी पुरुषों से ऐसा कहो कि मैं परमात्मा की कृपा से आप लोगों के बीच पराक्रम, शुद्ध मन, उत्तम बुद्धि श्रोर श्रानन्द को प्राप्त होकर गृहाश्रम करूं।। ११।। (येषामध्येति०) जिन घरों में वसते हुए मनुष्यों को अधिक आनन्द होता है, उन में वे मनुष्य अपने सम्बन्धी, मित्र, बन्धु और आचार्य्य आदि का स्मरण करते हैं और उन्हीं लोगों को विवाहादि शुभ कार्यों में सत्कार से बुलाकर उन से यह इच्छा करते हैं कि ये सव हम को युवावस्थायुक्त श्रीर विवाहादि नियमों में ठीक २ प्रतिज्ञा करनेवाले जानें श्रर्थात् इमारे साची हों ।। १२ ।। (उपहु०) हे परमेश्वर ! त्र्यापकी कृपा से इम लोगों को गृहाश्रम में पशु, पृथिवी, विद्या, प्रकाश, श्रानन्द, वकरी श्रीर भेड़ श्रादि पदार्थ अच्छी प्रकार से प्राप्त हों। तथा हमारे घरों में उत्तम रसयुक्त खाने पीने के योग्य पदार्थ सदा बने रहें। (व:) यह पद पुरुषव्यत्यय से सिद्ध होता है। हम लोग उक्त पदार्थों को उन की रच्चा और अपने सुख के लिये प्राप्त हों। फिर उस प्राप्ति से हमको परमार्थ ऋौर संसार का सुख मिल । (शंयोः) यह निचएदु में प्रतिष्ठा ऋथीत् सांसारिक सुख का नाम है।। १३।।

इति गृहाश्रमविषयः संदेषतः

अथ वानप्रस्थविषयः संक्षेपतः

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति । प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसाद-यन् । सर्व एते पुगयलोका भवन्ति ॥ झान्दोग्य० प्र०२। खं० २३॥

भाष्यम्

(त्रयो धर्म०) श्रत्र सर्वेष्वाश्रमेषु धर्मस्य स्कन्धा श्रवयवास्त्रयः सन्ति । अध्ययनं, यज्ञः कियाकाएडं, दानं च । तत्र प्रथमे ब्रह्मचारी तपःसुशिचाधर्मानु- ष्ठानेनाचार्यकुले वसति । द्वितीयो गृहाश्रमी । तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमवसाद्यन् हृद्ये विचारयन्नेकान्तदेशं प्राप्य सत्यासत्ये निश्चित्रयात् स वानप्रस्थाश्रमी । एते सर्वे ब्रह्मचर्याद्यस्य आश्रमाः पुण्यलोकाः सुखनिवासाः सुखयुक्ता भवन्ति, पुण्यानुष्ठानादेवाश्रमसंख्या जायते । ब्रह्मचर्याश्रमेण गृहीतविद्यो धर्मेश्वरादि सम्यङ् निश्चित्य, गृहाश्रमेण तदनुष्ठानं तद्विज्ञानवृद्धि च कृत्वा, ततो वनमेकान्तं गत्वा, सम्यक् सत्यासत्यवस्तुच्यवहारािकश्चित्य, वानप्रस्थाश्रमं समाप्य सन्न्यासी भवेत् । अर्थाद् ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भृत्वा वनी भवेद्वनी भृत्वा प्रवजेदित्येकः पत्तः । (यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रावजेद्वनाद्वा गृहाद्वा) आस्मिन् पत्ते वानप्रस्थाश्रममकृत्वा गृहाश्रमानन्तरं सन्न्यासं गृह्णीयादिति द्वितीयः पत्तः । ब्रह्मचर्यादेव प्रवजेत्, सम्यग्ब्रह्मचर्याश्रमं कृत्वा गृहस्थवानप्रस्थाश्रमावकृत्वा सन्न्यासाश्रमं गृह्णीयादिति वृतीयः पत्तः । सर्वत्रान्याश्रमविकल्प उक्तः परन्तु ब्रह्मचर्याश्रमानुष्ठानं नित्यमेव कर्त्तच्यमित्यायाति । कृतः । ब्रह्मचर्याश्रमेण विनाऽन्या-श्रमानुत्पत्तेः ।

भाषार्थ

(त्रयो धर्म०) धर्म के तीन स्कन्ध हैं एक विद्या का अध्ययन, दूसरा यज्ञ अर्थात् उत्तम कियाओं का करना, तीसरा दान अर्थात् विद्यादि उत्तम गुणों का देना । तथा प्रथम तप अर्थात् वेदोक्तधर्म के अनुष्ठानपूर्वक विद्या पढ़ाना, दूसरा आचार्य- कुल में वस के विद्या पढ़ना और तीसरा परमेश्वर का ठीक २ विचार करके सव विद्याओं को जान लेना । इन बातों से सब प्रकार की उन्नति करना मनुष्यों का धर्म है । तथा संन्यासाश्रम के तीन पत्त हैं । उन में एक यह है कि जो विषय भोग किया चाहे वह ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन आश्रमों को करके संन्यास प्रहण करे । दूसरा (यदहरेव प्र०) जिस समय वैराग्य अर्थात् बुरे कामों से चित्त हटकर ठीक २ सत्य मार्ग में निश्चित होजाय उस समय गृहाश्रम से भी संन्यास हो सकता है, और तीसरा जो पूर्ण विद्वान् होकर सब प्राणियों का शीघ्र उपकार किया चाहे तो ब्रह्मच-र्याश्रम से ही संन्यास प्रहण करले ।

ब्रह्मस्थिरिष्ट्रितः वमेति ॥ छान्दो० प्रपा० २ । खं० २३ ॥ तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति । ब्रह्मचर्य्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाश-केन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रवाजिनो लोकमीप्सन्तः प्रविज्ञानित । एतद्ध सम वै तत्पूर्वे ब्राह्मणाः । श्रम्चाना विद्वारंसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति ते ह सम पुत्रेषणायाश्च वित्तेषणायाश्च लोकेषणायाश्च व्युन्त्यायाथ भित्ताचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रेषणा सा वित्तेषणा या वित्तेषणा सा लोकेषणो भे ह्येते एपणे एव भवतः ॥ श० कां० १४ । श्च० ७ । ह्या० २ । कं० २४ । २६ ॥

भाष्यम्

(ब्रह्मस ७ स्थ: ०) चतुर्थो ब्रह्मसंस्थः सन्न्यासी (श्रप्रतत्वं) एति प्रामोति । (तमेतं वेदा०) सर्व श्राश्रमिणो विशेषतः मन्न्यासिमतमेतं परमेश्वरं सर्वभृताधि-पति वेदानुवचनेन तद्ध्ययनेन तच्छ्वणेन तदुक्तानुष्टानेन च वेत्तुमिच्छन्ति । (ब्रह्मचर्घ्येण ०) ब्रह्मचर्घ्येण, तपसा धर्मानुष्ठानेन, श्रद्धयाऽत्यन्तभेम्णा, यज्ञेन नाशरिहतेन विज्ञानेन धर्मिकियाकाएडेन चैतं परमेश्वरं विदित्वैव मुनिर्भवति । प्रवाजिनः सन्न्यासिन एनं यथोक्नं लोकं द्रष्टव्यं परमेश्वरमेवेप्सन्तः प्रवजन्ति सन्न्यासाश्रमं गृह्णन्ति । (एतद् ब्रह्म०) य एतादिन्छन्तः सन्तः, पूर्वे अत्युत्तमा, ब्राह्मणो ब्रह्मविदो,ऽनूचाना निश्शङ्काः पूर्णज्ञानिनोऽन्येपां शङ्कानिवारका विद्यांसः प्रजां गृहाश्रमं न कामयन्ते नेच्छन्ति, (ते इ स्म०) होति स्फुटे, स्मेति स्मये, ते प्रोत्फुल्लाः प्रकाशमाना वदन्ति वयं प्रजया किं करिष्यामः, किमपि नेत्यर्थः । येषां नोऽस्माकमयमात्मा परमेश्वरः प्राप्यो, लोको दर्शनीयश्रास्ति । एवं ते (पुत्रेपणायाश्र) पुत्रोत्पादनेच्छायाः (वित्तेषणायाश्च) जद्दधनप्राप्त्यनुष्ठाने-च्छायाः (लोकेपगायारच) लोके स्वस्य प्रतिष्ठास्तुतिनिन्देच्छायाश्च (व्युत्त्था-य) विरज्य (भिद्याचर्यं च०) सन्न्यासाश्रमानुष्टानं कुर्वन्ति । यस्य पुत्रैपणा पुत्रप्राप्त्येषणेच्छा भवति तस्यावश्यं वित्तेषणापि भवति, यस्य वित्तेषणा तस्य निश्चयेन लोकेषणा भवतीति विज्ञायते । तथा यस्यैका लोकेपणा भवति तस्योभे पूर्वे पुत्रेषणालोकेषणे भवतः । यस्य च परमेश्वरमोत्तप्राप्त्येषणेच्छास्ति तस्यैता-तिस्रो निवर्त्तन्ते । नैव ब्रह्मानन्दवित्तेन तुल्यं लोकवित्तं कदाचिद् भवितुमईति । यस्य परमेश्वरे प्रतिष्ठास्ति तस्यान्याः सर्वाः प्रतिष्ठा नैव रुचिता भवन्ति । सर्वा-न्मनुष्याननुगृह्णन् सर्वदा सत्योपदेशेन सुखयति, तस्य केवलं परोपकारमात्रं सत्य-प्रवर्त्तनं प्रयोजनं भवतीति ।

भाषार्थ

(तमेतं०) जो कि वेद को पढ़ के परमेश्वर को जानने की इच्छा करते हैं, (ब्रह्मस १५२४:) वे संन्यासी लोग मोच्चमार्ग को प्राप्त होते हैं। तथा (ब्रह्म च०) जो सत्पुरुष ब्रह्मचर्य, धर्मानुष्ठान, श्रद्धायज्ञ और ज्ञान से परमेश्वर को जान के मुनि अर्थात् विचारशील होते हैं वे ही ब्रह्मलोक अर्थात् संन्यासियों के प्राप्तिस्थान को प्राप्त होने के लिये संन्यास लेते हैं। जो उन में उत्तम पूर्ण विद्वान हैं वे गृहाश्रम और वानप्रस्थ के विना ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यासी हो जाते हैं और उनके उपदेश से जो पुत्र होते हैं उन्हीं को सब से उत्तम मानकर (पुत्रेषणा) अर्थात् सन्तानोत्पित की इच्छा (वित्तेषणा) अर्थात् धन का लोभ (लोकेपणा) अर्थात् लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करना, इस तीन प्रकार की इच्छा को छोड़ के वे भिचाचरण करते हैं। अर्थात् सर्वगुरु सब के अतिथि होके विचरते हुए मंसार को अज्ञानरूपी अन्धकार से छुड़ा के सत्यविद्या के उपदेशरूप प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं।

प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजे-दिति शतपथे श्रुत्यच्तराणि ॥ यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्ध-सत्त्वः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्त-स्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भृतिकामः ॥ १॥ मुख्डकोपनि० मुख्डके ३। खं० १। मं० १०॥

भाष्यम्

(प्राजापत्या०) स च संन्यासी प्राजापत्यां परमेश्वरदेवताकामिष्टिं कृत्वा, हृद्ये सर्वमेतिश्वश्वित्य, तस्यां (सर्ववेदसं) शिखास्त्रादिकं हुत्वा, मुनिर्मनन-शीलः सन्, प्रव्रजति संन्यासं गृह्णाति । परन्त्वयं पूर्णविद्यावतां रागद्वेषरहितानां सर्वमनुष्योपकारवुद्धीनां संन्यासग्रहणाधिकारो भवति, नाल्पविद्यानामिति । तेषां संन्यासिनां प्राणापानहोमो, दोषेभ्य इन्द्रियाणां मनसश्च सदा निवर्त्तनं, सत्य-धर्मानुष्ठानं चैवाग्निहोत्रम् । किन्तु पूर्वेषां त्रयाणामेवाश्रमिणामनुष्ठातुं योग्यं, यद्या स्वित्रयामयमस्ति, संन्यासिनां तन्न । सत्योपदेश एव संन्यासिनां ब्रह्मयज्ञः । देवयज्ञो ब्रह्मोपासनम् । विज्ञानिनां प्रतिष्ठाकरणं पितृयज्ञः । स्वज्ञेभ्यो ज्ञानदानं, सर्वेषां भूतानामुपर्यनुग्रहोऽपीडनं च भूतयज्ञः । सर्वमनुष्योपकारार्थं अमणमामिन

मानशून्यता, सत्योपदेशकरणेन सर्वमनुष्याणां सत्कारानुष्ठानं चातिथियकः। एवंलचणाः पञ्चमहायक्षा विक्षानधर्मानुष्ठानमया भवन्तीति विक्षेयम्। परन्त्वेक-स्याबितीयस्य सर्वशक्तिमदादिविशेषणयुक्तस्य परब्रह्मण उपासना, सत्यधर्मानुष्ठानं च सर्वेषामाश्रमिणामेकमेव भवतीत्ययं विशेषः॥ (विश्रद्धस०) श्रुद्धान्तःकरणो मनुष्यः (यं यं लोकं मनसा) ध्यानेन (संविभाति) इच्छति, (कामयते यांश्र कामान्) यांश्र मनोरथानिच्छति, तं तं लोकं, तांश्च कामान् (जायते) प्राप्नोति। तस्मात् कारणाद् (भृतिकामः) ऐश्वर्यकामो मनुष्यः, (श्रात्मकं) श्राप्नोति। तस्मात् कारणाद् (भृतिकामः) ऐश्वर्यकामो मनुष्यः, (श्रात्मकं) श्रात्मानं परमेश्वरं जानाति तं संन्यासिनमेव मर्वदार्चयेत् सत्कुर्यात्। तस्यैव सङ्गेन सत्कारेण च मनुष्याणां सुखप्रदा लोकाः कामाश्च सिद्धा भवन्तीति। तद्भिन्नान् पिथ्योपदेशकान् स्वार्थसाधनतत्परान् पाखारिडनः कोपि नैवार्चयेत्। कृतः। तेषां सत्कारस्य निष्फलत्वादुःखफलत्वाचेति।

भाषार्ध

(प्राजापत्या०) श्रर्थात् इस इष्टि में शिक्षा स्त्रादि का होम कर के गृहस्थ श्राश्रम को छोड़ के विरक्ष होकर संन्यास प्रहण करें। (यं यं लोकं०) वह शुद्ध मन से जिस २ लोक श्रोर कामना की इच्छा करता है वे सब उस की सिद्ध हो जाती हैं। इसिलये जिस को ऐश्वर्य की इच्छा हो वह श्रात्मज्ञ श्रर्थात् ब्रह्मवेत्ता संन्यासी की सेवा करे। ये चारों श्राश्रम वेदों श्रोर युक्तियों से सिद्ध हैं। क्योंकि सब मनुष्यों को श्रपनी श्रायु का प्रथम भाग विद्या पढ़ने में व्यतीत करना चाहिये, श्रोर पूर्ण विद्या को पढ़ कर उससे संसार की उन्नति करने के लिये गृहाश्रम भी श्रवश्य करें, तथा विद्या श्रोर संसार के उपकार के लिये एकान्त में बैठकर सब जगत् का श्रियष्ठाता जो ईश्वर है उस का ज्ञान श्रच्छी प्रकार करें, श्रोर मनुष्यों को सब व्यवहारों का उपदेश करें, फिर उनके सब सन्देहों का छेदन श्रोर सत्य बातों के निश्चय कराने के लिये संन्यास श्राश्रम भी श्रवश्य प्रहण करें। क्योंकि इसके विना संपूर्ण पञ्चपात छूटना बहुत कठिन है।

इति वानप्रस्थविषयः संदोपतः

अथ पञ्चमहायज्ञविषयः संक्षेपतः

ये पश्चमहायज्ञाः मनुष्यैर्नित्यं कर्त्तव्याः सन्ति तेषां विधानं संत्तेषतोऽत्र लिखामः । तत्र ब्रह्मयज्ञस्यायं प्रकारः । साङ्गानां वेदादिशास्त्राणां सम्यगध्य-यनमध्यापनं सन्ध्योपासनं च सर्वेः कर्त्तव्यम् । तत्राध्ययनाध्यापनक्रमो यादृशः पठनपाठनविषय उक्रस्तादृशो प्राह्यः । सन्ध्योपासनविधिश्च पञ्चमहायज्ञविधाने यादृशः कर्त्तव्यः । तथाग्निहोत्रविधिश्च यादृशस्तत्रोक्रस्तादृश एव कर्त्तव्यः । श्रत्र ब्रह्मयज्ञाग्निहोत्रप्रमाणं लिख्यते ।

मिष्यानि दुवस्यत घृतैवीध्यतातिथिम्। श्राप्तिम् हृव्या जुहीतन ॥ १ ॥ य० अ० ३ । मं० १ ॥ अगिंन दूतं पुरोदेधे हृव्यवाहृतृषेत्रुवे देवाँ२॥ श्रास्तिद्यादिह् ॥ २ ॥ य० अ० २२ । मं० १७ ॥ मायं
सायं गृह्पति नीं श्राग्नः प्रातः प्रातः सीमन्स्य दाता । वसोर्वसोर्वसुदानं एधि व्यन्त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥ ३ ॥ प्रातः प्रातिर्धृपतिनीं श्राग्नः
मायं सीयं सीमन्स्य दाता । वसोर्वसोवसुदानं प्रधीन्धानास्तवा
श्रातिहमा ऋषेम ॥ ४ ॥ अथर्व० कां०१६ । श्रनु० ७ । सू० ४४ ।
मं०३ । ४ ॥

भाष्यम्

(सिमधारिन) हे मनुष्याः ! वाय्वोपिधवृष्टिजलशुद्ध्या परोपकाराय, (गृतैः) गृतादिभिश्शोधितैर्द्रव्यैः, सिमधा चातिथिमिन यूयं बोधयत, नित्यं प्रदीपयत । (त्रिस्मन्) अग्नौ (हव्या) होतुमहाणि पुष्टिमधुरसुगन्धरोगनाश-करेगुँणैर्युक्तानि सम्यक् शोधितानि द्रव्याणि (त्रा जुहोतन) आ समन्ताज्जुहुत । एवमिनहोत्रं नित्यं (दुवस्यत) परिचरत । अनेन कर्मणा सर्वोपकारं कुरुत ॥ १ ॥ (अर्गिन दृतं) अग्निहोत्रकर्त्तंविमच्छेदहं वायौ मेधमण्डले च भूतद्रव्यस्य प्रापणार्थमिनि दृतं भृत्यवत् (पुरोद्धे) सम्मुखतः स्थापये कथम्भूतमिनि ! (ह्व्यवाहं) हव्यं द्रव्यं देशान्तरं वहति प्रापयतीति हव्यवाद्, तं (उपञ्चवे) अन्यान् जिज्ञास्तन्त्रत्युपदिशानि । (देवान् २॥) सोग्निरेतद्गिनहोत्रकर्मणा देवान् दिव्यगुणान् वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारेहास्मिन् संसार आसाद्यादासमन्तान्त्रापयति । यद्वा हे परमेश्वर ! (द्तं) सर्वेभ्यः सत्योपदेशकं (आर्गिन)

श्राग्निसंज्ञकं त्वां (पुरोदधे) इष्टत्वेनोपास्यं मन्ये। तथा (इच्यवाइं) योग्यं शुभगुणमयं विज्ञानं इव्यं, तद् वहति प्रापयतीति तं त्वां (उपन्नुवे) उप-दिशानि । स मवान् क्रपया (इह) त्रास्मिन् संसारे (देवान्) दिव्यगुणान् (श्रासादयात्) त्रा समन्तात् प्रापयत् ॥ २ ॥ (नः) श्रस्माकमयं (श्रीग्नः) भौतिकः परमेश्वरश्च (गृश्पतिः) गृहात्मपालकः प्रातः सायं परिचरितः सपासि-तश्र (सौमनस्य दाता) त्रारोग्यस्यानन्दस्य च दातास्ति । तथा (वसोर्व०) उत्तमोत्तमपदार्थस्य च दातास्ति । श्रत एव परमेश्वरः (वसुदानः) इति नाम्ना-ख्यायते । हे परमेश्वरैवं भृतस्त्वमस्माकं राज्यादिव्यवहारे हृदये च (एधि) प्राप्तो भव । तथा भौतिकोप्यग्निरत्र ग्राह्यः । (वयन्त्वे०) हे परमेश्वर ! एवं (त्वा) त्वामिन्धानाः प्रकाशमाना वयं (तन्वं) शरीरं (पुषेम) पुष्टं कुर्य्याम । तथाग्नि-होत्रादिकर्मणा भौतिकमग्निमिन्धानाः प्रदीपयितारः सन्तः सर्वे वयं पुष्यामः ॥ ३ ॥ (प्रातः प्रातर्गृहपतिनी०) अस्यार्थः पूर्वविद्विज्ञेयः । अत्र विशेषस्त्वयम् । एवम-ग्निहात्रमीश्वरोपायनं च कुर्वन्तः सन्तः, (शतहिमाः०) शतं हिमा हेमन्तर्चवा गच्छन्ति येषु संवत्सरेषु ते शतिहमा यावत्स्युस्तावत् (ऋधेम) वर्धेमिह । एवं कृतेन कर्मणा नांऽस्माकं कदानिद्वानिर्न भवेदितीच्छामः ॥ ४ ॥ अग्निहोत्रकर-णार्थं ताम्रस्य मृत्तिकाया वैकां वेदिं सम्पाद्य, काष्ट्रस्य रजतसुवर्णयोवी चमस-माज्यस्थालीं च मंगृह्यः तत्र वेद्यां पलाजाम्रादिसमिधः संस्थान्याग्नि प्रज्वाल्य, तत्र पूर्वोक्कद्रव्यस्य प्रातःसायङ्कालयोः प्रातरेव वाक्कमन्त्रीनित्य होमं कुर्यात् ।

भाषार्थ

श्रव पव्चमहायज्ञ श्रर्थात जो कर्म मनुष्यों को नित्य करने चाहियें उनका विधान संदोप से लिखते हैं। उनमें से प्रथम एक ब्रह्मयज्ञ कहाता है, जिस में श्रङ्गों के सिहत वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना तथा सन्ध्योपासन श्रर्थात् प्रातःकाल श्रीर सायङ्काल में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना श्रीर उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये। इन में पठन पाठन की व्यवस्था तो जैसी पठन पाठन विषय में विस्तारपूर्वक कह श्राये हैं वहां देख लेना। तथा सन्ध्योपासन श्रीर श्राग्निहोत्र का विधान जैमा पठच-महायज्ञविधि पुस्तक में लिख चुके हैं वैसा जान लेना। श्रव श्रागे ब्रह्मयज्ञ श्रीर श्रिप्तिक का प्रमाण लिखते हैं, (सिमधार्मिं) हे मनुष्यो ! तुम लोग वायु, भोषि श्रीर वर्षाजल की शुद्धि से सब के उपकार के श्रर्थ घृतादि शुद्ध वस्तुश्री

श्रीर समिधा श्रशीत श्राम्र वा ढाक श्रादि काष्टों से श्रतिथिरूप श्रम्न को नित्य प्रकाशमान करो । फिर उस अग्नि में होम करने के योग्य पुष्ट, मधुर, सुगन्धित अर्थात् दुग्ध घृत, शर्करा गुड़, केशर कस्तूरी आदि और रोगनाशक जो सोमलता श्रादि सब प्रकार से शुद्ध द्रव्य हैं उनका श्रच्छी प्रकार नित्य श्राग्निहोत्र करके सब का उपकार करो ।। १ ।। (श्राग्नि दृतं०) श्राग्निहोत्र करने वाला मनुष्य ऐसी इच्छा करे कि मैं प्राणियों के उपकार करने वाले पदार्थों को पवन और मेघमण्डल में पहुं-चाने के लिये श्राग्न को सेवक की नाई श्रापने सामने स्थापन करता हूं। क्योंकि वह श्राग्नि हव्य अर्थात् होम करने के योग्य वस्तुश्रों को श्रन्य देश में पहुंचाने वाला है। इसी से उसका नाम हञ्यवाट् है। जो उस श्रग्निहोत्र को जानना चाहैं उनको में उपदेश करता हं कि वह अगिन उस आगिनहोत्र कर्म्स में पवन और वर्षाजल की शुद्धि से (इह) इस संसार में (देवान् २।।०) श्रेष्ठ गुर्गों को पहुंचाता है । दूसरा श्चर्य-हे सब प्राणियों को सत्य उपदेशकारक परमेश्वर ! जो कि श्चाप श्चानि नाम से प्रसिद्ध हैं, मैं इच्छापूर्वक आप को उपासना करने के योग्य मानता हूं। ऐसी **5**पा करो कि श्राप को जानने की इच्छा करने वालों के लिये भी मैं श्राप का शुभ-गुणयुक्त विशेषज्ञानदायक उपदेश करूं। तथा श्राप भी कृपा कर के इस संसार में श्रेष्ठ गुर्णों को पहुंचावें ।। २ ।। (सायं सायं०) प्रतिदिन प्रातःकाल श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त यह गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रत्तक भौतिक अग्नि और परमेश्वर, (सौमनस्य दा०) त्रारोग्य, त्रानन्द त्रौर वसु त्रर्थात् धन का देने वाला है। इसीसे परमेश्वर (वसुदानः) श्रर्थात् धनदाता प्रसिद्ध है । हे परमेश्वर ! श्राप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित रहो। यहां भौतिक आग्नि भी प्रहण करने के योग्य है। (वयं त्वे०) हे परमेश्वर ! जैसे पूर्वोक्त प्रकार से हम अप का मान करते हुए अपने शरीर से (पुषेम) पुष्ट होते हैं वैसे ही भौतिक श्राग्नि को भी प्रज्वालित करते हुए पुष्ट हों ।। ३ ।। (प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो०) इस मंत्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो । परन्तु इसमें इतना विशेष भी है कि अगिन-होत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतिहमाः) सौ हेमन्त ऋतु व्यतीत हो जाने पर्यन्त अर्थात् सौ वर्ष तक धनादि पदार्थी से (ऋधेम) वृद्धि को प्राप हों।। ४।। अपनिहोत्र करने के लिये, ताम्र वा मिट्टी की वेदी बना के काष्ठ, चांदी वा सोने का चमसा अर्थात् अग्नि में पदार्थ डालने का पात्र और आज्यस्थाली अर्थात् घृतादि पदार्थ रखने का पात्र लेके, उस वेदी में ढाक वा स्राम्न स्नादि वृत्तों की

समिधा स्थापन करके, श्राग्नि को प्रज्वित करके, पूर्वोक्त पदार्थों का प्रातःकाल श्रौर सायङ्काल श्रथवा प्रातःकाल ही नित्य होम करें।

अथाग्निहोत्रे होमकरणमन्त्राः

सूर्यो ज्योति ज्योतिः सूर्यः स्वाहां। सूर्यो वर्गे ज्योतिर्वर्नः स्वाहां। ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहां॥ मृजुर्देवेनं सिवत्रा मृजुरुषसेन्द्रेवत्या। जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहां॥ इति प्रातःकालमन्त्राः॥ स्वानि ज्योतिज्योतिर्गिनः स्वाहां॥ स्वानिवर्गे ज्योतिर्वर्गेः स्वाहां॥ स्वानिवर्गेतिरिति मन्त्रं मनसोचार्य तृतीयाहृतिर्देया॥ मृजुर्देवेनं सिवत्रा मृजरात्येन्द्रेवत्यः। जुषाणो स्वित्रा मृजरात्येन्द्रेवत्यः। जुषाणो स्वित्रा स्वाहां॥ य० स्र०३। मं०६। १०॥ इति सायङ्कालमन्त्राः।

भाष्यम्

(स्र्यों०) यश्रराचरात्मा, ज्योतियां प्रकाशकानां ज्योतिः प्रकाशकः, स्र्यः सर्वप्राणः परमेश्वरोस्ति तस्मै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनेन सर्वजगदुपका-रायैकाहुतिं द्वः ॥ १ ॥ (स्र्यों व०) यो वर्च्चः सर्वविदां, ज्योतियां ज्ञानवतां जीवानां, वर्षोऽन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा, सर्वात्मा स्र्यः परमेश्वगेस्ति तस्मै० ॥ २ ॥ (ज्योतिः स०) यः खयम्प्रकाशः सर्वजगत्प्रकाशकः स्र्यों जगदी-श्वरोस्ति तस्मै० ॥ ३ ॥ (सज्०) यो देवेन द्योतकेन सवित्रा स्र्य्येलोकेन जीवेन च सह, तथा (इन्द्रवत्या) स्र्य्यंप्रकाशवत्योपसाथवा जीववत्या मानस-वृत्या (सज्रः) सह वर्त्तमानः परमेश्वरोस्ति सः, (ज्ञपाणः) सम्प्रीत्या वर्त्तमानः सन्, (स्र्यः) सर्वात्मा कृपाकटाचेणाम्मान् वेतु विद्यादिसद्गुणेषु जातविज्ञानान् करोतु तस्मै० ॥ ४ ॥ इमा चतस्र श्राहुतीः प्रातरिनहोत्रे कुर्वन्ति ॥ श्रय सार्यकालाहुतयः । (श्रिग्निज्योतिः०) यो ज्ञानस्वरूपो, ज्योतियां ज्योतिरिग्नः परमेश्वरोस्ति तस्मै० ॥ १ ॥ (श्राग्नवंच्चों०) यः पूर्वोक्वोऽग्नः परमेश्वरोस्ति तस्मै० ॥ २ ॥ श्राग्नज्योतिरित्यनेनैव त्तीयाहुतिर्देया, तद्र्थश्च पूर्ववत् ॥ ३ ॥ (सज्दे०)यः पूर्वोक्वेन देवेन सवित्रा सह परमेश्वरः सज्रस्ति, यश्चेन्द्रवत्या वायुचन्द्र-

वत्या राज्या सह वर्त्तते सोग्निः, (ज्ञुषाणः) सम्प्रीतोऽस्मान् वेतु नित्यानन्दमोत्तसुखाय स्वकृपया कामयतु तस्मै जगदीश्वराय स्वाहेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥ एताभिः सायंका-लेग्निहोत्रिणो जुह्वति । एकस्मिन्काले सर्वाभिर्वा । (सर्वं वै०) हे जगदीश्वर ! यदिदमस्माभिः परोपकाराथ कर्म क्रियते तद्भवत्कृपयाऽलं मवत्विति हेतोरेतत्कर्म तुभ्यं समर्प्यते । तथैतरेयब्राह्मणे पञ्चमपञ्चिकायामेकत्रिंशत्तमायां कण्डिकायां च सायम्प्रातरग्निहोत्रमन्त्रा भूर्श्वः स्वरोमित्यादयो दर्शिताः ।

भाषार्थ

(सुर्यो ज्यो) जो चराचर का श्रात्मा प्रकाशस्वरूप श्रीर सूर्यादि प्रकाशक लोकों का भी प्रकाश करने वाला है उस की प्रसन्नता के लिये हम लोग होम करते हैं।। १।। (सूर्यो वर्ची०) सूर्य जो परमेश्वर है वह हम लोगों को सब विद्यार्घी का देनेवाला श्रौर हम से उनका प्रचार करानेवाला है, उसी के श्रनुप्रह से हम लोग अगिनहोत्र करते हैं ।। २ ।। (ज्योतिः सू०) जो आप प्रकाशमान और जगत् का प्रकाश करनेवाला सूर्य अर्थान् संसार का ईश्वर है उस की प्रसन्नता के अर्थ हम लोग होम करते हैं ।। ३ ।। (सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर सूर्य्यादि लोकों में न्याप्त. वायु श्रीर दिन के साथ संसार का परमहितकारक है वह हम लोगों को विदित होकर हमारे किये हुए होम को ग्रहण करे। इन चार आहुतियों से प्रातःकाल अग्निहोत्री लोग होम करते हैं ।। ४ ॥ श्रव सायंकाल की आहुति के मन्त्र कहते हैं –(श्राग्निज्यों०)। श्रग्नि जो ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर है उसकी श्राज्ञा से हम लोग परोपकार के लिये होम करते हैं। अौर उसका रचा हुआ यह भौतिक आग्नि इसलिये है कि वह उन द्रव्यों को परमाग़ुरूप कर के वायु खोर वर्षाजल के साथ मिला के शुद्ध करदे। जिससे सब संसार को सुख श्रौर श्रारोग्यता की वृद्धि हो।। १।। (श्राग्निर्वच्चीं०) श्राग्नि परमेश्वर वर्च्च श्रर्थात् सब विद्याद्यों का देनेवाला श्रीर भौतिक श्राग्नि श्रारो-ग्यता त्रौर बुद्धि का बढ़ानेवाला है। इसलिये हम लोग होम से परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं। यह दूसरी आहुति है। तीसरी मौन होके श्थम मन्त्र से करनी। और चौथी (सर्जूरेवेन०) जो ऋग्नि परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त, बायु श्रीर रात्रि के साथ संसार का परमाहितकारक है वह हम को विदित होकर हमारे किये हुए होम का महरा करे।

श्रथोभयोः कालयोरिनहोत्रे होमकरणार्थाः समानमन्त्राः । श्रोमभूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ १ ॥ श्रोमभुवर्वायवे अपानाय स्वाहा ॥ २ ॥ श्रों स्वरादित्त्याय व्यानाय स्वाहा ॥ ३ ॥ श्रोमभूर्भवः स्वर-गिनवाय्वःदित्त्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥ श्रोमापो ज्यो-तीरसोमृतं ब्रह्म भूर्भवः स्वरों स्वाहा ॥ ४ ॥ श्रों सर्वं वै पूर्ण अस्वाहा ॥ ६ ॥ इति सर्वे मन्त्रास्तैत्तिरीयोपनिषदाशयेनैकीकृताः ।

भाष्यम्

एषु मन्त्रेषु भूरित्यादीनि सर्वाणिश्वरस्य नामान्येव वेद्यानि । एषामर्था गायत्र्यर्थे द्रष्टव्याः । त्र्यन्ये परमेश्वरायः जलवायुशुद्धिकरणाय च, होत्रं हवनं, दानं, यिसमन् कर्मणि कियते तद्दिग्नहोत्रम् । ईश्वराज्ञापालनार्थं वा । सुगन्धिषु-ष्टिमिष्टवुद्धिवृद्धिशोर्ध्यर्थेवलरोगनाशकर्र्युणेर्युक्तानां द्रव्याणां होमकरणेन, वायु-वृष्टिजलयोः शुद्धचा, पृथिवीस्थपदार्थानां मर्वेपां शुद्धवायुजलयोगात् सर्वेपां जीवानां परमसुखं भवत्येव । त्र्यतस्तत्कर्मकर्त्यृणां जनानां तदुपकारेणात्यन्तसुखमीश्वरातु-ग्रह्श्व भवत्येतदाद्यर्थमग्निहोत्रकरणम् ।

भाषार्थ

इन मन्त्रों में जो भू: इत्यादि नाम हैं वे सब ईश्वर के ही जानो | गायती मन्त्र के अर्थ में इन के अर्थ कर दिये हैं। इस प्रकार प्रातःकाल और सायङ्काल सन्ध्योपासन के पीछे उक्त मन्त्रों में होम कर के अधिक होम करने की इच्छा हो तो स्वाहा शब्द अन्त में पढ़ कर गायत्री मन्त्र से करे। जिस कर्म में अपिन वा परमेश्वर के लिये, जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञापालन के अर्थ, होत्र हवन अर्थान् दान करते हैं उसे अपिनहोत्र कहते हैं। जो जो केशर, कम्तूरी आदि सुगन्धि, धृत दुग्ध आदि पुष्ट, गुड़ शर्करा आदि मिष्ट, बुद्धि बल तथा धैर्य्यवर्धक और रोगनाशक पदार्थ हैं उन का होम करने से पवन और वर्षाजल की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है उसी से सब जीवों को परमसुख होता है। इस कारण अग्निहोत्र करने वाले मनुष्यों को उस उपकार से अत्यन्त सुख का लाभ होता है और ईश्वर उन पर अनुप्रह करता है। ऐसे २ लाभों के अर्थ अग्निहोत्र का करना अवश्य उचित है।

१ शिक्षाध्याये पञ्चमोऽनुवाकः।

अथ तृतीयः पितृयज्ञः

तस्य द्वौ भेदौ स्तः, एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च । तत्र येन कर्मणा विदुषो देवान्, ऋषीन्, पितृंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत्तर्पणम् । तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छाद्धं वेदितव्यम् । तत्र विद्वत्सु विद्यमानेष्वेत-त्कर्म संघट्यते नैव मृतकेषु । क्रतः । तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात्, तदर्थ-क्रतकर्मणः प्राप्त्यभाव इति व्यर्थतापत्तेश्च । तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत्कर्मोपदि-श्यते । सेव्यसेवकसन्निकर्षात्सर्वमेतत्कर्तुं शक्यत इति।तत्र सत्कर्त्तव्यास्त्रयः सन्ति । देवाः, ऋषयः पितरश्च । तत्र देवेषु प्रमाणम् ।

पुनन्तुं मा देवजनाः पुनन्तु मर्नमा धियः। पुनन्तु विश्वां भूतानि जात्रवेदः पुनिहि मां ॥ १ ॥ य० अ० १६ । मं० ३६ ॥ द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवावृतं च, सत्यमेव देवा अवृतं मनुष्या, इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति । स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्व वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् । तस्मात्ते यशो, यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति ॥ श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० १ । कं० ४, ४ ॥ विद्वाक्षसो हि देवाः॥ श० कां० १ । अ० ७ । व्रा० ३ । कं० १० ॥ अथार्षप्रमाणम् ॥ तं यृज्ञं बृहिण प्रौक्षनपुरुषं ज्ञातम्यतः । तेने देवा अयजन्त साध्या अर्षयश्च ये ॥ २ ॥ य० अ० ३१ । मं० ६ ॥ अथ यदेवानुब्रुवीत । तेनिष्म्य अर्णं जायते तद्वयेभ्य एतत् करोत्पृषीणां निधिगोप इति ह्यन्यानमाद्वः ॥ श० कां० १ । अ० ७ । ब्रा० २ । किण्डका ३ ॥ अथार्षेयं प्रष्टुणीते । अर्षभ्यश्चैवैनमेत्रदेवेभ्यक्ष निवेदयत्ययं महावीय्यों यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रष्टुणीते ॥ श० कां० १ । अ० ४ । ब्रा० २ । कं० ३ ॥

भाष्यम्

(जातवेदः) हे परमेश्वर! (मा) मां पुनीहि सर्वथा पवित्रं कुरु । भविष्ण्डा, भवदाज्ञापालिनो (देवजनाः) विद्वांसः, श्रेष्ठा ज्ञानिनो, विद्या-दानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं कुर्वन्तु। तथा (पुनन्तु मन०) भवद्त्त-विज्ञानेन भविष्ण्यकथ्यानेन वाऽस्माकं बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु। तथा

(पुनन्तु विश्वा भूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसारस्थानि भूतानि पुनन्तु भवत् इ-पया सुखानन्दयुक्तानि पवित्राणि भवन्तु ॥ (द्वयं वा ०) मनुष्याणां हाम्यां लच्चणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः । देवो मनुष्यश्रेति । तत्र (सत्यं चैवानृतं च) कारणे स्तः । (सत्यमेव०) यत्सत्यवचनं, सत्यमानं, सत्यकर्म तदेव देवा श्राश्रयन्ति । तथैवानृतवचनमनृतमानमनृतं कर्म चेति मनुष्याश्रेति । श्रतएव योऽनृतं त्यक्त्वा सत्यम्रुपैति स देवः पारगण्यते । यश्च सत्यं त्यक्त्वाऽनृतम्रुपैति स मजुष्यश्च । त्र्यतः सत्यमेव सर्वदा वदेन्मन्येत कुर्याच । यः सत्यव्रतो देवोस्ति स एव यशस्विनां मध्ये यशस्त्री भवति, तद्विपरीतो मनुष्यश्च । तस्मादत्र विद्वांस एव देवाः सन्ति ॥ तं यज्ञामिति मृष्टिविद्याविषये च्याख्यातः । (ऋथ यदेवा०) श्रथेत्यनन्तरं सर्वविद्यां पठित्वा यदनुवचनमध्यापनकमीनुष्ठानमास्त तद्दिकृत्यं विज्ञायते । तेनाध्ययनाध्यपनकर्माणैवर्षयः सेवनीया जायन्ते । यत्तेषां प्रियनाचरान्त तदेतत्तेभ्यः सेवाकृतृभ्य एव सुखकारी भवति । यः सर्वविद्याविद्भृत्वाऽध्यापयित तमेवानूचानशृपिमाहुः । (अथार्पेयं प्रवृ०) यो मनुष्यः पाठनं कर्म प्रवृणीते तदा-र्षेयं कर्म कथ्यते । य ऋषिभ्यो देवेभ्यो विद्यार्थिभ्यश्व प्रियं वस्तु निवेद्यित्वा नित्यं विद्यामधीते, स विद्यान् महावीय्यों भृत्वा, यज्ञं विज्ञानाख्यं (प्रापत्) प्राप्नोति । तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वेर्मनुष्यैः स्वीकार्य्यम् ।

भावार्थ

श्रव तिसरा पितृयज्ञ कहते हैं। उसके दो भेद हैं। एक तर्पण श्रीर दूसरा श्राद्ध। उन में से जिस कर्म करके विद्वान रूप देव, ऋषि श्रीर पितरों को सुखयुक्त करते हैं सो तर्पण कहाता है। तथा जो उन लोगों की श्रद्धापृर्वक सेवा करना है उसी को श्राद्ध जानना चाहिये। यह तर्पण श्रादि कर्म विद्यमान श्रश्वांत् जीते हुए जो प्रत्यच्च हैं उन्हीं में घटता है मरे हुश्रों में नहीं। क्योंकि मृतकों का प्रत्यच्च होना श्रसम्भव है। इसलिये उनकी सेवा नहीं होसकर्ता। तथा जो उनके लिये कोई पदार्थ दिया चाहे वह भी उन को नहीं मिल सकता। इससे केवल विद्यमानों की ही श्रद्धा-पूर्वक सेवा करने का नाम तर्पण श्रीर श्राद्ध वेदों में कहा है क्योंकि सेवा करने योग्य श्रीर सेवा करने वाले इन दोनों ही के प्रत्यच्च होने से यह सब काम हो सकता हैं दूसरे प्रकार से नहीं। सो तर्पण श्रादि कर्म से सत्कार करने योग्य तीन हैं देव, ऋषि श्रीर पितर। देवों में प्रमाण (पुनन्तु०)। हे जातवेद परमेश्वर! श्राप सब प्रकार

से मुक्ते पवित्र कीजिये और जो आपके उपासक आपकी आज्ञा पालते हैं अथवा जो कि विद्वान ज्ञानी पुरुष कहाते हैं वे मुक्त को विद्यादान से पवित्र करें श्रीर श्राप के दिये विशेष ज्ञान वा ऋाप के विषय के ध्यान से हमारी बुद्धियां पवित्र हों। तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) सव संसारी जीव त्र्यापकी कृपा से पवित्र होकर त्र्यानन्द में रहें। (द्वयं वा०) दो लच्चणों के पाये जाने से मनुष्यों की दो संज्ञा होती हैं। अर्थात् एक देव और दूसरी मनुष्य। उन में भेद होने के सत्य और भूठ दो कारण हैं। (सत्यमेव) जो कोई सत्यभाषण, सत्यस्वीकार ऋौर सत्यकर्म करते हैं वे देव तथा जो भूंठ बोलते, भूंठ मानते त्रौर भूंठ कर्म करते हैं वे मनुष्य कहाते हैं। इसिलये भूंठ को छोड़कर सत्य को प्राप्त होना सब को उचित है | इस कारण से बुद्धिमान लोग निरन्तर सत्य ही कहें, मानें श्रौर करें। क्योंकि सत्यत्रत श्राचरण करनेवाले जो देव हैं वे तो कीर्त्तिमानों में भी कीर्त्तिमान होके सदा त्र्यानन्द में रहते हैं । परन्तु उनसे विपरीत चलनेवाले मनुष्य दुःख को प्राप्त होकर सब दिन पीड़ित ही रहते हैं। इससे सत्यधारी विद्वान् ही देव कहाते हैं। (तं यज्ञं) इस मन्त्र का व्याख्यान सृष्टिविद्या विषय में कर दिया है। (श्रथ यदेवा०) जो सब विद्याश्रों को पढ़ के श्रीरों को पढ़ाना है यह ऋषिकर्म कहाता है। श्रीर उससे जितना कि मनुष्यों पर ऋषियों का ऋण हो उस सब की निवृत्ति उन की सेवा करने से होती है। इस से जो नित्य विद्यादान, प्रहण श्रौर सेवाकर्म करना है वही परस्पर श्रानन्दकारक है श्रौर यही व्यवहार (निधिगोप०) श्रर्थान् विद्याकोष का रत्तक है। (श्रथार्पेयं प्रवृ०) विद्या पढ़ के सबों को पढ़ानेवाले ऋषियों त्र्यौर देवों की प्रिय पदार्थों से सेवा करने वाला विद्वान् बहु पराक्रमयुक्त होकर विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है। इससे ऋषिंय ऋर्षात् ऋषिकर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें।।

अथ पितृषु प्रमाणम्

ज्ज्जी वहन्तीरमृतं घृतं पर्यः क्रीलालं परिस्नुतेम् । स्वधास्थे तृपेयेत मे पितृन् ॥१॥ यज्ज० श्र० २ । मं० ३४॥ श्रायेन्तु नः पितर्रः मोम्यासीअग्निष्वात्ताः पृथिभिर्देवयानैः । श्रुस्मिन् युज्ञे स्वधया मदन्तोअधिव्रवन्तु तेअवन्त्वस्मान् ॥२॥ य० श्र० १६ । मं० ५८॥

भाष्यम्

(ऊर्जं वइन्ती ०) सर्वे मनुष्याः सर्वान् प्रत्येवं जानीयुश्चाक्कापेयुः (मे

पितृन्) मम पितृपितामहादीनाचार्यादींश्च सर्वे यूयं तर्पयत, सेवया प्रसन्नान् कुरुतेति । तथा (स्वधास्य) सत्यविद्यामिक्तस्वपदार्थधारिणो भवत । केन केन पदार्थेन ते सेवनीयास्तानाह (ऊर्ज०) पराक्रमं प्रापिकाः सुगान्धिताः प्रिया हृद्या अपः, (श्रमृतं) श्रमृतात्मक्रमनेकविधं रसं, (पृतं) श्राज्यं, (पयः) दुग्धं, (कीलालं) संस्कारैः सम्पादितमनेकविधमकं, (परिचुतम्) माचिकं मधु कालपकं फलादिकं च निवेद्य पितृन् प्रसन्नान् कुर्यात् । १ ॥ ये (सोम्यासः) सोमगुणाः शान्ताः, सोमवल्ल्यादिरसानिष्पादने चतुगः (श्राग्नष्वात्ताः) श्राग्नः परमेश्वरोऽभ्युद्याय सुष्ठुतयाऽऽत्तो गृहीतो येस्ते पितरो विद्यानवन्तः पालकाः सन्ति (श्रायन्तु नः) ते अस्मत्यमीपमागच्छन्तु । वयं च तत्सामीप्यं नित्यं गच्छेम । (पथिभिर्देव०)तान् विद्वन्मार्गेर्दृष्टिपथमागतान् दृष्ट्राऽभ्युन्थाय, हे पितरो! भवन्त श्रायन्त्वत्युक्ता, प्रीत्याऽऽसनादिकं निवेद्य, नित्यं सत्कुर्याम । (श्रास्मन्०) हे पितरोऽस्मिन् सत्काररूपे यञ्जे (स्वध्या) श्रमृतरूपया सेवया (मदन्तो) हर्पन्तोऽस्मान् रिवतारः सन्तः सत्यविद्यामिधेब्रुवन्तूपदिशन्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ

(ऊर्ज़ वह०) पिता वा स्वामी श्रपने पुत्र, पौत्र, स्त्री श्रोर नौकरों को इस प्रकार श्राज्ञा देवें कि (तर्पयत मे०) जो २ हमारे मान्य पिता पितामहादि माता मातामहादि श्रोर श्राचार्य तथा इन से भिन्न भी विद्वान लोग जो श्रवस्था वा ज्ञान में बड़े श्रोर मान्य करने योग्य हैं तुम लोग उनकी (ऊर्जं०) उत्तम २ जल (श्रमृतं) रोग नाश करने वाले उत्तम श्रन्न (परिस्नुतं) सब प्रकार के उत्तम फलों के रस आदि पदार्थों से नित्य सेवा किया करो कि जिससे वे प्रसन्न होके तुम लोगों को सदा विद्या देते रहें। क्योंकि ऐसा करने से तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहोगे। (स्वधास्थ०) श्रोर ऐसा विनय सदा रक्लो कि हे पूर्वोंक पितर लोगो ! श्राप हमारे श्रमृतरूप पदार्थों के भोगों से तृप्त हूजिये श्रीर हम लोग जो २ पदार्थ श्राप लोगों की इच्छा के श्रनुकूल निवेदन कर सकें उन २ की श्राज्ञा किया कीजिये। हम लोग मन, वचन श्रीर कर्म से श्राप के सुख करने में स्थित हैं श्राप किसी प्रकार का दुःख न पाइये। क्योंकि जैसे श्राप लोगों ने बाल्यावस्था श्रीर ब्रह्मचर्याश्रम में हम लोगों को सुख दिया है वैसे ही हम को भी श्राप लोगों का प्रत्युपकार करना श्रवश्य

चाहिये कि जिससे इम लोगों को कृतध्नता दोष न प्राप्त हो ॥ १ ॥ (आयन्तु नः) पितृ शब्द से सब के रच्चक श्रेष्ठस्वभाव वाले ज्ञानियों का प्रहण होता है। क्योंकि जैसी रज्ञा मनुष्यों की सुशिचा त्रौर विद्या से हो सकती हैं वैसी किसी दूसरे प्रकार से नहीं । इसलिये जो विद्वान् लोग मनुष्यों को ज्ञानचत्तु देकर उन के अविद्यारूपी अन्धकार के नाश करने वाले हैं उन को पितर कहते हैं। उन के सत्कार के लिये मनुष्यमात्र को ईश्वर की यह ऋाज्ञा है कि वे उन ऋाते हुए पितर लोगों को देखकर अध्युत्त्थान अर्थात् उठ के प्रीतिपूर्वक कहें कि आइये बैठिये कुछ जलपान कीजिये स्त्रीर खाने पीने की स्त्राज्ञा दीजिये। पश्चात् जो २ बातें उपदेश करने के योग्य हैं सो २ प्रीतिपूर्वक सममाइये कि जिससे हम लोग भी सत्यविद्यायुक्त होके सब मनुष्यों के पितर कहावें श्रौर सदा ऐसी प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर ! त्र्याप के त्र्यनुप्रह से (सोम्यासः) जो शीलस्वभाव त्र्यौर सब को सुख देने वाले विद्वान् लोग, (श्राग्निष्वात्ताः) श्राग्नि नाम परमेश्वर श्रौर रूप गुए। वाले भौतिक अभिन की अलग २ करने वाली विद्युत्रूप विद्या को यथावत् जाननेवाले हैं वे इस विद्या श्रीर सेवायज्ञ में (स्वधया मद्न्तः) श्रपनी शिच्चा विद्या के दान श्रौर प्रकाश से श्रत्यन्त हर्षित होके (श्रवन्त्वस्मान्) हमारी सदा रत्ना करें। तथा उन विद्यार्थियों श्रीर सेवकों के लिये भी ईश्वर की ऋगज्ञा है कि जब २ वे ऋगवें वा जावें तब २ उन को उत्तथान नमस्कार श्रीर प्रियवचन श्रादि से सन्तुष्ट रक्खें। तथा फिर वे लोग भी श्रपने सत्यभापण से निर्वेरता श्रोर श्रनुप्रह श्रादि सद्गुणों से युक्त होकर श्रन्य मनुष्यों को उसी मार्ग में चलावें ऋौर ऋाप भी दृढ़ता के साथ उसी में चलें। ऐसे सब लोग छल ऋौर लोभादि रहित होकर परोपकार के ऋथे अपना सत्यन्यवहार रक्खें। (पथिभिर्देव-यानै:) उक्त भेद से विद्वानों के दो मार्ग होते हैं एक देवयान और दृसरा पितृयान । अर्थात् जो विद्यामार्ग है वह देवयान अ्रोर जो कर्मोपासना मार्ग है वह पितृयान कहाता है। सब लोग इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थ को सदा करते रहें।

श्रत्रं पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम् । अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत ॥ ३ ॥ नमी वः पितरो रसाय नमी वः पितरः शोषाय नमी वः पितरो जीवाय नमी वः पितरः स्वधायै। नमी वः पितरो धोराय नमी वः पितरो मन्यवे नमी वः पितरः पितरो नमों वः। गृहान्नः पितरो दत्त मृतोवः पितरो देष्मै तद्रः पितरो वामः।। ४॥ आर्थत्त पितरो गभी कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसंत्।।। ४॥ य० अ०२। मं० ३१। ३२। ३३॥

भाष्यम्

(ऋत्र पितरो०) हे पितरोऽत्रास्यां सभायां पाटशालायां वाऽस्मान् विद्या-विज्ञानदानेनानन्दयुक्तान् कुरुत्। (यथाभाग०) भजनीयं स्वं स्वं विद्यारूपं भागं (आवृषायध्वं) विद्वद्वतस्वीकृत्य (अमीमदन्त) अस्मिन् सत्योपदेशे विद्यादान-कर्माणि हर्षेण सदोत्साइवन्तो भवत । (यथाभागमा०) तथा यथायोग्यं सत्कारं प्राप्य श्रेष्ठाचारेण प्रसन्ताः सन्तो विचरत ॥ ३ ॥ (नमो वः) हे पितरः ! रसाय सोमलतादिरसविज्ञानानन्दग्रहणाय, (नमो वः पितरः) शोपायाग्निवायु-विद्याप्राप्तये, (नमो वः पितरो जी०) जीवनार्थ विद्याजीविकाप्राप्तये, (नमो वः धितरः स्व०) मोच्चविद्याप्राप्तये, (नमो वः०) त्रापत्कालानिवारणाय, (नमो वः०) दुष्टानाम्चपरि क्रोधधारणायः क्रोधस्य निवारणाय च, (नमो वः पितरः०) सर्वविद्याप्राप्तये च युष्मभ्यं वारं वारं नमोस्तु । (गृहानः) हे पितरो ! गृहान् गृहसम्बन्धिन्यवहारवोधान्नोऽस्मम्यं यूयं दत्त । (सतोवः०) हे पितरो ! येऽस्मा-कमधिकारे विद्यमानाः पदार्थाः सन्ति तान् वयं वो युष्मभ्यं (देष्मः) दबो यतो वयं कदाचिद्धवद्भयो विद्यां प्राप्य चीए। न भवेम । (एतद्वः पितरः) हे पितरोsस्माभिर्यद्वासो वस्त्रादिकं वस्तु युष्मभ्यं दीयते एतच्यं प्रीत्या गृह्णीत ॥ ४ ॥ (आधत्त पितरो ०) हे पितरो ! यूयं मनुष्येषु विद्यागर्भमाधत्त धारयत । तथा विद्यादानार्थं (पुष्करस्रजं) पुष्पमालाधारिएं कुमारं ब्रह्मचारिएं यूयं धारयत । (यथेइ०) येन प्रकारेणोहास्मिन् संसारे विद्यासुशिचायुक्तः पुरुपोऽसत्स्यात् । येन च मनुष्येषुत्तमविद्यासितिर्भवेत्तर्थेव प्रयतध्वम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ

(श्रत्र पितरों मा०) है पितर लोगों ! आप यहां हमारे स्थान में श्रानन्द कीजिये। (यथाभागमान्नु०) श्रपनी इच्छा के श्रनुकूल भोजन वस्नादि भोग से श्रानन्दित हूजिये। (श्रमीमदन्त पितरः०) श्राप यहां विद्या के प्रचार से सब को श्रानन्द्युक्त कीजिये। (यथाभागमा०) हम लोगों से यथायोग्य सत्कार को प्राप्त होकर श्रपनी प्रसन्नता के प्रकाश से हम को भी श्रानन्दित कीजिये।। ३॥

(नमी वः) हे पितर लोगो ! हम लोग श्राप को नमस्कार करते हैं इसिलये कि श्राप के द्वारा हम को रस अर्थात विद्यानन्द, श्रोषधि श्रौर जल विद्या का यथावत् ज्ञान हो । तथा (नमो वः०) शोष अर्थात् अग्नि अौर वायु की विद्या कि जिससे त्रोषि त्रौर जल सूख जाते हैं उस के बोध होने के लिये भी हम श्राप को नमस्कार करते हैं। (नमो वः० हे पितर लोगो ! श्राप की सत्य-शिचा से हम लोग प्रमादरहित श्रीर जितोन्द्रय होके पूर्ण उम्र को भोगें । इस-लिये हम आप को नमस्कार करते हैं। (नमो व:०) हे विद्वान लोगो ! अमृ-तरूप मोच्न विद्या की प्राप्ति के लिये हम श्राप को नमस्कार करते हैं। (नमो वः०) हे पितरो ! घोर विपत् अर्थात् अपत्काल में निर्वाह करने की विद्याओं को जानने की इच्छा से दुःखों के पार उतरने के लिये हम लोग आप की सेवा करते हैं। (नमो वः०) हे पितरो ! दुष्ट जीव श्रौर दुष्ट कर्मों पर नित्य श्रप्रीति करने की विद्या सीखने के ालीये हम आप को नमस्कार करते हैं। (नमो वः०) हम श्राप लोगों को वारंवार नमस्कार इसलिये करते हैं कि गृहाश्रम श्रादि करने के लिये जो २ विद्या अवश्य हैं सो २ सब आप लोग हम को देवें। (सतो वः०) हे पितर लोगो ! श्राप सब गुर्णो श्रीर सब संसारी सुखों के देने वाले हैं इसलिये हम लोग श्राप को उत्तम २ पदार्थ देते हैं इन को श्राप प्रीति से लीजिये। तथा प्रतिष्ठा के लिये उत्तम २ वस्त्र भी देते हैं इन को आप धारण कीजिये और प्रसन्न होके सब सुख के ऋर्थ संसार में सत्यविद्या का प्रचार कीजिये ।। ४ ।। (ऋाधत्त पितरो०) हे विद्या के देने वाले पितर लोगो ! इस कुमार ब्रह्मचारी की गर्भ के समान रज्ञा कर के उत्तम विद्या दीजिये कि जिस से वह विद्वान हो के (पुष्करस्न०) जैसे पुष्पों की माला धारण कर के मनुष्य शोभा को प्राप्त होता है वैसे ही यह भी विद्या पाकर सुन्दरतायुक्त होवे। (यथेह पुरुषोऽसत्) श्रर्थात् जिस प्रकार इस संसार में मनुष्यों की विद्यादि सद्गुणों से उत्तम कीर्त्ति श्रौर सब मनुष्यों को सुख प्राप्त हो सके वैसा ही प्रयत्न श्राप लोग सदा कीजिये । यह ईश्वर की श्राज्ञा विद्वानों के प्रति है। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि इस का पालन सदा करते रहें।। १।।

ये संमानाः समेनसो जिवा जीवेषु मामकाः । तेषां श्रीमीये कल्पतामुस्मिँक्लोके शत्रक्षसमीः ॥ ६ ॥ य० त्र० १६ । मं० ४६ ॥ वदीरतामवेर उत्परीस उन्मेध्यमाः पितरीः सोम्यासीः । श्रसुं य ई्युरी- वृका ऋताज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ७ ॥ ऋक्षिरसो नः पितरो नवेग्वा ऋर्थर्वाणो भृगेवः मोम्यासः । तेषां व्यथं सुमृतौ एज्ञियोना-मिष भृद्रे सौमनसे स्याम ॥ ८ ॥ य० अ० १६ । मं० ४६ । ४० ॥ यै समानाः समेनसः पितरी यमराज्ये । तेषां लोकः स्वधा नमी यज्ञो देवेषुं कल्पताम् ॥ ६ ॥ य० अ० १९ । मं० ४५ ॥

भाष्यम्

(ये समानाः) ये मामका मदीया श्राचार्य्यादयः (जीवाः) विद्यमानजी-वनाः, (समनसः) धर्मेश्वरसर्वमनुष्यहितकरणैकनिष्ठाः, (समानाः) धर्मेश्वरस-त्यविद्यादिशुभगुणेषु समानत्वेन वर्त्तमानाः (जीवेषु) उपदेश्येषु ।शिष्येषु सत्य-विद्यादानाय बलादिदोषराहित्येन वर्त्तमाना विद्वांसः सन्ति, (तेषां०) विदुषां या श्रीः सत्यविद्यादिगुणात्या शोभास्ति, (त्र्यस्मिँद्वोके शतं०) सामियकी लच्मीः शतवर्षपर्यन्तं (कल्पतां) स्थिरा भवतु, यतो वयं नित्यं सुखिनः स्याम ॥ ६ ॥ (उदीरतामवरे०) ये पितरोऽवकृष्टगुणाः, (उत्परासः) उत्कृष्टगुणाः, (उन्मध्यमाः) मध्यस्थगुणाः, (सोम्यासः) सोम्यगुणाः, (अवृकाः) अजात-शत्रवः, (ऋतज्ञाः) ब्रह्मविद्ो वेदविदश्च, ते ज्ञानिनः पितरो, इवेषु देयग्राद्यव्यव-हारेषु, विज्ञानदानेन (नोऽवन्तु) अस्मान् सदा रचन्तु । तथा (असुं य ईयुः) येऽसुं प्राणमीयुः प्राप्नुयुरथीद् द्वाम्यां जन्मभ्यां विद्वांसो भूत्वा विद्यमानजीवना-स्स्युस्त एव सर्वैः सेवनीया, नव पृताश्चेति । कुतः । तेषां देशान्तरप्राप्त्या सिन-कर्षाभावात्ते सेवाग्रहणेऽसमर्थाः सेवितुमशक्याश्च ॥ ७॥ (ऋङ्गिरसो नः) येऽङ्गेषु रसभूतस्य प्राणाख्यस्य परमेश्वरस्य ज्ञातारः, (नवग्वाः) सर्वासु विद्या-स्तमकर्मसु च नवीना गतयो येषां ते, (अथर्वाणः) अथर्ववेदविदो धनुर्वेदवि-दश्च, (भृगवः) परिपक्वज्ञानाः शुद्धाः, (सोम्यासः) शान्ताः सन्ति, (तेषां वय ७ सुमतौ) वयं तेषां यज्ञानां (यज्ञियानां १) यज्ञादिसत्कर्मसु कुञलानाम्, अपीति निश्चयेन, सुमतौ विद्यादिशुभगुणग्रहणे, (भद्रे) कल्याणकरे व्यवहारे, (सौमनसे) यत्र विद्यानन्दयुक्तं मनो भवति तस्मिन्, (स्याम) अर्थोद्भवतां सकाशादुपदेशं गृहीत्वा धर्मार्थकाममोत्तप्राप्ता भवेम ।। 🖛 ।। (ये समानाः) (समनसः) अनयोरर्थ युक्रः, ये (यमराज्ये) राजसभायां न्यायाधीशत्वेनाधि-कृताः (पितरः) विद्यांसः सन्ति, (तेषां लोकः) यो न्यायदर्शनं स्वधा अपृता- त्मको लोको भवतीति, (यज्ञो०) यश्च प्रजापालनाख्यो राजधर्मव्यवद्दारो देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धोस्ति, सोऽस्माकं मध्ये (कल्पतां) समर्थतां, प्रसिद्धो भवतु । य एवं सत्यन्यायकारिणः सन्ति तेभ्यो (नमः) नमोस्तु । अर्थोद्ये सत्यन्याया-धीशास्ते सदैवास्माकं मध्ये तिष्ठन्तु ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(ये समानाः) जो श्राचार्य्य (जीवाः) जीते हुए, (समनसः) धर्म ईश्वर श्रौर सर्विहित करने में उद्यत, (समानाः) सत्यिवद्यादि शुभगुणों के प्रचार में ठीक २ विचार और (जीवेषु) उपदेश करने योग्य शिष्यों में सर्व विद्यादान के लिये छल-कपटादिदोषरहित होकर प्रीति करनेवाले विद्वान् हैं (तेषां) उन की जो श्री ऋर्थान् सत्यविद्यादिश्रेष्ठगुण्युक्त शोभा श्रौर राजलद्मी है सो मेरे लिये (श्रिस्मिल्लोके शतं समा:) इस लोक में १०० (सौ) वर्ष पर्ध्यन्त स्थिर रहे, जिस से हम लोग नित्य सुखसंयुक्त होके पुरुपार्थ करते रहें ॥ ६ ॥ (उदीरताम०) जो विद्वान लोग (श्रवरे) किनष्ठ, (उन्मध्यमाः) मध्यम श्रौर (उत्परासः) उत्तम, (पितरः सोम्यासः) चन्द्रमा के समान सब प्रजाओं को श्रानन्द करानेवाले, (श्रमुं य ईयु:) प्राण्वि-द्यानिधान (त्रप्रकाः) रात्रुरहित अर्थात् सत्र के प्रिय पत्तपात छोड़ के सत्यमार्ग में चलनेवाले, तथा (ऋतज्ञाः) जो कि ऋत श्रर्थात् ब्रह्म, यथार्थ धर्म श्रीर सत्य विद्या के जानने वाले हैं (ते नोऽवन्तु पितरो इवेषु) वे पितर लोग युद्धादि व्यवहारों में इमारे साथ होके त्र्यथवा उन की विद्या देके हमारी रत्ता करें ।। ७ ।। (त्र्यङ्गिरसो नः) जो ब्रह्माएडभर के पृथिव्यादि सब श्रङ्गों की मर्मविद्या के जाननेवाले, (नवग्वाः) नवीन २ विद्यात्रों के प्रहण करने और करानेवाले, (श्रथवीणः) अथर्ववेद श्रार धनुर्वेदिवद्या में चतुर तथा दुष्ट शत्रु और दोषों के निवारण करने में प्रवीण, (भगवः) परिपक्वज्ञानी त्र्यौर तेजस्वी, (सोम्यास:) जो परमेश्वर की उपायना ऋौर ऋपनी विद्या के गुणों में शान्तस्वरूप, (तेषां वय क्ष सुमतौ०) तथा यज्ञ के जानने श्रौर करनेवाले (पितरः) पितर हैं तथा जिस कल्याणकारक विद्या से उन की सुमित, (भद्रे) कल्याण और (सौमनसे) मन की शुद्धि होती है उसमें (श्रापिस्याम) हम लोग भी स्थिर हों कि जिसके बोध से व्यवहार श्रौर परमार्थ के सुखों को प्राप्त हों के सदा आनिन्दित रहें ।। ८ ।। (ये समा०) जो पितर आर्थात् विद्वान् लोग यमराज्य ऋर्थात् परमेश्वर के इस राज्य में सभासद् वा न्यायाधीश हो के न्याय करने

वाले और (समनसः पितरः) सब सृष्टि के हित करने में समानबुद्धि हैं, (तेषां लोकः स्वधा०) जिन का लोक अर्थात् देश सत्यन्याय को प्राप्त हो के सुखी रहता हैं (नमः) उन को हम लोग नमस्कार करते हैं। क्योंकि वे पत्तपातराहित होके सत्य व्यवस्था में चल के अपने दृष्टान्त से औरों को भी उसी मार्ग में चलाने वाले हैं। (यज्ञो देवेषु कल्पतां) यह सत्यधर्मसम्बन्धी प्रजापालनरूप जो अश्वमेध यज्ञ है सो परमात्मा की कृपा से विद्वानों के बीच में सत्य व्यवस्था की उन्नति के लिये सदा समर्थ अर्थात् प्रकाशमान बना रहे।

ये नः पूर्वे पितरंः मोम्यासोऽनृहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः। तेभि-र्यमः संकरराणो ह्वीकंष्युशञ्चशद्भिः प्रतिकाममेत्तु ॥ १० ॥ बहिषदः पितर क्रिश्चर्वाग्रिमा वो हव्या चेक्रमा जुषध्वम्। त श्राग्नतावेमा शन्ते-मेनार्था न शंयोररपो देघात ॥ ११ ॥ श्राहं पितृन्तम् विद्ञां२॥ श्रवि-तिम नपति चं विक्रमणं च विष्णोः। बर्हिषदो ये स्वध्या मुतस्य भर्जन्त पित्वस्त इहार्गमिष्ठाः ॥ १२ ॥ य० श्र० १६ । मं० ५१ । ४४ । ४६ ॥

भाष्यम्

(ये) (सोम्यासः) सोमविद्यासम्पादिनः, (विसष्ठाः) सर्वविद्याद्युत्तमगुणेष्वितशयेन रममाणाः। (सोमपीथं) सोमविद्यारचणं (अनूहिरे), पूर्वं सर्वा
विद्याः पठित्वाऽध्याप्य तांस्ता अनुशापयन्ति, ते (नः पूर्वे पितरः) येऽस्माकं पूर्वे
पितरः सन्ति, (तेभिः) तैः (उशद्भिः) परमेश्वरं धर्मं च कामयमानैः पिनृिमः
सहः समागमेनैव, (स७रराणः) सत्यविद्यायाः सम्यग्दानकर्ता (यमः) सत्यविद्याव्यवस्थापकः परमेश्वरो विदितो भवति। किं कुर्वन् ? (इवी७पि०) विज्ञानादीन्युशन् सर्वेभ्यो दातुं कामयन् सन्। अतः सर्वो जन एवमाचरन् सन्
(प्रतिकाममत्तु) सर्वान् कामान्प्राप्नोतु॥ १०॥ (बिद्धंषदः) ये बिद्धंषि सर्वोत्तमे
ब्रह्माणि विद्यायां च निष्णणास्ते (पितरः) विद्यांसः, (अवसा शन्तमेन) अतिशयेन कल्याणरूपेण रचणेन सहः वर्त्तमानाः, (आगत) अस्माकं समीपमागच्छन्तु। आगतान् तान्प्रत्येवं वयं ब्र्महे। हे विद्यांसः! यूयमागत्य (अर्वाक्)
पश्चात् (इमा) इमानि इच्यानि ग्राह्यदेयानि वस्तुनि (ज्ञप्यं) सम्प्रीत्या सेवध्वम्। हे पितरः! वयं (ऊत्या) भवद्रचणेन वो युष्माकं सेवां (चकुम) नित्यं

कुर्याम । (त्रया नः शं०) त्रयेति सेवाप्राप्तेरनन्तरं, यूयं नोऽस्माकं शंयोर्विक्षान-रूपं सुखं दधात । किन्त्वविद्यारूपं पापं द्रिकृत्य (श्ररपः) निष्पापतां दधात । येन वयमपि निष्पापा भवेमेति ॥ ११ ॥ (त्र्याहं पितृन्सुविदत्रां०) ये विद्यादः, स्वधयाऽन्नेन सुतस्य सोमवल्यादिभ्यो निष्पादितस्य रसस्य प्राशनं (भजन्ते) सेवन्ते, (पित्वः) तत्पानं कृत्वा (त इहाग०) त्र्यास्मन्तसिन्निहितदेशे ते पितर आगच्छन्तु । य ईदशाः पितरः सन्ति तान् विद्यादिश्रभगुणानां दानकृत्नहं (श्रा अवित्ति) श्रा समन्तादेशि । अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदामिडभावश्च । तान् विदित्वा, सङ्गम्य च, (विष्णोः) सर्वत्रव्यापकस्य परमेश्वरस्य (विक्रमणं च) विविधक्रमेण जगद्रचनं तथा (नपातं च) न विद्यते पातो विनाशो यस्य तन्मोन् चाख्यं पदं च वेशि । यत्प्राप्य मुक्रानां सद्यः पातो न विद्यते । तदेतच्च विदुषां सङ्गेनेव प्राप्तं भवति । तस्मात्सर्वविदुणां समागमः सदा कर्त्तव्य इति ॥ १२ ॥

भाषार्थ

(ये न: पूर्व पितर:) जो कि हमारे पूर्व पितर श्रर्थात् पिता पितामह श्रीर श्रध्यापक लोग शान्तात्मा तथा (श्रनृहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः) जो सोमपान के करने कराने और वसिष्ठ त्रर्थात सब विद्या में रमण करने वाले हैं (तेभिर्यमः सक्षर) ऐसे महात्मार्क्यों के साथ समागम करके विद्या होने से यम अर्थात् न्यायकारी अन्तर्यामी परमेश्वर निस्सन्देह जाना जाता है। (हवि:) जो सत्यभिक श्रादि पदार्थों की कामना श्रीर (उशाद्धेः प्रतिका०) सब कामों के बीच में सत्यसेवन करने वाले तथा जिनका आधारभूत परमेश्वर ही है। हे मनुष्य लोगो ! ऐसे धर्मात्मा पुरुषों के सत्सङ्ग से तुम भी उसी परमात्मा के त्रानन्द से तृप्त हो । इस में निरुक्तकार का प्रमाण श्र० ११। खं• १६। निरुक्त में लिखा है (श्रङ्गिरसो नवगतय इत्यादि) वहां देख लेना ।। १०।। (वर्हिषद: पि०) जो ब्रह्म और सत्यविद्या में स्थित पितर लोग हैं वे हमारी रचा के लिये सदा तत्पर रहें। इस प्रकार से कि हम लोग तो उनकी सेवा करें और वे लोग हमको प्रीतिपूर्वक विद्यादि दान से प्रसन्न कर देवें। (त आगतावसा०) हे पितर लोगो ! हम काङ्चा करते हैं कि जब २ आप हमारे वा हम आप के पास श्रावें जावें तब २ (इमा हव्या०) हम लोग उत्तम २ पदार्थी से श्राप लोगों की सेवा करें और त्राप लोग भी उनको प्रीतिपूर्वक प्रहण करें। (त्रावृ०) त्रार्थात् हम लोग तो श्रन्नादि पदार्थों से श्रीर श्राप लोग (शन्त०) हमारे कल्याणकारी गुणों के

उपदेश से (अथानः शंयो०) इस के पीछे हमारे कल्याण के विधान से (अरपः) अर्थात् जिससे हम लोग पाप न करें ऐसी बातों का धारण कराइये ।। ११ ।। (आहं पितृन्०) मैं जानता हूं कि पितर लोग अपनी उत्तम विद्या और अपने उपदेश से सुख देने वाले हैं। (नपातं च विक्रमणं च विष्णोः) जो मैं सब में व्यापक परमेश्वर का विक्रमण अर्थात् सृष्टि का रचन और नपात अर्थात् उसके अविनाशी पद को भी (आ) (श्रवित्सि) ठीक २ जानता हूं। (बर्हिपदो ये०) यह ज्ञान सुभ को उन्हीं पितर लोगों की छपा से हुआ है जिनको देवयान कहते हैं। और जिसकी प्राप्ति से जीव पुनर्दुःख में कभी नहीं गिरता। तथा जिस में पूर्ण सुख प्राप्त होता है। उन दोनों मार्गों को भी मैं विद्वानों के ही सङ्ग से जानता हूं। (स्वधा०) जो विद्वान् अपने अमृतरूप उपदेश से पुत्र की भावना के साथ विद्या- दान करते हैं, तथा उस में आप भी (पित्वः) आनान्दित होकर संसार में सब सुखों के देने वाले होते हैं वे सर्वहितकारी पुरुष हमारे पास भी सदा आया करें कि जिससे हम लोगों में नित्य ज्ञान की उन्नित हुआ करे।। १२।।

उपहृताः पितरः मोम्यासे बर्हिष्णेषु नि। घषु प्रियेषु । त आगंमनतु त हु श्रुवंन्त्वि ध्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ १३ ॥ अग्निष्वात्ताः पितर् एह गंच्छत् सदंः सदः सदत सुप्रणीतयः । अत्ता ह्वी- छेषि प्रयंतानि ब्रिष्टियथां र्यिछंसंविवीरं द्धातन ॥ १४ ॥ ये अग्निष्वात्ता ये अन्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वध्यां माद्यंन्ते । तेभ्यः स्वराडस्नितिमेतां यंथा वशन्तुन्वङ्करूपयाति ॥ १४ ॥ य० अ० १६ । मं० ४७ । ४६ । ६० ॥

माष्यम्

(सोम्यासः) ये प्रतिष्ठाहीः पितरस्ते (बर्हिष्येषु) प्रकृष्टेषु (निधिषु) उत्तमवस्तुस्थापनार्हेषु (प्रियेषु) प्रीत्युत्पादकेषु आसनेषु (उपहृताः) निमन्त्रताः सन्तः सीदन्तु, (आगमन्तु) सत्कारं प्राप्यास्मत्समीपं वारंवारमागच्छन्तु, (त इह) त इहागत्यास्मत्प्रश्नान् (श्रुवन्तु) शृ्णवन्तु, श्रुत्वा तदुत्तराणि (अधिन्नुवन्तु) कथयन्तु। एवं विद्यादानेन व्यवहारोपदेशेन च (तेऽवन्त्वस्मान्) सदाऽस्मान् रचन्तु॥ १३॥ (आग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत) हे पूर्वोक्ना आग्निष्वात्ताः पितरः ! अस्मत्सिक्यों प्रीत्या आगच्छत। आगस्य (सप्रणीतयः)

शोभना प्रकृष्टा नीतिर्येषां त एवम्भूता भवन्तः पूज्याः सन्तः (सदः सदः सदत) प्रतिग्रहं प्रतिसभां चोपदेशार्थं स्थितिं अमणं च कुरुत । (श्रता हवी छाषि) प्रय-त्नयुक्तानि कर्माणि, देययोग्यान्युत्तमान्नानि वा यूयं स्वीकुरुत । (बर्हिण्यथा०) अयोत्यनन्तरं, बर्हिषि सदासि गृहे वा स्थित्वा (रियध्यसर्ववीरं) सर्वैवीरियुक्तं विद्यादिषनं यूयं द्धातन । यतोऽस्मासु बुद्धिशरीरवलयुक्ता वीराः स्थिराः भवेयुः, सत्यविद्याकाशश्रश्र ॥ १४ ॥ (ये आग्निष्वात्ता०) ये आग्निविद्यायुक्ताः, (अन-ग्निष्वाताः) ये वायुजलभूगर्भादिविद्यानिष्टाः, (मध्ये दिवः) द्योतनात्मकस्य परमेश्वरस्य सिद्धद्याप्रकाशस्य च मध्ये (स्वध्या) अन्निविद्यया शरीरबुद्धिवल-धारणेन च (मादयन्ते) आनित्वता भृत्वा, अस्मान्सर्वान् जनानानन्दयन्ति, (तेम्यः) तेम्यो विद्वन्त्रयो वयं नित्यं सिद्ध्यां तथा (असुनीतिमेतां)सत्यन्याय-युक्तामेतां प्रायानीतिं च गृह्वीयाम। (यथा वशं) ते विद्वांसो वयं च विद्याविज्ञान-प्राप्ता सर्वोपकारेषु नियमेषु स्वतन्त्राः (१), प्रत्येकप्रियेषु च परतन्त्रा (१) भवन्तु यतः। (स्वराद्) स्वयं राजते प्रकाशते, स्वान् राजयित प्रकाशयित वा स स्वराद परमेश्वरः, (तन्व कल्पयाति) तनुं विद्वन्द्वरीरमस्मदर्थं कृपया कल्पयाति, कल्पयतु, निष्पादयतु । यतोऽस्माकं मध्ये वहवो विद्वांसो भवेयुः॥ १५ ॥

भाषार्थ

(उपहूताः पितरः) उन पितरों को हम लोग निमन्त्रण देते हैं कि वे हमारे समीप आके (बर्हिष्येषु) उत्तम आसनों पर बैठकर जो कि वहुमूल्य और सुनने में श्रिय हों हमको उपदेश करें। (त आगमन्तु०) जब वे पितर आवें तब सब लोग उन का इस प्रकार से सन्मान करें कि आप आइये, उत्तम आसन पर बैठिये, (इह श्रुवन्तु) यहां हमारी विद्या की बातें और प्रश्न सुनिये, (अधिब्रुवन्तु) इन प्रश्नों के उत्तर दीजिये और मनुष्यों को ज्ञान देके उनकी रच्चा कीजिये॥ १३॥ (आगि-ष्वात्ताः पितर एह०) हे आग्निविद्या के जानने वाले पितर लोगो ! आप उपदेशक होकर हमारे घरों में आकर उपदेश और निवास कीजिये। फिर वे पितर कैसे होने चाहियें कि (सप्रणीतयः) उत्तम २ गुण्युक्त होके (बर्हिष०) सभा के बीच में सत्य २ न्याय करने हारे हों। तथा (हिवः) वे ही दान और प्रहण के योग्य विद्यादि गुणों का दान और प्रहण कराने वाले हों। (रियश्न सर्ववीरं दधातन) विद्यादि जो उत्तम धन है कि जिस से वीरपुरुष युक्त सेना की प्राप्ति होती है उसके उपदेश

से हम को पुष्ट करें। ऐसे ही उन विद्वानों के प्रति भी ईश्वर का यह उपदेश हैं कि वे लोग देश २ और घर २ में जाके सब मनुष्यों को सत्यविद्या का उपदेश करें ॥१४॥ (ये अग्निप्वात्ता ये अनिप्रिष्वात्ताः) जो पितर अग्निविद्या और सोमविद्या के जानने वाले तथा (मध्ये दिवः स्वध्या मादयन्ते) जो कि दिव अर्थात् विज्ञानरूप प्रकाश के बीच में सुख्यभोग से आनिन्दत रहते हैं (ते भ्यः स्वराडसु०) उन के हितार्थ स्वराट् जो स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर है वह (असुनीतिम्) अर्थात् प्राण्वाच्या का प्रकाश कर देता है। इमलिये हम प्रार्थना करते हैं कि (यथाव-शन्तन्वं कल्पयाति) हे परमेश्वर ! आप अपनी कृपा से उन के शरीर सदा सुखी तेजस्वी और रोगरहित रिवये कि जिससे हम को उन के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता रहे॥ १४॥

श्रुग्निष्वात्तारंतुमती हवामहे नाराश्रु क्षेसे सीमप्रीथं य श्राशुः। ते नो विप्रांसः सुहवां भवन्तु व्य र स्यां म पत्रेयो र्ष्यीणाम् ॥ १६ ॥ ये चेह पितरो ये च नेह यांश्चं विद्य यांशा उं च न प्रविद्य। त्वं वेत्थ्र यित ते जातवेदः स्वधाभिर्ण्यक्ष्यः सुकृतं जीपस्य ॥ १७ ॥ इदं पितुभ्यो नमी अस्त्वय ये पूर्वीसो य उ परास ईयुः। ये पार्थिवे रजस्या निषंता येवां नुन १८ सुवृजनां सु वित्तु ॥ १८ ॥ प० अ० १६ ॥ मं० ६१ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

भाष्यम्

(ऋगिनव्वात्ता॰) हे मनुष्याः ! यथा वयं, ऋतुविद्यावतोऽर्थाद्यथासमयप्रुद्योगकारिगोऽगिनष्वात्ताः पितरः सन्ति तान्, (हवामहे) ऋाह्वयामहे तथैव
युष्माभिरपि तत्सेवनायाह्वानं नित्यं कार्य्यम् । (सोमपीथं य ऋाशुः) ये
सोमपानमरनन्ति, ये च (नाराशक्षसे) नरैः प्रशस्येऽनुष्ठातव्ये कर्मणि कुशलाः
सन्ति, (ते नो विप्रासः) ते विप्रा मेघाविनो, नोऽस्मान् (सुहवा॰) सुष्ठुतया
ग्रहीतारो भवन्तु । (सोमपीथं०) ये सोमविद्यादानग्रह्गाम्यां तृप्ताः, एषां संगेन
(वयक्षस्याम पतयो०) सत्यविद्याचक्रवर्त्तराज्यश्रीणां पतयः पालकाः स्वामिनो
भवेम ॥ १६ ॥ (ये चेह पितरो०) ये पितरो विद्वांस इहास्मत्सिन्नधौ वर्त्तन्ते,
ये चेहास्मत्समन्ते न सन्त्यर्थादेशान्तरे तिष्ठन्ति, (यांश्व विद्व) यान् वयं जानीमः,
(यां२॥ उचन०) दूरदेशस्थित्या यांश्व वयं न जानीमस्तान् सर्वान्, हे

(जातवेदः) परमेश्वर ! (त्वं वेत्त्य) त्वं यथावज्जानास्यतो भवान् तेषामस्माकं च सङ्गं निष्पादय। (खघा०) योऽस्माभिस्सुकृतः सम्यगनुष्ठितो यज्ञोस्ति, त्वं स्वधाभिरक्नाद्याभिः सामग्रीभिः सम्पादितं यज्ञं सदा ज्ञषस्व, सेवस्व। येना-स्माक्तमभ्युद्यनिःश्रेयसकरं क्रियाकाएडं सम्यक् सिध्येत्। (यति ते) ये यावन्तः परोज्ञा विद्यमाना विद्यांसः सन्ति तानस्मान्प्रापय ॥ १७ ॥ (इदं पितृभ्यः) ये पितरोऽद्येदानीमस्मत्समीपेऽध्ययनाध्यापने कर्मणि वर्त्तन्ते, (पूर्वासः) पूर्वमधीत्य विद्यांसः सन्ति, (ये पार्थिवे रज्ञासे) ये पृथिवीसम्बन्धि-भूगर्भविद्यायां (ब्रानिपत्ता) द्या समन्तान्निष्एणाः सन्ति, (ये चानूनश्रसु०) ये च सुष्ठुवलयुक्रासु प्रजासभाध्यज्ञाः सभासदो भूत्वा न्यायाधीशत्वादिकर्मणेऽधिकृताः सन्ति, ते चास्मानीयुः प्राप्नुयुः। इत्यं भूतेभ्यः पितृभ्योऽस्माकमिदं सततं नमोस्तु ॥ १८ ॥

भाषार्थ

(त्राग्निष्वात्तानृतुमतो०) हे मनुष्य लोगो ! जैसे इम लोग त्राग्निविद्या त्र्रौर समयविद्या के जानने वाले पितरों को मान्य से बुलाते हैं वैसे ही तुम लोग भी **उन के पास जाते श्रौर उन को श्र**पने पास सदा बुलाते रहो जिससे तुम्हारी सव दिन विद्या बढ़ती रहे ।। (नाराश छसे सोमपीयं य श्राशुः) जो सोमलतादि श्रोष-धियों के रसपान तथा रच्चा से सनुष्यों को श्रेष्ठ करने वाले हैं उन से हम लोग सत्यशिचा लेके त्रानिद्त हों। (ते नो विप्राः सहवा०) वे विद्वान् लोग हम को सत्यविद्या का प्रहरण प्रीतिपूर्वक सदा कराते रहें। (वय अस्याम पतयो रयी णाम्०) जिससे कि हम लोग सुविद्या से चकवर्ति राज्य की श्री श्रादि उत्तम पदार्थों को प्राप्त तथा उन की रचा और उन्नति करने में भी समर्थ हों।। १६।। (ये चेह पितरो०) हे जातवेद परमेश्वर ! जो पितर लोग हमारे समीप श्रौर दृर देश में हैं, (यांश्च विद्य) जिन को समीप होने से हम लोग जानते श्रौर (यां २।। उचन प्रविद्म) जिन को दूर होने के कारण नहीं भी जानते हैं, (यति ते०) जो इस संसार के बीच में वर्त्तमान हैं (त्वं वेत्थ) उन सब को श्राप यथावत् जानते हैं, कृपा कर के उन का ऋौर हमारा परस्पर सम्बन्ध सदा के लिये कीजिये। (स्वधाभिर्यक्क छंसुकृतं) श्रीर त्राप श्रपनी धारणादि शक्तियों से व्यवहार श्रीर परमार्थरूप श्रेष्ठ यज्ञों को प्रीति-पूर्वक सेवन कीजिये कि जिससे हम लोगों को सब सुख प्राप्त होते रहें ।। १७॥ (इदं

पितृभ्यो न०) हम लोग उन सब पितरों को नमस्कार करते हैं (अद्य पूर्वासो य उ परास ईयु:) जो कि प्रथम आप विद्वान् होके हम लोगों को भी विद्या देते हैं । अथवा जो कि विरक्त और संन्यासी होके सर्वत्र विचरते हुए उपदेश करते हैं । तथा (ये पार्थिव रजस्या निषत्ताः) जो कि पार्थिव अर्थात् भूगभविद्या और सूर्यादि लोकों के जानने वाले हैं । तथा (ये वा नून असु०) जो कि निश्चय करके प्रजाओं के हित में उदात और उत्तम सेनाओं के बीच में बड़े चतुर हैं उन सभों को हम लोग नमस्कार करते हैं इसलिय कि वे सब दिन हमारी उन्नति करते रहें ।। १८ ।।

ष्ट्रशन्तेस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि । प्रश्नुश्चित त्रावेह पितृन्द्दिविषे अस्तेवे ॥ १६ ॥ य० अ० १६ । मं० ७० ॥ पितृभ्येः स्वधायिभ्येः स्वधा नमेः। पितामहेभ्येः स्वधायिभ्येः स्वधा नमः। प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्येः स्वधायिभ्येः स्वधा नमेः । अस्तेन पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धेध्वम् ॥ २०॥ पुनन्तुं मा पितरः स्रोम्यासेः पुनन्तुं मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः प्रवित्रेण श्वतायुषा येषा । पुनन्तुं मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः प्रवित्रेण श्वतायुषा विश्वमायुर्व्धश्चित्रे ॥ २१॥ य० अ० १६ । मं० ३६ । ३७॥

भाष्यम्

(उशन्तस्त्वा निर्धामि) हे परमेश्वर ! वयं त्वां कामयमाना, इष्टत्वेन हृद्याकाशे, न्यायाधीशत्वेन राष्ट्रे, सदा स्थापयामः (उशन्तः समिधीमि) जगदीश्वर ! त्वां शृण्यन्तः श्रावयन्तः सम्यक् प्रकाशयेमि । कस्म प्रयोजनायेत्यत्राह । (हिविषे श्रात्वे०) सि ह्याग्रहणाय तेभ्यो धनाष्ट्रत्तमपदार्थदानायानन्द-भोगाय च (उश्रृ श्रुशत श्रावह पितृन्) सत्योपदेशविद्याकामयमानान् कामयमानस्संस्त्वमस्मानावहासमन्तात्प्रापय ॥ १६ ॥ (पितृभ्यः) स्वां स्वकीयाम्यानास्यां मोचिविद्यां कर्जुं शीलं येषां, तेभ्यो वसुसंक्षकेभ्यो विद्याप्रदातृभ्यो, जनकेभ्यश्व, (स्वधा) श्रकाष्ट्रत्तमवस्तु द्वः । ये च चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्यामधीत्याध्यापयन्ति ते वसुसंक्षकाः, (पितामहेभ्यः) ये चतुरचत्वारिंशहर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्यापरावारं प्राप्याध्यापयन्ति ते त्रसंविद्याच्यात्वारं प्राप्याध्यापयन्ति ते श्राद्याप्रयन्ति ते पितामहाः, (प्रिपतामहेभ्यः) येऽष्टाचत्वारिंशहर्षप्रमितेन ब्रह्मचर्येण विद्यापरावारं प्राप्याध्याप्रयन्ति त श्रादित्याख्या, श्रर्थात् सत्यविद्याद्योतकाः, (नमः) तेभ्योऽ-

स्माकं सततं नमोस्तु । (अन्नन् । पितरः) हे पितरो ! भवन्तोऽच्चक्रत्रेव भोजनाच्छादनादिकं कुर्वीरन् । अमीमदन्त पितर इति पूर्व व्याख्यातम् । (अतीतृपन्त पितरः) हे पितरोऽस्मत्सेवयाऽऽनिन्दिता भृत्वा तृप्ता भवत । (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितरो ! यूयग्रुपदेशेनाविद्यादिदोषविनाशादस्मान् शुन्धध्वं पवित्रान् कुरुत ॥ २० ॥ (पुनन्तु मा पितरः) भो पितरः ! पितामहाः ! प्रापितामहाश्च ! भवन्तो मां मनःकर्मवचनद्वारा वारंवारं पुनन्तु, पवित्रव्यवहार-कारिणं कुर्वन्तु । केन पुनिन्त्वत्याह, (पवित्रेण ०) पवित्रकर्मानुष्टानकरणोपदेशेन, (शतायुपा) शतवर्षपर्यन्तजीवनानिमित्तेन ब्रह्मचर्य्येण मां पुनन्तु । अग्रे पुनिन्त्विति कियात्रयं योजनीयम् । येनाहं (विश्वमायुर्व्यक्षये) सम्पूर्णमायुः प्राग्नुयाम् । अत्र पुरुषो वाव (प्र० ३ खं० १६) यज्ञ इत्याकारकेण छान्दोग्यो-पनिपत्प्रमाणेन विदुषां वसुरुद्रादित्यसंज्ञा वेदितव्याः ॥ २१ ॥

भाषार्थ

(उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे अप्र^न परमेश्वर ! हम लोग आपकी प्राप्ति की कामना करके आपको अपने हृदय में निहित अर्थात स्थापित और (उशन्त: सिम-धीमीह) श्राप का ही सर्वत्र प्रकाश करते रहें । (उशन्तुशत श्रावह पितृन्) हे भगवन् ! आप हमारे कल्याण के श्रर्थ पूर्वोक्त पितरों को नित्य प्राप्त कीजिये कि (हविषे अत्तवे) हम लोग उन की सेवा में विद्या लेने के लिये स्थिर रहें।। १६ ।। (पितभ्य: स्वधा०) जो चौवीस वर्ष ब्रह्मचर्ग्याश्रम से विद्या पढ़ के सब को पढ़ाते हैं उन पितरों को हमारा नमस्कार है । (पितामहेभ्यः ०) जो चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्घ्याश्रम से वेटादि विद्यार्थ्यों को पढ़ के सब के उपकारी और श्रमृतरूप ज्ञान के देने वाले होते हैं, (प्रपितामहेभ्य:०) जिन्होने ऋड़ताृ्लीस वर्ष पर्य्य-न्त जितेन्द्रियता के साथ संपूर्ण विद्यात्रों को पढ़ के हस्तकिया से भी सब विद्या के दृष्टान्त साज्ञात देख के दिखलाते श्रीर जो सब के सुखी होने के लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं उन का मान भी सब लोगों को करना उचित है। पितात्रों का नाम वसु है, क्योंकि वे सब विद्यात्रों में वास करने के लिये योग्य होते हैं । ऐसे ही पितामहों का नाम रुद्र है, क्योंकि वे वसुसंज्ञक पितरों से दृनी श्रथवा शतगुणी विद्या श्रीर बलवाले होते हैं, तथा प्रिपतामहों का नाम त्रादित्य है, क्योंकि व सब विद्यात्रों त्रीर सब गुणों में सुर्य के समान प्रकाशमान होके सब विद्या और लोगों को प्रकाशमान करते हैं। इन तीनों का नाम वसु, रुद्र श्रोर श्रादित्य इसलिये हैं कि वे किसी प्रकार की दुष्टता मनुष्यों में रहने नहीं देते । इस में (पुरुषो वावं यज्ञ ०) यह छान्दोग्य उपनिषद् का प्रमाण लिख दिया है सो देख लेना। (श्रज्ञन पितरः०) हे पितर लोगो ! तुम विद्यारूप यज्ञ को फैला के सुख भोगो, तथा (श्रमीमदन्त पितर:०) हमारी सेवा से ऋत्यन्त प्रसन्न रहो, (ऋतीतृपन्त पितरः) हमारी सेवा से तृप्र होकर हम को भी श्रानिन्दत श्रीर तुप्त करते रहो, तथा जिस पदार्थ को तुम चाहा श्रथवा हम श्राप की सेवा में भूलें तो आप लोग हम को शिक्षा करो। (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितर लोगों ! त्राप हम को धर्मीपदेश त्रीर सत्य विद्यात्रों से शुद्ध करें कि जिससे हम लोग श्राप के साथ मिल के सनातन परमात्मा की भक्ति श्रपनी शुद्धि के श्रयं प्रेम से करें ।। २० ।। (पुनन्तु मा पितरः) जो पितर लांग शान्तात्मा श्रौर दयालु हैं वे मुक्त को विद्यादान से पवित्र करें, (पुनन्तु मा पितामहाः) इसी प्रकार पिता-मह और प्रिपतामह भी मुक्तको श्रापनी उत्तम विद्या पढ़ा के पवित्र करें। इसिलिये कि उन की शिचा को सुन के ब्रह्मचर्घ्य धारण करने से सौ वर्ष पर्घ्यन्त आनन्दयुक्त उमर होती रहै। इस मन्त्र में दो वार पाठ केवल आदर के लिये है। इत्यादि श्चन्य मन्त्र भी इन्हीं विषयों के पुष्टिकारक हैं। उन सभों का द्रार्थ सर्वत्र इसी प्रकार से समभ लेना चाहिये। तथा जहां कहीं श्रमावास्या में पितृयज्ञ करना लिखा है वहां भी इसी श्रमिप्राय से हैं कि जो कदाचित् नित्य उन की सेवा न वन सके तो महीने २ त्र्यर्थात् त्र्यमावास्या में मासेष्टि होती है उस में उन लोगों को बुला के आश्य सत्कार करें।। २१॥

इति पितृयज्ञः समाप्तः

अथ बलिवैश्वदेवविधिर्लिख्यते

थ्नं पक्वमन्तारलवणं भवेत्तेनैव बालिवैश्वदेवकर्म कार्य्यम्। वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्ये अनी विधिपूर्वकम्। श्राधः कुर्यादेवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥१॥ मनुस्मृती श्र०३। श्लोकः ८४॥

अथ बलिवैश्वदेवकर्मणि प्रमाणम्

अहरहर्वितिमित्ते हर्न्तो अविये तिष्ठते घासमेग्ने । रायम्पेषिण् सिम्षा मर्दन्तो मा ते अग्ने प्रति वेशा रिषाम ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १६ । अनु० ७ । सू० ५५ । मं० ७ ॥ पुनन्तुं मा देवजनाः पुनन्तु मर्नमा धिर्यः । पुनन्तु विश्वां भूतानि जातेवेदः पुनिहि मा स्वाहा ॥ ॥ २ ॥ य० अ० १६ । मं० ३६ ॥

भाष्यम्

(त्राग्ने) हे परमेश्वर ! (ते) तुम्यं, त्वदाज्ञापालनार्थं, (इत्) एवं, (तिष्ठतेऽश्वाय) (घासं) यथाऽश्वस्याग्रे पुष्कलः पदार्थः स्थाप्यते, तथैव (इव) (श्रहरहः) नित्यं प्रति (बलिं) (हरन्तः) भौतिक मिन्नमितिथींशच बलीन् प्रापयन्तः, (सिमिषा) सम्यगिष्यते या सा सिमट् तया श्रद्धया (रायस्पोषेण) चक्रवर्त्तिराज्यलच्म्या (मदन्तः) हर्पन्तो वयं, (श्रग्ने) हे परमात्मन् ! (ते) तव (प्रतिवेशाः) प्रतिकृला भृत्वा सृष्टिस्थान् प्राणिनः (मारिषाम) मा पीड्येम । किन्तु भवत्कृपया सर्वे जीवा श्रस्माकं मित्राणि सन्तु, सर्वेषां च वयं सखायः स्म, इति ज्ञात्वा परस्परं नित्यग्रुपकारं कुर्य्याम ॥ १ ॥ (पुनन्तु मा०) श्रस्य मन्त्रस्यार्थस्तर्पणाविषय चक्नः ।

भाषार्थ

(श्राग्ने) हे परमेश्वर ! जैसे खाने योग्य पुष्कल पदार्थ घोड़ के श्रागे रखते हैं वैसे ही श्राप की श्राज्ञापालन के लिये, (श्रहरहः) प्रतिदिन मौतिक श्राप्ति में हमें करते, श्रौर श्रातिथियों को (बिलं) श्रार्थात् भोजन देते हुए हम लोग श्रच्छी प्रगर बांछित चक्रवर्ति राज्य की लक्ष्मी से श्रानन्द को प्राप्त होके (श्रप्ते) हे परमात्म ! (प्रति वेशाः) श्रापकी श्राज्ञा से उलटे होके श्राप के उत्पन्न किये हुए प्राणि को (मा रिपाम) श्रन्याय से दुःख कभी न देवें । किन्तु श्रापकी कृपा से सक्जीव हमारे मित्र श्रौर हम सब जीवों के मित्र रहें । ऐसा जानकर परस्पर उपक सदा करते रहें ॥ १ ॥ (पुनन्तु मा०) इस मन्त्र का श्रथ तर्पणविषय में कह दिया है ॥ २ ॥

^{*} स्वाहेति पदं मंत्रे नास्ति।

श्रोमग्नये स्वाहा ॥ श्रों सोमाय स्वाहा ॥ श्रोमग्नीषोभाभ्यां स्वाहा ॥ श्रों विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ श्रों धन्वन्तरये न्वाहा ॥ श्रों कुह्नै म्वाहा ॥ श्रोमनुमत्ये स्वाहा ॥ श्रों प्रजापतये स्वाहा ॥ श्रों सह यावाप्रथिवीभ्याध स्वाहा ॥ श्रों स्विष्टकृते स्वाहा ॥

भाष्यम्

(श्रोम०) अग्न्यर्थ उक्तः । (श्रों सो०) सर्वानन्द्प्रदो, यः सर्वजगदुत्पा-दक ईश्वरः सोऽत्र प्राह्यः । (श्रों मग्नी०) प्राणापानाम्यामनयोरथों गायत्रीमन्त्रार्थ उक्तः । (श्रों वि०) विश्वे देवा विश्वप्रकाशका ईश्वरगुणाः, सर्वे विवासो वा । (श्रों ध०) सर्वरोगनाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते । (श्रों कु०) दर्शेष्टचर्थोऽयमारम्भः, श्रमावास्येष्टिप्रतिपादितायै चितिशक्तये वा । (श्रोम०) पौर्णमास्येष्टचर्थोयमारम्भः, विद्यापठनानन्तरं मितर्मननं ज्ञानं यस्याश्रितिशक्तेः साऽनुमितर्वा तस्ये । (श्रों प्र०) सर्वजगतः स्वामी रचक ईश्वरः । (श्रों सह०) ईश्वरेण प्रकृष्टगुणः सहोत्पादिताभ्यामग्निभूमिभ्यां सर्वोपकारा प्राह्याः । एतदर्थोयमारम्भः । (श्रों स्वष्ट०) यः सुष्ठ शोभनिमष्टं मुखं करोति स चेश्वरः । एतिर्मन्त्रेहोंमं कृत्वाऽथ वित्रदानं कुर्य्यात् ।

भाषार्थ

(श्रोम०) श्राग्ति शब्द का श्रार्थ पिछे कह त्राये हैं, (श्रों सो०) त्रार्थात् सब पदार्थों को उत्पन्न, पृष्ट करने श्रोर सुख देनेवाला, (श्रोम०) जो सब प्राणियों के नीवन का हेतु प्राण तथा जो दुःखनाश का हेतु श्रपान, (श्रों वि०) संसार के फाश करने वाले ईश्वर के गुण श्रथवा विद्वान् लोग, (श्रों ध०) जन्ममरणादि रोगें का नाश करनेवाला परमात्मा, (श्रों छ०) श्रमावास्येष्टि का करना, (श्रोम०) पौष्मास्येष्टि वा सर्वशास्त्रप्रतिपादित परमेश्वर की चितिशक्ति, (श्रों प्र०) सब जगः का स्वामी जगदीश्वर, (श्रों स०) सत्यविद्या के प्रकाश के लिये पृथिवी का राज्यश्रीर श्राग्नि तथा भूमि से श्रनेक उपकारों का प्रहण, (श्रों स्वि०) इष्ट सुख का कनेवाला परमेश्वर इन दश मन्त्रों के श्रयों से ये १० प्रयोजन जान लेना। श्रव श्रागे कीदान के मन्त्र लिखते हैं।

भ सानुगायेन्द्राय नमः ॥१॥ श्रों सानुगाय यमाय नमः ॥२॥ श्रों साजाय वरुणाय नमः ॥३॥ श्रों सानुगाय सोमाय नमः ॥४॥ श्रों मरुद्भयो नमः ॥ ४ ॥ श्रोमद्भयो नमः ॥ ६ ॥ श्रों वनस्पातिभ्यो नमः ॥ ७ ॥ श्रों श्रियै नमः ॥ ८ ॥ श्रों भद्रकाल्यै नमः ॥ ६ ॥ श्रों ब्रह्मपतये नमः ॥ १० ॥ श्रों वान्तुपतये नमः ॥ ११ ॥ श्रों विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥ १२ ॥ श्रों दिवाचरेभ्यो भृतेभ्यो नमः ॥ १३ ॥ श्रों नक्तंचारिभ्यो नमः ॥ १४ ॥ श्रों सर्वात्मभृतये नमः ॥ १४ ॥ श्रों पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥ १६ ॥ इति नित्यश्राद्धम् ।

भाष्यम्

(ऋों सा ०) णमप्रह्वत्वे शब्दे इत्यनेन सित्त्रियापुरस्सराविचारेण मनु-ष्याणां यथार्थं विज्ञानं भवतीति वेद्यम् । नित्येर्गुणैः सह वर्त्तमानः परमैशव-र्य्यवानीश्वरोऽत्र गृह्यते । (त्र्रों सानु०) पच्चपातरिहतो न्यायकारित्वादि-गुणयुक्तः परमात्माऽत्र वेद्यः । (त्र्यों सा०) विद्याद्युत्तमगुणविशिष्टः सर्वोत्तमः परमेखरोऽत्र ग्रहीतव्यः। (ऋों सानुगाय०) अस्यार्थ उक्तः। (ऋों म०) य ईश्वराधारेण सकलं विश्वं धारयन्ति चेष्टयन्ति च ते मरुतः । (श्रोम०) श्रस्यार्थः शत्रो देवीरित्यत्रोक्तः । (ऋां वन०) वनानां लोकानां पतय ईश्वरोक्ष वायुमेघादयः पदार्था अत्र ग्राह्याः, यद्वोत्तमगुणयोगेनेश्वरेणोत्पादितेभ्यो महावृत्तेभ्यश्चोपकारग्र-इणं सदा कार्यमिति बोध्यम् । (ऋों श्रि०) श्रीयते सेव्यते सर्वर्जनैस्सा श्रीरीश्वरः सर्वसुखशोभावत्त्वात्, यद्धेश्वरेगोत्पादिता विश्वशोभा च। (श्रां भ०) या भद्रं कल्याणं सुखं कलयति सा भद्रकालीश्वरशाक्तिः । (श्रोम्ब०) ब्रह्मणः सर्वशास्त्र-विद्यायुक्तस्य वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा पतिरीश्वरः । (श्रों वास्तु०) वसन्ति सर्वाणि भृतानि यस्मिस्तद्वास्त्वाकाशं तत्पतिरीश्वरः । (ऋों वि०) श्रस्यार्थ उक्नः। (ऋों दिवा॰) (ऋों नक्तं॰) ईश्वरक्रपयैंवं भवेत्रः दिवसे यानि भूतानि विचर-न्ति रात्रौ च तानि विघ्न मा कुर्वन्तु, तैः सहाविरोधोऽस्तुनः, एतद्रथीयमारम्भः। (ऋों स॰) सर्वेषां जीवात्मनां भृतिभेवनं सत्तरवरोत्र ग्राह्यः। (ऋों पि॰) अस्यार्थ उक्नः पितृतर्पणे । नम इत्यस्य निरिभमानद्योतनार्थः परस्योत्कृष्टतामन्य-इापनार्थश्चारम्भः।

भाषार्थ

(ऋों सानु०) सर्वैश्वर्ययुक्त परमेश्वर ऋोर उसके गुण, (ऋों सा०) सम न्याय

^{*} ईश्वरोत्पादिता इति इस्ति लिल सूमिकायाम्

करनेवाला त्रीर उस की सृष्टि में सत्य न्याय के करनेवाले सभासद्, (त्र्यों सा०) सब से उत्तम परमात्मा श्रीर उसके धार्मिक भक्त जन, (श्रों सा०) पुरुयात्माश्रों को श्रानन्द करानेवाला परमात्मा श्रीर वे लोग, (श्रीं मरुत्०) श्रर्थात् प्राण् जिन के रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है उनकी रचा करना, (श्रोमद्भ्यो०) इसका ऋर्थ शक्नोदेवी इस मन्त्र में लिख दिया है, (ऋों व०) ईश्वर के उत्पन्न किये हुए वायु और मेघ श्रादि सब के पालन के हेतू सब पदार्थ तथा जिन से श्राधिक वर्षा श्रीर जिनके फलों से जगन का उपकार होता है उन की रक्षा करनी, (ऋों श्रि॰) जो सेवा करने के योग्य परमात्मा श्रीर पुरुपार्थ से राज्यश्री की प्राप्ति करने में सदा उद्योग करना, (श्रों भ ०) जो कल्याण करनेवाली परमात्मा की शाकि श्रर्थात् सामर्थ्य है उस का सदा श्राश्रय करना, (श्रों व्र०) जो वेद के स्वामी ईश्वर की प्रार्थना विद्या के लिये करना, (ऋों वा०) वास्तुपति ऋर्यात् जो गृहस-म्बन्धी पदार्थी का पालन करनेवाला ईश्वर, (श्रॉ ब्रह्म०) वेद शास्त्र का रच्चक जगदीश्वर, (स्रों वि०) इस का स्त्रर्थ कह दिया है, (स्रों दि०) जो दिन में स्रौर (ऋों नक्तं०) रात्रि में विचरने वाले प्राणी हैं उन से उपकार लेना ऋौर उन की सुख देना (सर्वात्म०) सब में व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यान में रखना, (ऋों पि॰) माता पिता श्रौर श्राचार्य्य श्रादि का प्रथम भोजनादि से सेवा करके पश्चात् स्वयं भाजनादि करना । स्वाहा शब्द का ऋष पूर्व कर दिया है और नमः शब्द का अर्थ यह है कि आप अभिमान रहित होना और दूसरे का मान्य करना। इस के पीछे ये छ: भाग करना चाहिये।

> शुनां च पतितानां च स्वपचां * पापरे।गिणाम् ॥ वायासानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भवि ॥ १॥

अनेन षड्भागान् भूमौ दद्यात् । एवं सर्वप्राणिम्यो भागान् विभज्य दत्त्वा च तेषां प्रसम्नतां सम्पादयेत् ।

भाषार्थ

कुत्तों, कंगालों, कुष्ठी आदि रोगियों, काक आदि पांचियों और चींटी आदि कृमियों के लिये भी छ: भाग अलग २ बांट के देदेना और उनकी प्रसन्नता करना अर्थात् सब प्राणियों को मनुष्यों से सुख होना चाहिये। यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बिलंबेश्वदेव पूरा हुआ।। इति बालिबेश्वदेविधि: समाप्त:।।

[#] मनौ श्वपचामिति पाठः ॥ श्र०३ । श्लो० ६२ ॥

अथ पञ्चमोऽतिथिय इः प्रोच्यते । यत्रातिथीनां सेवनं यथावत् क्रियते तत्र सर्वाणि सुखानि भवन्तीति । अथ के त्रातिथयः १ । ये पूर्णिविद्यावन्तः, परोपकारिणो, जितिन्द्रिया, धार्मिकाः, सत्यवादिनश्ञ्जलादिदोपराहता, नित्य- अमणकारिणो मनुष्यास्तानतिथय इति कथयन्ति । अत्रानेके प्रमाणभूता वैदिक- मन्त्राः सन्ति । परन्त्वत्र संचेपतो द्वावेव लिखामः ।

तचस्यैवं विद्वान् ब्रात्योतिऽथिर्गृहानागच्छेत् ॥१॥ स्वयमेन म-भ्युदेत्यं ब्रूयाद्, ब्रात्य क्वांवात्सी,ब्रीत्योद्कं, ब्रान्यं त्र्पयंन्त, ब्रात्य यथां ते प्रियं तथास्तु, ब्रात्य यथां ते वशस्तथास्तु,ब्रात्य यथा ते निका-मस्तथास्त्विति ॥२॥ अथ० कां० १४। अनु० २। सू०११। मं० १।२॥

भाष्यम्

(तद्य०) यः पूर्वोक्गविशेषणयुक्तो विद्वान् (त्रात्यः०) महोत्तमगुणविशिष्टः सेवनीयो,ऽतिथि,रर्थाद्यस्य गमनागमनयोरिनयता तिथिः, किन्तु स्वेच्छया कस्मा-दागच्छेद् छेच्च ॥ १ ॥ स यदा यदा ग्रहस्थानां ग्रहेषु प्राप्नुयात् (स्वयमेनम०) तदा ग्रहस्थोऽत्यन्तप्रेम्णोत्थाय नमस्कृत्य च तं महोत्तमासने निषाद्येत् । ततो यथायोग्यं सेवां कृत्वा तदनन्तरं तं पृच्छेत् । (त्रात्य क्वावात्सीः) हे पुरुषोत्तम ! त्वं कुत्र निवासं कृतवान् । (त्रात्योद्कं) हे त्रातिथे ! जलमेतद् ग्रहाण् । (त्रात्य तप्यन्तु) यथा भवन्तः स्वकीयसत्योपदेशेनास्मानस्माकं मित्रादींश्च तप्पयन्ति तथाऽस्मदीया भवन्तं च । (त्रात्य यथा०) हे विद्वन् ! यथा भवतः प्रसन्नता स्यात्तथा वयं कुर्याम । यद्वस्तु भवात्प्रियमस्ति तस्याज्ञां कुरु । (त्रात्य यथा ते) हे त्रातिथे ! भवान् यथेच्छिति तथेव वयं तद्नुकृलतया भवत्सेवाक-रणे निश्चित्याम । (त्रात्य यथा ते) यथा भवादिच्छापूर्तिः स्यात्तथा सेवां वयं कुर्याम । यतो भवान् वयं च परस्परं सेवासत्सङ्गपूर्विकया विद्यानुद्धचा सदा सुले तिष्ठेम।

भाषार्थ

श्रव पांचवां श्रातिथियज्ञ श्रर्थात् जिस में श्रातिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है उस को लिखते हैं। जो मनुष्य पूर्ण विद्वान, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, सत्यवादी, छल कपट रहित श्रीर नित्य श्रमण करके विद्या धर्म का प्रचार श्रौर श्रविद्या श्रधमें की निवृत्ति सदा करते रहते हैं उनको श्रातिथि कहते हैं। इस में वेदसन्त्रों के श्रानेक प्रमाण हैं। परन्तु उन में से दो मन्त्र यहां भी लिखते हैं। (तद्यस्येवं विद्वान्) जिसके घर में पूर्वोक्ष विशेषणयुक्त (त्रात्य) उत्तमगुणसाहित सेवा करने के योग्य विद्वान् त्रावे तो उस की यथावत् सेवा करे श्रोर श्रातिथि वह कहाता है कि जिस के श्राने जाने की कोई तिथि दिन निश्चित न हो।। १।। (स्त्रयमेनम०) गृहस्थ लोग ऐसे पुरुष को श्राते देखकर, वड़े प्रेम से उठ के नमस्कार कर के, उत्तम श्रासन पर वैठावें। पश्चात् पूछें कि श्राप को जल श्रथवा किसी श्रन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिये। श्रीर जब ने स्वस्थिचित्त हो जावें तव पूछें कि त्रात्य क्वावातसीः) हे त्रात्य ! श्रर्थात् उत्तम पुरुष ! श्रापने कल के दिन कहां वास किया था, (त्रात्योदकं) हे श्रातिथे! यह जल लीजिये श्रीर । त्रात्य तर्पयन्तु) हमको श्रपने सत्य उपदेश मे तृप्र कीजिय कि जिससे हमारे इष्ट मित्र लोग सब प्रसन्न होंके श्रापको भी सेवा से संतुष्ट रक्कों।। (त्रात्य यथा०) हे विद्वान्! जिस प्रकार श्राप की प्रसन्नता हो हम लोग वैसा ही काम करें, तथा जो पदार्थ श्राप को प्रिय हो उसकी श्राज्ञा कीजिये, श्रीर (त्रात्य यथा०) जैसे श्राप की कामना पूर्ण हो वैसी सेवा कीजाय कि जिस से श्राप श्रीर हम लोग परस्पर प्रीति श्रीर सत्सङ्गपूर्वक विद्यार्शुद्ध करके सदा श्रानन्द में रहें।। २।।

इति संचेपतः पंचमहायञ्चविषयः

अथ ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः

मृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं येषां येषां स्वतःपरतःप्रमाणिसद्धानां ग्रन्थानां पत्तपातरिहते रागद्वेषश्चन्येः सत्यधमिप्रियात्तरणैः सर्वोपकारकेरायेविद्यद्भियधिक्षी-कारः कृतस्तथाऽत्रोच्यते । य ईश्वरोक्ता ग्रन्थास्ते स्वतःप्रमाणं कर्त्तं योग्याः सन्ति । ये जीवोक्तास्ते परतःप्रमाणाद्दिश्च । ईश्वरोक्तत्वात्तत्वारो वेदाः स्वतः प्रमाणम् । कृतः । तदुक्तौ अमादिदोषाभावात्, तस्य सर्वज्ञत्वात्, सर्वविद्यावन्त्वात्, सर्वशक्तिमन्त्वात्त्व । तत्र वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्य्यं, स्वयप्रदीपवत् । यथा सर्य्यः प्रदीपश्च स्वप्रकाशनेव प्रकाशितौ सन्तौ सर्वमूर्त्तद्वयप्रकाशकौ भवतः, तथैव वेदाः स्वप्रकाशनेव प्रकाशिताः सन्तः सर्वानन्यविद्याग्रन्थान् प्रकाशयन्ति । ये ग्रन्था वेदविरोधिनो वर्त्तन्ते नैव तेषां प्रामाण्यं स्वीकर्त्तुं योग्यमस्ति । वेदानां ये ग्रन्था वेदविरोधिनो वर्त्तन्ते नैव तेषां प्रामाण्यं स्वीकर्त्तुं योग्यमस्ति । वेदानां

तु खलु अन्येभ्यो ग्रन्थेभ्यो विरोधाद्प्यप्रामाएयं न भवति, तेषां स्वतःप्रामाएयान्ति जिल्लानां ग्रन्थानां वेदाधीनप्रामाएयाच । ये स्वतःप्रणाणभूता मन्त्रभागसंहिता-ख्याश्चत्वारो वेदा उक्तास्तद्भास्तद्व्याख्यानभूता ब्राह्मणग्रन्था वेदानुकूलतया प्रमाणमहिन्ति, तथैवैकादशशतानि सप्तविंशतिश्च वेदशाखा वेदार्थव्याख्याना अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमहिन्ति । एवमेव यानि शिचा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिपिमिति पडक्तानि, तथाऽऽयुर्वेदो वैद्यकशास्त्रम्, धनुर्वेदः शस्त्रास्त्र-राजविद्या, गान्धवेवदो गानविद्या, अर्थवेदश्च शिल्पशास्त्रं, चत्वार उपवेदा अपि । तत्र चरकसुश्चतनिघएद्वादय आयुर्वेदे ग्राह्याः । धनुर्वेदस्य ग्रन्था प्रायेण लुप्ताः सन्ति । परन्तु तस्य सर्वविद्याक्तियावयवैः सिद्धन्वादिदानीमिपि साधियतुमर्हाः सन्ति । आङ्गिरःप्रभृतिभिर्निर्मिता धनुर्वेदग्रन्था बद्दव आसिनिति । गान्धवेवदश्च सामगान-विद्यादिसद्धः । अर्थवेदश्च विश्वकर्मत्वष्टमयकृतश्चतसृसंहिताख्यो ग्राह्यः ।

भाषार्थ

जो २ प्रनथ सृष्टि की आदि से लेके आज तक पत्तपात और रागद्वेषरहित सत्यधर्मयक सब लोगों के प्रिय प्राचीन विद्वान् त्र्यार्थ्य लोगों ने (स्वतःप्रमाण) श्चर्यात् श्चपने त्राप ही प्रमाण, परतःप्रमाण त्र्यर्थात् वेद त्र्यौर प्रत्यत्तानुमानादि से प्रमाणभूत हैं जिन को जिस प्रकार करके जैसा कुछ माना है उनको आगे कहते हैं। इस विषय में उन लोगों का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर की कही हुई जो चारों मन्त्र-संहिता हैं वे ही स्वयंत्रमाण होने योग्य हैं अन्य नहीं। परन्तु उन से भिन्न भी जो जो जीवों के रचे हुए प्रन्थ हैं वे भी वेदों के अनुकूल होने से परतःप्रमाण के योग्य होते हैं। क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं श्रीर ईश्वर सर्वज्ञ सर्वविद्यायुक्त तथा सर्व-शक्तिवाला है, इस कारण से उस का कथन ही निर्श्वम श्रीर प्रमाण के योग्य है। श्रीर जीवों के बनाये प्रनथ स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं होते, क्योंकि वे सर्वविद्यायुक्त ख्रौर सर्वशिक्तमान नहीं होते । इसलिये उनका कहना स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं हो सकता । ऊपर के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि वेदविषय में जहां कहीं प्रमाण की श्रावश्यकता हो वहां सूर्य्य श्रौर दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है । अर्थात् जैसे सूर्य्य और दिवक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके सब क्रिया वाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके श्रान्य प्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं । इससे यह सिद्ध हुन्ना कि जो जो प्रन्थ वेदों

से विरुद्ध हैं वे कभी प्रमाण वा स्वीकार करने के योग्य नहीं होते । और वेदों का अन्य प्रन्थों के साथ विरोध भी हो तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सकते, क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाणयुक्त हैं। इसी प्रकार ऐतरेय, शतपय ब्राह्मणादि प्रन्थ जो वेदों के ऋर्थ और इतिहासादि से युक्त बनाये गये हैं वे भी परतः प्रमाण ऋर्थात् वेदों के अनुकूल ही होने से प्रमाण और विरुद्ध होने से अप-मागा हो सकते हैं। मन्त्रभाग की चार संहिता कि जिनका नाम वेद है वे सव स्वतः प्रमाण कहे जाते हैं । श्रीर उनसे भिन्न ऐतरेय शतपथ श्रादि प्राचीन सत्य प्रन्थ हैं वे परतः प्रमाण के योग्य हैं। तथा ग्यारहसौ सत्ताईस (११२७) चार वेदों की शाखा वेदों के व्याख्यान होने से परतःप्रमाण । तथा (त्रायुर्वेदः) अर्थात् जो वैद्यकशास्त्र चरक सुश्रत श्रीर धन्वन्तरिकृत निघएट श्रादि ये सब मिलकर ऋग्वेद का उपवेद कहाता है। (धनुर्वेद:) अर्थात् जिसमें शख अखविद्या के विधानयुक्त आक्किरा श्रादि ऋषियों के बनाये प्रन्थ जो कि श्रङ्गिरा भरद्वाजादिकृत संहिता हैं जिनसे राजविद्या सिद्ध होती हैं परन्तु वे प्रन्य प्रायः लुप्त से हो गये हैं। जो पुरुषार्थ से इसको सिद्ध किया चाहे तो वेदादि विद्या-पुस्तकों से साचात् कर सकता है । (गान्धर्ववेदः) जो कि सामगान श्रीर नारदसंहिता आदि गानविद्या के प्रनथ हैं। (अर्थवेदः) अर्थात् शिल्पशास्त्र जिसके प्रातिपादन में विश्वकर्म्मा, त्वष्टा, देवझ श्रीर मयकृत संहिता रची गई हैं ये चारों उपवेद कहाते हैं।

शिचा पाणिन्यादिमुनिकृता । कल्पो मानवकल्पस्त्रादिः । व्याकरणमष्टा-ध्यायीमहाभाष्यधातुपाठोणादिगणप्रातिपदिकगणपाठाख्यम् । निरुक्तं यास्कमुनिकृतं निष्ण्दुसाहेतं चतुर्थं वेदाङ्गं मन्तव्यम्। छन्दः पिङ्गलाचार्य्यकृतसत्त्रभाष्यम् । ज्योतिषं वसिष्ठाचृष्युक्तं रेखाबीजगणितमयं चेति वेदानां पडङ्गानि सन्ति । तथा पडुपाङ्गानि । तत्राद्यं कर्मकाण्डविधायकं धर्मधर्मिव्याख्यामयं व्यासमुन्यादिकृत-भाष्यसिहतं जैमिनिम्रुनिकृतस्त्रं पूर्वमीमांसाशास्त्राख्यं प्राक्षम् । द्वितीयं विशेषतया धर्मधर्मिविधायकं प्रशस्तपादकृतभाष्यसिहतं कणादमुनिकृतं वेशेपिकशास्त्रम् । तृतीयं पदार्थविद्याविधायकं वात्स्यायनभाष्यसिहतं गोतममुनिकृतं न्यायशास्त्रम् । चतुर्थं यत्त्रिभर्मीमांसावैशेषिकन्यायशास्त्रेः सर्वपदार्थानां श्रवणमननेनानुभानिकं ज्ञानतया निश्चयो भवति, तेषां साचाज्ज्ञानसाधनमुपासनाविधायकं व्यासमुनिकृत-भाष्यसिहतं पतञ्जलिमुनिकृतं योगशास्त्रम् । तथा पञ्चमं तत्त्वपरिगणनविवेकार्थं भागुरिमुनिकृतभाष्यसिहतं कपिलमुनिकृतं सांख्यशास्त्रम् । पष्ठं बौद्धायनवृत्त्यादि-

व्याख्यानसिं व्यासमुनिकृतं वेदान्तशास्त्रम् । तथैव ईशकेनकटप्रश्रमुख्डकमा-एड्रक्यतैत्तिरीयैतरेयछान्दोग्यवृहदारएयका दशोपनिषदश्रोपाङ्गानि च ग्राह्माणि । एवं चत्वारो वेदाः सशाखा व्याख्यानसिंहता,श्रत्वार उपवेदाः, षद् वेदाङ्गानि, षद् च वेदोपाङ्गानि मिलित्वा षद् भवन्ति । एतैरेव चतुर्दशविद्या मनुष्येर्प्राद्या भवन्तीति वेद्यम् ।

भाषार्थ

इसी प्रकार मन्वादिकृत मानवकल्पस्त्रादि, श्राश्वलायनादिकृत श्रोतस्त्रादि, पाणिनिमुनिकृत ऋष्टाध्यायी धातुपाठ गणपाठ उणादिपाठ ऋौर पतञ्जलिमुनिकृत महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण । तथा यास्कमुनिकृत निरुक्त चौर निघएटु, वसिष्ठमुनि श्रादि कृत ज्योतिष सूर्य्यसिद्धान्त श्रादि श्रौर (छन्दः) पिङ्गलाचार्य्यकृत सूत्रभाष्य आदि ये वेदों के छः श्रङ्ग भी परतः प्रमाण के योग्य और ऐसे ही वेदों के छः उपाङ्ग श्रर्थात् जिन का नाम पट्शास्त्र है, उन में से एक व्यासमुनि श्रादि कृत भाष्यसिहत जैमिनिमुनिकृत पूर्वमीमांसा, जिसमें कर्मकाएड का विधान श्रीर धर्मधर्मि दो पदार्थी से सब पदार्थों की व्याख्या की है, दूसरा वैशेषिक शास्त्र जो कि कगादमुनिकृत सूत्र श्रौर गोतममुनिकृत प्रशस्तपादभाष्यादिव्याख्यासहित, तीसरा न्यायशास्त्र जो कि गोतममुनिप्रणीत सूत्र श्रौर वात्स्यानमुनिकृतभाष्यसिंहत, चौथा योगशास्त्र जो कि पतञ्जिलमुनिकृत सूत्र श्रीर व्यासमुनिकृत भाष्य सहित, पांचवां सांख्यशास्त्र जो कि कपिलमुनिकृत सूत्र और भागुरिमुनिकृतभाष्य सिहत श्रीर छठा वेदान्तशास्त्र जो कि ईश केन कठ प्रश्न मुख्डक माण्डूक्य तैत्तिरीय ऐतरेय छान्दोग्य श्रीर बृह्दारण्यक ये दश उपनिषद् तथा व्याससुनिकृत सूत्र जो कि वौद्धायनवृत्त्यादिव्याख्या सहित वेदा-न्तशास्त्र है, ये छ: वेदों के उपाङ्क कहाते हैं इसका यह अभिप्राय है कि जो शाखा, शाखान्तरञ्याख्या सहित चार वेद, चार उपवेद, छ: श्रङ्ग श्रौर उपाङ्ग हैं ये सब मिल के चौदह विद्या के प्रन्य हैं।

एतासां पठनाद्यथार्थ विदि(त)तत्त्वान्मानसवाद्यज्ञानिक्रयाकारण्डसाचात्कर-णाच महाविद्वान् भवतीति निश्चेतव्यम् । एत ईश्वरोक्ना वेदाः, तद्वचाख्यानमया ब्राह्मणादयो ग्रन्था, श्रार्था, वेदानुक्रलाः सत्यधमेविद्यायुक्ता युक्तिप्रमाणसिद्धा एव माननीयाः सन्ति । नैवैतेभ्यो भिनाः, पच्चपातच्चद्रविचारखल्पविद्याऽधमीचरणप्र-तिपादना, श्रनाप्तोक्ना, वेदार्थविरुद्धा, युक्तिप्रमाणविरहा ग्रन्थाः केनापि कदाचि- दक्षीकार्थ्या इति । ते च संदेपतः परिगएयन्ते । रुद्रयामलादयस्तन्त्रप्रन्थाः । ब्रह्म-वैवर्त्ताद्दीनि पुराणानि च । प्रित्तप्रश्लोकत्यागाया मनुस्वृतेर्व्यतिरिक्ताः स्पृतयः । सारस्वतचिन्द्रकाकौष्ठद्यादयो व्याकरणाभासग्रन्थाः । मीमांसाशास्त्रादिविरुद्धनिर्ण-यसिन्ध्वादयो ग्रन्थाः । वैशेषिकन्यायशास्त्रविरुद्धास्तर्कसंग्रहमार्भ्य जागदीश्यन्ता-ग्यायाभाषा ग्रन्थाः । योगशास्त्रविरुद्धा हठप्रदीपिकादयो ग्रन्थाः । सांख्यशास्त्र-विरुद्धा सांख्यतत्त्वकौष्ठद्यादयः । वेदान्तशास्त्रविरुद्धा वेदान्तसारपञ्चदशीयोगवा-सिष्ठादयो ग्रन्थाः । ज्योतिपशास्त्रविरुद्धा ग्रुद्द्त्रचिन्तामण्यादयो ग्रुद्ध्त्रजनमपत्रफला-देशविधायका ग्रन्थाः । तथैव श्रौतस्त्रविरुद्धास्त्रिकिर्द्धान्तम्पर्यादयो ग्रुद्ध्त्रजनमपत्रफला-देशविधायका ग्रन्थाः । तथैव श्रौतस्त्रविरुद्धास्त्रकिर्द्धास्त्रकारण्यनिम्सरण्यनानजङ्-मूर्त्तिष्ठ्वाकरण्यन्त्रेणैव ग्रुक्तिभावनपापिनवारणमाद्द्यास्त्रविधायकाः सर्वे ग्रन्थाः । तथैव पाखिष्डसम्प्रदायिनिर्मितानि सर्वाणि पुस्तकानि च, नास्तिकत्रविधायका ग्रन्थाश्रोद्देशाश्च । ते सर्वे वेदादिशास्त्रविरुद्धा ग्रुक्तिप्रमाणपरीचाद्दीनाः सन्त्यतः शिष्टरग्राद्धा भवन्ति ।

भाषार्थ

इन प्रत्यों का तो पूर्वोक्त प्रकार से स्वतः परतः प्रमाण करना सुनना श्रोर पढ़ना सब को उचित हैं। इनसे भिन्नों का नहीं। क्योंकि जितने प्रत्य पच्चपती चुद्र- वुद्धि कम विद्या वाले श्रधमीतमा श्रास्त्यवादियों के कहे वेदार्थ से विरुद्ध श्रोर युक्ति- प्रमाण्राहित हैं उन को स्वीकार करना योग्य नहीं। श्रागे उन में से मुख्य २ भिष्या प्रत्यों के नाम भी लिखते हैं। जैसे रुद्रयामल श्रादि तन्त्रप्रत्य, ब्रद्धवेवर्त्त श्रीमद्भाग्वत श्रादि पुराण। सूर्य्यगाथा श्रादि उपपुराण। मनुस्मृति के प्रचिप्त श्लोक श्रीर उससे पृथक् सब स्मृतिप्रत्य। व्याकरण्विरुद्ध सारस्वतचन्द्रिका कोमुद्यादि प्रत्य। धर्मशास्त्रविरुद्ध निर्णयसिन्धु श्रादि। तथा वेशेषिक न्यायशास्त्र विरुद्ध हैं। तथा सांस्य- शास्त्रविरुद्ध सांस्यतत्त्वकोमुदी श्रादि प्रत्य । वेदान्तशास्त्रविरुद्ध वेदान्तसार पञ्चदशी योगवासिष्ठादि प्रत्य। ज्योतिषशास्त्र से विरुद्ध मुहूर्त्तचिन्तामण्यादि मुहूर्त्तजनमपत्रफला- देशविधायक पुस्तक। ऐसे ही श्रोतसूत्रादिविरुद्ध त्रिकिष्टिकास्नानविधायकादि सूत्र। तथा मार्गशीर्ष एकादश्यादिव्रत, काश्यादि स्थल, पुष्कर गङ्गादि जल, यात्रामाहात्स्य- विधायक पुस्तक तथा दर्शन नामस्मरण जड़मूर्त्तपूत्रा करने से मुक्तिविधायक प्रत्य ।

इसी प्रकार पापिनवारणिविधायक और ईश्वर के अवतार वा पुत्र अथवा दूतप्रतिपादक वेदिवरुद्ध शैव शाक्त गाणपत वैद्यावादि मत के प्रनथ तथा नास्तिक मत के पुस्तक और उन के उपदेश ये सब वेद युक्ति प्रमाण और परीक्षा से विरुद्ध प्रनथ हैं। इस-िलये सब मनुष्यों को उक्त अधुद्ध प्रनथ त्याग कर देने योग्य हैं।

प्र - तेषु बह्वनृतभाषणेषु किंचित्सत्यमप्यग्राह्यम्भवितुमईति विषयुक्राञ्चवत् । उ०-यथा परीत्तका विषयुक्तममृततुल्यमप्यन्नं परीत्त्य त्यजन्ति तद्वद्रप्रमाणा ग्रन्थास्त्याच्या एव । कुतः । तेषां प्रचारे**ण वेदानां सत्यार्थाप्रवृत्ते**,स्तदप्रवृत्त्या इसत्यार्थान्धकारापत्ते,रविद्यान्धकारतया यथार्थज्ञानानुत्पत्तेश्वेति । अयथ तन्त्रग्रन्थानां मिथ्यात्वं प्रदर्श्यते । तत्र पञ्चमकारसेवनेनैव मुक्तिर्भवति, नान्यथेति । तेषां मतं यत्रेमे श्लोकाः सन्ति । मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च । एते पञ्चमका-राश्र मोचदा हि युगे युगे ॥ १ ॥ पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतित भूतले । पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥ २ प्रवृत्ते भरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजा-तयः । निवृत्ते भैरवीचके सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक् ॥ ३ ॥ मातृयोनि परित्यज्य विद्दरेत्सर्वयोनिषु । लिङ्गं योन्यां तु संस्थाप्य जपन्मन्त्रमतन्द्रितः ॥ ४ ॥ मातर-मपि न त्यजेत् । इत्याद्यनेकविधमल्पयुद्धचधर्माश्रेयस्कर्मानार्याभिद्दितयुक्तिप्रमाण-रहितं वेदादिभ्योऽत्यन्तविरुद्धमनार्षमश्लीलग्रुक्तं, तिच्बिष्टैर्न कदापि ब्राह्ममिति । मद्यादिसेवनेन बुद्धचादिश्रंशान्ध्राक्निस्तु न जायते किन्तु नरकप्राप्तिरेव भवतीत्य-न्यत् सुगमं प्रसिद्धं च । एवमेव ब्रह्मवैवत्तीदिषु मिथ्यापुराणसंज्ञासु किं च नवीनेषु मिथ्याभृता बह्वयः कथा लिखिनास्तासां स्थालीपुलाकन्यायेन स्वल्पाः प्रदर्शन्ते । तत्रैवमेका कथा लिखिता प्रजापतिर्बेद्या चतुर्ग्रुखो देहधारी स्वां सरस्वतीं दुहितरं मैथुनाय जब्राहेति । सा मिथ्यैवास्ति । कुतः । अस्याः कथाया अलंकाराभिपाय-स्वात् । तद्यथा---

भाषार्थ

कदाचित् इन प्रन्थों के विषय में कोई ऐसा प्रश्न करे कि इन श्रासत्य प्रन्थों में भी जो जो सत्य बात हैं उन का प्रहण करना चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि जैसे श्रामृत तुल्य श्राम्न में विष मिला हो तो उस को छोड़ देते हैं, क्योंकि उन से सत्यप्रहण की श्राशा करने से सत्यार्थप्रकाशक वेदादि प्रन्थों का लोप हो जाता है। इस्रिलिये इन सत्यप्रन्थों के प्रचार के श्रार्थ उन मिध्या प्रन्थों को छोड़ देना श्रावश्य चाहिये। क्योंकि विना सत्यविद्या के ज्ञान कहां, विना ज्ञान के उन्नति कैसी श्रौर उन्नति के न होने से मनुष्य सदा दुः वसागर ही में इबे रहते हैं। अब आगे उन पूर्विलिखित श्रप्रमाण प्रन्थों के संदेप से पृथक २ दोप भी दिखलाये जाते हैं। देखो तन्त्रप्रन्थों में ऐसे २ श्लोक लिखे हुए हैं कि (मद्यं मांसं०) मद्य पीना, मांस मच्छी खाना, मुद्रा श्रर्थात् सब के साथ इकट्रे बैठ के रोटी बड़े श्रादि उड़ाना, कन्या बहिन माता श्रीर पुत्रवधू श्रादि के साथ भी मैथुन कर लेना, इन पांच मकारों के सेवन से सब की मुक्ति होना :: १ ॥ (पीत्वा पीत्वा०) किसी मकान के चार आलयों में मद्य के पात्र धर के एक कोने से खड़े २ मद्य पीने का त्रारम्भ करके दूसरे में जाना, दूसरे से पीते हुए तीसरे में ऋौर तीसरे से चौथे में जाकर पीना, यहांतक कि जब पर्यन्त पीते २ वेहोश होकर लकड़ी के समान भूमि में न गिर पड़े तब तक बराबर पीते ही चले जाना, इस प्रकार वारंवार पीके अनेक वार एठ २ कर भूमि में गिर जाने से मनुष्य जन्ममरणादि दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।। २।। (प्रवृत्ते भैरवीचके) जब कभी वाममार्गी लोग रात्रि के समय किसी स्थान में इकट्रे होते हैं तब उन में ब्राह्मण से लेके चाएडाल पर्य्यत सब स्त्री पुरुष श्राते हैं, फिर वे लोग एक स्त्री को नंगी करके वहां उस की योनि की पूजा करते हैं, सो केवल इतना ही नहीं किन्तु कभी २ पुरुष को भी नंगा करके स्त्री लोग भी उस के लिङ्ग की पूजा करती हैं। तदनन्तर मद्य के पात्र में से एक पात्र श्रायीत प्याला भरके उस स्त्री श्रीर पुरुप दोनों को पिलाते हैं, फिर उसी पात्र से सब वाममार्गी लोग क्रम से मद्य पीते श्रीर श्रममांसादिक खाते चले जाते हैं । यहांनक कि जब तक उन्मत्त न होजायं तब तक खाना पीना बंद नहीं करते हैं। फिर एक स्त्री के साथ एक पुरुष अथवा एक के साथ श्रानेक भी मैथुन कर लेते हैं। जब उस स्थान से बाहर निकलते हैं तब कहते हैं कि अब हम लोग अलग २ वर्णवाले हो गये ।। ३ ।। (मातृयोनिं०) उन के किसी २ श्लोक में तो ऐसा लिखा है कि माता को छोड़ के सब श्वियों से मैथुन कर लेवे, इस में कुछ दोष नहीं। श्रौर (मातरमिप न त्यजेत्)। किसी २ का यह भी मत है कि माता को भी न छोड़ना तथा किसी में लिखा है कि योनि में लिङ्ग प्रवेश करके आलस्य छोड़कर मन्त्र को जपे तो वह शीघ है। सिद्ध हो जाता है। इत्यादि अनेक अनर्थरूप कथा तन्त्रप्रन्थों में लिखी हैं। वे सब वेदादिशास्त्र, युक्ति, प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण श्रेष्ठ पुरुषों के प्रहुण करने योग्य नहीं। क्योंकि मद्यादि सेवन से मुक्ति तो कभी नहीं हो सकती परन्तु ज्ञान का नाश और दुःखरूप नरक की प्राप्ति दीर्घकाल तक होती है।। ४।। इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त्त श्रीर श्रीमद्भागवतादि प्रन्थ जो कि व्यासजी के नाम से संप्रदायी लोगों ने रचिलये हैं उन का नाम पुराण कभी नहीं हो सकता, किन्तु उन को नवीन कहना उचित है। श्रव उन की मिण्यात्वपरीचा के लिये कुछ कथा यहां भी लिखते हैं।

प्रजापतिर्वे स्व। दुहितरमभ्यध्यायि दिविमत्यन्य आहुरू सिम यन्ये । तामृश्यो भूत्व। रोहितं भूतामभ्येत् । तथ्य यद्रेतसः प्रथममुद्दिप्यत तदसावादित्यो भवत् ॥ ऐ० पं० ३ । किएड० ३३ । ३४ ॥

प्रजापतिर्वे सुपणें गरुत्मानेष सविता ॥ शत० कां० १० । अ० २ । ब्रा० २ । कं० ४ ॥ तत्र पिता दुहितुर्गर्भे द्धाति पर्जन्यः पृथिन्यः ॥ निरु० अ० ४ । वं० २१ ॥ द्योमें पिता जेनिता नाभिरत्र बन्धुमें माता पृथिवी महीयम् । उत्तानयोश्चम्बोध्येतिर्न्तरत्रो पिता दुहितुर्गर्भेभाषात् ॥ १ ॥ ऋ० मं० १ । मू० १६४ । मंत्रः ३३ ॥ शामद्वहिदुहितुर्न्प्यं हाद्विद्वां ऋतस्य दीधिति सप्य्येन् । पिता यत्रे दुहितुः सेकेमुञ्जन्सं श्राम्येन मनसा द्धःवे ॥ २ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ३१ । मं० १ ॥

भाष्यम्

सविता सर्थः सर्थ्यलोकः प्रजापितसंज्ञकोस्ति, तस्य दुद्दिता कन्यावद् द्यौरुषा चास्ति । यस्माद्यदुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत्, स तस्य पितृवदिति रूपकाल-द्वारोक्तिः । स च पिता तां रोदितां किञ्चिद्रक्रगुणप्राप्तां स्वां दुद्दितरं किरणैर्ऋ-ध्यवच्छीघमभ्यध्यायत् प्रामोति । एवं प्राप्तः प्रकाशाख्यमादित्यं पुत्रमजीजनदुत्पा-द्यति । त्रस्य पुत्रस्य मातृवदुषा पितृवतस्यर्थश्च । कुतः । तस्याम्रुषासि दुद्दितरि किरण्यक्षेण वीर्य्येण सूर्य्यादिवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात् । यस्मिन् भूप्रदेशे प्रातः पञ्चघटिकायां रात्रौ स्थितायां किञ्चित्स्यर्थप्रकाशन रक्तता भवित तस्योषा इति संज्ञा । तयोः पितादुद्दित्राः समागमादुत्कटदीप्तिः प्रकाशाख्य श्रादित्यपुत्रो जातः । यथा मातापितृभ्यां सन्तानोत्पित्तर्भवति, तथैवात्रापि बोध्यम् । एवमेव पर्जन्य-पृथिव्योः, पितादुद्दितृवत् । कुतः । पर्जन्यादद्भ्यः पृथिव्या उत्पत्तेः । श्रतः पृथिवी तस्य दुद्दितृवद्सित । स पर्जन्यो वृष्टिद्वारा तस्यां वीर्य्यवज्ञलप्रद्वेपणेन गर्भे द्वाति, तस्माद् गर्भादोषध्यादयोऽपत्यानि जायन्ते । श्रयमपि रूपकालक्कारः । अत्र वेदप्रमाणम् (द्योमें पिता०)। प्रकाशो मम पिता पालियतास्ति, (जिनता) सर्वव्यवहाराणामुत्पादकः। अत्र द्वयोः सम्बन्धत्वात्। तत्रेयं पृथिवी माता मानकर्त्रां। द्वयोश्चम्वोः पर्जन्यपृथिव्योः सेनावदुत्तानयोरूर्ध्वं तानयोरुत्तानास्थित्योरलङ्कारः। अत्र पिता पर्जन्यो, दुहितुः प्रथिव्या, गर्भे जलसमृहमाधात्, आसमन्ताद्धारयतीति रूपकालङ्कारो मन्तव्यः।। १॥ (शासद्वाह्व) अयमपि मन्त्रो-ऽस्यैवालङ्कारस्य विधायकोस्ति । विद्वशब्देन स्र्य्यों, दृहिताऽस्य पूर्वोक्तेव। स पिता, स्वस्या उपसो दुहितुः, सेकं किरणाख्यवीर्व्यस्थापनेन गर्भाधानं कृत्वा, दिवसपुत्रमजनयदिति ॥ २॥ अस्यां परमोत्तमायां रूपकालङ्कारविधायिन्यां, निरुक्तबाह्मणेषु व्याख्यातायां कथायां सत्यमपि, ब्रह्मवैवत्तीदिषु आन्त्या याः कथा अन्यथा निरूपितास्ता नैव कदाचित्केनापि सत्या मन्तव्या इति।

भाषार्थ

नवीन प्रन्थकारों ने एक यह कथा भ्रान्ति से मिध्या करके लिखी है जो कि प्रथम रूपकालङ्कार की थी । (प्रजापतिर्वे स्वां दुहितरम०) अर्थात् यहां प्रजापति कहते हैं सूर्य्य को, जिस की दो कन्या एक प्रकाश त्र्यौर दूसरी उपा । क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसका ही संतान कहाता है। इसलिये उपा जो कि तीन चार घड़ी रात्रि शेष रहने पर पूर्व दिशा में रक्तता दीख पड़ती है वह सूर्य्व की किरण से उत्पन्न होने के कारण उसकी कन्या कहाती है। उन में से उपा के सन्सुख जो प्रथम मूर्य्य की किरण जाके पड़ती है वही वीर्य्यस्थापन के समान है। उन दोनों के समागम से पुत्र ऋर्थात् दिवस उत्पन्न होता है। प्रजापित और सविता ये शतपथ में मूर्य्य के नाम हैं। तथा निरुक्त में भी रूपकालंकार की कथा लिग्वी है कि पिता के समान पर्जन्य अर्थात् जलरूप जो मेघ है उस की पृथिवी रूप दुहिता अर्थात् कन्या है। क्योंकि पृथिवी की उत्पत्ति जल से ही है। जब वह उस कन्या में बृष्टि-द्वारा जलरूप वीर्य को धारण करता है तब उससे गर्भ रहकर श्रोषध्यादि श्रनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं। इस कथा का मूल ऋग्वेद है कि (द्योंमें पिता०)। द्यों जो सूर्व्य का प्रकाश है सो सब सुखों का हेतु होने से मेरे पिता के समान और पृथिवी बड़ा स्थान और मान्य का हेतु होने से मेरी माता के तुल्य है। (उत्तान०) जैसे ऊपर नीचे वस्त्र की दो चांदनी तान देते हैं श्रथवा श्रामने सामने दो सेना होती हैं इसी प्रकार सूर्य्य श्रौर पृथिवी श्रर्थात् ऊपर की चांदनी के समान सूर्य्य श्रौर नीचे के बिछाँने के समान पृथिवी है। तथा जैसे दो सेना आमने सामने खड़ी हाँ इसी प्रकार सब लोगों का परस्पर सम्बन्ध है। इस में योनि ऋर्यात् गर्भस्थापन का स्थान पृथिवी श्रीर गर्भस्थापन करने वाला पति के समान मेघ है। वह अपने विनदुरूप वीर्थ्य के स्थापन से उस को गर्भधारण कराने से श्रोषण्यादि अनेक सन्तान उत्पन्न करता है कि जिनसे सब जगत् का पालन होता है।। १।। (शासद्वहि०) सब का वहन श्रर्थात प्राप्ति कराने वाले परमेश्वर ने मनुष्यों की ज्ञानगृद्धि के लिये रूपकालक्कार कथात्रों का उपदेश किया है। तथा वही (ऋतस्य) जल का धारण करने वाला, (नप्त्यङ्गा०) जगत् में पुत्र पौत्रादि का पालन श्रौर उप-देश करता है । (पिता यत्र दुहितुः०) जिस सुखरूप व्यवहार में स्थित होके पिता दुहिता में वीर्घ्य स्थापन करता है जैसा कि पूर्व लिख आये हैं इसी प्रकार यहां भी जान लेना । जिसने इस प्रकार के पदार्थ और उन के सम्बन्ध रचे हैं उसको हम नमस्कार करते हैं ।। २ ।। जो वह रूपकालङ्कार की कथा अच्छी प्रकार वेद ब्राह्मण और निरुक्तादि सत्यप्रन्थों में प्रसिद्ध है, इसको ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भा-गवतादि मिध्या प्रन्थों में भ्रान्ति से विगाद के लिख दिया है, तथा ऐसी २ श्रन्य कथा भी लिखी हैं। उन सब को विद्वान लोग मन से त्याग के सत्य कथाओं को कभी न भूलें।

तथा च कश्चिद्देहधारीन्द्रो देवराज आसीत्। स गोतमास्त्रियां जारकर्म कृतवान्। तस्मै गोतमेन शापो दत्तस्त्वं सहस्रमगो भवेति। तस्यै अहल्यायै शापो दत्तस्त्वं पाषाणशिला भवेति। तस्या रामपादरजः स्पर्शेन शापस्य मोन्तणं जातमिति। तत्रेदृश्यो मिथ्यैव कथाः सन्ति। कृतः। आसामप्यलङ्कारार्थत्वात्। तद्यथा—

इन्द्रागच्छेति । गौरावस्कृन्दिन्नहत्त्यायै जारेति । तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेवैनमेतत्त्रमुमोदायिषति ॥ शत० कां० ३ । प्र०३ । अ०३ । अ०१ । क०१ ॥ रात्रिरादित्यस्यादित्योद्येऽन्तर्धीयते ॥ निरु० अ०१२ । खं०११ ॥ सूर्य्यरिमञ्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति । सोपि गौरुच्यते ॥ निरु० अ०२ । खं०६ ॥ जार आ भगः अ। जार इव भगम् । आदित्योत्र जार उच्यते, रात्रेर्जरियता ॥ निरु० अ०३ ।

^{*} भगमिति श्रीवेंकटेश्वर सुदिते निरुक्ने पाठ: ।।

खं० १६ ॥ एष एवेन्द्रो य एषतपति॥ श०कां० १ । अ०६। ब्रा०४। कं०१८॥

भाष्यम्

इन्द्रः स्र्यों, य एष तपित, भूमिस्थान्पदार्थात्र प्रकाशयित । अस्येन्द्रेति नाम परमेश्वर्यप्राप्तेईतुत्वात् । स ऋहत्याया जारोस्ति । सा सोमस्य स्त्री । तस्य गोतम इति नाम । गच्छतीति गौरातिशयेन गौरिति गोतमश्चन्द्रः । तयोः स्नीपुरुषवत् सम्बन्धोस्ति । रात्रिरहल्या । कस्मादहर्दिनं लीयतेऽस्यां तस्माद्रात्रिरहल्योच्यते । स चन्द्रमाः सर्वाणि भूतानि प्रमोदयित, स्विश्वयाऽहल्यया सुखयित । अत्र स स्र्य्यं इन्द्रो, रात्रेरहल्याया, गोतमस्य चन्द्रस्य स्त्रिया, जार उच्यते । कृतः । अयं रात्रेर्विता । जृष् वयोद्दानाविति धात्वर्थोऽभिष्रेतोस्ति । रात्रेरायुपो विनाशक इन्द्रः स्र्य्यं एवेति मन्तव्यम् । एवं सिद्धोपदेशार्थोलङ्कारायां भूपणरूपामां सच्छास्रेषु प्रणीतायां कथायां सत्यां, या नवीनग्रन्थेषु पूर्वोक्वा मिथ्या कथा लिखितास्ति, सा केनचित्कदापि नव मन्तव्या, होतादृश्योऽन्याश्चापि ।

भाषार्थ

श्रव जो दूसरी कथा इन्द्र और श्रहल्या की है कि जिसको मूढ लोगों ने श्रमेक प्रकार विगाड़ के लिखा है सो उसको ऐसे मान रक्खा है कि देवों का राजा इन्द्र देवलों में देहधारी देवथा। वह गोतम ऋषि की की श्रहल्या के साथ जारकर्म किया करता था। एक दिन जब उन दोनों को गोतम ने देखिलया तब इस प्रकार शाप दिया कि हे इन्द्र! तृ हजार भग वाला होजा। तथा श्रहल्या को शाप दिया कि तू पाषा-गरूप होजा। परन्तु जब उन्होंने गोतम की प्रार्थना की कि हमारे शाप का मोज्ञण कैसे वा कब होगा तब इन्द्र से तो कहा कि तुम्हारे हजार भग के स्थान में हजार नेत्र हो जायं और श्रहल्या को बचन दिया कि जिस समय रामचन्द्र श्रवतार लेकर तेरे पर श्रपना चरण लगावेंगे उस समय तू किर श्रपने स्वरूप में श्राजावेगी। इस प्रकार पुराणों में यह कथा विगाड़ कर लिखी है। सत्य प्रन्थों में ऐसे नहीं है। तग्रथा—(इन्द्रागच्छेति), श्रर्थात् उन में इस रीति से है कि सूर्य्य का नाम इन्द्र, रात्रि का श्रहल्या तथा चन्द्रमा का गोतम है। यहां रात्रि श्रीर चन्द्रमा का स्वी पुरुप के समान रूपकालङ्कार है। चन्द्रमा श्रपनी स्वी रात्रि से सब प्राणियों को श्रानन्द कराता है श्रीर उस रात्रि का जार श्रादित्य है। श्रर्थात् जिस के उदय होने से रात्रि श्रन्तर्थां

हो जाती है और जार अर्थात् यह सूर्य ही रात्रि के वर्त्तमान रूप शृंगार को बिगाड़ने वाला है। इसलिये यह स्तिपुरुष का रूपकालङ्कार बांधा है कि जैसे स्तिपुरुष मिलकर रहते हैं वैसे ही चन्द्रमा और रात्रि भी साथ २ रहते हैं। चन्द्रमा का नाम गोतम इसालिये है कि वह अत्यन्त वेग से चलता है और रात्रि को अहल्या इसलिये कहते हैं कि उस में दिन लय हो जाता है। तथा सूर्य्य रात्रि को निवृत्त कर देता है इसलिये वह उसका जार कहाता है। इस उत्तम रूपकालङ्कारविद्या को अल्पबुद्धि पुरुषों ने बिगाड़ के सब मनुष्यों में हानिकारक फल धर दिया है। इसलिये सब सजन लोग पुराणोक्त मिथ्या कथाओं को मूल से ही त्याग कर दें।

एवमेवेन्द्रः कश्चिद्देहधारी देवराज आसीत्तस्य त्वष्टुरपत्येन वृत्रासुरेण सह युद्धमभूत् । वृत्रासुरेणेन्द्रो निगलितोऽतो देवानां महज्ज्यमभूत् । ते विष्णुश्ररणं गता, विष्णुरुपायं वर्णितवान् – मया प्रविष्टेन समुद्रफेनेनायं हतो भविष्यतीति । ईदृरयः प्रमत्तगीतवत् प्रलिपताः कथा पुराणभाषादिषु नवीनेषु प्रन्थेषु मिध्यैव सन्तीति भद्रैविद्वाक्रिमेन्तव्यम् । कुतः । एतासामप्यलङ्काखन्वात् । तद्यथा—

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकारं प्रधमानि वकी । श्रहन्नि हिमन्वपरतंतर्दे प्र वक्तणां श्रभिनुत्पर्वतानाम् ॥ १ ॥ श्रहन्निहं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टांग्मै वज्ञं स्वय्ये ततक्त् । वाश्रा इव धेनवः स्यन्दंमाना श्राञ्जः समुद्रमर्व जग्मुरापः ॥ २॥ ऋ० मं०१ । सू० ३२ । मं०१ । २॥

भाष्यम्

इन्द्रस्य स्र्य्येस्य परमेश्वरस्य वा तानि वीर्घ्याणि पराक्रमानहं प्रवोचं कथ-यामि, यानि प्रथमानि पूर्वं, (तु) इति वितर्के, वज्ञी चकार । (वज्ञी) वज्ञः प्रकाशः प्राणो वास्यास्तीति । वीर्घ्यं वै वज्ञः ॥ श० कां० ७ । द्य० ४ (१) ॥ स अहिं मेघमहन् इतवान्, तं इत्वा पृथिव्यामनुपरचादपस्ततर्द विस्तारितवान् । ताभिरिज्ञः प्रवच्चणा नदीस्ततर्द जलप्रवाहेणु हिंसितवान् । तटादीनां च भदं कारितवानस्ति । कीदृश्यस्ता नद्यः १ । पर्वतानां मेघानां सकाशादुत्पद्यमानाः यज्जलमन्तिरच्चाद्विंसित्वा निपात्यते तद् वृत्रस्य शरीरमेव विक्नेयम् ॥ १ ॥ अप्रेमन्त्राणां संचेपतोऽर्थो वर्ण्यते । (त्वष्टा) स्र्य्यः (त्राह्मिहं) तं मेघमहन् इतवान् कथं इतवानित्यत्राह् । (अस्मै) अहये वृत्रासुराय मेघाय (पर्वते शिशियाणम्) मेघे श्रितम् (स्वर्यम्) प्रकाशमयम् (वज्रम्) स्विकरणजन्यं विद्यत् प्रिचिपति । येन हत्रासुरं मेघं (ततच्) कणीकृत्य भूमौ पातयि । पुनर्भूमौ गतमि जलं कणीकृत्याकाशं गमयि । ता आपः ससुद्रं (अवजग्रुः) गच्छन्ति । कथम्भूता आपः १ । (अजः) व्यक्ताः (स्यन्दमानाः) चलन्त्यः । का इव १ । वाश्राः वत्सिमेव्छवो गाव इव । आप एव वृत्रासुरस्य शरीरम् । यदिदं वृत्रशरी-राख्यजलस्य भूमौ निपातनं तिददं सूर्यस्य स्तोतुमई कमीस्ति ॥ २ ॥

भाषार्थ

तीसरी इन्द्र और वृत्रासर की कथा है। इस को भी पुराणवालों ने ऐसा धर के लौटा है कि वह प्रमाण ऋौर युक्ति इन दोनों से विरुद्ध जा पड़ी है। देखो कि त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर ने देवों के राजा इन्द्र को निगल लिया । तव सव देवता लोग बड़े भययुक्त होकर विष्णु के समीप में गये और विष्णु ने उस के मारने का उपाय बतलाया कि मैं समुद्र के फेन में प्रविष्ट हो ऊंगा, तुम लोग उस फेन को उठा के वृत्रासुर के मारना, वह मर जायगा । यह पागलों की सी बनाई हुई पुराणप्रन्थों की कथा सुव मिथ्या है। श्रेष्ठ लोगों को उचित है कि इन को कभी न मानें। देखो सत्यश्रशों में यह कथा इस प्रकार से लिखी है कि (इन्द्रस्य नु॰)। यहां सूर्य्य का इन्द्र नाम है, उस के किये हुए पराक्रमों को हम लोग कहते हैं। जो कि परमैश्वर्य होने का हेतु ऋर्यात् बड़ा तेजधारी है वह ऋपनी किरणों से वृत्र ऋर्यात् मेघ को मारता है। जब वह मरके पृथिवी में गिर पड़ता है तव अपने जलरूप शरीर को सब पृथिवी में फैला देता है। फिर उससे अनेक बड़ी २ नदी परिपूर्ण होके समुद्र में जा मिलती हैं। कैसी वे नदी हैं कि पर्वत ऋथीत् मेघों से उत्पन्न होके जल ही बहने के लिये होती हैं। जिस समय इन्द्र मेघरूप वृत्रासुर को मार के आकाश से पृथिवी में गिरा देता है तब वह पृथिवी में सो जाता है।। १।। फिर वही मेघ आ-काश में से नीचे गिरके पर्वत अर्थात मेघमएडल का पुनः आश्रय लेता है। जिसको सूर्य्य अपनी किरशों से फिर हनन करता है। जैसे कोई लकड़ी को छील के सुदम कर देता है वैसे ही वह मेघ को भी बिन्दु २ कर के पृथिवी में गिरा देता है श्रीर उस के शरीर रूप जल सिमट २ कर निदयों के द्वारा समुद्र को ऐसे प्राप्त होते हैं कि जैसे अपने बछड़ों को गाय दौड़ के मिलती हैं ॥ २ ॥

अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यमिमिन्द्रो वजेण महता वधेने । स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णांहिः शयत उपपृक्षेथिव्याः ॥ ३॥ ऋपादंहस्तो श्रेष्टतन्यदिनद्वमास्य वज्रमधि सानौ जघान वृष्णो विधः प्रतिमानं वुभूषन्युक्त्रा वृत्रो श्रेशयद्वयस्तः॥ ४॥ ऋ० मण्ड० १। स०३२। मं०४। ७

भाष्यम्

श्रहिरिति मेघनामसु पठितम् ॥ निघं० अ०१। खं० १०॥ इन्द्रशत्रु-रिन्द्रोस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुः । तत्को वृत्रो ? मेघ इति नैरुक्नास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः । वृत्रं जिन्नवानपववार तद्वृत्रो वृखोतेर्वा, वर्त्ततेर्वा, वर्धतेर्वा, यदवृणोत्तद्दृत्रस्य वृत्रत्विमिति विज्ञायते । यदवर्त्तत तद्दृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्धत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते ॥ निरु० म्र० २ । खं० १६, १७ ॥ (इन्द्रः) सूर्यः (वज्रेण) विद्युत्किरणाच्येन (महता व०) तीच्णतरेण (वृत्रम्) मेघम् (वृत्रत-रम्) श्रत्यन्तवलवन्तम् (व्यंसम्) श्चिन्नस्कन्धं बेदितघनजालं यथा स्या-त्तथा (श्रह्न्) इतवान् ॥ ३ ॥ स (श्रहिः) मेघः (कुलिशेन) वजेण (विवृक्णा) विन्नानि स्कन्धांसीव (पृथिव्या उपपृक्) यथा कस्यचिन्मनुष्या-देरसिना छिन्नं सदङ्गं पृथिच्यां पतित तथैव स मेघोऽपि (अशयत), छन्दिसि लुङ् लङ् लिट इति सामान्यकाले लङ्, पृथिच्यां शयान इवेन्द्रेण सूर्य्येणापाद-इस्तो व्यस्तो भिन्नाङ्गकृतो वृत्रो मेघो भूमावशयत् शयनं करोतीति ॥ ४ ॥ निघएटौ अ०१। खं०१०॥ वृत्र इति मेघस्य नाम। इन्द्रः शत्रुर्यस्य स इन्द्रशत्रुरिन्द्रोस्य निवारकः । त्वष्टां स्र्य्यस्तस्यापत्यमसुरो मेघः । कुतः । स्र्य्य-किरण्डारैव रसजलसमुदायभेदेन यत्कण्याभृतं जलमुपरि गच्छति, तत्पुनर्मिलित्वा मेघरूपं भवति । तस्यैवासुर इति संज्ञात्वात् । पुनश्च तं स्र्र्ध्यो इत्वा भूमौ निपात-यति । स च भूमि प्रविशाति । नदीर्गच्छति । तद्बारा सम्रद्रमयनं कृत्वा तिष्ठति पुनश्रोपरि गच्छति । तं वृत्रमिन्द्रः सूर्य्यो जिन्नवानपववार निवारितवान् । वृत्रार्थो वृग्गोतेः स्वीकरणीयः । मेघस्य यद्वत्रत्वमावरकत्वं तद्वर्त्तमानत्वाद्वर्धमानत्वाच सिद्धमिति विश्वेयम् ।

भाषार्थ

जब सूर्य्य उस ऋत्यन्त गर्जित मेघ को छिन्न भिन्न करके पृथिवी में ऐसे गिरा देता है कि जैसे कोई किसी मनुष्य आदि के शरीर को काट २ कर गिराता है तब वह बृत्रासुर भी पृथिवी पर गिरा हुआ मृतक के समान शयन करने वाला हो जाता है। ३। निघए हमें मेघ का नाम वृत्र है। (इन्द्रशत्रु०) वृत्र का शत्रु अर्थात् निवारक सूर्य्य है, सूर्य्य का नाम त्वष्टा है, उस का सन्तान मेघ है, क्योंकि सूर्य्य की किरणों के द्वारा जल कण २ होकर ऊपर को जाकर वहां मिल के मेघरूप हो जाता है। तथा मेघ का वृत्र नाम इसलिये हैं कि (वृत्रों वृणोते:०) वह स्वीकार करने योग्य और प्रकाश का आवरण करने वाला है।

श्रतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्टांनां मध्ये निहितं शरीरम्। वृत्रस्य निषयं विचंद्रन्यापो दीर्घं तम् श्राशंयदिन्द्रेशञ्चः ॥ ४ ॥ नास्म विगुन्न तन्त्रतः सिषेष्ठ न यां मिह्नमिक्तरकुादुनि च । इन्द्रंश्च यशुंयु-धाने श्रहिश्चोताप्रीभ्यो मुघवा विजिग्ये ॥ ६ ॥ ऋ० मं० १ । सू० ३२ । मं० १० । १३ ॥

भाष्यम्

इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति । वृत्रो ह वाऽइद्ध सर्वं वृत्वा शिश्ये । यादिदमन्तरेण द्यावापृथिवी । स यदिद्ध सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद्वत्रो नाम ॥ ४ ॥ तामिन्द्रो जघान । स इतः पूतिः सर्वत एवाउपो-भित्रसुस्राव । सर्वत इव ह्ययथं सम्रद्ग,स्तस्मादु हैका आपो वीभत्सांचिकिरे । ता जपर्य्युपर्य्यतिषुष्रुविरे,ऽत इमे दर्भा,स्ता हैता अनाप्यिता आपो,स्ति वाऽइतरासु सर्थ सृष्टामेव, यदेना वृत्रः पूतिरभित्रास्रवत्तदेवासामेतास्यां पवित्राभ्यामपहन्त्य,थ मेध्याभिरेवाङ्गः प्रोचिति, तस्माद्वा एताभ्याम्रुत्पुनाति ॥ ५ ॥ श० कां० १ । अप०१। ब्रा०३। कारिड०४। ५।। तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अगिनः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रे(वान्तारित्तस्थानः, सूर्त्यो द्युस्थान इति ॥ निरु० अ० ७। सं० ५ ॥ (ऋतिष्ठन्तीनाम्०) वृत्रस्य शरीरमापो दीर्घं तमश्ररन्ति । ऋत एवे-न्द्रशत्रुर्वृत्रो मेघो भूमावशयत् । त्रा समन्ताच्छेते ॥ ५ ॥ (नास्मै विद्युत्०) वृत्रेण मायारूपप्रयुक्ता विद्युत्तन्यतुश्रास्मै स्टर्यायेन्द्राय न सिषेध निषेद्धं न शक्रोति। श्रहिर्मेघः, इन्द्रः सूर्यश्र द्वौ परस्परं युयुधाते । यदा वृत्रो वर्धते तदा सूर्य्यप्रकाशं निवारयति । यदा स्टर्यम्य तापरूपसेना वर्धते तदा वृत्रं मेघं निवारयति । परन्तु मघवा इन्द्रः सूर्यस्तं वृत्रं मेघं विजिग्ये जितवान् भवति । त्र्यन्ततोऽस्यैव विजयो भवति न मेघस्यति ॥ ६ ॥ (वृत्रो इ वा इति०) स वृत्र इदं सर्वं विश्वं वृत्वा-SSवृत्य शिश्ये शयनं करोति । तस्माङ्घत्रो नाम । तं दुत्रं मेघामिन्द्रः सूर्यो जघान

इतवान् । स इतः सन् पृथिवीं प्राप्य सर्वतः काष्ठतृणादिभिः संयुक्तः पृतिर्दुर्गन्धो भवति स पुराकाशस्थो भृत्वा सर्वतोऽपोभिसुस्राव, तासां वर्षणं करोति । अयं हतो वृत्रः समुद्रं प्राप्य तत्रापि भयङ्करो भवति । अत एव तत्रस्था आपो भयप्रदा भवन्ति । इत्थं पुनः पुनस्तास्ता नदीसमुद्रपृथिवीगता आपः सूर्यद्वारेणोपर्य्युपर्य-न्तरित्तं पुष्ठुविरे गच्छन्ति, ततोभिवर्षान्ति च । ताभ्य एवेमे दर्भोद्योपधिसमृहा जायन्ते । यौ वाय्विन्द्रौ सर्यपवनावान्तरित्तस्थानौ सर्यश्च द्यस्थाने अर्थात् प्रकाशस्थः । एवं सत्यशास्त्रेषु परमोत्तमायामलङ्कारयुक्तायां कथायां सत्यां ब्रह्मवैवर्त्ती-दिनवीनग्रन्थेषु पुराणाभासेष्वेता अन्यथा कथा उक्तास्ताः शिष्टैः कदाचिन्नैवाकी कर्त्तन्या इति ।

भाषार्थ

(त्र्यतिष्ठन्तीनाम्) वृत्र के इस जलरूप शारीर से बड़ी २ निदयां उत्पन्न हो के श्रगाध समुद्र में जाकर मिलती हैं श्रौर जितना जल तलाव वा कूप श्रादि में रह जाता है वह मानो पृथिवी में शयन कर रहा है ॥ ५ ॥ (नास्मै०) ऋथीत् वह वृत्र त्रपने विजुली त्र्यौर गर्जनरूप भय से भी इन्द्र को कभी नहीं जीत सकता। इस प्रकार श्रलङ्काररूप वर्णन से इन्द्र श्रौर वृत्र ये दोनों परस्पर युद्ध के समान करते हैं श्रर्थात् जब मेघ बढ़ता है तब तो वह सूर्घ्य के प्रकाश को हटाता है श्रौर जब सूर्य्य का ताप श्रर्थात् तेज बढ़ता है तब वह वृत्र नाम मेघ को हटा देता है। परन्तु इस युद्ध के घान्त में इन्द्र नाम सूर्य्य ही का विजय होता है ।। ६ ।। (वृत्रो ह वा०) जब २ मेघ वृद्धि को प्राप होकर पृथिवी ऋौर ऋाकाश में विस्तृत हो के फैलता है तब २ उस को सूर्य्य हनन करके पृथिवी में गिरा दिया करता है। पश्चात् वह अशुद्ध भूमि, सड़े हुए वनस्पति, काष्ट, तृण तथा मलमूत्रादि युक्त होने से कहीं २ दुर्गन्धरूप भी हो जाता है। फिर उसी मेघ का जल समुद्र में जाता है। तब समुद्र का जल देखने में भयङ्कर मालूम पड़ने लगता है। इसी प्रकार वारम्वार मेघ वर्षता रहता है। (उपर्य्युपर्यन्त०) अर्थात् सब स्थानों से जल उड़ २ कर आकाश में बढ़ता है। वहां इकट्ठा हो कर फिर २ वर्षा किया करता है। उसी जल ऋौर पृथिवी के संयोग से श्रोषध्यादि श्रानेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। उसी मेघ को वृत्रासुर के नाम से बोलते हैं। वायु और सूर्य्य का नाम इन्द्र है। वायु अन्तरिक्त में और सूर्य प्रकारास्थान में स्थित है । इन्हीं वृत्रासुर श्रीर इन्द्र का आकाश में युद्ध हुआ करता है कि जिसके अन्त में मेघ का पराजय और सूर्य का विजय निःसंदेह होता है। इस सत्य प्रन्थों की अलङ्काररूप कथा को छोड़ के छोकरों के समान अल्पबुद्धि वाले लोगों ने ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि प्रन्थों में मिध्या कथा लिख रक्खी हैं, उन को श्रेष्ठ पुरुष कभी न मानें।

एवमेव नवीनेषु ग्रन्थेषूक्ता अनेकविधा देवासुरसंग्रामकथा अन्यथैव सान्ति, ता ऋषि बुद्धिमद्भिमेनुष्यैरितरैश्च नैव मन्तव्याः । कुतः । तासाम-प्यलङ्कारयोगात् । तद्यथा । देवासुराः संयत्ता त्र्रासन् ॥ १ ॥ श० कां० १३ । ऋ० ३ । बा० ४ । कं० १ । ऋसुरानभिभवेम देवाः । ऋसुरा श्रमुरता स्थाने व, स्ताः स्थाने स्य इति वा । श्रपि वासुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति, तेन तबन्तः । सोर्देवानमृजत तत्सुराणां सुरत्वम, सोरसुरानमृजत तदसु-राणामसुरत्वमिति विज्ञायते ।। निरु० ऋ० ३ । खं० ⊏ ।। देवानामसुरत्वमेकत्वं प्रज्ञावन्त्वं वानवन्त्वं वापिवासुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनथीनस्ताश्रास्यामथी ऋसुरत्वमा-दिलुप्तम् ॥ निरु० अ० १०। खं० ३४ ॥ सोर्चञ्झाम्यंश्रचार प्रजाकामः। स आत्मन्येव प्रजातिमधत्त, स त्र्यास्येनैव देवानमृजत, ते देवा दिवमभिपद्यामृज्यन्त, तद्देवानां देवत्वं यद्विममिपद्यासृज्यन्त, तस्मै ससृजानाय ।दिवेवास, तद्वेव देवानां देवत्वं यदस्मै ससृजनाय दिवेवास ॥ ऋथ योयमावाङ्प्राणः तेनासुरानसृजत, इमामेव पृथिवीमभिसं-पद्यासृज्यन्त, अतस्मै ससृजानाय तम इवास । सोऽवेत् । पाप्मानं वाऽत्र्यसृद्धि, यस्मै मे समृजानाय तम इवाभूदिति, तांस्तत एव पाप्मना विध्यत्ते तत एव पराभवं,-स्तस्मादाहुर्नेतदस्ति यद्दैवासुरं, यदिदमन्त्राख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्वत्,ततो ह्येव तान् प्रजापतिः पाप्मना विध्यत्ते तत एव पराभवित्रति ॥ तस्मादेतद्दर्षिणाभ्यन्-क्रम् । न त्वं युयुत्से कतमच नाइर्न तेऽिमत्रो मघवन् कश्चनास्ति । मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुनीद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्स इति ।। स यदस्मै देवान्त्समृजानाय दिवेवास तदहरकुरुताथ यदस्मा ऋसुरान्त्समृजानाय तम इवास ताछ रात्रिमकुरुत ते ऋहोरात्रे । स ऐत्तत प्रजापतिः ॥ श० कां० ११ । ऋ० १ । झा० ६ । कं० ७। ८। ६। १०। ११। १२।। देवाश्र वा श्रमुराश्र । उभये प्रजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दीयम्रुपेयुः ॥ श० कां०१। ऋ०७। ब्रा०२। कं०२२॥ द्वया इ प्राजापत्याः । देवाश्रासुराश्र, ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा श्रसुराः।

^{*} वैदिकयन्त्रालयमुदितशतपथे समित्युपसर्गो नास्ति ।

यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥ श० कां० १४ । अ० ४ । अ० १। कं०१।३॥ ऊर्गिति देवा मायेत्यसुराः॥ श०कां०१०। अ०५। ब्रा० २। कं॰ २०॥ प्राणा देवाः ॥ श॰ कां॰ ६ । भ० ३। ब्रा॰ १। कं॰ १५ ॥ प्राणो वा श्रमुस्तस्येषा माया ॥ श०कां०६ । ऋ०६ । झा०२ । कं॰ ६ ॥ (देवासुराः॰) देवा श्रमुराश्र संयत्ता सज्जा युद्धं कर्तुं तत्परा श्रासन् भवन्तीति शेषः । के ते देवासुरा इत्यत्रोच्यते । विद्वाश्रसो हि देवाः ॥ श०कां० ३। ऋ०७। ब्रा०२। कं०१०॥ हीति निश्चयेन विद्यांसी देवास्तद्विपरीता श्राविद्वांसोऽसुराः । ये देवास्ते विद्यावन्वात्प्रकाशवन्तो भवान्ति । ये ह्यविद्वांसस्ते खन्वविद्यावन्वाज् ज्ञानरहितान्धकारिणो भवन्ति । एषामुभयेषां परस्परं युद्धमिव वर्त्ततेऽयमेव दैवासुरसंग्रामः ॥ द्वयं वा इदं, न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च । सत्यमेव देवा श्रनृतं मनुष्याः। इदमहमनृतात्सत्यश्रुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥ स वै सत्यमेव वदेत । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यं, तस्मात्ते यशो, यशो ह भवति । य एवं विद्यान्त्सत्यं वदति, मनो ह वै देवा मनुष्यस्य ॥ श० कां० १ । त्र १ । ब्रा० १ । कं० ४ । ५ । ७ ॥ ये सत्यवादिनः सत्यमानिनः सत्यका-रिग्यं ते देवाः । ये चानृतवादिनोऽनृतकारिगोऽनृतमानिनश्च ते मनुष्या श्रमुरा एव । तयोरिप परस्परं विरोधा युद्धिमव भवत्येव । मनुष्यस्य यन्मनस्तदेवाः, प्राणा ऋसुरा, एतयोरपि विरोधो भवति । मनसा विज्ञानबलेन प्राणानां निग्रहो भवति, प्राणवलेन मनसश्रेति युद्धामिव प्रवर्तते । प्रकाशाख्यात्सोर्देवान्मनःषष्ठा-नीन्द्रियाणीश्वरोऽमृजत । श्रतस्ते प्रकाशकारकाः । श्रसोरन्धकाराख्यात्पृथिव्यादे-रसरान्पश्चकर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्रामृजत । एतयोरपि प्रकाशाप्रकाशसाधकतमत्वानु-रोधेन संग्रामवदनयोर्वर्त्तमानमस्तीति विद्येयम् । (सोर्चब्छ्राम्यंश्रचार०) प्रजाकामः परमेश्वर, त्र्यास्येनाग्निपरमाणुमयात्कारणात्, सूर्य्यादीन्प्रकाशवतो लोकान् मुख्यगुणकर्मभ्यो यानसृजत, ते देवा द्योतमाना दिवं प्रकाशं परमेश्वर-प्रेरितमभिपद्य, प्रकाशादिव्यवहारानसृज्यन्त । तदेव देवानां देवत्वं यतस्ते दिवि प्रकाशे रमन्ते । अथेत्यनन्तरमर्वाचीनो योयं प्राणो वायुः पृथिव्यादिलोकश्रेश्वरेण मृष्टस्तेनैवासुरान्त्रकाशराद्दितानमृजत मृष्टवानस्ति । ते पृथिवीमभिषद्यौषध्यादीन्प-दार्थानमृज्यन्त । ते सर्वे सकार्याः प्रकाशरहितास्तयोस्तमःप्रकाशवतोरन्योन्यं विरोधो युद्धमिव प्रवर्त्तते, तस्मादिदमपि देवासुरं युद्धमिति विन्नेयम्। तथैव पुरुयात्मा मनुष्यो देवोस्ति, पापात्मा श्रसुरश्च । एतयोरपि परस्परं विरुद्धस्वभावा-

द्युद्धमिव प्रतिदिनं भवति, तस्मादेषोऽपि देवासुरसंग्रामोस्तीति विश्वेयम् । एवमेव दिनं देवो, रात्रिरसुरः । एतयोरपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्तते । त इमे उमये पूर्वोक्षः प्रजापतेः परमेश्वरस्य पुत्रा इव वर्त्तन्ते, अत एव ते परमेश्वरस्य पदार्थानुपेताः सिन्त । तेषां मध्येऽसुराः प्राणादयो ज्येष्ठाः सिन्त । वायोः पूर्वोत्पन्नत्वात्प्राणानां तन्मयत्वाच्च । तथैव जन्मतो मनुष्याः सर्वेऽविद्धांसो भवन्ति । पुनर्विद्धांसश्च । तथैव वायोः सकाशाद्गनेरुत्पत्तिः प्रकृतेरिन्द्रियाणां च तस्मादसुग ज्येष्ठा देवाश्च किन्छाः । एकत्र देवाः स्वर्यादयो ज्येष्ठाः पृथिव्यादयोऽसुराःकिनष्ठाश्च । ते सर्वे प्रजापतेः सकाशादुत्पन्नत्वात्तर्यापात्यानीव सन्तीति विश्वयम् । एवामपि परस्परं युद्ध-मिव प्रवर्त्तत इति ज्ञातव्यम् । ये प्राणपोषकाः स्वार्थमाधनतत्परा मायाविनः कप्रिनो मनुष्यास्ते द्यारच विश्वयाः । एतयोरपि परस्परं विरोधात्संग्राम इव भवति । इत्यादिप्रकारकं द्वासुरं युद्धमिति बोध्यम् । एवं परमोत्तमायां विद्यानित्राणसंञ्जकेषु नवीनेषु तन्त्रादिषु ग्रन्थेषु च, या मिध्येव कथा वर्षिताः सन्तिः, विद्यन्नित्तेताः कथाः कदाचिदपि सत्या मन्तव्या इति ।

भाषार्थ

जो चौथी देवासुर संप्राम की कथा रूपकालङ्कार की है इस को भी विना जाने प्रमादी लोगों ने विगाड़ दिया है। जैसे एक दैत्यों की सेना थी कि जिन का शुक्रा-चार्य पुरोहित था और वे दिलाए देश में रहे थे, तथा दूसरी देवों की सेना थी कि जिन का राजा इन्द्र, सेनापित अप्रि और पुरोहित बृहस्पित था। उन देवों के विजय कराने के लिये आर्थावर्त्त के राजा भी जाया करते थे। असुर लोग तप करके ब्रह्मा, विष्णु और महादेवादि से वर मांग लेते थे और उनके मारने के लिये विष्णु अवतार धारए करके पृथिवी का भार उतारा करते थे। यह सब पुराणों की गणें व्यर्थ जान-कर छोड़ देना और सत्य प्रन्थों की कथा जो नीचे लिखते हैं उन का प्रहण करना सब को उचित है। तदाथा—(देवासुराः सं), देव और असुर अपने २ बाने में सजकर सब दिन युद्ध किया करते हैं, तथा इन्द्र और वृत्रासुर की जो कथा उपर लिख आये सो भी देवासुरसंप्रामरूप जानो। क्योंकि सूर्य्य की किरण देवसंज्ञक और मेघ के अवयव अर्थात् बादल असुरसंज्ञक हैं। उन का परस्पर युद्ध वर्णन पूर्व कर दिया

है। निघएंद्र श्रादि सत्य शास्त्रों में सूर्थ्य देव श्रीर मेघ श्रसुर करके प्रसिद्ध है। इन सब वचनों का ऋभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग देवासुर संप्राम का स्वरूप यथावत् जान लेवें। जैसे जो लोग विद्वान, सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकर्म करने वाले हैं वे तो देव श्रौर जो श्रविद्वान, भूंठ बोलने, भूंठ मानने श्रौर मिथ्याचार करने वाले हैं वे ऋसुर कहाते हैं। उन का परस्पर नित्य विरोध होना यही उनके युद्ध के समान है। इसी प्रकार मनुष्य का मन और ज्ञान इन्द्रिय भी देव कहाते हैं, उन में राजा मन त्रौर सेना इन्द्रिय हैं। तथा सब प्राणों का नाम त्रासुर है, उन में राजा प्राण और श्रपानादि सेना है। इन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हुआ करता है। मन के विज्ञान बढ़ने से प्राणों का जय और प्राणों के बढ़ने से मन का विजय हो जाता है। (सोर्दे०) सु अर्थान् प्रकाश के परमागुआं से मन और पांच ज्ञानेन्द्रिय, उनके परस्पर संयोग तथा सूर्य्य श्रादि को ईश्वर रचता है। श्रोर (श्रसो०) श्रन्ध-कारह्म परमाणुओं से पांच कर्मेन्द्रिय, दश प्राण श्रीर पृथिवी श्रादि को रचता है जो कि प्रकाशरहित होने से असुर कहाते हैं। प्रकाश और अप्रकाश के विरुद्ध गुण होने से इन की भी संप्राम संज्ञा मानी है। तथा पुण्यात्मा मनुष्य देव श्रौर पापात्मा दुष्ट लोग त्रासुर कहाते हैं। उनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध नित्य होता रहता है। तथा दिन का नाम देव श्रौर रात्रि का नाम श्रासर है। इन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है। तथा शुक्रपच का नाम देव श्रीर कृष्णपच का नाम श्रमुर है। तथा उत्तरायण की देवसंज्ञा श्रोर दिचणायन की श्रमुर संज्ञा है। इन सभों का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहां २ ऐसे लच्च घट सकें वहां २ देवासुर संप्राम का रूपकालङ्कार जान लेना। ये सब देव श्रीर श्रासुर प्राजापत्य श्रार्थात् ईश्वर के पुत्र के समान कहे जाते हैं श्रारे संसार के सब पदार्थ इन्हीं के श्राधिकार में रहते हैं। इनमें से जो २ असुर अर्थात् प्राण आदि हैं वे ज्येष्ठ कहाते हैं क्योंकि वे प्रथम उत्पन्न द्रुए हैं, तथा बाल्यावस्था में सब मनुष्य भी त्राविद्वान होते हैं, तथा सूर्य्य, ज्ञानेन्द्रिय स्रौर विद्वान् त्रादि पश्चात् प्रकाश होने से किनष्ट बोले जाते हैं। उन में से जो २ मनुष्य स्वार्थी त्रीर त्रपने प्राण को पुष्ट करने वाले तथा कपट छल त्रादि दोपों से युक्त हैं वे श्रप्तर श्रीर जो लोग परोपकारी परदु: खभव्जन तथा धर्मात्मा हैं वे देव कहाते हैं। इस सत्याविद्या के प्रकाश करने वाली कथा को प्रीतिपूर्वक प्रह्ण करके सर्वत्र प्रचार करना श्रीर मिथ्या कथाश्रों का मन कर्म श्रीर वचन से त्याग करदेना सब को उचित है।

एवमेव करयपगयादितीर्थकथा ऋषि त्रक्षवैवक्तीदिषु ग्रन्थेषु वेदादिसत्यशास्त्रे-भ्यो विरुद्धा उक्ताः सन्ति । तद्यथा । मरीचिषुत्रः करयप ऋषिरासीक्तस्मै त्रयोदश कन्या दत्तप्रजापतिना विवाहविधानेन दत्ताः । तत्सङ्गमे दितेदैत्या, ऋदितेरा-दित्याः, दनोदीनवाः, एवमेव कद्भाः सर्पाः, विनतायाः पित्तणः । तथाऽन्यासां सकाशाद्वानरर्च्छवृत्त्वधासादय उत्पन्ना इत्याद्या अन्धकारमय्यः प्रमाण्युक्तिविद्यावि-रुद्धा अपम्भवग्रस्ताः कथा उक्तास्ता ऋषि मिथ्या एव सन्तीति विद्येषम् । तद्यथा-

स यत्कूमी नाम। प्रजापिः इजा श्रम्भजतः यद्मुजताकरोत्तचद-करोत्तःमात्कूममेः, कश्यपो वे कूम्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः कत्श्यप्य इति ॥ श० कां० ७। घ्र० ४। ब्रा० १। कं० ४॥

भाष्यम्

(स यत्क्रम्भः) परमेखरेणेदं सकलं जगत् कियते तस्मात्तस्य क्र्म्मे इति संज्ञा । करयपो वै क्रम्मे इत्यनेन परमेश्वरस्यैव करयप इति नामास्ति । तेनेवेमाः सर्वाः प्रजा उत्पादितास्तस्मात्सर्वा इमाः प्रजाः काश्यप्य इत्युच्यन्ते । कश्यपः कस्मान्त्रप्रयको भवतीति निरुक्तचा, पश्यतीति पश्यः सर्वज्ञतया सकलं जगद्विजानाति स पश्यः, पश्य एव निश्रमतयाऽतिम्रच्ममिष वस्तु यथार्थ जानात्येवातः पश्यक इति । आद्यन्ताचरविषय्ययाद्धिसेः सिंहः, कृतेस्तर्कुरित्यादिवत्कश्यप इति हयवस्य इत्येतस्योपि महाभाष्यप्रमाणेन पदं सिध्यति । अतः सुष्ठु विज्ञायते काश्यप्यः प्रजा इति ।

भाषार्थ

जो पांचवीं करयप श्रौर गया पुष्करतीर्थादि कथा लोगों ने विगाड़ के प्रसिद्ध की हैं, जैसे देखों कि मरीचि के पुत्र एक करयप ऋषि हुए थे, उन को दत्तप्रजापित ने विवाह विधान से तेरह कन्या दीं, कि जिनसे सब संसार की उत्पत्ति हुई। श्रर्थात् दिति से दैत्य, श्रादित से श्रादित्य, दनु से दानव, कहू से सर्प श्रौर विनता से पत्ती तथा श्रौरों से बानर, ऋच्छ, घास श्रादि पदार्थ भी उत्पन्न हुए। इसी प्रकार चन्द्रमा को सत्ताईस कन्या दीं। इत्यादि प्रमाण श्रौर युक्ति से विरुद्ध श्रनेक श्रमंभव कथा लिख रक्खी हैं। उनको मानना किसी मनुष्य को उचित नहीं। देखिये ये ही कथा सत्य शास्त्रों में किस प्रकार की उत्तम लिखी हैं। (स यत्क्र्मों०) प्रजा को उत्पन्न करने से क्रूम्में तथा उसको श्रमने ज्ञान से देखने के कारण उस परमेश्वर को कश्यप भी

कहते हैं। (कश्यप) यह शब्द (पश्यकः) इस शब्द के आद्यन्तात्त्राविपर्य्य से बनता है इस प्रकार की उत्तम कथा को समक्त के उन मिथ्या कथाओं को सब लोग छोड़ देवें कि जिससे सबका कल्याण हो। श्रब देखो गयादि तथिं की कथाओं को।

प्राणा वै बलं, तत्प्राणे प्रतिष्ठितं, तस्मादाहुर्बल्धंसत्यादोजीय, इत्येवम्वेषा गायत्र्यध्यातमं प्रतिष्ठिता ॥ सा हैपा गयांस्तत्रे । प्राणा वै गयास्तत्त्राणांस्तत्रे, तद्यद्भयांस्तत्रे तस्मादु गायत्रीनाम् ॥ श० कां० १४ । अ० ८ । ब्रा० ५ । क० ६ । ७ ॥ तीर्थमेव प्रायगीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन हि प्रस्नान्ति ॥ तीर्थमेवोद्यनीयोऽ-तिरात्रस्तीर्थेन ह्युत्स्नान्ति ॥ श० कां० १२ । ऋ० २ । झा० १ । कं० १ । ४ ॥ गय इत्यपत्यनाममु पठितम् ॥ निघं० घ्र० २ । खं० २ ॥ ब्रहि छसन्सर्व-भृतान्यन्यत्र तीर्थेम्य इति छान्दोग्योपनि० ॥ प्र० ८ । खं० १४ ॥ समान-तीर्थे वासी ॥ इत्यष्टाध्याय्याम् ॥ ऋ० ४ । पा०४ । सू० १०७ ॥ सतीर्थ्यो ब्रह्मचारीत्युदाहरणम् । त्रयः स्नातका भवन्ति । विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्यात्रतस्नातकश्रेति ।। यो विद्यां समाप्य व्रतमसमाप्य समावर्त्तते स व्रतस्नातक इत्यादि पारस्करगृह्यसूत्रे ॥ नमस्तीर्थ्याय च ॥ ये तीर्थानि प्रचरन्ति सकाहस्ता निषङ्गिणः । इति शुक्रयजुर्वेदसंहितायाम् ॥ ऋ०१६ । मं० ४२, ६१ ॥ एव-मेव गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यामित्यत्रोच्यते । तद्यथा-प्राण एव वलमिति विज्ञायते, बलमोजीयः । तत्रैव सत्यं प्राणेऽध्यात्मं प्रतिष्ठितं, तत्र च परमेश्वरः प्रतिष्ठितस्त-द्वाचकत्वात् । गायत्र्यपि ब्रह्मविद्यायामध्यात्मं प्रतिष्ठिताः तां गायत्रीं गयामाह । प्राणानां गयेति संज्ञा, प्राणा वै गया इत्युक्तत्वात् । तत्र गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यम् । अर्थात् गयारुयेषु प्राणेषु श्रद्धया समाधिविधानेन परमेश्वरप्राप्तावत्यन्तश्रद्धधाना जीवा अनुतिष्ठेयुरित्येकं गयाश्राद्धविधानम् । गयान् प्राणान् त्रायते सा गायत्री इत्यभिधायते । एवमेव ग्रहस्यापत्यस्य प्रजायाश्र गैयेति नामास्ति । स्रत्रापि सर्वैर्मनुष्यैः श्रद्धातव्यम् । गृहकृत्येषु श्रद्धावश्यं विधेया । मातुः पितुराचार्व्यस्या-तिथेश्वान्येषां मान्यानां च श्रद्धया सेवाकरणं गयाश्राद्धिमत्युच्यते । तथैव स्वस्या-पत्येषु प्रजायां चोत्तमाशिचाकरणे ह्युपकारे च श्रद्धावश्यं सर्वैः कार्य्येति श्रत्र श्रद्धाकरणेन विद्याप्राप्त्या मोत्तारूयं विष्णुपदं लभ्यत इति निश्रीयते । श्रत्रैव श्रान्त्या विष्णुगयेति च पदद्वयोर्श्यविज्ञानाभावान्मगधदेशैकदेशे पाषाणस्योपरि

⁽१) निवं०३, ४। (२) निवं०२,२। निवयटौं गया इति स्त्रीलिंग; पाठी नास्ति।

शिल्पिद्वारा मनुष्यपादिचिह्नं कारियत्वा तस्यैव कैश्चित्स्वार्थसाधनतत्वरैरुद्रम्भ-रैविष्णुपदिमिति नाम रिचतम्, तस्य स्थलस्य गयेति च, तद् व्यर्थमेव । क्रतः । विष्णुपदं मोचस्य नामास्ति प्राण्यद्दप्रज्ञानां चातोऽत्रेयं तेषां भ्रान्तिर्जातेति बोध्यम् । स्रत्र प्रमाणम् ।

हुदं विष्णुर्विचंक्रमे श्रेधा निर्देधे प्दम्।समूहमस्य पार्थमुरेस्वाहो ।। १ ॥ यज्जु० अ० ४ । मं० १४ ॥ यदिदं किञ्च तिहक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदम् । त्रेधा भावाय पृथिव्यामन्तरिचे दिवीति शाकपूणिः, समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः । समृहमस्य पांसुरे प्यायनेऽन्तरिचे पदं न दृश्यतेऽपि वोपमार्थे स्यात् समृहमस्य पांसु इव पदं न दृश्यत इति। पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्नाः शेरत इति वा, पंसनीया भवन्तीति वा ॥ निरु० अ० १२ । खं० १६ ॥

अस्यार्थं यथावद्विदित्वा अमेणेयं कथा प्रचारिता । तद्यथा । विष्णुर्व्यापकः परमेश्वरः सर्वजगत्कर्ता तस्य पूषेति नाम । अत्राह निरुक्तकारः ।

पूषेत्यथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति, विष्णुर्विशतेर्वा व्यक्षो-तेर्वा। तस्यैषा भवति। इदं विष्णुरित्यृक्॥ निरु० म्र०१२। खं०१८॥ भाष्यम्

वेवेष्टि विशितः प्रविष्टोस्ति, चराचरं जगत् व्यश्नुते व्याप्नांति वा स विष्णुर्निराकारत्वात्सर्वगत ईश्वरोस्ति । एतद्रथवाचिकेयमृक् । इदं सकलं जगत्त्रेधा त्रिप्रकारकं विचक्रमे विक्रान्तवान् । क्रम्र पाद्विचेषे । पादैः प्रकृतिपरमाएवादिभिः स्वसामर्थ्याशौर्जगदिदं पदं प्राप्तव्यं सर्वं वस्तुजातं त्रिषु स्थानेषु (निधत्ते) निद्धे स्थापितवान् । अर्थात् यावद् गुरुत्वादियुक्तं प्रकाशरिहतं तत्सर्वं जगत् पृथिव्याम् । यल्लघुत्वादियुक्तं वायुपरमाएवादिकं तत्सर्वमन्तरिचे । यच प्रकाशमयं सर्य्यक्षानेन्द्रि-यजीवादिकं च तत्सर्वं दिवि द्योतनात्मके प्रकाशमयेऽग्नौ वेति विक्षेयम् । एवं त्रिविधं जगदीश्वरेण रचितमेषां मध्ये यत्समृढं मोहेन सह वर्त्तमानं क्रानवर्जिनं जडं तत्पांसुरेऽन्तरिचे परमाणुमयं रचितवान् । सर्वे लोका अन्तरिच्स्थाः सन्तीति बोध्यम् । तदिदमस्य परमेश्वरस्य धन्यवादाई स्तोतव्यं कर्मास्तीति बोध्यम् । अयमेवार्थः (यदिदं किञ्च०) इत्यनेन यास्काचार्येण वर्णितः । यदिदं किञ्चिज्ञगद्धत्तेते तत्सर्वं विष्णुद्यीपक ईश्वरो विकमते रचितवान् । (त्रिधा निधत्ते पदं) त्रेधा भावाय, त्रिप्रकारकस्य जगतो भवनाय, तदुक्तं पूर्व- मेव । तास्मन् (विष्णुपदे) मोत्तारूये (समारोहणे) समारोहुमहें (गयशिर-सीति) प्राणानां प्रजानां च यदुत्तमाङ्गं प्रकृत्यात्मकं शिरो यथा भवति, तथैवेश्वर-स्यापि सामर्थ्यं गयशिरः, प्रजाप्राणयोरुपरिभागे वर्त्तते । यदीश्वरस्यानन्तं साम-र्थ्यं वर्त्तते, तस्मिन् गयशिरासि विष्णुपदे हीश्वरसामर्थ्येस्तीति । कुतः । व्याप्यस्य सर्वस्य जगतो व्यापके परमेश्वरे वर्त्तमानत्वात् । पांसुरे प्यायनेऽन्तरित्ते पदं पद-नीयं परमाएवारूयं यज्जगत्तचन्नुषा न दृश्यते । ये च पांसवः परमाणुसंघाताः पादैस्तद्द्रव्यांशैः स्रयन्त उत्पद्यन्ते, अत एवसुत्पन्नाः सर्वे पदार्थाः दृश्या भूत्वेश्वरे शेरत इति विज्ञायते । इममर्थमविज्ञाय मिथ्याकथाव्यवहारः परिडताभासैः प्रचा-रित इति बोद्धव्यम् । तथैव वेदाद्यक्ररीत्याऽऽर्येश्चानुष्ठितानि तीर्थान्यन्यान्येव सन्ति । यानि सर्वदुःखेभ्यः पृथक्कृत्वा जीवेभ्यः सर्वसुखानि प्रापयन्ति तानि तीर्थानि मतानि । यानि च भ्रान्तै रचितपुस्तकेषु जलस्थलमयानि तीर्थसंज्ञान्यु-क्नानि तानि वेदार्थाभिप्रेतानि नैव सन्तीति मन्तव्यम् । तद्यथा । (तीर्थमेव प्राय०) यत्प्रायणीययज्ञस्याङ्गमतिरात्राख्यं व्रतं समाप्य स्नानं ऋियते तदेव तीर्थीमिति वेद्यम् । येन तीर्थेन मनुष्याः प्रस्नाय शुद्धा भवन्ति । तथैव यदुद्यनीयाख्यं यज्ञसम्बन्धि सर्वोपकारकं कर्म समाप्य स्नान्ति, तदेव दुःख-समुद्रात्तारकत्वात्तीर्थामिति मन्तव्यम् । एवमेव (ऋहि असन् ०) मनुष्यः सर्वाणि भूतान्यहिंसन्, सर्वभूतैवैरमकुर्वाणः सन् वर्त्तेत । परन्तु तीर्थेभ्यो वेदादि-सत्यशास्त्रविहितेभ्योऽन्यत्राहिंसा धर्मो मन्तव्यः । तद्यथा । यत्र यत्रापराधिना-मुपरि हिंसनं विहितं तत्तु कर्त्तव्यमेव । ये पाखािंगडेनो वेदसत्यधर्मानुष्ठानशत्रव-श्चोरादयश्च ते तु यथापराघं हिंसनीया एव । अत्र वेदादिसत्यशास्त्राणां तीर्थ-संज्ञास्ति । तेषामध्ययनाध्यापनेन तदुक्रधम्मेकम्मेविज्ञानानुष्ठानेन च दुःखसम्रद्रा-त्तरन्त्येव । तेषु सम्यक् स्नात्वा मनुष्याः शुद्धा भवन्त्यतः ॥ तथैव समानतीर्थे वासीत्यनेन समानो द्वयोर्विद्यार्थिनोरेक आचार्यः समानमेकशास्त्राध्ययनं चात्रा-चार्य्यशास्त्रयोस्तीर्थसं ज्ञास्ति । मातापित्रतिथीनां सम्यक्सेवनेन सुशिचया विद्या-प्राप्त्या दुःखसमुद्रान्मनुष्यास्तरन्त्येवातस्तानि तीर्थानि दुःखाचारकत्वादेव मन्त-व्यानि । एतेष्वपि स्नात्वा मनुष्यैः शुद्धिः सम्पादनीयेति । (त्रयः स्ना०) त्रय एव तीर्थेषु कृतस्नानाः शुद्धा भवन्ति । तद्यथा । यः सुनियमेन पूर्णा विद्यां पठित, स ब्रह्मचर्याश्रममसमाप्यापि विद्यातीर्थे स्नाति, स शुद्धो भवति । यस्तु खलु ब्रितीयः, यत्पूर्वोक्नं ब्रह्मचर्य्यं सुनियमाचरणेन समाप्य, विद्यामसमाप्य समा- वर्त्तते, स वतस्नातको भवति । यश्च सुनियमेन ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य वेदशास्त्रा-दिविद्यां च समावर्त्तते, सोऽप्यस्मिन्तुत्तमतीर्थे सम्यक् स्नात्वा, यथावच्छुद्धात्मा, शुद्धान्तःकरणः, सत्यधर्माचारी, परमविद्वान् , सर्वोपकाग्को भवतीति विज्ञातन्यम् । (नमस्तीर्थ्याय च) तेषु प्राणवेदविज्ञानतीर्थेषु पूर्वोक्नेषु भवः सः तीर्थ्यस्तस्मै तीथ्याय परमेरवराय नमोऽस्तु । ये विद्वांसस्तीर्थाने वेदाध्ययनसत्यभाषणादीनि पूर्वोक्तानि प्रचरन्ति व्यवहरान्ति, ये च पूर्वोक्तब्रह्मचर्य्यसेविशो रुद्रा महाबलाः, (सुकाइस्ताः) विद्याविज्ञाने इस्तौ येषां ते, (निपंिग्णः) निषंगः संशयच्छेदक उपदेशाख्यः सङ्गो येपां ते सत्योपदेष्टारः । तं त्वौपनिपदं पुरुषं पृच्छामीति ब्राह्मण्वाक्यात्, उपनिपत्सु भवं प्रतिपाद्यं विज्ञापनीयं परमेरवरमाहुः। ऋत एवोक्रस्तीर्थ्यं इति । सर्वेषां तारकाणां तीर्थानात्मकत्वात्, पग्मतीर्थाख्यो, धर्मा-त्मनां स्वभक्कानां सद्यस्तारकत्वात्, परमेश्वर एवास्ति । एतेनैतानि तीर्थानि व्याख्यातानि । (प्रश्नः) यैस्तरन्ति नरास्तानि जलस्थलादीनि तीर्थानि क्रुतो न भवन्ति ? । स्रत्रोच्यते । नैव जलं स्थलं च तारकं कदाचिद्धवितुमहिति, तत्र सामर्थ्याभावात् , करणकारकव्युत्पत्त्यभावाच । जलस्थलादीनि नौकादिभिर्यानैः, पद्भ्यां, बाहुभ्यां च जनास्तरन्ति । तानि च कर्मकारकान्वितानि भवन्ति, कर-गुकारकान्वितानि तु नौकादीनि । यदि पद्भ्यां गमनं बाहुबलं न कुर्यात्र च नौकादिषु तिष्ठेत्तर्द्धित्रस्यं तत्र मनुष्या मज्जेन्महद्दुःसं च प्राप्नुयात् । तस्माबेदानु-यायिनामार्घ्याणां मते काशीप्रयागपुष्करगङ्गायग्रुनादिनदीनां सागराणां च नैव तीर्थसंज्ञा सिध्यति । किन्तु वेदिवज्ञानरहितेरुदरम्भरैः सम्प्रदायस्थै-र्जीविकाधीनैर्वेदमार्गविरोधिभिरल्पज्ञैर्जीविकार्थं स्वकीयरचितत्रन्थेपु प्रसिद्धीकृतानि सन्तीति । ननु, इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वतीति गङ्गादिनदीनां वेदेषु, प्रतिपादनं कृतमस्ति त्वया कथं न मन्यते ? । गङ्गे यमुने सर्स्वतीति श्रत्रोच्यते । मन्यते तु मया तासां नदीसंज्ञेति, ता गङ्गादयो नद्यः सन्ति । ताभ्यो यथायोग्यं जलशुद्धचादिगुणैर्यावानुपकारो भवति तावत्तासां मान्यं करोमि । न च पापनाशकत्वं दुःखात्तारकत्वं च । कुतः । जलस्थलादीनां तत्सामध्यीभावात् । इदं सामर्थ्यं तु पूर्वोक्केष्वेव तीर्थेषु गम्यते नान्यत्रेति । त्र्यन्यच । इडापिक्कलासुषु-म्णाक्समीनाड्यादीनां गङ्गादिसंज्ञास्तीति । तासांयोगसमाधौ परमेश्वरस्य ग्रहणात्। तस्य ध्यानं दुःखनाशकं मुक्तिप्रदं च मवत्येव । तासामिडादीनां धारणासिध्यर्थ चित्तस्य स्थिरीकरणार्थं स्वीकरणमस्तीति तत्र प्रह्णात् । एतन्मन्त्रप्रकरणे परमे-

स्वरस्यानुवर्त्तनात् । एवमेव, (सितासिते यत्र सङ्ग्ये तत्राप्छुतासो दिवसुत्पतन्ति०) एतेन परिशिष्टवचनेन कोचिद् गङ्गायसुनयोप्रेहणं कुर्वन्ति । सङ्ग्ये इति पदेन गङ्गायसुनयोः संयोगस्य प्रयागतीर्थमिति संज्ञां कुर्वन्ति । तन्न सङ्ग्च्छते । कुतः । नैव तत्राप्छुत्य स्नानं कृत्वा दिवं द्योतनात्मकं परमेश्वरं सूर्य्यलोकं वोत्पतन्ति, गच्छन्ति, किन्तु पुनः स्वकीयं स्वकीयं गृहमागच्छन्त्यतः । श्रत्रापि सितशब्देने- हायाः, श्रसितशब्देन पिङ्गलायाश्र ग्रहणम् । यत्र तु खल्वेतयोनीङ्योः सुषुम्णायां समागमो मेलनं भवति, तत्र कृतस्नानाः परमयोगिनो, दिवं परमेश्वरं प्रकाशमयं मोच्चाच्यं सत्यविज्ञानं चोत्पतन्ति सम्यग्गच्छन्ति प्रामुवन्ति । श्रतोऽनयोरेवात्र ग्रहणं न च तयोः । स्रत्र प्रमाणम् । सितासितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम् ।। निरु० श्र० ६ । खं० २६ ।। सितं शुक्लवर्णमसितं तस्य निषेधः । तयोः प्रकाशान्धकारयोः सर्यादिपृथिच्यादिपदार्थयोर्यत्रेश्वरसामर्थ्यं समागमोस्ति तत्र कृतस्नानास्तद्विज्ञानवन्तो दिवं पूर्वोकं गच्छन्त्येव ।

भाषार्थ

छठी यह कथा है कि जो गया को तीर्थ बना रक्खा है। लोगों ने मगध देश में एक स्थान है, वहां फल्गु नदी के तीर पाषाण पर मनुष्य के पग का चिह्न बना के उसका विष्णुपद नाम रखिदया है, श्रोर यह बात प्रसिद्ध करदी है कि यहां श्राद्ध करने से पितरों की मुक्ति हो जाती है। जो लोग श्रांख के श्रंधे गांठ के पूरे उन के जाल में जा फंसते हैं उनको गयावाले उलटे उस्तरे से खूब हजामत बनाते हैं इत्यादि प्रमाद से उन के धन का नाश कराते हैं, वह परधनहरण पेटपालक ठगलीला केवल भूठ ही की गठरी है। जैसा कि सत्यशास्त्रों में लिखी हुई श्रागे की कथा देखने से सब को प्रकट हो जावेगा। (प्राण एव वलं०), इन वचनों का श्राभिप्राय यह है कि श्रात्यन्त श्रद्धा से गया-संज्ञक प्राण श्रादि में परमेश्वर की जपासना करने से जीव की मुक्ति हो जाती है। प्राण में बल श्रोर सत्य प्रतिष्ठित है क्योंकि परमेश्वर प्राण का भी प्राण है श्रोर उसका प्रातिपादन करनेवाला गायत्री मंत्र है कि जिसको गया कहते हैं। किसलिए कि उस का श्रर्थ जानके श्रद्धासहित परमेश्वर की भिक्त करने से जीव सब दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। तथा प्राण का भी नाम गया है उस को प्राणायाम की रीति से रोक के परमेश्वर की भिक्त के प्रताप से पितर श्रर्थात् ज्ञानी लोग सब दुःखों से रहित होकर मुक्त हो

जाते हैं। क्योंकि परमेश्वर प्राणों की रक्षा करने वाला है। इसलिए ईश्वर का नाम गायत्री श्रीर गायत्री का नाम गया है। तथा निघएटु में घर, सन्तान श्रीर प्रजा इन तीनों का नाम भी गया है। मनुष्यों को इन में श्रात्यन्त श्रद्धा करनी चाहिए। इसी प्रकार माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा तथा सब के उपकार और उन्नति के कामों की सिद्धि करने में जो अत्यन्त श्रद्धा करनी है उसका नाम गया-श्राद्ध है । तथा श्रापने सन्तानों को सुशिचा से विद्या देना श्र्यौर उनके पालन में श्रात्यन्त प्रीति करनी इस का नाम भी गयाश्राद्ध है। तथा धर्म से प्रजा का पालन, सुख की उन्नति, विद्या का प्रचार, श्रेष्ठों की रत्ता, दुष्टों को दण्ड देना श्रीर सत्य की उन्नति त्रादि धर्म के काम करना ये सब मिलकर त्रायवा पृथक २ भी गयाश्राद कहाते हैं। इस अत्यन्त श्रेष्ठ कथ को छोड़ के विद्याहीन पुरुषों ने जो मिथ्या कथा बना रक्ख़ी है उस को कभी न मानना श्रीर जो वहां पाषाएं के ऊपा मनुष्य के पग का चिह्न बना कर उस का नाम विष्णुपद रक्खा है सो सब मूल से ही मिथ्या है। क्योंिक व्यापक परमेश्वर जो सब जगत् का करने वाला है उसी का नाम विष्णु है। देखो यहां निरुक्तकार ने कहा है कि (पूषेत्यथ०) विष्तु धातु का ऋर्थ व्यापक होने श्रर्थात् सब चराचर जगत् में प्रविष्ट रहना वा जगत को श्रपने में स्थापन करलेने का है। इसलिये निराकार ईश्वर का नाम विष्णु है। (क्रमु पादविद्तेषे) यह धातु दूसरी वस्तु को पर्गों से दवाना वा स्थापन करना इस ऋर्थ को बतलाता है। इस का ऋभिप्राय यह है कि भगवान् अपने पाद् अर्थात् प्रकृति परमाग्र आदि सामर्थ्य के अंशों से जगत् को तीन स्थानों में स्थापन करके धारण कर रहा है। श्रर्थात् भारसिहत और प्रकाशर्राहत जगत् को पृथिवी में, परमाणु श्रादि सुदम द्रव्यों को अन्तरिच्च में, तथा प्रकाशमान सूर्य्य और ज्ञानेन्द्रिय आदि को प्रकाश में, इस रीति से तीन प्रकार के जगत् को ईश्वर ने रचा है। फिर इन्हीं तीन भेदों में एक मूढ़ अर्थात् झानरहित जो जड़ जगत् है वह अन्तरिच्न अर्थात् पोल के बीच में स्थित है, सो यह केवल परमेश्वर ही की महिमा है कि जिसने ऐसे २ श्रद्धत पदार्थ रच के सब को धारण कर रक्खा है। (यदिदं किंच०) इस विष्णुपद के विषय में यास्क्रमुनि ने भी इस प्रकार व्याख्यान किया है कि यह सब जगत सर्वव्यापक परमेश्वर ने बनाकर, (त्रिधा०) इस में तीन प्रकार की रचना दिखलाई है, जिससे मोच पद को प्राप्त होते हैं वह समारोहण कहाता है, सो विष्णुपद गयशिर अर्थात प्राणों के परे है, उस को मनुष्य

लोग प्राण में स्थिर होके प्राण से विय अन्तर्यामी परमेश्वर को प्राप्त होते हैं, अन्य मार्ग से नहीं। क्योंकि प्राण का भी प्राण श्रौर जीवात्मा में व्याप्त जो परमेश्वर है उससे दूर जीव वा जीव से दूर वह कभी नहीं हो सकता। उसमें से सूदम जो जगत् का भाग है सो आंख से दीखने योग्य नहीं हो सकता, किन्तु जब कोई पदार्थ पर-माणुत्रों के संयोग से स्थूल होजाता है तभी वह नेत्रों से देखने में आता है। यह दोनों प्रकार का जगत् जिसके बीच में ठहर रहा है अगैर जो उस में परिपूर्ण हो रहा है ऐसे परमात्मा को विष्णुपद कहते हैं। इस सत्य श्रर्थ को न जान के श्रविद्वान लोगों ने पाषागा पर जो मनुष्य के पग का चिह्न बनाकर उस का नाम विष्णुपद रख छोड़ा है सो सब मिध्या बातें हैं। तथा तीर्थ शब्द का श्रर्थ श्रन्यथा जान के स्नज्ञा-नियों ने जगत् के लूटने अौर अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये मिध्याचार कर रक्खा है, सो ठीक नहीं। क्योंकि जो २ सत्य तीर्थ हैं वे सब नीचे लिखे जाते हैं। देखो तीर्थ नाम उनका है कि जिनसे जीव दुःखरूप समुद्र को तरके सुख को प्राप्त हों। अर्थात् जो २ वेदादिशास्त्रप्रतिपादित तीर्थ हैं तथा जिन का आरयों ने अनुष्ठान किया है, जो कि जीवों को दु:खों से छुड़ा के उनके सुखों के साधन हैं उनही को तीर्थ कहते हैं । वेदोक्त तीर्थ ये हैं, (तीर्थमेव प्राय०) श्राग्रिहोत्र से लेके श्राश्वमेधपर्थ्यन्त किसी यज्ञ की समाप्ति करके जो स्नान किया जाता है उसको तीर्थ कहते हैं। क्योंकि उस कर्म से वायु श्रोर वृष्टिजल की शुद्धिद्वारा सब मनुष्यों को सुख प्राप्त होता है। इस कारण उन कमों के करने वाले मनुष्यों को भी सुख श्रौर शुद्धि प्राप्त होती है। तथा (अहि असन ०) सब मनुष्यों को इस तीर्थ का सेवन करना उचित है कि अपने मन से वैरभाव को छोड़ के सब के सुख करने में प्रवृत्त होना श्रीर किसी संसारी व्यवहार के वर्तावों में दुःख न देना । परन्तु (श्रन्यत्र तीर्थेभ्यः०) जो २ व्यवहार वेदादि शास्त्रों में निषिद्ध माने हैं उन के करने में दण्ड का होना अवश्य है। श्चर्यात जो २ मनुष्य श्रपराधी, पाखरडी श्चर्यात वेदशास्त्रोक्त धर्मानुष्टान के शत्रु अपने सुख में प्रवृत्त और परपीड़ा में प्रवर्त्तमान हैं वे सदैव दण्ड पाने के योग्य हैं। इससे वेदादि सत्य शास्त्रों का नाम तीर्थ है कि जिनके पढ़ने पढ़ाने श्रीर उन में कहे हुए मार्गी में चलने से मनुष्य लोग दुःखसागर को तर के सुखों को प्राप्त होते हैं। (समानतीर्थे), इस सूत्र का श्राभिप्राय यह है कि वेदादिशास्त्रों को पढ़ानेवाला जो श्राचार्य है उसका, वेदादि शास्त्रों तथा मात्। पिता श्रौर श्रतिथि का भी नाम तीर्थ है। क्योंकि उनकी सेवा करने से जीवात्मा शुद्ध होकर दुःखों से पार होजाता है।

इससे इन का भी तीर्थ नाम है। (त्रयः स्नातका०), इन तीर्थों में स्नान करने के योग्य तीन पुरुष होते हैं, एक तो वह कि उत्तम नियमों से वेद्विद्या को पढ़ के ब्रह्म-चर्य को विना समाप्त करे भी विद्या का पढ़ना पूरा कर के ज्ञानरूपी तीर्थ में स्नान कर के शुद्ध हो जाता है, दूसरा जो कि पश्चीस, तीस, छत्तीस, चवालीस अथवा श्रड्तालीस वर्ष पर्यन्त नियम के साथ पूर्वीक ब्रह्मचर्य को समाप्त करके श्रीर विद्या को विना समाप्त किये भी विवाह करता है वह व्रतस्नातक अर्थात् उस ब्रह्मचर्य्यतीर्थ में स्नान करके शुद्ध हो जाता है, श्रीर तीसरा यह है कि नियम से ब्रह्मचर्थाश्रम तथा वेदादिशास्त्रविद्या को समाप्त करके समावर्त्तन श्रर्थात् उसी के फलरूपी उत्तम तीर्थ में भने प्रकार स्तान करके यथायोग्य पवित्रदेह, शुद्ध अन्तः-करण, श्रेष्ठविद्या बल ऋौर परोपकार को प्राप्त होता है। (नमस्तीर्थ्याय०), उक्त तीर्थों से प्राप्त होने वाला परमेश्वर भी तीर्थ ही है, उस तीर्थ को हमारा नमस्कार है। जो विद्वान लोग वेद का पढ़ना पढ़ाना श्रौर सत्यकथनरूप तीर्थों का प्रचार करते हैं तथा जो चवालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम सेवन करते हैं वे बड़े बल वाले हो-कर रुद्र कहाते हैं। (सुकाहस्ता०) जिन के सुका अर्थात् विज्ञानरूप हस्त तथा निषङ्ग संशय की काटनेवाली उपदेशरूप तलवार है वे सत्य के उपदेशक भी कद्र कहाते हैं। तथा उपनिषदों से प्रतिपादन किया हुआ उपदेश करने योग्य जो परमेश्वर है उस को परमतीर्थ कहते हैं। क्योंकि उसी की कृपा श्रौर प्राप्ति से जीव सब दुःखों से तर जाते हैं। (प्रश्न) जिनसे मनुष्य लोग तर जाते हैं ऋथीत् जल और स्थान-विशेष वे क्या तीर्थ नहीं हो सकते ? (उत्तर) नहीं, क्योंकि उन में तारने का सामर्थ्य ही नहीं और तीर्थ शब्द करणकारकयुक्त लिया जाता है। जो जल वा स्थानविशेष ऋधिकरण वा कर्मकारक होते हैं उन में नाव ऋादि ऋथवा हाथ श्रोर पग से तरते हैं। इसारे जल वा स्थल तारने वाले कभी नहीं हो सकते, किसलिये कि जो जल में हाथ वा पग न चलावें वा नौका ऋगदि पर न बैठें तो कभी नहीं तर सकते । इस युक्ति से भी काशी, प्रयाग, गङ्गा, यमुना, समुद्र श्रादि तीर्थ सिद्ध नहीं हो सकते । इस कारण से सत्यशास्त्रोक्ष जो तीर्थ हैं उन्हीं को मानना चाहिये, जल और स्थानविशेष को नहीं। (प्रश्न) (इमं मे गङ्गे) यह मन्त्र गङ्गा आदि नदियों को तीर्थ विधान करने वाला है फिर इन को तीर्थ क्यों नहीं मानते ?। (उत्तर) हम लोग उनको नदी मानते हैं और उन के जल में जो २ गुए। हैं उन को भी मानते हैं, परन्तु पाप छुड़ाना श्रीर दुःखों से तारना यह उनका सामर्थ्य नहीं, किन्तु यह सामर्थ्य तो पूर्वोक्त तीथों में ही है। तथा इस मन्त्र में गङ्गा आदि नाम इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, कूम्में और जाठराग्नि की नाड़ियों के हैं, उन में योग्या-भ्यास से परमेश्वर की उपासना करने से मनुष्य लोग सब दुःखों से तर जाते हैं। क्योंकि उपासना नाड़ियों ही के द्वारा धारण करनी होती है। इस हेतु से इस मन्त्र में उनकी गणना की है। इसलिये उक्त नामों से नाड़ियों का ही प्रहण करना योग्य है। (सित्तासिते०) सित इडा और असित पिङ्गला, ये दोनों जहां मिली हैं उस को सुषुम्णा कहते हैं। उस में योगाभ्यास से स्नान करके जीव शुद्ध हो जाते हैं। किर शुद्धक्रप परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। इस में निरुक्तकार का भी प्रमाण है कि सित और असित शब्द शुक्ल और छुष्ण अर्थ के वाची हैं। इस अभिप्राय से विरुद्ध मिध्या अर्थ करके लोगों ने नदी आदियों का तीर्थ नाम से प्रहण कर लिया है।

तथैव यत्तन्त्रपुराणादिग्रन्थेषु मृत्तिंशूजानामस्मरणादिविधानं कृतमस्ति तदिषि मिध्यैवास्तीति वेद्यम् । कृतः । वेदादिषु सत्येषु ग्रन्थेषु तस्य विधानाभावात् । तत्र तु प्रत्युत निषेधो वरीवर्तते । तद्यथा—

न तस्यं प्रतिमा श्रेस्ति यस्य नामं मुहद्यराः । हिर्ग्यगर्भ इत्येष मा मोहिछमीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः ॥ १॥ यजुः० अ० ३२ । मं० ३ ॥

भाष्यम्

यस्य पूर्णस्य पुरुषस्याजस्य निराकारस्य परमेश्वरस्य (महद्यशः) यस्याज्ञा-पालनाख्यं महाकीर्त्तिकरं धर्म्यं सत्यभाषणादिकर्जुमई कर्माचरणं नामस्मरणमस्ति, (हिरएयगर्भः ०) यो हिरएयानां सूर्य्यादीनां तेजस्विनां गर्भ उत्पत्तिस्थानम् । यस्य सर्वेमेनुष्येमां मा हिट्यसीदित्येषा प्रार्थना कार्य्या । (यस्माञ्च०) यो यतः कारणाक्षेत्रेषः कस्यचित्सकाशात्कदाचिदुत्पको, नैव कदाचि ब्बरीरधारणं करोति। नैव तस्य प्रतिमार्थात् प्रतिनिधिः, प्रतिकृतिः, प्रतिमानं, तोलनसाधनं, पारिमाणं, मूर्त्यादिकल्पनं किन्विद्प्यस्ति, परमेश्वरस्यानुपमेयत्वादमूर्त्तत्वादपरिमेयत्वाकिरा-कारत्वात्सर्वत्राभिव्याप्तत्वा । इत्यनेन प्रमाणेन मृर्त्तिपूजननिषेधः।

स पर्यगाच्छुक्रमेकायमेत्रणमेस्नाविरक्ष गुद्धभपोपविद्धम् । क्वि-र्मनीषी परिभः स्वयम्भूयीथातथ्यतोऽर्थान् व्यद्धाच्छाश्वतीभ्यः समोभ्यः ॥ २ ॥ य० अ० ४० । मं० ८ ॥

भाष्यम्

यः कविः सर्वज्ञः, मनीषी सर्वसाची, परिभूः सर्वोपरिविराजमानः, खयम्भूरनादिस्वरूपः परमेश्वरः, शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः, समाभ्यः प्रजाभ्यो, वेदद्वाराऽन्तर्यामितया च याथातथ्यतोऽर्थान् व्यद्धात् विहितवानस्ति, स पर्य्यगात्सर्वव्यापकोस्ति । यत् (शुक्रम्) वीर्य्यवत्तमम्, (अकायम्) मृत्तिजन्मधारणरिहतम्,
(अव्याप्) क्षेद्रभेदरिहतम्, (अस्नाविरम्) नाडीबन्धनादिविरहम्, (शुद्धम्)
निद्रोषम्, (अपापविद्धम्) पापात्पृथग्भृतं, यदीदृशलच्यां ब्रह्म सर्वेरुपासनीयामिति
मन्यध्वम् । इत्यनेनापि शारीरजन्ममरणरिहत ईश्वरः प्रतिपाद्यते, तस्माद्यं नैव
केनापि मृत्तिपूजने योजयितुं शक्य इति (प्रशः) वेदेषु प्रतिमाशब्दोस्ति न वा ।
(उत्तरम्) आस्ति । (प्र०) पुनः किमर्थो निषेधः । (उ०) नैव प्रतिमार्थेन
मूर्त्तयो गृह्यन्ते । कि तिर्दे, परिमाणार्था गृह्यन्ते । अत्र प्रमाणानि ॥

मुंबन्मरस्यं प्रतिमां यां त्वां राज्युपास्मेहे । सा न श्रायुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसज ॥ ३ ॥ श्रथवं॰ कां॰ ३ । श्रजु॰ २ । सु॰ १० । मं॰ ३ ॥ मुहूर्त्तानां प्रतिमा ता दश च सहस्राएपष्टौ च शतानि भवन्त्येतावन्तो हि संवत्सरस्य मुहुर्त्ताः ॥ श० कां॰ १० । श्र० ४ । ब्रा० ३ । कं॰ २० ॥ यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युग्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ १ ॥ सामवेदीयतवलकारोपनिषदि । ख्राडु॰ १ । मं॰ ४ ॥

भाष्यम्

इत्यादिमन्त्रपञ्चकपूर्त्यादिनिषेधकिमिति बोध्यम् । विद्यांसः संवत्सरस्य यां प्रतिमां परिमाण्णप्रपासते वयमपि त्वां तामेवोपास्महे । अर्थाद्याः संवत्सरस्य त्रीणि शतानि षष्टिश्व रात्रयो भवन्ति, यत एनाभिरेव संवत्सरः परिमीयते, तस्मादेतासां प्रतिमासंक्षेति । यथा सेयं रात्रनिर्निऽस्माकं रायस्पोषेण धनपुष्टिभ्यामायुष्मतीं प्रजां संमृज सम्यक् मृजेत्, तथैव सर्वैमेनुष्येरनुष्ठेयिमिति । (मुद्दूर्ता०) तथा ये संवत्सरस्य दशसद्द्वाण्यष्टीशतानि घटिकाद्ययात्मका मुद्दूर्ताः सन्ति तेऽपि प्रतिमाशब्दार्था विद्येयाः । (यदाचा०) यदसंस्कृतवाण्या अविषयं, येन वाणी विदितास्ति, तद् ब्रह्म हे मनुष्य ! त्वं विद्धि । यत् इदं प्रत्यचं जगदस्ति नैवैतद् ब्रह्मास्ति । किन्तु विद्वांसो, यित्रराकारं, सर्वव्यापकमजं, सर्वनियन्तृ, सिचदानन्दादिलच्चां

ब्रह्मोपासते, त्वयापि तदेवोपासनीयं नेतरदिति । (प्र०) किष्ट्च भोः, मनुस्पृतौ, प्रतिमानां च भेदकः । देवतान्यभिगच्छेतु । दैवताऽभ्यर्चनं चैव । देवतानां च क्रत्सनम् । देवतायतनानि च । देवतानां बायोल्लंघननिषेधः । प्रदिच्यानि क्ववीत देवबाह्मणसिक्यो । देवतागारभेदकान् । उक्तानामेतेषां वचनानां का गतिरिति १। (उ०) अत्र प्रतिमाशब्देन रक्तिकामापसेटकाद्यीनि तोलनसाधनानि गृद्यन्ते । तद्यथा । तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलिचतम् ॥ मनु० अ० ८ । श्हांकः ४०३ । इत्यनया मनुक्ररीत्यैव प्रतिमाप्रतीमानशब्दयोरेकार्थत्वात्तोलनसाधनानि गृह्यन्त इति बोध्यम् । अत एव प्रतिमानामधिकन्यूनकारिगो दग्डो देय इत्युक्तः । विद्यांसो देवास्ते यत्राधीयतेऽध्यापयन्ति निवसन्ति च तानि स्थानानि दैवतानीत्यु-च्यते । देवा एव देवतास्तेषामिमानि स्थानानि दैवतानि, देवतायतनानि च सन्तीति बोध्यम् । विदुषामेवाभ्यर्चनं सत्करणं कर्त्तव्यमिति । नैवैतेषां केनचिदपि निन्दा छायोल्लंघनं स्थानविनाशश्च कर्त्तव्यः । किन्तु सर्वेरेतेषां सामीप्यगमनं, न्यायप्रापणं, दिच्चिणपार्श्वे स्थापनं, स्वेषां वामपार्श्वे स्थितिश्व कार्य्येति । एवमेव यत्र यत्रान्यत्रापि प्रतिमादेवदेवतायतनादिशब्दाः सन्ति तत्र तत्रैवमर्था विद्वेयाः । ग्रन्थभृयस्त्वभिया नात्र ते लोखितुं शक्या इति । एतावर्तव पूर्तिपूजनकराठीतिल-कधारणादिनिषेधा बोध्याः।

भाषार्थ

श्रव इस के श्रागे जो नवीन किल्पत तन्त्र श्रौर पुराण प्रन्थ हैं, उन में पत्थर श्रादि की मूर्तिपूजा, तथा नाना प्रकार के नामस्मरण श्रार्थात् राम २, कृष्ण २, काष्टादि माला, तिलक इत्यादि का विधान करके, उन को श्रात्यन्त प्रीति के साथ जो मुक्ति पाने के साधन मान रक्खे हैं, ये सब बातें भी मिथ्या ही जानना चाहिये। क्योंकि वेदादि सत्य प्रन्थों में इन बातों का कहीं चिह्न भी नहीं पाया जाता है, किन्तु उन का निषेध ही किया है। जैसे (न तस्य०) पूर्ण जो किसी प्रकार से कम नहीं, (श्रज) जो जन्म नहीं लेता श्रौर (निराकार) जिस की किसी प्रकार की मूर्ति नहीं, इत्यादि लच्चण्युक जो परमेश्वर है, जिस की श्राज्ञा का ठीक २ पालन श्रौर उत्तम कीर्तियों के हेतु जो सत्यभाषणादि कर्म हैं उनका करना ही जिस का नामस्मरण कहाता है। (हिरण्यगर्भ०) जो परमेश्वर तेजवाले सूर्य्यादि लोकों की उत्पत्ति का कारण है, जिस की प्रार्थना इस प्रकार करनी होती है कि (मामाहि श्रसी०) है परमात्मन ! इम लोगों की सब प्रकार से रच्ना कीजिये। कोई कहे कि इस निरा-

कार, सर्वेञ्यापक परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिये ? तो उत्तर यह है कि (यस्मात्र) त्र्रायात् जो परमेश्वर किसी माता पिता के संयोग से कभी न उत्पन्न हुआ, न होता और न होगा, और न वह कभी शरीर धारण करके बालक, जवान श्रीर वृद्ध होता है, (न तस्य०) उस परमेश्वर की प्रतिमा श्रर्थान नाप का साधन तथा प्रतिविम्ब वा सदृश त्र्यर्थात् जिस को तसवीर कहते हैं सो किसी प्रकार नहीं है । क्योंकि वह मूर्तिरहित, अनन्त, सीमारहित और सब में व्यापक है। इस से निराकार की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये। कदाचित कोई शङ्का करे कि शरीरधारी की उपासना करने में क्या दोष है तो यह बात सममाना चाहिये कि जो प्रथम जन्म लेके शरीर धारण करेगा श्रीर फिर वह वृद्ध होकर मर जायगा तब किस की पूजा करोगे। इस प्रकार मूर्तिपूजन का निपेध वेद से सिद्ध होगया। तथा (स पर्ध्यगाच्छु०), जो परमेश्वर (कवि:) सब का जानने वाला, (मनीपी) सब के मन का साची, (परिभ:) सब के ऊपर विराजमान श्रीर (स्वयंभू:)श्रनादिस्वरूप है, जो श्रपनी श्रनादिस्वरूप प्रजा को अन्तर्यामिरूप से श्रीर वेद के द्वारा सब व्यवहारों का उपदेश किया करता है, (स पर्य्यगात्) सो सब में व्यापक, (शुक्रम्) अत्यन्त पराक्रम वाला, (अकायं) सब प्रकार के शरीर से रहित. (श्रव्रणं) कटना श्रीर सब रोगों से रहित, (अस्ताविरं) नाड़ी आदि के बन्धन से पृथक्. (शुद्धं) सब दोषों से अलग और (श्रपापविद्धं) सब पापों से न्यारा इत्यादि लज्ञ्णयुक्त परमात्मा है वही सबको उपा-सना के योग्य है ऐसा ही सबको मानना चाहिये। क्योंकि इस मन्त्र से भी शरीर धारण करके जन्म मरण होना इत्यादि वातों का निषेध परमेश्वर विषय में पाया ही गया। इससे इस की पत्थर त्र्यादि की मूर्ति बना के पूजना किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता । (संवत्सरस्य०) विद्वान लोग संवत्सर की जिस (प्रतिमां०) च्राण त्र्यादि काल के विभाग करने वाली रात्रि की उपासना करते हैं हम लोग भी उसी का सेवन करें। जो एक वर्ष की ३६० (तीनसौ साठ) रात्रि होती हैं इतनी रात्रियों से संवत्सर का परिमाण किया है। इसलिये इन रात्रियों की भी प्रतिमा संज्ञा है। (सा न आयु०) इन रात्रियों में परमात्मा की कृपा से हम लोग सत्कर्मों के अनुष्ठा-नपूर्वक संपूर्ण आयुयुक्त सन्तानों को उत्पन्न करें। इसी मंत्र का भावार्थ कुछ रातपथ ब्राह्मण में भी है कि (मुहूर्त्ता०) एक संवत्सर के १०८०० मुहूर्त्त होते हैं, ये भी प्रतिमा शब्द के अर्थ में समकते चाहियें। क्योंकि इनसे भी वर्ष का परिमाण होता है। (यद्वाचा) जो कि अविद्यायुक्त वागी से प्रसिद्ध नहीं हो सकता, जो सब की

वािं यों को जानता है, हे मनुष्यो ! तुम लोग उसी को परमेश्वर जानो और न कि मूर्त्तिमान् जगत् के पदार्थों को, जो कि उस के रचे हुए हैं। अर्थात् निराकार, व्यापक, सब पदार्थों का नियम करने वाला श्रीर सच्चिदानन्दादि लच्चायुक्त ब्रह्म है, उसी की उपासना तुम लोग करो, यह उपनिषत्कार ऋषियों का मत है । (**प्रश्न**) क्योंजी मनुस्मृति में जो (प्रतिमानां०) इत्यादि वचन हैं, उनसे तो यह बात मालूम होती है कि जो कोई प्रतिमा को तोड़े उस को राजा द्रुड देवे, तथा देवतात्र्यों के पास जाना, उनकी पूजा करना, उनकी छाया का उल्लंघन नहीं करना श्रौर उनकी परिक्रमा करना इत्यादि प्रमाणों से तो मुर्त्तिपूजा बराबर सिद्ध होती है फिर आप कैसे नहीं मानते हैं?। (उत्तर) क्यों भ्रम में पड़े हुए हो, होश में श्राश्रो श्रौर श्रांख खोल कर देखो कि प्रतिमा शब्द से जो तुम लोग पत्थर की मूर्त्ति लेते हो सो यह केवल तुम्हारी अझानता अथीत् कम समभ है। क्योंकि मनुस्मृति में तो प्रतिमाशब्द करके (तुलामानं) रत्ती, छटांक, पाव, सेर श्रौर पसेरी आदि तोल के साधनों को प्रहण किया है। क्योंकि तुलामान अर्थात् तराजू श्रौर प्रातिमान वा प्रतिमा श्रर्थात बाट इन की परीचा राजा लोग छठे २ मास श्रथात छ: २ महीने में एक वार किया करें कि जिससे उन में कोई व्यावहारी किसी प्रकार की छल से घट बढ़ न कर सके ख्रीर कदाचित कोई करे तो उस को दण्ड देवें । फिर (देवताभ्यर्चनं०) इत्यादि वचनों से यह बात समभ लेनी चाहिये कि शतपथ ब्राह्मण में विद्वान् मनुष्यों का नाम देव कहा है। श्रर्थात् जिन स्थानों में विद्वान सागे पढ़ते पढ़ाते श्रीर निवास करते हैं उन स्थानों को दैवत कहते हैं । यहां जाना. बैठना श्रीर उन लोगों का सत्कार करना इत्यादि काम सब को श्रवश्य करने चाहियें। (देवतानां च कुत्सनं) उन विद्वानों की निन्दा, उन का श्रपमान श्रौर उनके स्थानों में किसी प्रकार का बिगाड़ व उपद्रव त्र्यादि दोप की बातें कभी न करनी चाहियें। किन्तु (दैवतान्याभि०) सब मनुष्यों को उचित है कि उन के समीप जाकर श्राच्छी २ बातों को सीखा करें। (प्रदिश्ताा०) उन को मान्य के के लिये दाहिनी दिशा में बैठाना, क्योंिक यह नियम उनकी प्रतिष्ठा के लिये बांधा गया है। ऐसे अन्यत्र भी जहां कहीं प्रतिमा और देवता अथवा उन के स्थानों का वर्णन हो इसी प्रकार निर्भ्रमता से वहां समभ लेना चाहिये। यहां सब का संप्रह इसलिये नहीं किया कि प्रन्थ बहुत बढ़ जाता । ऐसा ही सत्य शास्त्रों से विरुद्ध करिठी श्रीर तिलकधारणादि मिध्या कल्पित विषयों को भी समम कर मन, कर्म, वचन से त्याग कर देना श्रवश्य उचित है।

एवमेव सर्यादिग्रहपीडाशान्तये वालबुद्धिभिराकृष्णेन रजसेत्यादि मन्त्रा गृह्मन्ते । अयमेषां अम एवास्तीति । कुत्स्तत्र तेषामर्यानामग्रहणात् । (तचया)

पत्नमित्यस्य राजधर्मविषये चेति ।

श्रुग्निर्मूर्द्धा दिवः क्कुत्पतिः पृथित्या श्रयम् । श्रुपाधरेताधिसि जिन्वति ॥ १ ॥ य॰ श्र॰ ३ । मं॰ १२ ॥ उद्बुंध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्विभिष्ठापूर्त्ते सक्ष स्रजेथाम्यं चे । श्रुस्मिन्त्मधस्थे श्रध्युत्तरिसमन् विश्वे देवा यर्जमानश्र सीदत ॥ २ ॥ य॰ श्र॰ १४ । मं॰ ४४ ॥

भाष्यम्

(अयमिनः) परमेश्वरो मौतिको वा, (दिवः) प्रकाशवल्लोकस्य, (पृथिव्याः) प्रकाशरितस्य च, (पतिः) पालायितास्ति । (पूर्दा) सर्वोपिर विराजमानः (ककुत्) तथा ककुमां दिशां च मध्ये व्यापकतया सर्वपदार्थानां पालियितास्ति । व्यत्ययो बहुलामिति स्रत्रेण भकारस्थाने तकारः । (अपाछं रेताछंसि) अयमेव जगदीश्वरो मौतिकश्वापां प्राणानां जलानां च रेतांसि वीर्व्याशि (जिन्वति) पुष्णाति । एवं चाग्निविंचुद्र्पेण सर्व्यरूपेण च पूर्वोक्तस्य रच्नकः पुष्टिकत्ती चास्ति ॥ ३ ॥ (उद्बुध्यस्वाग्ने) । हे अग्ने परमेश्वरास्माकं हृदये त्वमुद्बुध्यस्व पत्रकाशितो भव । (प्रतिजागृहि) अविद्यान्धकारिनद्रातस्तर्वान् जीवान् पृथकृत्य विद्यार्कप्रकाशे जागृतान् कुरु । (त्विमष्टापूर्त्ते) हे भगवन् ! अयं जीवो मजुष्यदेहधारी धर्मार्थकाममोत्तसामग्रयाः पूर्तिं मृजेत् सम्रुत्पादयेत् । त्वमस्येष्टं सुखं सृजेः । एवं परस्परं द्वयोः सहायपुरुषार्थम्यामिष्टापूर्त्ते तंसृष्टे भवेताम् । (अस्मिन्सपर्थे) अस्मिन् लोके शरीरे च, (अध्युत्तरिमन्) परलोके द्वितीये जन्मिन्स्य । (विश्वदेवा यजमानश्व सीदत्) सर्वे विद्वांसो, यजमानो विद्वत्सेवाकर्ता च, कृपया सद् सीदन्तु वर्त्तन्ताम् । यतोऽस्माकं मध्ये सदैव सर्वा विद्याः प्रकाशिता भवेयुरिति । व्यत्ययो बहुलामित्यनेन स्रत्रेण पुरुषव्यत्ययः ।

भाषार्थ

इसी प्रकार से अल्पबुद्धि मनुष्यों ने 'श्राकृष्णेन रजसा०' इत्यादि मन्त्रों का सूर्य्योदिग्रहपीड़ा की शांति के लिये प्रहण किया है। सो उनको केवल भ्रममात्र हुआ है। मूल श्रर्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं। क्योंकि उन मन्त्रों में प्रह्पीड़ा निवारण करना

यह अर्थ ही नहीं है। (आकृष्णेन०) इस मन्त्र का अर्थ आकर्षणानुकर्षण प्रकरण में तथा (इमं देवा०) इसका ऋर्थ राजधर्मविषय में लिख दिया है ॥ १। २॥ (अग्निः) यह जो अग्निसंज्ञक परमेश्वर वा भौतिक है वह (दिवः) प्रकाश वाले श्रौर (पृथिव्याः) प्रकाशरहित लोकों का पालन करने वाला, तथा (मूर्घा) सब पर विराजमान और (ककुत्पति:) दिशात्रों के मध्य में अपनी व्यापकता से सब पदार्थों का राजा है। (व्यत्ययो बहुलम्) इस सूत्र से (ककुभ्) शब्द के दकार को मकार देश हो गया है। (अपा छेरेता छंसि जिन्वति) वही जगदीश्वर प्राण आरे जलों के वीय्यों को पुष्ट करता है। इस प्रकार भूताग्नि भी विद्युत् और सूर्य्यरूप से पूर्वोक्त पदार्थों का पालन और पुष्टि करने वाला है।। ३।। (उद्बुध्यस्वाग्ने) हे परमेश्वर ! हमारे हृदय में प्रकाशित हूं जिये, (प्रति जागृहि) आविद्या की अन्धकार-रूप निद्रा से हम सब जीवों को श्रालग करके विद्यारूप सूर्य्य के प्रकाश से प्रकाशमान कीजिये, कि जिससे (त्विमिष्टापूर्त्ते) हे भगवन् ! मनुष्यदेह धारण करने वाला जो जीव है जैसे वह धर्म, ऋर्थ, काम ऋौर मोच की सामग्री की पूर्ति कर सके वैसे श्राप इष्ट सिद्ध कीजिये। (श्रास्मिन्सधम्थे) इस लोक श्रौर इस शरीर तथा (श्रध्युत्तरस्मिन्) परलोक श्रौर दृसरे जन्म में (विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत) श्राप की कृपा से सब विद्वान् श्रीर यजमान श्रर्थात् विद्या के उपदेश का प्रहण श्रीर सेवा करने वाले मनुष्य लोग सुख से वर्त्तमान सदा बने रहें कि जिससे हम लोग विद्यायुक्त होते रहें। (त्र्यत्ययो बहुलम्) इस मूत्र से (संसृजेथाम्) (सीदत) इन प्रयोगों में पुरुषव्यत्यय त्रर्थात् प्रथमपुरुष की जगह मध्यम पुरुष हुत्रा है।। ४।।

बृहंस्पते अति यद्य्यों अहीद् गुमहिभाति ऋतुंमुज्जनेषु । यही-द्युच्छवंस ऋतिप्रजात तद्समासु द्रविणं घेहि चित्रम् ॥ ४ ॥ य० अ० २६ । मं० ३ ॥ अन्नात्पिसितो रसं ब्रह्मणा व्यपिषत्चत्रम्पयः सोमं प्रजापितः । ऋतेनं सुत्यमिनिद्धयं विपानं श्युक्रमन्धंसः । इन्द्रंस्येन्द्रिय-सिदं पयो असते मधुं ॥ ६ ॥ यज्ञः ० अ० १९ । मं० ७४ ॥

भाष्यम्

(वृहस्पते) हे वृहतां वेदानां पते पालक ! (ऋतप्रजात) वेदिवद्याप्रतिपा-ादित जगदीश्वर ! त्वं (जनेषु) यज्ञकारकेषु विद्वत्सु लोकलोकान्तरेषु वा, (ऋतुमत्) भूयांसः ऋतवो भवान्ति यस्मिस्तत्, (धुमत्) सत्यव्यवहारश्रकाशो विद्यते यस्मिस्तत्, (दीदयन्बवसः) दानयोग्यं, शवसो बलस्य प्रापकं, (यदर्यो श्रद्धात्) येन विद्यादिधनेन युक्तः सन् (अर्घ्यः) स्वामी राजा, विश्विजनो वा धार्मिकेषु जनेषु (विभाति) प्रकाशते, (चित्रं) यद्धनमङ्घतं (ऋस्मासु द्राविणं धेहि) तदस्मद्धीनं द्रविणं धनं कृपया धेहीत्यनेम मन्त्रेणेरवरः पार्थ्यते ॥ ५ ॥ (तत्रं) यत्र यद्राजकर्म, त्रत्रियो वा (ब्रह्मणा) वेदविद्भिश्च सह (पथः) अपृतात्मकं (सोमं) सोमाद्योषधिसम्पादितं (रसं) बुद्धचानन्दशौर्य्यधैर्य्यवल-पराक्रमादिसद्गुणप्रदं (व्यपिवत्) पानं करोति, तत्र स सभाध्यक्तो राजन्यः, (ऋतेन) यथार्थवेदविज्ञानेन, (सत्यं) धर्म राजव्यवहारं च, (इन्द्रियं) शुद्ध-विद्यायुक्तं शान्तं मनः, (विपानं) विविधराजधर्मरत्तर्णं, (शुक्रं) आशुसुखकरं (श्रन्धसः) श्रद्धान्नस्येच्छाहेतुं (पयः) सर्वपदार्थसारविज्ञानयुक्तं (श्रपृतं) मोत्तसाधकं (मधु) मधुरं सत्यशीलस्वभावयुक्तं (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्तस्य सर्वव्यापकान्तर्यामिन ईरवरस्य कृपया (इन्द्रियं) विज्ञानयुक्तं मनः प्राप्य, (इदं) सर्वं व्यावहारिकपारमार्थिकं सुखं प्रामोति । (प्रजापतिः) परमेश्वर एवमाज्ञा-पयति यः चित्रियः प्रजापालनाधिकृतो भवेत्, स एवं प्रजापालनं कुर्व्यात् । (अञ्चात्परिस्नुतः) स चामृतात्मको रसोऽन्नाद्भोज्यात्पदार्थात्परितः ञ्चतरुखुतो युक्तो वा कार्य्यः । यथा प्रजायामत्यन्तं सुखं सिध्येचथैव चत्रियेग कर्त्तव्यम् ।

भाषार्ध

(बृहस्पते) हे वेदिवद्यार ज्ञक ! (ऋतप्रजात) वेदिवद्या से प्रसिद्ध जगदिश्वर ! आप (तदस्मासु द्रविणं धेहि) जो सत्यविद्यारूप अनेक प्रकार का (चित्रं) अद्भुत धन है सो हमारे बीच में कृपा करके स्थापन कीजिये । कैसा वह धन है कि (जनेषु) विद्वानों और लोक लोकान्तरों में (कृतुमन्) जिससे बहुतसे यज्ञ किये जायं, (ग्रुमन्) जिस से सत्य व्यवहार के प्रकाश का विधान हो, (शवसः) बल की रज्ञा करने वाला और (दीदयन्) धर्म और सब के सुख का प्रकाश करने वाला, तथा (यद्य्यों ०) जिस को धर्मयुक्त योग्य व्यवहार के द्वारा राजा और वैश्य प्राप्त होकर (विभाति) धर्मव्यवहार अथवा धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों में प्रकाशमान होता है उस सम्पूर्णविद्यायुक्त धन को हमारे बीच में निरन्तर धारण कीजिये । ऐसे इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है ।। ५ ।। (ज्ञतं) जो राजकर्म अथवा ज्ञतिय है वह सदा न्याय से (ब्रह्मणा) वेदिवन पुरुषों के साथ मिलकर ही राज्यपालन

करें। इसी प्रकार (पयः) जो अमृतरूप (सोमं) सोमलता आदि श्रोषियों का सार तथा (रसं) जो बुद्धि, श्रानन्द, श्रूरता, धीरज, वल श्रौर पराक्रम आदि उत्तम गुणों का बढ़ाने वाला है, उन को (व्यपिवत्) जो राजपुरुष श्रयवा प्रजास्थ लोग वैद्यकशास्त्र की रीति से पीते हैं, वे सभासद् श्रौर प्रजास्थ मनुष्य लोग, (श्रद्धतेन) वेदिवद्या को यथावत् जान के, (सत्यं) धर्म, श्रर्थ, काम, मोच (इन्द्रियं) शुद्ध-विद्यायुक्त शान्तस्वरूप मन, (विपानं) यथावत् प्रजा का रच्चण, (शुक्रम्) शीघ्र सुख करने हारा (श्रन्थसः) शुद्ध श्रम की इच्छायुक्त (पयः) सब पदार्थों का सार, विज्ञानसहित (श्रमृतं) मोच के ज्ञानादि साधन, (मधु) मधुरवाणी श्रौर शिलता श्रादि जो श्रेष्ठ गुण हैं, (इदं) उन सब से परिपूर्ण होकर, (इन्द्रस्य) परमैथर्थयुक्त व्यापक ईश्वर की छपा से, (इन्द्रियं) विज्ञान को प्राप्त होते हैं। (प्रजापितः) इसिलये परमेश्वर सब मनुष्यों श्रौर राजपुरुषों को श्राज्ञा देता है कि तुम लोग पूर्वोक्त व्यवहार श्रौर विज्ञानविद्या को प्राप्त होने धर्म से प्रजा का पालन किया करो श्रौर (श्रन्नात्परिस्तुतः) उक्त श्रमृतस्वरूप रस को उत्तम भोजन के पदार्थों के साथ मिलाकर सेवन किया करो कि जिस से प्रजा में पूर्ण सुख की सिद्धि हो।। ६।।

शन्नों देवी र्भिष्ठिय आपी भवन्तु पीतये।शंयोर्भि स्रवन्तु नः॥ ७॥ य० अ० ३६। मं० १२ । कर्या नश्चित्र आर्श्ववद्गती सदा वृष्टः सखा। कया सचिष्ठया * वृता ॥ ८॥ य० अ० ३६ । मं० ४॥ केतुं कृष्वर्ष केतवे पेशो मर्ग्या अपेशसे। समुषद्गिरजायथाः ॥ ६॥ य० अ० २६ । मं० ३७॥

भाष्यम्

(श्राप्त व्याप्तौ) श्रस्माद्धातोरप्त्रब्दः सिध्यति । स नियतस्त्रीलिङ्गो बहुः वचनान्तश्च । दिवु कीडाद्यरंः । (देवीः) देव्य आपः, सर्वप्रकाशकः सर्वानन्द-प्रदः सर्वव्यापक ईश्वरः, (अभीष्ट्ये) इष्टानन्दप्राप्तये, (पीतये) पूर्णानन्द-भोगेन तृप्तये, (नः) श्रस्मभ्यं, (शं) कल्याणकारिका भवन्तु स ईश्वरो नः कल्याणं भावयतु प्रयच्छतु । ता आपो देव्यः स एवेश्वरो, नोऽस्माकस्रुपरि, (शंयोः) सर्वतः सुखस्य वृष्टिं करोतु ॥ अत्र प्रमाणम् ॥

^{*} शाचिष्ठचेति मान्त्रः पाठः ॥

यत्र लोकांरच कोशांश्चापो ब्रह्म जनां विदुः। श्रसंच यत्र सचा-न्तः स्क्रम्भं तं ब्रेहि कत्मः स्विदेव सः॥ श्रथवै० कां० १०। श्र० ४। सु० ७। मं० १०॥

भाष्यम्

अनेन वेदमन्त्रप्रमाणेनाष्ठ्रब्देन परमात्मनो ग्रह्णं क्रियते । तद्यथा । (अपो ब्रह्म जना विदुः) विद्वांस त्र्यापो ब्रह्मणो नामास्तीति जानन्ति । (यत्र लोकांश्र कोशांश्र) यस्मिन् परमेश्वरे सर्वान् भूगोलान्निधींश्र, (ग्रसच यत्र सच) यस्मिश्रानित्यं कार्य्यं जगदेतस्य कारणं च स्थितं जानन्ति, (स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) स जगद्धाता सर्वेषां पदार्थानां मध्ये कतमोस्ति विद्वस्त्वं ब्रह्मीते पृच्छचते। (अन्तः) स जगदीश्वरः सर्वेगां जीवादिपदार्थानामाभ्यन्तरेऽन्तर्य्यामिरूपेणावस्थितोस्तीति भवन्तो जानन्तु ॥ ७॥ (कया) उपासनारीत्या (सचिष्ठया) त्र्रातिशयेन सत्कर्मानु-ष्टानप्रकारया, (वृता) शुभगुणेषु वर्त्तमानया, (कया) सर्वेत्तमगुणालंकृतया सभया प्रकाशितः, (चित्रः) ऋद्धतानन्तशिक्तमान्, (सदावृधः) सदानन्देन वर्धमान इन्द्रः परमेश्वरः, (नः) च्रस्माकं सखा मित्रः, (च्राभुवत्) यथाभिष्रुखो भूत्वा (ऊती) स जगदीश्वरः कृपया सर्वदा सहायकरणेनास्माकं रचको भवत्। तथैवास्माभिः स सत्यप्रेमभक्तवा सेवनीय इति ॥ = ॥ हे मर्च्या मनुष्याः ! उपद्धिः परमेरवरं कामयमानैस्तदाज्ञायां वर्त्तमानैविद्वाद्विर्युष्माभिः सह समागमे कृते सत्येव (अकतवे) अज्ञानविनाशाय केतुं प्रज्ञानम्, (अपेशसे) दारिद्रचिवनाशाय पेशः चक्रवर्त्तिराज्यादिसुखसम्पादकं धनं च कृएवन् कुर्वन् सन् जगदीश्वरः (अजा-यथाः) प्रसिद्धो भवतीति वेदितव्यम् ॥ ६ ॥

भाष्यम्

(शक्नो देवी ०) आप्ल व्याप्तो, इस धातु से अप् शब्द सिद्ध होता है। सो वह सदा स्नीलिङ्ग और बहुवचनान्त है। तथा जिस दिवु धातु के कीड़ा आदि अर्थ हैं उससे देवी शब्द सिद्ध होता है। (देवी:) अर्थात् जो ईश्वर सब का प्रकाश और सब को आनन्द देने वाला, (आप:) सर्वव्यापक है, (अभिष्ठये) वह इष्ट आनन्द और (पीतये) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये (नः) हमको सुखी होने के लिये (शं) कल्याणकारी (भवन्तु) हो। वही परमेश्वर (नः) हम पर (शंयोः) सुख की (अभिस्नवन्तु) वृष्टि करे। इस मन्त्र में आप् शब्द से परमात्मा के महरण

होने में प्रमाण यह है कि (श्रापो ब्रह्म जना विदुः) श्रर्थात् विद्वान् लोग ऐसा जानते हैं कि आप परमात्मा का नाम है। (प्रश्न) (यत्र लोकांश्च कोशांश्च), सुनो जी ! जिसमें पृथिव्यादि सब लोक, सब पदार्थ स्थित (श्रसच यत्र सच) तथा जिस में ऋनित्य कार्य जगत् ऋौर सब बस्तुऋों के कारण ये सब स्थित हो रहे हैं, (स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेवसः) वह सब लोकों को धारण करने वाला कौन पदार्थ है ? (उत्तर) (अन्तः) जो सब पृथिवी आदि लोक और जीवों के बीच में अन्तर्यामिरूप से परिपूर्ण भर रहा है ऐसा जान कर आप लोग उस परमेश्वर को त्रपने ही त्रान्तःकरण में खोजे। ॥ ७ ॥ (कया) जो किस उपसानारीति (सचि-ष्टया) श्रौर सत्यधर्म के श्राचरण में सभासद सिहत (वृता) सत्यविद्यादि गुणों में प्रवर्तमान (कया) सुखरूप वृत्तिसहित सभा से प्रकाशित (चित्रः) श्रद्भुतस्वरूप (सदावृथः) त्रानन्दस्वरूप त्रीर त्रानन्द बढाने वाला परमेश्वर है वह (नः) हमारे श्रात्मात्रों में (त्राभुवत्) भकाशित हो, (ऊतिः) तथा किस प्रकार वह जगदीश्वर हमारा सदा सहायक होकर कृपा से नित्य रत्ता करे कि (उपद्भिः समजायथाः) हे श्राग्ने नगदीश्वर ! श्राप की श्राज्ञा में जो रमण करनेवाले हैं उन्हीं पुरुपों से श्राप जाने जाते हैं और जिन धार्मिक पुरुषों के अन्तः करण में आप अच्छे प्रकार प्रकाशित होते रहो ॥ ८ ॥ हे विज्ञानस्वरूप ! श्राज्ञान के दूर करने हारे ब्रह्मन् ! श्राप (केंतुं कुएवन्) हम सत्र मनुष्यों के आत्माओं में ज्ञान का प्रकाश करते रहिये तथा (श्रके-तवे) अज्ञान और (अपेशसे) दरिद्रता के दूर करने के अर्थ विज्ञान धन और चक्रवार्त्त राज्य धर्मात्मात्रों को देते रहिये कि जिससे (मर्याः) जो श्रापके उपासक लोग हैं वे कभी दुःख को न प्राप्त हों।। ह।।

अथाधिकारानधिकारविषयः संक्षेपतः

वेदादिशास्त्रपठने सर्वेषामधिकारोस्त्याहोस्त्रिकोति ?। सर्वेषामस्ति, वेदानामी-श्वरोक्तत्वात्सर्वमनुष्योपकारार्थत्वात्सत्याविद्याप्रकाशकत्वाच । यद्याद्धे खलु परमे-श्वरुरिचतं वस्त्वस्ति तत्तत्सर्वं सर्वोर्थमस्तीति विजानीमः । अत्र प्रमाणम् ॥

यथेमां वार्चं कल्याणीमावद्ंि जनेभ्यः। ब्रह्मगुजन्याभ्या १ श्रूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय । प्रियो देवानां दिल्लाये दातुरिह भूया-सम्यं मे कामः सर्मध्यतामुर्पं मादो नमतु ॥ १ ॥ य० अ० २६ । मन्त्र २ ॥

भाष्यम्

श्रम्याभित्रायः । परमेश्वरः सर्वमनुष्यैवेदाः पठनीयाः पाठ्या इत्याज्ञां ददाति । तद्यथा। (यथा) येन प्रकारेण, (इमाम्) प्रत्यचभूतामृग्वेदादिवेदचतुष्ट्यीं, (कल्याणीम्) कल्याणसाधिकां (वाचम्) वाणीं, (जनेम्यः) सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽर्थात् सकलजीवोपकाराय, (श्रावदानि) श्रासमन्तादुपदिशानि, तथैव सर्वेर्विद्धन्निः सर्वमनुष्येम्यो वेदचतुष्टयी वागुपदेष्टव्येति । अत्र कश्चिदेवं ब्रूयात् । जनेम्यो द्विजेम्य इत्यध्याद्यार्थ्यं, वेदाध्ययनाध्यापने तेषामेवाधिकारत्वात् । नैवं शक्यम् । उत्तरमन्त्रभागार्थविरोधात् । तद्यथा। कस्य कस्य वेदाध्ययनश्रवगोऽधिः कारोस्तीत्याकांचायामिद्गुच्यते, (ब्रह्मराजन्याभ्यां) ब्राह्मणचत्रियाभ्यां, (अर्र्याय) वैश्याय, (शूद्राय), (चारणाय) ऋतिशूद्रायान्त्यजाय, स्वाय स्वात्मीयाय पुत्राय भृत्याय च । सर्वैः सैषा वेद्चतुष्ट्यी श्राव्येति । (प्रियो देवानां दाविणायै दातुरिह०)। यथाइमीश्वरः पद्मपातं विद्यायः सर्वोपकारकरणेन सद्द वर्त्तमानः सन्, देवानां विदुषां प्रियः, दातुर्दित्तिणायै सर्वस्वदानाय प्रियश्च (भूयासम्) स्याम्, तथैव भवद्भिः सर्वेविद्वद्भिरिप सर्वोपकारं सर्विषयाचरणं मत्वा सर्वेभ्यो वेदवाणी श्राच्येति । यथायं मे मम कामः सपृध्यते तथेवैवं कुर्वतां भवतां (श्रयं कामः समृध्यताम्) इयमिष्टसुखेच्छा समृध्यतां सम्यग्वर्धताम् । यथादः सर्वमिष्ट-सुखं माम्रुपनमति । (उपमादो नमतु) तथैव भवतोऽपि सर्वमिष्टसुखम्रुपनमतु सम्यक् प्रामोत्विति । मया युष्मभ्यमयमाशीर्वादो दीयत इति निश्चेतव्यम् । यथा मया वेदविद्या सर्वार्था प्रकाशिता तथैव युष्माभिरिप सर्वार्थोपकर्त्तव्या, नात्र वैषम्यं किञ्चित् कर्त्तव्यामिति । कुतः । यथा मम सर्वप्रियार्था पचपातरहिता च प्रवृत्तिरस्ति, तथैव युष्पामिराचरणे कृते मम प्रसम्रता भवति, नान्यथेति । श्रस्य मन्त्रस्यायमेवार्थोस्ति । कुतः । बृहस्पते ऋतियद्र्ये इत्युत्तरस्मिन्मन्त्रे हीश्वरार्थस्यैव प्रतिपादनात् ।

भाषार्थ

(प्रश्न) वेदादि शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने, सुनने और सुनाने में सब मनुष्या का श्राधिकार है वा नहीं ?। (उत्तर) सब का है। क्योंकि जो ईश्वर की सृष्टि है उस में किसी का श्रामधिकार नहीं हो सकता। देखिये कि जो २ पदार्थ ईश्वर से प्रकाशित हुए हैं सो २ सब के उपकारार्थ हैं। (प्रश्न) वेदों के पढ़ने का श्राधिकार केवल

तीन वर्णों को ही है, क्योंकि शूद्रादि को वेदादि शास्त्र पढ़ने का निषेध किया है और द्विजों के पढ़ाने में भी केवल बाह्मण ही को अधिकार है। (उत्तर) यह बात सब मिध्या है। इसका विवेक और उत्तर वर्णविभाग विषय में कह आये हैं। वहां यही निर्णय हुआ है कि मूर्ख का नाम शुद्र और श्रातिमूर्ख का नाम श्रातिशुद्ध है। उन के पढ़ने पढ़ाने का निषेध इसीलये किया है कि उनको विद्याप्रहण करने की बुद्धि नहीं होती है। (प्र०) परन्त क्या सब स्त्री पुरुषों को वेदादि शास्त्र पढ़ने सुनने का श्र-धिकार है ?। (उ॰) सब को है। देखो इसमें यजुर्वेद ही का यह प्रमाण लिखते हैं, (यथेमां वाचं कल्याणीं ०)। इस मन्त्र का श्राभिप्राय यह है कि वेदों के पढ़ने पढ़ाने का सब मनुष्यों को श्राधिकार है श्रीर विद्वानों को उन के पढ़ाने का । इसिलिय ईश्वर त्राज्ञा देता है कि हे मनुष्य लोगो ! जिस प्रकार मैं तुमको चारों वेदों का उपदेश करता हूं उसी प्रकार से तुम भी उनको पढ़ के सब मनुष्यों को पढ़ाया श्रौर सुनाया करो । क्योंकि यह चारों वेद्रूप वाणी सब की कल्याण करने वाली है । तथा (श्रावदानी जनेभ्य:) जैसे सब मनुष्यों के लिये मैं वेदों का उपदेश करता हूं बैसे ही सदा तुम भी किया करो । (प्रश्न) (जनेभ्यः) इस पद से द्विजों ही का प्रहण करना चाहिये, क्योंकि जहां कहीं सूत्र श्रौर स्मृतियों में पढ़ने का श्रिधिकार लिखा है वहां केकल दिजों ही का प्रहुण किया है ?। (उत्तर) यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि जो ईश्वर का श्राभिप्राय द्विजों ही के ब्रह्ण करने का होता तो मनुष्यमात्र को उनके पढ़ने का अधिकार कभी न दंता । जैसा कि इस मन्त्र में प्रत्यन्न विधान है (ब्रह्मराजन्याभ्यार्थ शुद्राय चार्घ्याय च स्वाय चारणाय), त्र्रार्थात् वेदाधिकार जैसा ब्राह्मणवर्ण के लिये है वैसा ही चत्रिय, अर्घ, वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य और आतिशूद्र के लिये भी बराबर है, क्योंकि वेद ईश्वरप्रकाशित है । जो विद्या का पुस्तक होता है वह सब का हितकारक है और ईश्वररिचत पदार्थों के दायभागी सब मनुष्य श्रवश्य होते हैं । इसलिये उस का जानना सब मनुष्यों को उचित है, क्योंकि वह माल सब के पिता का सब पुत्रों के लिये हैं। किसी वर्णविशेष के लिये नहीं। (प्रियो देवानाम्) जैसे मैं इस वेदरूप सत्यविद्या का उपदेश करके विद्वानों के आत्माओं में पिय हो रहा तथा (दिल्लाणेये दातुरिह भूयासं) जैसे दानी वा शीलमान पुरुष को प्रिय होता है। वैसे ही तुम लोग भी पच्चपातराहित होकर वेद्विद्या को सुना कर सब को प्रिय हो। (अयं मे कामः समृध्यताम्) जैसे यह वेदों का प्रचाररूप मेरा काम संसार के बीच में यथावत् प्रचरित होता है

इसी प्रकार की इच्छा तुम लोग भी करों कि जिससे उक्त विद्या आगे को भी सब मनुष्यों में प्रकाशित होती रहे। (उपमादों नमतु) जैसे मुक्त में अनन्त विद्या से सब सुख हैं वैसे जो कोई विद्या का प्रह्ण और प्रचार करेगा उस को भी मोच्च तथा संसार का सुख प्राप्त होगा। यही इस मन्त्र का अर्थ ठीक है। क्योंकि इससे अगले मन्त्र में भी (बृहस्पते अति यदर्थिं) परमेश्वर ही का प्रहण किया है। इससे सब के लिये वेदाधिकार है।। १।।

वर्णाश्रमा श्रापि गुणकर्माचारतो दि अवन्ति । श्रश्राह मनुः॥

श्द्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति श्द्रताम् । च्रियाज्ञातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तर्थेव च ॥ १ ॥ मनु० ग्र० १० । श्लो० ६५ ॥

भाष्यम्

शूद्रः पूर्णिविद्यासुशीलतादिब्राह्मणगुणयुक्तश्रेद् ब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणभावं प्रामोति, योस्ति ब्राह्मणस्याधिकारस्तं सर्वं प्रामोत्येव । एवमेव कुचर्याऽधर्माचरणानि-र्शुद्धिमूर्खत्वपराधीनतापरसेवादिश्द्रगुणैर्युक्तो ब्राह्मणश्रेत् स शूद्रतामेति, शूद्राधिकारं प्रामोत्येव । एवमेव चत्रियाज्ञातं चत्रियादुत्पन्नं वैश्यादुत्पन्नं प्राति च योजनीयम् । श्र्र्थाद्यस्य वर्णस्य गुणैर्युक्तो यो वर्णः स तत्तद्धिकारं प्रामोत्येव । एवमेवापस्तम्ब-ह्यत्रेप्यस्ति ।

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥१॥ श्रधर्मचर्य्यया पूर्वे वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरि-वृत्तौ ॥ २ ॥ प्रश्न २ । पटल० ४ । खं० ११ । सू० १० । ११ ॥

भाष्यम्

सत्यधर्माचरणेनेव श्रूद्रो, वैश्यं चत्रियं ब्राह्मणं च वर्णमापद्यते, समन्तात्प्रा-मोति सर्वाधिकारमित्यर्थः । जातिपरिवृत्तावित्युक्ते जातेवर्णस्य परितः सर्वतो या वृत्तिराचरणं तत्सर्वं प्रामोति ॥ १ ॥ एवमेव स लच्चणेनाधर्माचरणेन पूर्वो वर्णो ब्राह्मणो, जघन्यं स्वस्मादधःस्थितं चत्रियं वैश्यं श्रूदं च वर्णमापद्यते, जातिपरि-वृत्तौ चेति पूर्ववत् । श्र्याद् धर्माचरणमेवोत्तमवर्णाधिकारे कारणमस्ति । एवमेवा-धर्माचरणं कानिष्ठवर्णाधिकारप्राप्तेश्वेति । यत्र यत्र श्रूद्रो नाध्यापनीयो न श्रावणी- यश्वेत्युक्तं तत्रायमभिप्रायः, शूद्रस्य प्रज्ञाविरहत्वाद्विद्यापठनधारखविचारासमर्थत्वा-त्तस्याध्यापनं श्रावणं व्यर्थमेवास्ति, निष्फलत्वाचेति ।

भाषार्थ

वर्णाश्रमञ्यवस्था भी गुरा कर्मी के आचारविभाग से होती है। इस में मनुस्मृति का भी प्रमाण है कि (शूद्रो ब्राह्मणता०) शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है, अर्थात् गुण कर्मों के अनुकूल बाह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण, चत्रिय, वैश्य श्रीर शूद्र के गुणवाला हो तो वह चत्रिय, वैश्य श्रीर शूद्र हो जाता है। वैसे शूद्र भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता है श्रौर जो उत्तम गुण्युक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण्, चित्रय त्रीर वैश्य हो जाता है। वैसे ही चित्रय श्रीर वैश्य के विपय में भी जान लेना । जो शूद्र को वेदादि पढ़ने का श्रिधकार न होता तो वह ब्राह्मण, चत्रिय वा वैश्य के श्राधिकार को कैसे शप्त हो सकता। इससे यह निश्चित जाना जाता है कि पश्चीसवें वर्ष वर्णों का श्रिधिकार ठीक २ होता है, क्योंकि पच्चीस वर्ष तक बुद्धि बढ़ती है । इसिलये उसी समय गुगा कर्मी की ठीक २ परीचा करके वर्णाधिकार होना उचित है।। १।। तथा आपस्तम्बसूत्र में भी ऐसा लिखा है (धर्मचर्य्यया०), अर्थात् धर्माचरण करने से नीचे के वर्ण पूर्व २ वर्ण के श्रिधिकार को प्राप्त हो जाते हैं। सो केवल कहने ही मात्र को नहीं किन्तु जिस २ वर्ण को जिन २ कर्मों का अधिकार है उन्हीं के अनुसार (आपद्यते जातिपरिवृत्तौ) वे यथावत् प्राप्त होते हैं ।। १ ।। (अधर्मचर्य्यया०) तथा अधर्माचरण करके पूर्व २ वर्ण नीचे २ के वर्णों के अधिकारों को प्राप्त होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों के पढ़ने सुनने का श्राधिकार सब मनुष्यों को बरावर है।

इति संद्वेपतोऽधिकारानधिकारविषयः

अथ पठनपाठनविषयः संक्षेपतः

तत्रादौ पठनस्यारम्भे शिचारीत्या स्थानप्रयत्नस्वरज्ञानायाच्चगेचारणोपदेशः कर्त्तन्यः । येन नैव स्वरवर्णोचारणज्ञानिवरोधः स्यात् । तद्यथा । प इत्यस्योचा-रणमोष्ठौ संयोज्येव कार्य्यम् । अस्यौष्ठौ स्थानं, स्पृष्टः प्रयत्न इति वेद्यम् । एवमेव सर्वत्र । अत्र महाभाष्यकारः पतञ्जलिमहाम्रुनिराह ।

दुष्टः शन्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतेष्ऽपराधात् ॥ १ ॥ महा-भा० अ०१। पा०१। आ०१॥

भाष्यम्

नैव स्थानप्रयत्नयोगेन विनोच्चारणे कृतेऽच्चराणां यथावत्प्रकाशः पदानां लालित्यं च भवति । यथा गानकत्ती पड्जादिस्वरालापेनऽन्यथोच्चारणं कुर्य्या-च्चेत्स तस्यैवापराधो भवेत्। तद्वद्वेदेष्वपि प्रयत्नेन सह स्वस्वस्थाने खलु स्वरवर्णोच्चारगं कर्त्तव्यम् । अन्यथा दृष्टः शब्दो दुःखदोऽनर्थकश्च भवति । यथाबदुच्चारणपुद्धंच्योच्चारिते शब्दे बक्करपराध एव विज्ञायते । त्वं मिथ्याप्रयोगं कृतवानिति । नैव स मिध्याप्रयुक्तः शब्दस्तमभित्रेतमर्थमाह । तद्यथा । सकलम्, शकलम् । सकृत्, शकृदिति । सकलगुन्दः सम्पूर्णार्थवाची । शकल इति खएड-वाची च । एवं सक्रदित्येकवारार्थवाची । शक्रदिति मलार्थवाची चात्र । सका-रोच्चारणे कर्तव्ये शकारीच्चारणं क्रियते चेदेवं सकारीच्चारणे कर्त्तव्ये सकारी-चारणं च, तदा स शब्दः ख़विषयं नाभिधत्ते । स वाग्वज्रो भवति । यमर्थम्म-त्वोचारणं क्रियते स शब्दस्तभिप्रायनाशको भवति । तद्वकारं यजमानं तद्धिष्ठा-तारं च हिनस्ति, तेनार्थेन हीनं करोति । यथेन्द्रशत्रुखं शब्दः स्वरस्यापराधा-ब्रिपरीतफलो जातः। तद्यथा। इन्द्रः सूर्य्यलोकस्तस्य शत्रुरिव मेघः। अत्र इन्द्रशत्रुशब्दे तत्पुरुषसमासार्थमन्तोदात्ते कर्त्तव्ये आद्यदात्तकरणाद् बहुन्नीहिः समासः कृतो भवति । ऋस्मिन् विषये तुल्ययोगितात्व(ल)ङ्कारेण मेघस्रर्ययो-र्वर्णनं क्रतमिति, ततोऽर्थवैपरीत्यं जायते । उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषोऽन्यपदार्थ-प्रधानो बहुन्नीहिः समासो भवति । तत्र यस्येच्छा सूर्यस्य ग्रहणेऽस्ति तेनेन्द्र-शत्रुशब्दः कर्मधारयसमासेनान्तोदाच उच्चारणीयः । यस्य च मेघस्य तेन बहुर्वा-

हिसमासमाश्रित्याद्यदात्तस्वरश्रेति नियमोस्ति । अत्रान्यथात्वे कृते मनुष्यस्य दोष एव गएयते । अतः कारणात् स्वरोचारणं वर्णोचारणं च यथावदेव कर्तव्यमिति ॥१॥

भाषार्थ

पठनपाठन की त्रादि में लड़कों त्रार लड़िकयों की ऐसी शिचा करनी चाहिये कि वे स्थान प्रयत्न के योग से वर्णों का ऐसा उचारण कर सकें कि जिससे सब को प्रिय लगें। जैसे (प) इस के उचारण में दो प्रकार का ज्ञान होना चाहिये एक स्थान श्रारे दूसरा प्रयत्न का, पकार का उचारण श्रोठों से होता है, परन्तु दो श्रोठों को ठीक र मिला ही के पकार बोला जाता है। इसका ऋोष्ठ स्थान ऋौर स्पृष्ट प्रयत्न है श्रौर जो किसी श्रचर के स्थान में कोई स्वर वा व्यञ्जन मिला हो तो उस को भी उसी उसी के स्थान में प्रयत्न से उचारण करना उचित है। इस का सब विधान व्या-करण श्रीर शिचाप्रन्थ में लिखा है। फिर इस विपय में पतञ्जलि महाभाष्यकार ने भी कहा है कि स्वर और वर्णों के उचारण में विपरीत होने से शब्द दुष्ट कहाता है अर्थात् वह मूल अर्थ को नहीं जनाता। तथा (स वाग्वज्रो०) जैसे स्थान और प्रयत्न के योग के विना शब्द का उच्चारण प्रसन्नता करानेहारा नहीं होता वैसे ही स्वर से विपरीत उच्चारण श्रौर गानविद्या भी सुन्दर नहीं होती । किन्तु गान का करने वाला पड्-जादि स्वरों के उच्चारण को उलटा कर देवे तो वह अपराध उसी का समका जाता है। इसी प्रकार वेदादि ब्रन्थों में भी स्वर श्रौर वर्णों का उचारण यत्न से होना चाहिये और जो उलटा उचारण किया जाता है वह (दुष्टः शब्दः) दुःख देने वाला भौर भूठ समभा जाता है। जिस शब्द का यथावन् उच्चारण न हो किन्तु उससे विपरीत किया जाय तो वह दोष बोलने वाले का गिना जाता है और विद्वान लोग बोलने वाले से कहते हैं कि तूने इस शब्द का अच्छा उच्चारण नहीं किया इससे यह तेरे श्राभिप्राय को यथार्थ नहीं कह सकता। जैसे (सकल) श्रीर (शकल) देख लो श्रार्थात् (सकल) शब्द सम्पूर्ण का बोधक श्रीर जो उस में तालव्य शकार का उच्चारण किया जाय तो वही फिर खख्ड का वाचक हो जाता है। ऐसे ही सकृत् श्रीर शक्कत में दन्त्य सकार के उच्चारण से प्रथम किया श्रीर उसी को तालव्य उच्चारण करने से विष्ठा का बोध होता है। इसलिये शब्दों का उचारण यथावत् करने से ही ठीक २ ऋर्य का बोध होता है। क्योंकि विपरीत उचारण से वह वज्र के समान वक्ता के श्रीभप्राय का नाश करने वाला होता है। सो यह दोष बोलने वाले का ही

गिना जाता है। जैसे (इन्द्रशतुः), यहां इकार में उदात्तस्वर बोलने से बहुन्रीहि समास श्रौर श्रन्य पदार्थ का बोध होता है तथा श्रन्तोदात्त वोलने से तत्पुक्षसमास श्रौर उत्तरपदार्थ का बोध हो जाता है। सूर्य्य का इन्द्र श्रौर मेघ का वृत्रासुर नाम है। इस के सम्बन्ध में वृत्रासुर श्रर्थात् मेघ का वर्णन तुल्ययोगिताऽलङ्कार से किया है। जो इन्द्र श्रर्थात् सूर्य्य की उत्तमता चाहे वह समस्त पद के स्थान में श्रन्तोदात्त उच्चारण करे श्रौर जो मेघ की वृद्धि चाहे वह श्राद्यदात्त उच्चारण करे। इसलिये स्वर का उच्चारण भी यथावत् करना चाहिये।

भाष्यम्

तथा भाषणश्रवणासनगमनोत्थानभोजनाध्ययनविचारार्थयोजनादीनामपि शिचा कर्त्तव्येव । अर्थज्ञानेन सहैव पठन कृते परमोत्तमं फलं प्राप्नोति । परन्तु यो न पठित तस्मान्त्रयं पाठमात्रकार्य्यपुत्तमो भवित । यस्तु खलु शब्दार्थसम्बन्ध-विज्ञानपुरस्सरमधीते स उत्तमतरः । यश्चैवं वेदान् पठित्वा विज्ञाय च शुभगुण-कर्माचरणेन सर्वोपकारी भवित स उत्तमतमः । अत्र प्रमाणानि ।

श्वां श्रुत्तरं पर्मे व्योम्न यस्मिन्देवा अधिविधे निष्दुः । यस्तन्न वेद किम्रुचा करिष्यति य इत्तद्विदुग्त इमे समासने ॥ २ ॥ ऋष्मण्डल १ । सूष् १६४ । मंष्ट्र ३६ ॥ स्थाणुर्यं भारहारः किलाभूद्धित्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् । योऽर्थज्ञ इत्स्कलं भद्रमंशनुते नार्कमिति ज्ञानविधूतपाष्मां ॥ ३ ॥ यद्गृहीतमीविज्ञातं निगदेनिव्शव्यते । अनंग्नाविषे शुष्केधो न तज्ज्वलित कहिंचित् ॥ निरुष्ट अप्ष्रे। खंष्ट्र १ ॥

उत त्वः परयुत्र दंदर्श वार्चमुत त्वः शृएवत्र शृणोत्येनाम् । उतो त्वंस्मै तन्वं विसंस्रे जायेव पत्यं उशती मुवासाः ॥ ४ ॥ उत त्वं सुख्ये स्थिरपीतमाद्वनैंनं हिन्वन्त्यि वार्जिनेषु । अधेन्वा चरित माययैष वार्च शुक्रवां श्रेफ्लामंपुष्पाम् ॥ ६ ॥ ऋ० मण्डल १० । सू० ७१ । मं० ४ । ४ ॥

भाष्यम्

अभि ० - अत्रार्थज्ञानेन विनाऽध्ययनस्य निषेधः क्रियत इति । (ऋचो अत्तरे०) यस्मिन् विनाशरिहते परमोत्कृष्टे व्योमवद्वचापके ब्रह्माणि, चत्वारो वेदाः

पर्य्यविसतार्थाः सन्ति, ऋगुपलच्चणं चतुर्णां वेदानां ग्रहणार्थम्, तत् कि ब्रह्मेत्य-त्राह । यस्मिन् विश्वे देवाः, सर्वे विद्यांसो, मनुष्या, इन्द्रियाणि च सूर्य्यादयश्व सर्वे लोका, त्र्राधिनिषेदुर्यदाऽऽधारेण निषएणाः स्थितास्तद्वत्व विज्ञेयम् । (यस्तं न वेद०) यः खलु तन्न जानाति, सर्वोपकारकरणार्थायामीश्वराज्ञायां यथावन्न वर्त्तते, स पटितयाऽपि ऋचा वेदेन किं करिष्यति, नैवायं कदाचिद्वेदार्थविज्ञान-जातं किमि फलं प्राप्तोतीत्यर्थः। (य इत्तद्धिदुस्त इमे समासते)य चैवं तद्कक्ष विदुस्त एव धर्मार्थकाममोत्तारूयं फलं सम्यक् प्राप्तुवन्ति । तस्मात्सार्थकमेव वेदादीनाम-ध्ययनं कर्त्तव्यम् ।। २।। (स्थाणुरयं०) यः पुरुषो वेदमधीत्य पाठमात्रं पठित्वाऽर्थं न जानाति,तं विज्ञायाऽपि धर्मं नाचरति, स मनुष्यः स्थाणुः काष्ट्रस्तम्भवद्भवति, अर्थाज्ज-डवद्रिज्ञेयो भारवाहश्र । यथा कश्चिन्मनुष्यः <mark>पश</mark>्चश्च भारमात्रं व<mark>हंस्तक भ</mark>ुङ्गे, किन्तु तेनोढं वृतमिष्टकस्तूरीकेशरादिकं कश्चिद्धाग्यवानन्यो मनुष्यो ग्रङ्के । योऽर्थविज्ञान्शून्य-मध्ययनं करोति स भारवाहवत् (किलाभूत्) भवतीति मन्तव्यम् । (योऽर्थज्ञ ०) योऽर्थस्य ज्ञाता वेदानां शब्दार्थसम्बन्धविद्धत्वाधर्माचरणो भवति, स वेदार्थज्ञानेन (विधृतपाप्मः) पापरहितः सन् मरणात् प्रागेव (सकलं) सम्पूर्णं (भद्रं) भजनीयं सुखं (त्रश्तुते) प्रामोति । पुनश्च शारीरं त्यक्त्वा (नाकमेति) सर्व-दुःखरहितं मोचारुयं ब्रह्मपदं प्रामोति । तस्माद्वेदानामर्थज्ञानधर्मानुष्ठानपूर्वकमेवा-ध्ययनं कर्त्तच्यम् ॥ ३ ॥ (यद्गृहीतमविज्ञातं) येन मनुष्येण यदर्थज्ञानशून्यं वेदाध्ययनं कियते किन्तु (निगदेन) पाठमात्रेर्णेव (शब्दाते) कथ्यते, तत् (कर्हिचित्) कदाचिदिप (न ज्वलित) न प्रकाशते। कस्मिन् किमिव ?। (अनग्नाचिव शुष्क्रैधः) अविद्यमानाग्निके स्थले शुष्कं सांप्रतं प्रज्वलनमिन्धन-मिव । यथाऽनग्नौ शुष्काणां काष्ठानां स्थापनेनापि दाइपकाशा न जायन्ते नादृशमेव तद्ध्ययनमिति ॥ ४ ॥ (उत्तत्वः पश्यन्न दद्शे०) ऋषि खल्वेको वाचं शब्दं पश्यन्नर्थं न पश्यति. (उत त्वः श्रृएवन श्रृणोत्येनाम्) उ इति वितर्के, कश्चिन्मनुष्यो वाचं शब्दग्रुच्चारय**ञ**पि न शृणोति तदर्थ न जानाति । यथा तेनोच्चारिताश्रुताऽपि वाक् श्राविदिता भवति तथैवाऽर्थज्ञानविरद्दमध्ययन-मिति मन्त्राऽर्द्धेनाविद्वल्लच्छाकुम् । (उनो त्वस्मै) यो मनुष्योऽर्थज्ञानपूर्वकं वेदा-नामध्ययनं करोति तस्मै (वाक्) विद्या (तन्वं) शरीरं स्वस्वरूपं (विसस्ने) विविधतया प्रकाशयति ! कस्मै का किं कुर्वतीव १। (जायेव पत्य उशाती सुवासाः) यथा शोभनानि वासांसि वस्त्राणि धारयन्ती, पति कामयमाना स्त्री

स्वस्वामिने स्वमात्मानं शरीरं प्रकाशयित, तथैवाऽर्थज्ञानपूर्वकाध्ययनकर्त्रे मनुष्याय विद्या स्वमात्मानं स्वस्वरूपमीश्वरमारम्य पृथिवीपर्य्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानमयं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥ ४ ॥ (सख्ये) यथा सर्वेषां प्राणिनां मित्रभावकर्मणि, (उत त्वं) श्रन्यमन् चानं पूर्णविद्यायुकं, (स्थिरपीतं) धर्मानुष्ठानेश्वरप्राप्तिरूपं मोचफलं पीतं प्राप्तं येन, तं विद्वांसं परमसुखप्रदं मित्रं (श्राहुः) वदन्ति । (नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु) ईदृशं विद्वांसं किस्मिश्चिद् व्यवहारे केऽपि न हिंसन्ति, तस्य सर्वप्रियकारकत्वात् । तथैव नैव केचित्प्रश्लोत्तरादयो व्यवहारा वाजिनेषु विरुद्धन्वादिषु शत्रुभूतेष्वपि मनुष्येष्वेनमर्थविज्ञानसिहतस्याध्येतारं मनुष्यं हिन्वन्ति, तस्य सत्यविद्यान्विताया कामदुहा वाचा सह वर्त्तमानत्वेन सत्यविद्याश्वभलकणान्वितत्वात् । इत्यनेन मन्त्रपूर्वाऽर्धेन विद्वत्प्रशंसोच्यते । श्रयेतन्मन्त्रोत्तराऽर्द्धेनाविद्वत्वत्त्यात् । (श्रयेन्वाचरति) यतो योद्यविद्यान्, (श्रयुष्पाम्) कर्मोपासनानुष्ठानाचारविद्यारहितां (श्रप्तलां) धर्मेश्वरविज्ञानाचारविरहां वाचं श्रुश्वान् श्रुतवान् तथाऽर्थिशिन्वारहितया श्रमसिहतया (मायया) कपटयुक्तया वाचाऽस्मित्नोके चरित, नैव स मनुष्यजन्मिन स्वार्थपरोपकाराख्यं च फलं किन्चिद्यपि प्राप्नोति । तस्माद्र्यज्ञानपूर्व-कमेवाध्ययनसुत्तमं भवतीति ॥ ६ ॥

भाषार्थ

ऐसे लड़कों और लड़कियों को बोलने, सुनने, चलने, बैठने, उठने, खाने, पीने, पढ़ने, विचारने तथा पदार्थों के जानने और जोड़ने आदि की शिचा भी करनी चाहिये, क्योंकि अर्थज्ञान के विना पढ़े कोई भी उत्तम फल को प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु कुछ भी नहीं पढ़ने वाले से तो पाठमात्र जानने वाला ही श्रेष्ठ है। जो वेदों को अर्थसिहत यथावत पढ़ के शुभ गुणों को प्रहण और उत्तम कमों को करता है वही सब से उत्तम होता है। इस विषय में वेदमन्त्रों के बहुत प्रमाण हैं जैसे (ऋचो अचरे परमे व्योमन्)। यहां इन मन्त्रों से अर्थज्ञान के विना पढ़ने का निषेध किया जाता है (प्र०) जिस का विनाश कभी नहीं होता और जो सबसे श्रेष्ठ, आकाशवत व्यापक, सब में रहने वाला परमेश्वर है, जिसने अर्थसाहत चारों वेद विद्यमान तथा जिसका उत्पन्न किया हुआ सब जगत् है, वह ब्रह्म क्या वस्तु है ?। (उ०) (यस्मिन्देवा०) जिस में संपूर्ण विद्वान् लोग, सब इन्द्रियां, सब मनुष्य और सब सूर्यांदिलोक स्थित हैं वह परमेश्वर कहाता है। जो मनुष्य वेदों को पढ़ के

ईश्वर को न जाने तो क्या वेदार्थ जानने का फल उस को प्राप्त हो सकता है, कभी नहीं । इसिलये जैसा वेदविषय में लिख आये हैं वैसा व्यवहार करने वाले मनुष्य अत्यन्त आनन्द को प्राप्त होते हैं। परन्तु जो कोई पाठमात्र ही पड़ता है वह उत्तम सुख को प्राप्त कभी नहीं हो सकता। इस कारण से जो कुछ पढ़ें सो अर्थज्ञानपूर्वक ही पढ़ें।। २।। (स्थागु०) जो मनुष्य वेदों को पढ़ के उन के अर्थों को नहीं जानता वह उनके सुख को न पाकर भार उठाने वाले पशु त्राथवा वृत्त के समान है, जो कि श्रपने फल फूल डाली श्रादि को विना गुगाबोध के उठा रहे हैं, किन्तु जैसे उनके सुख को भोगने वाला कोई दूसरा भाग्यवान मनुष्य होता है वैसे ही पाठ के पढ़ने वाले भी परिश्रम रूप भार को उठाते हैं परन्तु उनके ऋथैज्ञान से अनन्दस्वरूप फल को नहीं भोग सकते । (योऽर्थज्ञः) श्रौर जो श्रर्थ का जानने वाला है वह श्रधर्म से बचकर, धर्मात्मा होके, जन्म मरणरूप दुःख का त्याग करके, संपूर्ण सुख को प्राप्त होता है। क्योंकि जो ज्ञान से पवित्रात्मा होता है वह (नाकमेति) सर्वदुःखरहित होके मोत्तसुख को प्राप्त होता है। इसी कारण वेदादिशास्त्रों को श्रर्थज्ञानसहित पढ्ना चाहिये ।। ३ ।। (यदगृहीत०) जो मनुष्य केवल पाठमात्र ही पठन किया करता है उसका वह पढ़ना अन्धकाररूप होता है। (अग्नाविव शुष्कैधो ०) जैसे अग्नि के विना सुखे ईंधन में दाह श्रौर प्रकाश नहीं होता वैसे ही श्रर्थज्ञान के विना श्रध्ययन भी ज्ञानप्रकाशराहित रहता है। वह पड्ना श्रविद्यारूप अन्धकार का नाश कभी नहीं कर सकता ।। ४ ।। (उत त्वः पश्यन्न ददश वाचमुत०) विद्वान श्रौर श्रविद्वान का यही लच्च है कि जिस किसी को पढ़ सुन के भी शब्द ऋर्थ और सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान न हो वह मूर्ख अर्थात् अविद्वान् है। (उतो त्वस्मै०) और जो मनुष्य शब्द अर्थ सम्बन्ध तथा विद्या के प्रयोजन को यथावत् जान ले वह पूर्ण विद्वान् कहाता है। ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष को विद्या के स्वरूप के ज्ञान से परमानन्दरूप फल भी होता है। (जायेव पत्य उशती सुवासाः) श्रर्थात् जैसे पतित्रता स्त्री श्रपने ही पति को अपना शरीर दिखलाती है वैसे ही अर्थ जाननेवाले विद्वान ही को विद्या भी अपने रूप का प्रकाश करती है।। १।। (उतत्वं सख्ये०) सब मनुष्यों को उचित है कि विद्वानों के साथ प्रीति करें अर्थात् जैसे सम्पूर्ण मनुष्यों के मैत्री करने योग्य मनुष्य को सब लोग सुख देते हैं वैसे ही तू भी जो वेदादि विद्या और विज्ञानयुक्त पुरुष है उस को अच्छी प्रकार सुख दे कि जिससे तुमे विद्यारूप लाभ सदा होता रहे। विद्वान् नाम उसका है जो कि अर्थसिहित विद्या को पढ़के वैसा ही आचरण करे कि जिससे

धर्म, अर्थ, काम, मोच्च और परमेश्वर की प्राप्ति यथावत हो सके। इसी को स्थिरपीत कहते हैं। ऐसा जो विद्वान है वह संसार को सुख देने वाला होता है। (नैनं हि०) उस को कोई भी मनुष्य दुःख नहीं दे सकता, क्योंकि जिसके हृदय में विद्यारूप स्र्ये प्रकाशित हो रहा है उस को दुःखरूप चोर दुःख कभी नहीं दे सकते। (अधेन्वा च०) और जो कोई अविद्यारूप अर्थात् अर्थ और अभिप्रायरहित वाणी को सुनता और कहता है उसको कभी कुछ भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु शोकरूप शत्रु उस को सब दिन दुःख ही देते रहते हैं। क्योंकि विद्याहीन होने से वह उन शत्रुओं को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता। इसिलिये अर्थज्ञानसिहत ही पढ़ने से मनचाहा सुखलाभ होता है।। ६।।

भाष्यम्

मनुष्येर्वेदार्थविज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायीमहाभाष्याध्ययनम् । ततो निघएदुनिरुक्तव्यन्दोज्योतिषाणां वेदाङ्गानाम् । ततो मीमांसावैशेषिकन्याययोगसांख्यवेदान्तानां वेदोपाङ्गानां परणां शास्त्राणाम् । तत ऐतरेयशतपथसामगोपथन्नाह्मणानामध्ययनं च कृत्वा वेदार्थपठनं कर्त्तव्यम् । यद्या एतत्सर्वमधीतविद्धः कृतं वेदव्याख्यानं दृष्ट्या च वेदार्थज्ञानं सर्वः कर्त्तव्यामिति । कृतः । नावेदिवन्मनुते त वृहन्तमिति । यो मनुष्यो वेदार्थान्न वोत्ति स नैव तं वृहन्तं परमेश्वरं धर्मे विद्यासमृहं वा
वेत्तुमहिति । कृतः, सर्वासां विद्यानां वेद एवाधिकरणमस्त्यतः । निष्ट् तमविज्ञाय
कस्यचित्सत्यविद्याप्रिर्मवितुमहिति । यद्यत् किञ्चिन्न्यालमध्ये पुस्तकान्तरेषु हृदयान्तरेषु वा सत्यविद्याविज्ञानमभूत् भवति भविष्यति च तत् सर्व वेदादेव प्रमृतमिति
विज्ञेयम् । कृतः । यद्यद्यथार्थं विज्ञानं तत्तदीश्वरेण वेदेष्वधिकृतमस्ति । तद्द्रारैवाऽन्यत्र कृत्रचित्सत्यप्रकाशो भवितुं योग्यः । स्रतो वेदार्थविज्ञानाय सर्वेर्मनुष्यैः
प्रयत्नोऽनुष्ठेय इति ।

भाषार्थ

मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये अर्थयोजनासिंदत व्याकरण, अष्टाभ्यायी, धातुपाठ, उणादिगण, गणपाठ और महाभाष्य। शिचा, कल्प, निघर्दु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अंग। मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त ये छः शास्त्र, जो वेदों के उपांग अर्थात् जिन से वेदार्थ ठीक २ जाना जाता है। तथा ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण। इन सब प्रन्थों

को क्रम से पढ़ के अथवा जिन्होंने उन संपूर्ण प्रन्थों को पढ़ के जो सत्य २ वेद व्याख्यान किये हों उन को देख के वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें। क्योंकि (नावेदिवत्०) वेदों को नहीं जाननेवाला मनुष्य परमेश्वरादि सब पदार्थविद्याओं को अच्छी प्रकार से नहीं जान सकता और जो २ जहां २ भूगोलों वा पुस्तकों अथवा मन में सत्यज्ञान प्रकाशित हुआ है और होगा वह सब वेदों में से ही हुआ है। क्योंकि जो २ सत्यविज्ञान है सो २ ईश्वर ने वेदों में घर रक्खा है, इसी के द्वारा अन्य स्थानों में भी प्रकाश होता है और विद्या के विना पुरुष अन्धे के समान होता है। इस से संपूर्ण विद्याओं के मूल वेदों को विना पढ़ किसी मनुष्य को यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये सब मनुष्यों को वेदादि शास्त्र अर्थज्ञानसहित अवश्य पढ़ने चाहियें।

इति पठनपाठनविषयः संदोपतः

अथ संक्षेपतो भाष्यकरणदाङ्कासमाधानादिविषयः

(प्रश्नः) किञ्च भोः ! नवीनं भाष्यं त्वया कियत आहोस्वित्पूर्वाचार्यैः कृतमेव प्रकाश्यते ? । यदि पूर्वैः कृतमेव प्रकाश्यते तिर्हं तत् पिष्टपेषणदोषेण दृषितत्वास्र केनापि ग्राह्यं भवतीति । (उत्तरम्) पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते । तद्यथा । यानि पूर्वेदेंवैविद्विद्धिक्रक्षिणमारभ्य याज्ञवल्क्यवात्स्यायनजेमिन्यन्तैर्ऋषि-

तरेयशतपयादीनि भाष्याणि रचितान्यासन्, तथा यानि पाणिनिपतञ्जलियास्कादिमहर्षिभिश्च वेदच्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि कृतानि, एवमेव जैमिन्यादिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षद्शास्त्राणि, एवम्रुपवेदाख्यानि, तथैव वेदशाखाख्यानि च
रचितानि सन्ति, एतेषां संग्रहमात्रेणेव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते । न चात्र किश्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छ्या रच्यत इति । (प्रश्नः) किमनेन फलं भविष्यतीति ? ।
(उ०) यानि रावणोवटसायणमहीधरादिभिर्वेदार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि
यानि चैदनुसारेणेङ्गलेण्डशारमण्यदेशोत्पक्षेपूरोपखण्डदेशनिवासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानि च्याख्यानानि कृतानि, तथैवार्य्यवर्त्तदेशस्थैः कैश्चित्तदनुसारेण
प्राकृतभाषया व्याख्यानानि कृतानि वा कियन्ते च तानि सर्वाण्यनर्थगर्भाणि
सन्तीति सज्जनानां हृदयेषु यथावत् प्रकाशो भाविष्यति, टीकानामधिकदोषप्रसि-

द्ध्या त्यागश्च । परन्त्ववकाशाभावात्तेषां दोषाणापत्र स्थालीपुलाकन्यायवत् प्रकाशः क्रियते । तद्यथा । यत् सायणाचार्य्येण वेदानां परममर्थमविज्ञाय सर्वे वेदाः क्रियाकाएडतत्पराः सन्तीत्युक्तं, तदन्यथास्ति । कुतः । तेषां सर्वविद्यान्वि-तत्वात् । तच पूर्वं संवेपतो लिखितमस्ति । एतावतैवास्य कथनं व्यर्थमस्तीत्यव-गन्तन्यम् । (इन्द्रं मित्रं ०) ऋस्य मन्त्रस्याऽर्थोप्यन्यभैव वर्शितः । तद्यथा । तेनाऽत्रेन्द्रशब्दो विशेष्यतया गृहीतो मित्रादीनि च विशेषग्रतया । श्रत्र खलु विशेष्योऽग्निशब्द इन्द्रादीनां विशेषणानां सङ्गेऽन्वितो भूत्वा, पुनः स एव सद्द-स्तुब्रह्मविशेषणां भवत्येवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणां पुनः पुनरन्वितं भवतीति, न चैवं विशेषणम् । एवमेव यत्र शतं सहस्रं वैकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि भवेयुः, तत्र विशेष्यस्य पुनः पुनरुचारणं भवति विशेषणस्यैकवारमेवेति । तथैवात्र मन्त्रे परमेश्वरेखाऽन्निशब्दो द्विरुचारितो विशेष्यविशेषखाऽभिप्रायात्। इदं सायखाचार्य्यख नैव बुद्धमतस्तस्य आन्तिरेव जातेति वेद्यम् । निरुक्ककारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशे-षणत्वेनैव वर्णितः । तद्यथा । इममेवाग्नि महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधा-विनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि० ॥ नि० ग्र० ७ । खं० १८ ॥ स चैकस्य सद्वस्तुनो ब्रह्मणो नामास्ति । तस्मादग्न्यादीनीश्वरस्य नामानि सन्तीति वोध्यम् । तथा च । तस्मात्सर्वेरिप परमेश्वर एव हूयते, यथा राज्ञः पुरोहितः सदभीष्टं सम्पादयति, यद्वा यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे त्र्याहवनीयरूपेणावस्थितीमत्युक्तमिदमपि पूर्वापर-विरुद्धमस्ति । तद्यथा । सर्वैर्नामाभिः परमेश्वर एव ह्यते चत्पुनस्तेन होमसाधक श्राह्वनीयरूपेणावस्थितो भौतिकोऽग्निः किमर्थो गृहीतः । तस्येदमपि वचनं अम-मूलमेव । कोऽपि ब्र्यात्सायणाचार्य्येण यद्यपीन्द्राद्यस्तत्र तत्र ह्यन्ते तथापि परमे-श्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानाद्विरोध इत्युक्तत्वाद्दोष इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । यदी-न्द्रादिभिनीमभिः परमेश्वर एवोच्यते तर्हि परमेश्वरस्येन्द्रादिरूपावस्थितिरनुविता । तद्यथा । त्राज एकपात्, स पर्य्यगाच्च्छुक्रमकायमित्यादिमन्त्रार्थेन परमेश्वरस्य जन्म-रूपवत्त्वशारीरधारणादिनिषेधात्तत्कथनमसद्स्ति । एवमेव सायणाचार्यकृतभाष्य-दोषा बहवः सन्ति । श्रेप्रे यत्र यत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य व्याख्यानं कारिष्यामस्तत्र तत्र तद्भाष्यद्रोपान् प्रकाशयिष्याम इति ।

भाषार्थ

(प्रश्न) क्योंजी जो तुम यह वेदों का भाष्य बनाते हो सो पूर्व आचाय्यों के भाष्य के समान बनाते हो वा नवीन, जो पूर्वरचित भाष्यों के समान है तब तो बना-

ना न्यर्थ है, क्योंकि वे तो पहिले ही से बने बनाये हैं श्रीर जो नया बनाते हो तो उस को कोई भी न मानेगा, क्योंकि जो विना प्रमाण के केवल ऋपने ही कल्पना से बनाना है यह बात कब ठीक हो सकती है ?। (उत्तर) यह भाष्य प्राचीन श्राचा-र्थों के भाष्यों के श्रनुकूल बनाया जाता है। परन्तु जो रावण, उवट, सायण श्रीर महीधर छादि ने भाष्य बनाये हैं वे सब मूलमन्त्र ऋौर ऋषिकृत व्याख्यानों से वि-रुद्ध हैं। मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता, क्योंकि उन्हों ने वेदों की सत्यार्थता श्रौर अपू-र्वता कुछ भी नहीं जानी। श्रीर जो यह मेरा भाष्य बनता है सो तो वेद. वेदाङ्ग. ऐतरेय, शतपथत्राह्मणादि प्रन्थों के श्रनुसार होता है। क्योंकि जो २ वेटों के सनातन व्याख्यान हैं उन के प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है यही इस में अपूर्वता है। क्योंकि जो २ प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में वेदों से भिन्न शास्त्र गिन श्राये हैं वे सब वेदों के ही व्याख्यान हैं। वैसे ही ग्यारहसौ सत्ताईस (११२७) वेदों की शाखा भी उन के व्याख्यान ही हैं। उन सब प्रन्थों के प्रमाण्युक्त यह भाष्य बनाया जाता है। श्रौर दूसरा इन के अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इस में कोई बात अप्रमाण वा अपनी रीति से नहीं लिखी जाती। श्रीर जो २ भाष्य उवट, सायण, महीधरादि ने बनाये हैं वे सब मूलार्थ श्रीर सनातन वेदव्याख्यानों से विरुद्ध हैं। तथा जो २ इन नवीन भाष्यों के श्रनुसार श्रंप्रेजी, जर्मनी, दान्तिणी श्रीर बंगाली श्रादि भाषात्रों में वेदव्याख्यान बने हैं वे भी श्रशुद्ध हैं। जैसे देखो सायणाचार्य्य ने वेदों के श्रेष्ठ श्रयों को नहीं जान कर कहा है कि सब वेद कियाकाएड का ही प्रतिपादन करते हैं। यह उनकी बात मिथ्या है। इस के उत्तर में जैसा कुछ इसी भूमिका के पूर्व प्रकरणों में संचेप से लिख चुके हैं सो देख लेना। ऐसे ही (इन्द्रं मित्रं०), सायणाचार्व्य ने इस मन्त्र का ऋर्थ भी भ्रान्ति से बिगाड़ा है, क्योंकि उन से इस मन्त्र में विशेष्य विशेषण को अच्छी रीति से नहीं समभ कर इन्द्र शब्द को तो विशेष्य करके वर्णन किया श्रीर मित्रादि राब्द उस के विशेषण ठहराये हैं। यह उन को बड़ा भ्रम हो गया, क्योंकि इस मनत्र में श्राग्नि शब्द विशेष्य श्रीर इन्द्रादि शब्द उस के ही विशे-षण हैं। इसलिये विशेषणों का विशेष्य के साथ घ्रन्वय होकर पुनः दूसरे २ विशे-षण के साथ विशेष्य का अन्वय कराना होता और विशेषण का एक वार विशेष्य के साथ अन्वय होता है। इसी प्रकार जहां २ एक के सैकड़ों वा हजारों विशेषण होते हैं वहां २ भी विशेष्य का सैकड़ों वा हजारों वार उचारण होता है। वैसे ही इस मन्त्र में विशेष्य की इच्छा से ईश्वर ने श्राग्ति शब्द का दो वार उचारण किया और

श्राग्नि श्रादि ब्रह्म के नाम कहे हैं। यह बात सायणाचार्य्य ने नहीं जानी, इससे उन की यह भ्रान्ति सिद्ध है। इसी प्रकार निरुक्तकार ने भी श्राग्नि शब्द को विशेष्य ही वर्णन किया है, (इममेवार्गिन) यहां ऋग्नि और इन्द्रादि नाम एक सर् वस्तु ब्रह्म ही के हैं, क्योंकि इन्द्रादि शब्द श्राग्न के विशेषण श्रीर श्राग्न श्रादि ब्रह्म के नाम हैं। ऐसे ही सायणाचार्थ्य ने श्रांर भी वहुत मन्त्रों की ज्याख्यात्र्यों में शब्दों के अर्थ उत्तटे किये हैं तथा उनने सब मन्त्रों से परमेश्वर का प्रहण कर रक्खा है। जैसे राजा का पुरोहित राजा ही के हित का काम सिद्ध करता है अथवा जो अगिन यह के सम्बन्धी प्रथम भाग में हवन करने के लिये हैं उसी रूप से ईश्वर स्थित ह। यह सायणाचार्य्य का कथन त्रयोग्य त्र्यौर पूर्वापर विरोधी होकर त्र्यागे पिछे के सम्बन्ध को तोड़ता है। क्योंकि जब सब नामों से परमेश्वर ही का श्रहण करते है तो फिर जिस श्राग्नि में हवन करते हैं उस को किसलिये ग्रहण किया है। श्रोर कदाचित् कोई कहे कि जो सायणाचार्य्य ने वहां इन्द्रादि देवताओं का ही ग्रहण किया हो तो उससे कुछ भी विरोध नहीं ह्या सकता। इसका उत्तर यह है कि जब इन्द्रादि नामों से पर-मेश्वर ही का ब्रह्मण है तो वह निराकार, सर्वशिक्षमान, ज्यापक और श्रखण्ड होने से जन्म लेकर भिन्न २ व्यक्ति वाला कभी नहीं हो सकता । क्योंकि वेदों में परमेश्वर का एक अज और अकाय अर्थात् शरीर सम्बन्ध रहित आदि गुणों के साथ वर्णन किया है। इससे सायणाचार्य्य का कथन सत्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार सायणा-चार्थ्य ने जिस २ मन्त्र का श्रान्यथा व्याख्यान किया है स्रो सव क्रमपूर्वक श्रागे उन मन्त्रों के व्याख्यान में लिख दिया जायगा।

भाष्यम्

एवमेव महीधरेण महानर्थरूपं वेदार्थदूपकं वेददीपाख्यं विवर्ण (विवरणं?) कृतं तस्यापीह दोषा दिग्दर्शनवत्प्रदर्शनते ।

इसी प्रकार महीधर ने भी यजुर्वेद पर मूल से अत्यन्त विरुद्ध व्याख्यान किया है उसमें से सत्यासऱ्य की परीचा के लिये उन के कुछ दोप यहां भी दिखलाते हैं।

गणानां त्वा गणपतिछं हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिछं हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिछं हवामहे वसो मम । आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम् ॥ १ ॥ यजु० अ० २३ । मं० १६ ॥

भाष्यम्

अस्य मन्त्रस्य ज्याख्याने तेनोक्तमिस्मिन्मन्त्रे गणपातिशब्दादश्वो वाजी ग्रही-तव्य इति । तद्यथा । महिषी यजमानस्य पत्नी, यज्ञशालायां, पश्यतां सर्वेषा-मृत्विजामश्वसमीपे शेते । शयाना सत्याह । हे अश्व ! गर्भधं गर्भ दधाति गर्भधं गर्भधारकं रेतः, अहं आ अजानि, आकृष्य चिपामि । त्वं च गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य चिपसि ।

भाषार्थ

(गणानां त्वा) इस मन्त्र में महीधर ने कहा है कि गणपित शब्द से घोड़े का महण है। सो देखो महीधर का उलटा अर्थ कि सब ऋत्विजों के सामने यजमान की स्त्री घोड़े के पास सोवे और सोती हुई घोड़े से कहे कि, हे अश्व ! जिससे गर्भ-धारण होता है ऐसा जो तेरा विर्थ है उस को मैं खैंच के अपनी योनि में डालूं तथा तूं उस विर्थ को मुक्त में स्थापन करने वाला है।

अथ सत्योर्थः

गणानां त्वा गणणितं हवामह इति ब्राह्मणस्पत्यं। ब्रह्म वै वृह-स्पतिर्ब्रह्मणैवेनं तिद्धण्डयित, प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामेति॥ ऐत० पं० १। कं० २१॥ प्रजापितवें जमदिनः सोऽरवमेघः॥ च्रत्रं वाश्वो विडितरे परावः॥ च्रत्रस्यैतद्भूपं यद्धिरण्यं॥ ज्योतिर्वे हिरण्यम्॥ श० कां० १३। श्च० २। ब्रा० २। कं० १४। १४। १७। १६॥ न वै मनुष्यः स्वर्गं लोकमञ्ज्ञसा वेदाश्वो वै स्वर्गं लोकमञ्ज्ञसा वेद् ॥ श० कां० १३। श्च० २। ब्रा० ३। कं० १॥ राष्ट्रमश्वमेघो ज्योतिरेव तद्द्राष्ट्रे दधाति॥ च्रत्रायैव तद्दिशं कृतानुकरामनुवर्त्तनानं करोति॥ स्रथो च्रत्रं वा श्वरवः, च्रत्रस्यैतद्भूपं यद्धिरण्यं, च्रत्रमेव तत्च्त्रेण समर्थयित॥ विशमेव तद्दिशा समर्थयित॥ श० कां० १३। श्च० २। ब्रा० २। कं० १६। १४। १७। १६॥ गणानां त्वा गणपितिछं हवामह इति। पत्न्यः परियन्त्यपह्नुवत एवास्मा एतद्तोऽन्येवास्मेह्नुवतेऽथो धुवत एवैनं त्रिः परियन्ति त्रयो वा इमे लोका एभिरेवैनं लोकेधुवते त्रिः पुनः परियन्ति षद् मम्पद्यन्ते षड्वा श्वतव श्वतुभिरेवैनं धुवते॥ श्चप वा एतेभ्यः प्राणाः कामन्ति ये यज्ञे धुवनं तन्वते। नव-

कृत्वः परियन्ति । नव वै प्राणाः । प्राणानेवात्मन्द्धते । नैभ्यः प्राणा अपकामःत्याहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधमिति । प्रजावै पश्रवो गर्भः प्रजामेव पश्र्नात्मन्धत्ते ॥ श० कां० १३ । अ०२ । ब्रा०८ । कं०४ । ४ ॥

भाष्यम्

(गणानां त्वा०) वयं गणानां गणनीयानां पदार्थसमृहानां गणपितं पालकं स्वामिनं (त्वा) त्वां परमेश्वरं (हवामहे) गृह्णीमः । तथैव सर्वेषां प्रियाणामि- ष्टिमित्रादीनां मोचादीनां च प्रियपितं त्वेति पूर्ववत् । एवमेव निधीनां विद्यारत्ना- दिकोशानां निधिपितं त्वेति पूर्ववत् । वसत्यिसमृत सर्वं जगद्वा यत्र वसित स वसुः परमेश्वरः । तत्सम्बुद्धौ हे वसो, परमेश्वरपरत्वम् । सर्वान् कार्य्यान् भूगोलान्स्व- सामध्यें गर्भवह्धातीति स गर्भध, स्तं त्वामहं भवत्कृपया त्राजािन, सर्वथा जानी- याम् । (त्रा त्वमजािसे) हे भगवन् । त्वं तु त्रा समन्ताज्ज्ञातािस । पुनर्गर्भधिमित्युक्तचा वयं प्रकृतिपरमाणवादीनां गर्भधानामिष गर्भधं त्वां मन्यामहे । नैवातो भिन्नः किश्चद्रभधारकोस्तीिति । एवमेवैतरेयशतपथब्राह्मणे गणपितशब्दार्थो वर्णि- तः । ब्राह्मण्यति मिन्नस्त्रोपदेशेनैवैनं जीवं यजमानं वा सत्योपदेशा विद्वान् मिषज्यिति रोगरिहतं करोति । त्रात्मनो भिपजं वैद्यमिच्छतीित । यस्य परमेश्वरस्य प्रथः सर्वत्र व्याप्तो विस्तृतः, सप्रथश्च प्रकृत्याकाशादिना प्रथेन स्वसामर्थ्येन वा सह वर्तते स सप्रथ,स्तदिदं नामद्वयं तस्यैवास्तीित । प्रजापितः परमेश्वरो, वे इति निश्चयेन, जमदिगनसंज्ञोस्ति । अत्र प्रमाणम् ।

जमद्रग्नयः प्रजमितारमयो वा, प्रज्वितारमयो वा, तरिभहुतो भवति ॥ निरु० अ० ७ । खं० २४ ॥

भाष्यम्

इमे स्र्य्यादयः प्रकाशकाः पदार्थास्तस्य सामध्यादेव प्रव्वित्ता भवन्ति । तैः स्र्य्यादिभिः कार्य्येस्तिभयमैश्च कारणाख्य ईश्वरोभिद्धतश्चाभिमुख्येन पूजितो भवतीति । यः स जमदिग्नः परमेश्वरः (सोऽश्वमेधः) स एव परमेश्वरोऽश्वमेधाख्य इति प्रथमोर्थः । स्रथापरः । चत्रं वाश्वो विद्धितरे पश्च इत्यादि । यथा ऽश्वस्यापेचयेतर इमेऽजादयः पश्चो न्यूनवलवेगा भवन्ति, तथा राह्नः सभासमीपे विद् प्रजा निर्वेत्वेव भवति । तस्य राज्यस्य, यद्धिरायं सुवर्णादिवस्तु ज्योतिः

प्रकाशो वा न्यायकरणमेतत्स्वरूपं भवति । यथा राजप्रजालङ्कारेण राजप्रजाधर्मी वर्णितः, तथैव जीवेश्वरयोः स्वस्वामिसम्बन्धो वर्ण्यते । नैव मनुष्यः केवलेन स्वसामर्थ्येन सरलतया * स्वर्गं परमेश्वराख्यं लोकं वेद किन्त्वीश्वरानुग्रहेगीव जानाति ।

श्ररवो यत ईरवरो वा श्रश्वः ॥ श० कां० १३ । श्र० ३ । ब्रा० ३ । कं॰ ५ ॥ ऋरनुते व्याप्नोति सर्वे जगत्सो अव ईश्वरः ॥

भाष्यम

इत्युक्तत्वादीश्वरस्यैवात्राश्वसंज्ञास्तीति । अन्यच (राष्ट्रं वा०) राज्यमश्वमेध-संज्ञं भवति, तद्राष्ट्रं राज्यकमिणि ज्योतिर्दधाति, तत्कमेफलं चत्राय राजपुरुपाय भवति । तच्च स्वसुखायैव विशं प्रजां कृतानुकरां स्ववर्त्तमानामनुकूलां † करोति । श्रथो इत्यनन्तरं चत्रमेवाश्वमेधसंज्ञकं भवति । तस्य, यद्विरएयमेतदेवरूपं भवति । तेन हिरएयाद्यान्वितेन चत्रेण राज्यमेव सम्यग्वर्धते नच प्रजा । सा तु स्वतन्त्र-स्वभावान्वितया विशा समर्थयति । ऋतो यत्रैको राजा भवति तत्र प्रजा पीडिता जायते । तम्मात्त्रजासत्त्रयेव राज्यप्रवन्धः कार्य्य इति । (गणानां) स्त्रियोप्येनं, राज्यपालनाय, विद्यामयं सन्तानशिचाकरणाख्यं यज्ञं, परितः सर्वतः प्राप्नुयुः, प्राप्ताः सत्योऽस्य सिद्धये यदपह्नवाख्यं कर्माचरन्ति, अतः कारणादेतदेतासामन्ये विद्वांसो द्रीकुर्वन्ति । अथो इत्यनन्तरं य एनं विचालयन्ति तानप्यन्ये च द्रीकुर्य्युः । एवमस्य त्रिवारं रत्ताणं सर्वथा कुर्य्युः । एवं प्रतिदिनमेतस्य शित्तया रत्ताणेन चात्मशरीर-बलानि सम्पादयेयुः । ये नराः पूर्वीक्षं गर्भधं परमेश्वरं जानन्ति नैव तेभ्यः प्राणा बलपराऋमादयोऽपऋामन्ति । तस्मान्मनुष्यस्तं गर्भधं परमेश्वरमहमाजानि समन्ता-ज्जानीयामितीच्छेत् । (प्रजा वै पशवः०) ईश्वरसामर्थ्यगर्भात्सर्वे पदार्था जाता इति योजनीयम् । यश्र पश्नां प्रजानां मध्ये विज्ञानवान् भवति स इमां सर्वा प्रजामात्मनि, ऋताते सर्वत्रं न्याप्नोति तस्मिन् जगदीश्वरे वर्सत इति, धारयति । इति संचेपतो गणानां त्वेति मन्त्रस्यार्थो वर्णितः । श्रस्मान्मद्दीधरस्यार्थोऽत्यन्त-विरुद्ध एवास्तीति मन्तव्यम् ।

भाषार्थ

(गणानां त्वा॰) ऐतरेय ब्राह्मण में गणपति शब्द की ऐसी व्याख्या की है कि यह मन्त्र ईश्वरार्थ का प्रतिपादन करता है, जैसे ब्रह्म का नाम बृहस्पति, ईश्वर तथा

एतस्थाने सहजतयेति ह० जि० भूमिकायां पाठः ॥
 † स्ववर्तमानानुकूजामिति ह० जि० भूमिकायां नास्ति ।

वेद का नाम भी ब्रह्म है। जैसे अञ्छा वैद्य रोगी को श्रौषध देके दुःखों से अलग कर देता है, वैसे ही परमेश्वर भी वेदोपदेश करके मनुष्य को विज्ञानरूप अभेषि देके श्रविद्यारूप दुःखों से छुड़ा देता है, जो कि प्रथ श्रर्थात् विस्तृत, सब में व्याप्त श्रीर सप्रथ ऋर्थात् त्राकाशादि विस्तृत पदार्थों के साथ भी न्यापक हो रहा है। इसी प्रकार से यह मन्त्र ईश्वर के नामों को यथावत् प्रतिपादन कर रहा है। ऐसे ही शत-पथ ब्राह्मण में भी राज्यपालन का नाम अश्वमेध, राजा का नाम अश्व और प्रजा का नाम घोड़े से भिन्न पशु रक्खा है। राज्य की शोभा धन है ऋौर ज्योति का नाम हिरएय है। तथा श्रश्व नाम परमेश्वर का भी है, क्योंकि कोई मनुष्य स्वर्गलोक को अपने सहज सामर्थ्य से नहीं जान सकता किन्तु अश्व अर्थात जो ईश्वर है वही उन के लिये स्वर्गसूख को जनाता और जो मनध्य प्रेमी धर्मात्मा हैं उन को सब स्वर्गसूख देता है तथा (राष्ट्रमश्वमेधः) राज्य के प्रकाश का धारण करना सभा ही का काम श्रीर उसी सभा का नाम राजा है, वही श्रापनी श्रीर से प्रजा पर कर लगाती है, क्योंकि राज ही से राज्य श्रीर प्रजा ही से प्रजा की वृद्धि होती है। (गणानां त्वा०) स्त्री लोग भी राज्यपालन के लिये विद्या की शिक्षा सन्तानों को करती रहें। जो इस यज्ञ को प्राप्त होके भी सन्तानोत्पत्ति त्र्यादि कर्म्भ में मिध्याचरण करती हैं उन के इस कर्म को विद्वान लोग प्रसन्न नहीं करते श्रीर जो पुरुष सन्तानादि की शिचा में श्रालस्य करते हैं अन्य लोग उनको बांध कर ताड़ना देते हैं। इस प्रकार तीन, छः वा नव वार इस की रचा से आतमा शरीर श्रीर बल को सिद्ध करें। जो मनुष्य परमेश्वर की उपासना करते हैं उनके बलादि गुए कभी नष्ट नहीं होते। (आहम-जानि०) प्रजा के कारण का नाम गर्भ है। उस के समतुल्य वह सभा, प्रजा श्रीर प्रजा के पशुत्रों को, श्रपने श्रात्मा में धारण करे श्रर्थात् जिस प्रकार श्रपना सुख चाहे वैसे ही प्रजा श्रीर उस के पशुश्रों का भी सुख चाहे। (गणानां त्वा०) जो परमात्मा गणनीय पदार्थी का पति श्रर्थात् पालन करने हारा है, (त्वा०) उस को (हवामहे) हम लोग पूज्यबुद्धि से प्रहण करते हैं । (प्रियाणां ०) जो कि हमारे इष्ट मित्र श्रीर मोत्तसुखादि का प्रियपति तथा हम को श्रानन्द में रख कर सदा पालन करने वाला है उसी को हम लोग श्रपना उपास्यदेव जान के प्रह्ण करते हैं। (निधीनां त्वा०) जो कि विद्या और सुखादि का निधि अर्थात् हमारे कोशों का पति है उसी सर्वशिक्तमान परमेश्वर को हम अपना राजा और स्वामी मानते हैं। तथा जो कि व्यापक होके सब जगत् में ऋौर सब जगत् उसमें बस रहा है इस

कारण से उस को वसु कहते हैं। हे वसु परमेश्वर! जो आप अपने सामर्थ्य से जगत् के अनादिकारण में गर्भधारण करते हैं अर्थात् सब मूर्तिमान् द्रव्यों को आप ही रचते हैं इसी हेतु से आप का नाम गर्भध है। (आहमजानि) मैं ऐसे गुणसहित आपको जानूं। (आत्व०) जैसे आप सब प्रकार से सब को जानते हैं वैसे ही सुक्त को भी सब प्रकार से ज्ञानयुक्त कीजिये। (गर्भधं) दूसरी वेर गर्भध शब्द का पाठ इसिलये हैं कि जो २ प्रकृति और परमाणु आदि कार्यद्रव्यों के गर्भह्प हैं उन में भी सब जगत् के गर्भह्प बीज को धारण करनेवालो ईश्वर से भिन्न दूसरा कार्य्य जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय करनेवाला कोई भी नहीं है। यही अर्थ ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मण में कहा है। विचारना चाहिये कि इस सत्य अर्थ के गुप्त होने और मिध्या नवीन अर्थों के प्रचार होने से मनुष्यों को आन्त करके वेदों का कितना अपमान कराया है। जैसे यह दोष खिएडत हुआ वैसे इस साध्य की प्रवृत्ति से इन सब मिध्या दोपों की निवृत्ति हो जायगी।

ता उभौ चतुर्रः पुदः सम्प्रसारयाव स्वर्गे लोके प्रोणुँवाधां वृषां बाजी रेतिषा रेति दघातु ॥ २ ॥ य० अ० २३ । मं० २० ॥

महीधरस्यार्थः — अश्विशक्षापुर्थे कुरुते वृषा वाजीति । महिषी स्वयमेवाश्विशि-श्रमाकुच्य स्वयोनौ स्थापयति ।

महीधर का ऋर्थ

भाषार्थ

यजमान की की घोड़े के लिङ्ग को पकड़ कर आप ही अपनी योनि में डाल देवे। स्तरयोऽर्थः

ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयावेति मिथुनस्यावरूध्यै स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशु ७ संज्ञपयन्ति तस्मादेवमाह वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैव।वरूध्यै ॥ श॰ कां॰ १३ । श्र॰ २ । ब्रा॰ ८ । कं॰ ४ ॥

भाष्यम्

श्रावां राजप्रजे, धर्मार्थकाममोत्तान् चतुरः पदानि, सदैव मिलिते भूत्वा सम्यक् विस्तारयेवहि । कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह । स्वर्गे सुखविशेषे, लोके द्रष्टव्ये भोक्नव्ये, प्रियानन्दस्य स्थिरत्वाय, येन सर्वान्प्राणिनः सुखैराच्छाद्येवहि । यस्मिन् राज्ये पशुं पशुस्वभावमन्यायेन परपदार्थानां द्रष्टारं जीवं विद्योपदेशदण्डदानेन सम्यगवबोधयन्ति सेष एव सुखयुक्तो देशो हि स्वर्गो भवति । तस्मात्कारणादुभयस्य सुखायोभये विद्यादिसद्गुणानामभिवर्षकं वाजिनं विज्ञानवन्तं जनं प्रति विद्याबले सत्तमेव द्रधात्वित्याहायं मन्त्रः ।

भाषार्थ

(ता उभी ०) राजा और प्रजा हम दोनों मिल के धर्म, ऋथं, काम और मोत्त की सिद्धि के प्रचार करने में सदा प्रवृत्त रहें। किस प्रयोजन के लिये ? कि दोनों की अत्यन्त सुखरूप स्वर्गलोक में प्रिय आनन्द की स्थिति के लिये, जिससे हम दोनों परस्पर तथा सब प्राणियों को सुख से परिपूर्ण कर देवें। जिस राज्य में मनुष्य लोग अच्छी प्रकार ईश्वर को जानते हैं वही देश सुखयुक्त होता है। इससे राजा और प्रजा परस्पर सुख के लिये सद्गुणों के उपदेशक पुरुप की सदा सेवा करें और विद्या तथा बल को सदा बढ़ावें। इस अर्थ का कहनेवाला (ता उभी ०) यह मन्त्र है। इस अर्थ से महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है।

युकासकौ र्यंकुन्तिका हलुगिति वञ्चेति । त्राहंन्ति गुभे पसो निर्गलगलीति धारंका ॥ य० त्र० २३ । म० २२ ॥

महीधरो वदति

श्रध्वर्यादयः कुमारीपत्नीभिः सह सोपहासं संवदन्ते । श्रंगुल्या योनि प्रदेश-यन्नाहः, स्त्रीणां शीघ्रगमने योनौ इलहलाशब्दो भवतीत्यर्थः । भगे योनौ शकुनि-सदृश्यां यदा पसो लिंगमाहिन्त श्रागच्छति । पुंस्प्रजननस्य नामः, हिन्तर्गत्यर्थः । यदा भगे शिक्षमागच्छति तदा (धारका) धरति लिङ्गमिति धारका योनिः (निगल्गलीति) नितरां गलति वीर्यं चरितः यदा शब्दानुकरणं गल्गलेति शब्दं करोति। (यकासकौ०।। यज्ञ० श्र० २३। मं० २३॥) कुमारी श्रध्वर्यं प्रत्याह । श्रंगुल्या लिंगं प्रदेशयन्त्याह । श्रग्रभागे सच्छिद्धं लिङ्गं तव मुखिमव मासते ।

महीधर का ऋर्थ

भाषार्थ

यज्ञशाला में अध्वर्यु आदि ऋत्विज् लोग कुमारी और स्नियों के साथ उपहास

पूर्वक संवाद करते हैं। इस प्रकार से कि अङ्गुलि से योनि को दिखला के हंसते हैं, (आहलगिति०) जब स्त्री लोग जल्दी २ चलती हैं तब उन की योनि में हलहला शब्द और जब भग लिङ्ग का संयोग होता है तब भी हलहला शब्द होता और योनि और लिङ्ग से वीर्य्य भरता है। (यकासकौ०) कुमारी अध्वर्यु का उपहास करती है कि जो यह छिद्रसहित तेरे लिङ्ग का अप्रभाग है सो तेरे मुख के समान दीख पड़ता है।

अथ सत्योर्थः

यकासकी शकुन्तिकेति। विड् वै शकुन्तिका हलगिति वञ्च-तीति। विशो वै राष्ट्राय वञ्चन्त्याहन्ति गभे पसो निगलगलीति धारकेति, विड् वै गभो राष्ट्रं पसो, राष्ट्रमेव विश्याहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः॥ श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ६। कं० ६॥

भाष्यम्

(विद्वे०) यथा श्येनस्य समीपेऽल्पपित्तिणी निर्वेला भवति तथैव राज्ञः समीपे (विद्) प्रजा निर्वेला भवति । (आहलगिति वश्चतीति) राजानो विशः प्रजाः (वै) इति निश्चयेन राष्ट्राय राजसुखप्रयोजनाय सदैव वञ्चन्तीति । (आहन्ति०) विशो गभसंज्ञा भवति पसाख्यं राष्ट्रं, राज्यं प्रजया स्पर्शनीयं भवति, यस्माद्राष्ट्रं तां प्रजां प्रविश्याहान्ति समन्ताद्धननं पीडां करोति, यस्माद्राष्ट्री एको राजा मतश्चेत्तिहैं विशं प्रजां घातुको भवति, तस्मात्कारणादेको मनुष्यो राजा कदािक्यवे मन्तव्यः, किन्तु समाध्यत्तः सभाधीनो यः सदाचारी शुभलत्त-णान्वितो विद्वान्स प्रजाभी राजा मन्तव्यः । अस्मादिप सत्यादर्थान्महीधरस्यातीव दृष्टोऽर्थोस्तीति विचारणीयम् ।

भाषार्थ

(यकासकी ०) प्रजा का नाम शकुन्तिका है कि जैसे बाज के सामने छोटी २ चिड़ियाओं की दुर्दशा होती है वैसे ही राजा के सामने प्रजा की। (आहलगिति०) जहां एक मनुष्य राजा होता है वहां प्रजा ठगी जाती है। (आहान्तिगभे पसो०) तथा प्रजा का नाम गभ और राज्य का नाम पस है। जहां एक मनुष्य राजा होता है वहां वह अपने लोभ से प्रजा के पदार्थों की हानि ही करता चला जाता है। इसलिये राजा को प्रजा का घातुक अर्थात् हनन करने वाला भी कहते हैं। इस

कारण से एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये, किन्तु धार्मिक विद्वानों की सभा के आधीन ही राज्यप्रवन्ध होना चाहिये । (यकासको०) इत्यादि मन्त्रों के शतप-थप्रतिपादित अर्थों से महीधर आदि अल्पज्ञ लोगों के बनाये हुए अर्थों का अत्यन्त विरोध है।

माता चं ते पिता च तेऽग्रं वृच्चस्यं रोहतः। प्रतिलामीति ते पिता गुभे मुष्टिमते असयत्॥ य० अ०२३। मं०२४॥

महीधरस्यार्थः

ब्रह्मा महिषीमाह । महिषि हये हये महिषि ! ते तव माता, च पुनः, ते तव पिता, यदा वृत्तस्य वृत्तजस्य काष्टमयस्य मञ्चकस्यात्रमुपरिभागं रोहतः आरोहतः तदा ते पिता गभे भगे मुष्टिं मुष्टितुन्यं लिङ्गमतंसयत्तंसयति प्रिचिपति । एवं तवोत्पत्तिरित्यश्लीलम् । लिङ्गमुत्थानेनालङ्करोति वा तव भोगेन स्निद्धामीति वदकोवं तवोत्पत्तिः ।

महीधर का श्रर्थ

भाषार्थ

श्रव ब्रह्मा हास करता हुआ यजमान की स्त्री से कहता है कि जब तेरी माता और पिता पलंग के ऊपर चढ़ के तेरे पिता ने मुष्टितुल्य लिङ्ग को तेरी माता के भग में डाला तब तेरी उत्पत्ति हुई। उसने ब्रह्मा से कहा कि तेरी भी उत्पत्ति ऐसे ही हुई है उससे दोनों की उत्पत्ति तुल्य है।

अथ सत्योर्थः

माता च ते पिता च त इति । इयं वै मातासौ पिताभ्या-मेवैनं स्वर्गं लोकं गमयत्ययं वृत्तस्य रोहत इति । श्रीवैं राष्ट्रस्या-प्रथे, श्रियमेवैनक्ष राष्ट्रस्यायं गमयति । प्रतिलामीति ते पिता गभे सुष्टिमतक्ष सयदिति । विड्वै गभो राष्ट्रं सुष्टी, राष्ट्र-मेवाविश्याहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥ श० का० १२ । अ० २। ब्रा० ६ । कं० ७ ॥

भाष्यम्

(माता च ते०) हे मनुष्य ! इयं पृथिवी विद्या च ते तव मातृवद्स्ति । श्रोषध्याद्यनेकपदार्थदानेन विज्ञानोत्पत्त्या च मान्यहेतुत्वात् । श्रसौ द्यौः प्रकाशो विद्वानिश्वरश्च तव पितृवद्दित, सर्वपुरुषार्थानुष्ठानस्य सर्वसुखप्रदानस्य च हेतुत्वेन पालकत्वात् । विद्वान् ताम्यामेवैनं जीवं स्वर्गं सुखरूपं लोकं गमयति । (ऋग्रं वृत्तस्य) या श्री,विद्याशुभगुण्यत्नादिशोभान्विता च लच्मीः सा राष्ट्रस्याग्रमुन्तमाङ्गं भवति, सैवैनं जीवं श्रियं शोमां गमयति, यद्राष्ट्रस्याग्रमग्न्यं मुख्यं सुखं च। (प्रतिलामीति) विद् प्रजा गमाख्याऽर्थादेश्वर्यप्रदा, (राष्ट्रमुष्टिः) राजकम् मुष्टिः, यथा मुष्टिना मनुष्यो धनं गृह्णाति तथैवैको राजा चेत्तिई पत्तपातेन प्रजाम्यः स्वसुखाय सर्वा श्रेष्ठां श्रियं हरत्येव । यसमाद्राष्ट्रं विशि प्रजायां प्रविश्य माहन्ति, तस्माद्राष्ट्रं विशे घातुको भवति । ऋस्माद्र्यान्मिन्धरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्धोऽस्ति, तस्मात्स नेव केनापि मन्तव्यः ।

भाषार्थ

सत्य श्रर्थ

(माता च ते०) सब प्राणियों की पृथिवी और विद्या माता के समान सब प्रकार के मान्य कराने वाली और सूर्यलांक विद्वान तथा परमेश्वर पिता के समान हैं। क्योंकि सूर्यलांक पृथिवी के पदार्थों का प्रकाशक और विज्ञानदान से पण्डित तथा परमात्मा सब का पालन करने वाला है। इन्हीं दोनों कारणों से विद्वान लोग जीवों को नाना प्रकार का सुख प्राप्त करा देते हैं। (अप्रं वृद्धस्य) श्री जो लद्मी है सो ही राज्य का अप्रभाग अर्थान शिर के समान है, क्योंकि विद्या और धन ये दोनों मिल के ही जीव को शोभा और राज्य के सुख को प्राप्त कर देते हैं। (प्रतिलामीति०) फिर प्रजा का नाम गभ अर्थान ऐश्वर्य की देनेवाली और राज्य का नाम मुष्टि है, क्योंकि राजा अपनी प्रजा के पदार्थों को मुष्टि से ऐसे हर लेता है कि जैसे कोई बल करके किसी दूसरे के पदार्थ को अपना बना लेवे। वैसे ही जहां अकेला मनुष्य राजा होता है वहां वह पत्तपात से अपना बना लेवे। वैसे ही जहां अकेला मनुष्य राजा होता है उसको ले लेता है अर्थान वह राजा अपने राजकर्म में प्रवृत्त होके प्रजा को पीड़ा देनेवाला होता है। इसलिये एक को राजा कभी मानना न चाहिये। किन्तु सब लोगों को उचित है कि अध्यत्त सिहत सभा की आज्ञा ही में रहना चाहिये इस अर्थ से महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है।

* ऊर्ध्वमेनामुच्छापय गिरौ भार १ हर्रनिव । श्रथार्धे मध्येमेध-तार्शिते वाते पुनन्निव ॥ य० श्र० २३ । मं० २६ ॥

^{*} उध्वामिति यजुषि पाठः।

महीधरस्यार्थः

यथा ऋस्यै ऋस्या वावाताया मध्यमेधतां योनिप्रदेशो वृद्धिं यायात्, यथा योनिर्विशाला भवति, तथा मध्ये गृहीत्वोच्छ्रापयेत्यर्थः । दृष्टान्तान्तरमाह । यथा शीतले वायौ वाति पुनन्धान्यपवनं कुर्वाणः कृपीवलो धान्यपात्रं ऊर्ध्वे करोति तथेत्यर्थः ।

यर्दस्या अधेहुभेगाः कृधु स्थूलमुपातसत् । मुष्काविदस्या एजतो गोशुफे शेकुलाविव ॥ २८ ॥ य० अ० २३ । मं० २८ ॥

यत् यदा अस्याः परिवृक्षायाः कृषु दृस्वं स्थूलं च शिश्वम्रुपातसत् जपगच्छत् योनिं प्रति गच्छेत्, तंस उपचये, तदा मुक्तौ वृषणौ इत् एव अस्याः योनेरुपरि एजतः कम्पेते, लिङ्गस्य स्थूलत्वाद्योनरेल्पत्वादृपणौ बहिस्तिष्ठत इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः, गोशफे जलपूर्णे गोखुरे शकुला मत्स्याविव, यथा जदकपूर्णे गोः पदे मत्स्यौ कम्पेते।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

पुरुष लोग स्त्री की योनि को दोनों हाथ से खैंच के बढ़ा लेकें, (यदस्य अछंहु०) परिवृक्ता अर्थात् जिस स्त्री का वीर्य्य निकल जाता है। जब छोटा वा बड़ा लिङ्ग उस की योनि में डाला जाता है तब योनि के उपर दोनों अंडकोश नाचा करते हैं, क्योंकि योनि छोटी और लिङ्ग बड़ा होता है। इस में महीधर दृष्टान्त देता है कि जैसे गाय के खुर के बने हुए गढ़े के जल में दो मच्छी नाचें, तथा जैसे खेती करने वाला मनुष्य अन्न और भुस अलग २ करने के लिये चलते वायु में एक पात्र में भर के उपर को उठा के कंपाया करता है वैसे ही योनि के उपर अंडकोश नाचा करते हैं।

अथ सत्योऽर्थः

* जर्ध्वमेनामुच्छ्रापयेति । श्रीवैं राष्ट्रमश्वमेधः श्रियमेवास्मै राष्ट्र-मूर्ध्वमुच्छ्रयति । गिरौ भारधं हरन्निवेति । श्रीवैं राष्ट्रस्य भारः श्रिय-मेवास्मै राष्ट्रधं सन्नद्यत्यथो श्रियमेवास्मिन् राष्ट्रमधिनिद्धाति ।

^{*} ऊर्ध्वामिति वैदिकयन्त्रालयमुदितशतपथे पाठः ॥

श्रथास्य मध्यमेधतामिति । श्रीवैं राष्ट्रस्य मध्यक्षं श्रियमेव राष्ट्रं मध्यतो श्राद्यं द्धाति । श्रीते वाते पुनन्निवेति । ज्ञेमो वै राष्ट्रस्य शीतं ज्ञेममेवास्मै करोति ॥ श० कां०१३। श्र०२। ब्रा०६। कं०२। ३ । ४ । ॥

भाष्यम्

(ऊर्घ्वमेना०) हे नर ! त्वं श्रीर्वे राष्ट्रमश्वमेघो यज्ञश्चास्मै राष्ट्राय श्रियग्रुच्छ्रा-पय सेन्याग्रुत्कृष्टां कुरु । एवं समया राज्यपालने कृते राष्ट्रं राज्यमूर्ध्वं सर्वोत्कृष्ट-गुणग्रुच्छ्रयितुं शक्यम् । (गिरो भारश्वं हर०) किस्मिन्किमिन १ । गिरिशिखरे प्राप्त्यर्थं भारवद्वस्तूपस्थापयित्रव । कोस्ति राष्ट्रस्य भार इत्यत्राह । श्रीर्वे राष्ट्रस्य भार इति । सभान्यवस्थयास्मै राष्ट्राय श्रियं सन्नद्ध सम्बध्य राष्ट्रमनुत्तमं कुर्यात् । श्रथो इत्यनन्तरमेन कुर्वन् जनोऽस्मिन्संसारे राष्ट्रं श्रीयुक्तमिधनिद्धाति संवींपिरि नित्यं धारयतीत्यर्थः । (अथास्ये०) किमस्य राष्ट्रस्य मध्यमित्याकांच्चायाग्रुच्यते श्रीर्वे राष्ट्रस्य मध्यं, तस्मादिमां पूर्वोक्तां श्रियमन्नाद्यं भोक्नन्यं वस्तु च राष्ट्रे राज्ये महतो राज्यस्याऽऽभ्यन्तरे दधाति, सुसमया सर्वा प्रजां सुभोगयुक्तां करोति । कस्मिन् किं कुर्वन्निन १ । शीते वाते पुनिन्नवेति । राष्ट्रस्य चेमो रच्नणं शीतं भवत्यस्मै राष्ट्राय चेमं सुसभया रच्नणं कुर्यात् । श्रस्मादिष सत्यादर्थान्मिदीधरस्य न्याख्यानमत्यन्तं विरुद्धमस्तीति ।

भाषार्थ

श्री नाम विद्या श्रोर धन का तथा राष्ट्रपालन का नाम अश्वमेध है। ये ही श्री श्रोर राज्य की उन्नति कराते हैं। (गिरौ भारछ हरन्निव०) राज्य का भार श्री है, क्योंकि इसीसे राज्य की वृद्धि होती है। इसिलये राज्य में विद्या श्रोर धन की श्रच्छी प्रकार वृद्धि होने के श्रथं उसका भार श्रश्मीत् प्रवन्ध श्रेष्ठपुरुषों की सभा के उपर धरना चाहिये कि (श्रथास्यै०) श्री राज्य का श्राधार श्रोर वही राज्य में शोभा को धारण करके उत्तम पदार्थों को प्राप्त कर देती है। इस में दृष्टान्त यह है कि (शीते वाते०) श्रर्थात् राज्य की रक्षा करने का नाम शीत है क्योंकि जब सभा से राज्य की रक्षा होती है तभी उसकी उन्नाते होती है। (प्रश्न) राज्य का भार कौन है ? (उत्तर) (श्रीवैं राष्ट्रस्य भारः) श्री, क्योंकि वही धन के भार से युक्त करके राज्य को उत्तमता को पहुंचाती है। (श्रथों) इसके श्रनन्तर उक्त प्रकार से राज्य करते हुए पुरुष देश

श्रथना संसार में श्रीयुक्त राज्य के प्रबन्ध को सब में स्थापन कर देते हैं। (श्रथा-स्यै०) (प्रश्न) उस राज्य का मध्य क्या है ?। (उत्तर) प्रजा की ठीक २ रत्ता : श्रथीत् उसका नियमपूर्वक पालन करना यही उसकी रत्ता में मध्यस्थ है। (गिरौ भार १) हरिन्नव) जैसे कोई मनुष्य बोम छठाके पर्वत पर ले जाता है वैसे ही सभा भी राज्य को उत्तम सुख को प्राप्त कर देती है।

यहेवासो लुलामगुं प्रविष्टीमिन्माविषुः । सक्थना देदिश्यते नारी सत्यस्योत्तिसुवी यथा ॥ य० अ० २३ । मं० २६ ॥

महीधरस्यार्थः

(यत्) यदा (देवासः) देवाः दीव्यन्ति कीडन्ति देवाः होत्रादयः त्रष्टित्वजो (ललामगुं) लिङ्गं (प्र त्राविशुः) योनी प्रवेशयन्ति, ललामेति सुल-नाम, ललाम सुलं गच्छति प्रामोति ललामगुः शिक्षः, यद्वा ललाम पुण्डं गच्छति ललामगुः लिङ्गं, योनि प्रविशदृत्थितं पुण्ड्राकारं भवतीत्यर्थः। कीदशं ललामगुं विष्टीमिनं शिश्नस्य योनिप्रदेशे क्लेदनं भवतीत्यर्थः। यदा देवाः शिश्नकीडिनो भवन्ति ललामगुं योनौ प्रवेशयन्ति तदा नारी सक्थना ऊरुणा उरुभ्यां देदिश्यते निर्दिश्यते श्रत्यन्तं लच्यते। भोगसमये सर्वस्य नाय्यर्ङ्गस्य नरेण व्याप्तत्वाद्रुमात्रं लच्यते, इयं नारीतीत्यर्थः।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

(यद्देवासो०) जब तक यज्ञशाला में ऋत्विज् लोग ऐसा हंसते और अंडकोश नाचा करते हैं तब तक घोड़े का लिङ्ग मिहिषी की योनि में काम करता है और उन ऋत्विजों के भी लिङ्ग बियों की योनि में प्रवेश करते हैं और जब लिङ्ग खड़ा होता है तब कमल के समान हो जाता है। जब स्त्री पुरुष का समागम होता है तब पुरुष ऊपर और स्त्री पुरुष के नीचे होने से थक जाती है।

अथ सत्योऽर्थः

(यद्देवासो०) यथा देवा विद्वांसः प्रत्यचोद्धवस्य सत्यज्ञानस्य प्राप्तिं कृत्वेमं (विष्टीमिनं) विविधतया त्रार्द्रीभावगुणवन्तं (ललामगुं) सुखप्रापकं विद्यानन्दं प्राविश्वः प्रकृष्टतया समन्ताद्यपान्तुवन्ति, तथैव तैस्तेन सह वर्त्तमानेगं प्रजा देदिश्यते । यथा नारी वस्त्रेराच्छाद्यमानेन सक्थना वर्त्तते तथैव विद्वद्भिः सुर्वेरियं प्रजा सम्यगाच्छादनीयति ।

भाषार्थ

जैसे विद्वान् लोग प्रत्यत्त ज्ञान को प्राप्त होके जिस शुभगुणयुक्त सुखदायक विद्या के ज्ञानन्द में प्रवेश करते हैं वैसे ही उसी ज्ञानन्द से प्रजा को भी युक्त करते हैं | विद्वान् लोगों को चाहिये कि जैसे स्वी अपने जंघा श्रादि श्रङ्गों को वस्तों से सदा ढाँप रखती हैं इसी प्रकार अपने सत्योपदेश विद्या धर्म श्रीर सुखों से प्रजा को सदा श्राच्छादित करें।

यद्वीरिणो यवमत्ति न पुष्टं यशु मन्यते । शूद्रा यदर्यजारा न पोर्षाय धनायति ॥ य० अ० २२ । मं० २० ॥

महीधरस्यार्थः

भाष्यम्

चता पालागलीमाइ। शूद्रा शूद्रजातिः स्त्री, यदा अर्घ्यजारा भवति, वैश्यो यदा शूद्रां गच्छति, तदा शूद्रः पोपाय न धनायत, पुष्टिं न इच्छति, मङ्गार्घ्या वैश्येन भ्रक्ता सती पुष्टा जातेति न मन्यते, किन्तु व्यभिचारिणी जातेति दुःखितो भवतीत्यर्थः। (यद्धरिणो॰) पालागली चत्तारमाइ। यत् यदा शूद्रः अर्घ्याय अर्घाया वैश्याया जारो भवति, तदा वश्यः पोपं पुष्टिं नानुमन्यते, मम स्त्री पुष्टा जातेति नानुमन्यते, किन्तु शूद्रेण नीचेन भुक्तेति क्लिश्यतीत्यर्थः।

महीधर का श्रर्थ

भाषार्थ

(यद्धरिगों) चत्ता सेवकपुरुष शूद्रदासी से कहता है कि जब शुद्र की की के साथ वैश्य व्याभिचार कर लेता है, तब वह इस बात को नहीं विचारता कि मेरी की वैश्य के साथ व्याभिचार करने से पुष्ट हो गई किन्तु वह इस बात को विचार के दुःख मानता है कि मेरी स्त्री व्याभिचारिगी हो गई। (यद्ध-रिगों) अब वह दासी चत्ता को उत्तर देती है कि जब शुद्र वैश्य की स्त्री के साथ व्याभिचार कर लेता है, तब वैश्य भी इस बात का अनुमान नहीं करता कि मेरी स्त्री पुष्ट हो गई, किन्तु नीच ने समागम कर लिया इस बात को विचार के क्लोश मानता है।

सत्योऽर्धः

यद्धरिणो यवमत्तीति । विड्वै यत्रो राष्ट्रश्रं हरिणो विशमेव राष्ट्रयाणं करोति तस्माद्धाष्ट्री विशमात्ति । न पुष्टं पश्चं मन्यत इति । तस्माद्राजा पश्चन्न पुष्यति । शुद्धा यद्ध्यंजारा न पोषाय धनायतीति । तस्माद्वेशीपुत्रं नाभिषिञ्चति ॥ श० कां० १३ । अ० २ । अ० ६ । कं० ८ ॥

भाष्यम्

(यद्धरिणो०) विद् प्रजेव यवोस्ति । राज्यसम्बन्ध्येको राजा हारिण इव उत्तमपदार्थहर्त्ता भवति । यथा मृगः चेत्रस्थं सस्यं भुक्षः प्रसन्नां भवति तथैवैको राजापि नित्यं स्वक्रीयमेव सुरुत्ति । स्रवः स राष्ट्राय स्वसुखप्रयोजनाय विशं प्रजामाद्यां भन्यभिव करोति । यथा मानाहारी पुष्टं पशुं हृष्टा तन्मांसभन्तणे-च्छां करोति, नेव स पुष्टं पशुं वर्धयितुं जीवितुं वा मन्यते । तथैव स्वसुखसम्पा-दनाय प्रजायां करिचन् मन्तोऽधिको न मविदितीच्छां सदेव रचिति, तस्मादेको राजा प्रजां न पोपयिति, नेव रचित्रतुं समर्थो भवतीति । यथा च यदा श्रुद्रा स्वय्वासम्पान्तात्र भवति तदा न स श्रुद्रः पोपाय धनायिति, पुष्टा न भवति । तथको राजापि प्रजां यदा न पोपयित तदा सा नैव पोपाय धनायिति, पुष्टा न भवति । तस्मात्कारणावैशीपुत्रं भीहं श्रुद्रापुत्रं सूर्वं च नाभिपिञ्चिति, नैवेतं राज्याधिकारे स्थापयतीत्यर्थः । स्रमाच्छतपयनाक्षात्राक्षाद्वादिक्षत्रतेथिऽतीव विरुद्धोस्ति ।

भाषार्ध

(यद्धरिणो०) यहां प्रजा का यव और राष्ट्र का नाम हरिए हैं, क्योंकि जैसे मृग पशु पराये खेत में यवों को खाकर आनान्दित होते हैं वैसे ही स्वतन्त्र एक पुरुष राजा होने से प्रजा के उत्तम पदार्थों को प्रहण कर लेता है। श्रथवा (न पुष्टं पशुं मन्यते०) जैसे मांसाहारी मनुष्य पुष्ट पशु को मार के उस का मांस खा जाता है वैसे ही एक मनुष्य राजा होके प्रजा का नाश करनेहारा होता है, क्योंकि वह सदा श्रपनी ही उन्नति चाहता रहता है। और शुद्ध तथा वैश्य का आभपेक करने से व्यभिचार और प्रजा का धनहरण अधिक होता है। इसलिये किसी एक मूर्ख वा लोभी को भी सभाष्यचादि उत्तम अधिकार न देना चाहिये। इस सत्य अर्थ से महीधर उत्तटा ही चला है।

उत्संक्थ्या अर्व गुदं धेहि समिक्षि चारया वृषत्। यः स्त्रीणां जीवभोजनः॥ य० अ० २३। मं० २१॥

महीधरस्यार्थः

यजमानोऽश्वमिमन्त्रयते । हे वृषत् ! सेक्कः अशव ! उत् ऊर्धे सिक्थनी ऊरू यस्यास्तस्या महिष्या, गृदमव गुनोपरि, रेतो घेहि, विर्यं घारय । कथम् । तदाह, अञ्जिं लिङ्गं सञ्चारय योनौ प्रवेशय । योऽञ्जिः स्त्रीणां जीवभोजनः । ग्रिमन् लिङ्गे योनौ प्रविष्टे स्त्रियो जीवन्ति भोगांश्च लभन्ते तं प्रवेशय ।

भाषार्थ

(उत्सक्थ्या०) इस मन्त्र पर महीधर ने टीका की है कि यजमान घोड़े से कहता है, हे वीर्य के सेवन करने वाले श्रश्न ! तू मेरी स्त्री के जंघा ऊपर को करके उस की गुदा के ऊपर वीर्य डालदे श्रर्थात् उस की योनि में लिङ्ग चलादे। वह लिङ्ग किस प्रकार का है कि जिस समय योनि में जाता है उस समय उसी लिङ्ग से खियों का जीवन होता है श्रोर उसीसे वे भोग को प्राप्त होती हैं। इससे तू उस लिङ्ग को मेरी स्त्री की योनि में डाल दे।

अथ सत्योऽर्थः

(उत्सवध्या॰) हे वृषन् सर्वकामानां वर्षयितः प्रापक ससभा-ध्यत्तविद्वन् ! त्वमस्यां प्रजायामञ्जिं ज्ञान मुखन्यायप्रकाशं संचारय सम्यक् प्रकाशय । (यः स्त्रीणां जीव भोजनः) कामुकः सन् नाशमा-चरति तं त्वमगुद्मधःशिरसं कृत्वा ताडियत्वा कालाग्रहे (काराग्रहे ?) धेहि । यथा स्त्रीणां मध्ये या काचित् उत्सवधी व्यभिचारिणी स्त्री भवति तस्य सम्यग्द्गडं द्दाति तथैव त्वं तं जीव भोजनं परप्राण-नाशकं दुष्टं दस्युं दण्डेन समुचार्य ।

भाषार्थ

(उत्सक्थ्या०) परमेश्वर कहता है कि हे कामना की वृष्टि करने वाले और उसको प्राप्त करानेवाले सभाध्यत्तसिहत विद्वान लोगो ! तुम सब एकसंमित होकर इस प्रजा में झान को बढ़ाके न्यायपूर्वक सबको सुख दिया करो । तथा जो कोई दुष्ट

(जीवभोजनः) क्वियों में व्यभिचार करनेवाला, चोरों में चोर, ठगों में ठग, डाकुओं में डाकू प्रसिद्ध, दूसरों को बुरे काम सिखाने वाला इत्यादि दोषयुक्त पुरुष तथा व्यभिचार आदि दोषयुक्त की को ऊपर पग और नीचे शिर करके उसको टांग देना इत्यादि अत्यन्त दुर्दशा करके मार डालना चाहिये, क्योंकि इससे अत्यन्त सुख का लाभ प्रजा में होगा।

एतावतेव खण्डनेन महीधरकृतस्य वेददीपाख्यस्य खण्डनं सर्वेर्जनेवेद्विच्यमिति । यदा मन्त्रभाष्यं मया विधास्यते तत्रास्य महीधरकृतस्य भाष्यस्यान्येपि
दोषाः प्रकाशिय्यन्ते । यदि ह्यार्थ्यदेशनिवासिनां सायणमहीधरप्रभृतीनां
न्याख्य।स्वेतादृशी मिथ्यागितरस्ति तिर्द्वं यूरोपखण्डिनवासिनामेतदृतुसारेण खदेशभाषया वेदार्थव्याख्यानानामनर्थगतेस्तु का कथा । एवं जाते सित ह्येतदाश्रयेण
देशभाषया यूरोपदेशभाषया कृतस्य व्याख्यानस्याशुद्धेस्तु खलु का गणनास्ति,
इति सञ्जनैर्विचारणीयम् । नैवैतेषां व्याख्यानामाश्रयं कर्तुमार्याणां लेशमात्रापि योग्यता दृश्यते । तदाश्रयेण वेदानां सत्यार्थस्य द्दानिरनर्थप्रकाशश्र ।
तस्मात्तद्वचाख्यानेषु सत्या बुद्धिः केनापि नैव कर्त्तव्या । किन्तु वेदाः सर्वविद्याभिः
पूर्णाः सन्ति, नैव किञ्चित्तेषु मिथ्यात्वमस्ति, तदेतच सर्वे मनुष्यास्तदा ज्ञास्यन्ति
यदा चतुर्णा वेदानां निर्मितं भाष्यं यन्त्रितं च भूत्वा सर्वबुद्धिमतां ज्ञानगोचरं
भविष्यति । एवं जाते खलु नैव परमेश्वरकृतया वेदविद्यया तुल्या द्वितीय। विद्याऽस्तीति सर्वे विद्वास्यन्तीति बोध्यम् ।

श्रागे कहांत्रक लिखें इतने ही से सज्जन पुरुष श्रर्थ और श्रनर्थ की परीचा कर लेवें। परन्तु मन्त्रभाष्य में महीधर श्रादि के श्रीर भी दोष प्रकाश किये जायंगे श्रीर जब इन्हीं लोगों के व्याख्यान श्रशुद्ध हैं तब यूरोपखर डवासी लोगों ने जो उन्हीं की सहायता लेकर श्रपनी देशभाषा में वेदों के व्याख्यान किये हैं उनके श्रनर्थ का तो क्या ही कहना है। तथा जिन्होंने उन्हीं के श्रनुसारी व्याख्यान किये हैं इन विरुद्ध व्याख्यानों से कुछ लाभ तो नहीं देख पड़ता, किन्तु वेदों के सत्य श्रर्थ की हानि प्रत्यच ही होती है। परन्तु जिस समय चारों वेद का भाष्य बन श्रीर छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञानगोचर होगा तब सब किसी को उत्तमविद्यापुरतक वेद का परमेश्वर-रिचत होना भूगोल भर में विदित हो जावेगा श्रीर यह भी प्रगट हो जावेगा कि ईश्वरकृत सत्यपुरतक वेद ही है वा कोई दूसरा भी हो सकता है। ऐसा निश्चय जान

के सब मनुष्यों की वेदों में परमप्रीति होगी। इत्यादि श्रानेक उत्तम प्रयोजन इस वेदभाष्य के बनाने में जान लेना।

इति भाष्यकरग्रशङ्कासमाधानादिविषयः समाप्तः



श्रत्र वेदभाष्ये कर्मकाएडस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते

अथ प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः

परन्त्वेतैवेदमन्त्रैः कर्मकाएडविनियोजितैर्यत्र यत्राऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णीयिष्यते । क्रुतः । कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशथ-पथबाह्मणपूर्वमीमांसाश्रोतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात् । पुनस्तत्कथनेनानृषि-कुतग्रन्थवत् पुनरुक्नपिष्टपेषणदोपापत्तेश्चेति । तस्माद्यक्निसिद्धो वदादिप्रमाणानुक्त्लो मन्त्रार्थानुमृतस्तदुक्कोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योस्ति । तथेवोपासनाकाग्रडस्यापि प्रकरणशब्दानुसारतो हि प्रकाशः करिष्यते । कुतोऽस्यैकत्र विशेषस्तु पातञ्जलयो-गशास्त्रादिभिर्विज्ञेयोस्तीत्यतः । एवमेव ज्ञानकाएडस्यापि । कुतः । ऋस्य विशेषस्तु सांख्यवेदान्तो । निषदादिशास्त्रानुगतो द्रष्टव्यः । एवं काएडत्रयेण वोधान्निष्पत्युप-कारी मुद्येते तच विज्ञानकाएडम् । परन्त्वेतत्काएडचतुष्टयस्य वेदानुसारेण विस्तर-स्तद्वचारूयानेषु ग्रन्थेष्वस्ति । स एव सम्यक् परीच्याविरुद्धोर्थो ग्रहीतव्यः । कुतः । पूलाभावे शाखादीनामप्रवृत्तेः । एवमेव व्याकरणादिभिर्वेदाक्केवेंदिकशब्दानामुदा-त्तादिस्वरिवज्ञानं यथार्थं कर्त्तन्यमुच्चारणं च । तत्र यथार्थमुक्तत्वादत्र न वर्ण्यते । एवं पिङ्गलसूत्रबन्दोग्रन्थे यथालिखितं बन्दोलत्तृषां विज्ञातन्यम् । स्वराः पद्जत्रस-षमगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः ॥ १ ॥ पिङ्गलशास्त्रे ऋ० ३ । सू० ६४ ॥ इति पिङ्गलाचार्य्यकृतसूत्रानुसारेण प्रतिच्छन्दः स्वरा लोखिष्यन्ते । कुतः । इदानीं यच्छन्दे।न्वितो यो मन्त्रस्तस्य स्वस्वरेगीव वादित्रवादनपूर्वकगानव्यवहाराप्रसिद्धेः। एवमेव वेदानामुपवेदैरायुर्वेदादिभिर्वेद्यकविद्यादयो विशेषा विश्लेषाः । तथैते सर्वे विशेषार्था ऋषि वेदमन्त्रार्थमाष्ये बहुधा प्रकाशियष्यन्ते । एवं वेदार्थप्रकाशेन विज्ञानेन संयुक्तिदृढेन जातेनैव सर्वेषनुष्याणां सकलसन्देइनिवृत्तिभीविष्यति । अत्र वेदमन्त्राणां संस्कृतप्राकृतभाषाभ्यां सप्रमाणः पदशोऽर्थो लेखिष्यते । यत्र यत्र

व्याकरणादिप्रमाणावश्यकत्वमस्ति तत्तद्पि तत्र तत्र लेखिज्यते । येनेदानीन्तनानां वेदार्थिविरुद्धानां सनातनव्याख्यानग्रन्थप्रतिक्क्लानामनर्थकानां वेदव्याख्यानाां निवृत्त्या सर्वेषां मनुष्याणां वेदानां सत्यार्थदर्शनेन तेष्वत्यन्ता प्रीतिभविष्यतीति बोध्यम् । संदितामन्त्राणां यथाशास्त्रं यथायुद्धि च सत्यार्थप्रकाशेन यत्सायणाचा-र्यादिभिः स्वेच्छानुचारतो लाकप्रवृत्त्यनुक्कलतश्च लोकं प्रतिष्ठार्थं भाष्यं लिखित्वा प्रसिद्धीकृतमनेनात्रानर्थों महान् जातः । तद्द्वारा यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु अमो जात इति । यदास्मिन्नीश्वरानुग्रहेणपिष्ठनिमहपिमहाग्रुनिभिरार्थ्यवेदार्थणर्मितेष्वेतरे-यत्राह्मणादिष्कृत्तप्रमाणान्विते मया कृते भाष्यं प्रसिद्धे जाते सति सर्वमनुष्याणां महान् सुखलाभो भविष्यतीति शिक्षायते । त्रथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिक-व्यावहारिकयोद्देशोरर्थयोः श्रेपालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोस्ति तस्य तस्य द्वा द्वावर्थो विधास्येने । परन्तु नवेश्वरस्यंकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति । कुतः। निमित्तकारणस्यश्चरस्यास्यास्मिन् कार्य्यं जगित सर्वाङ्गव्याप्तिमन्वात् । कार्यस्यश्चरेण सहान्वयाच । यत्र खलु व्यावहारिकार्थो भवति तत्रापीश्वररचनानुकूलत्येव सर्वेषां पृथिव्यादिद्वव्याणां सद्धावाच । एवमेव पारमार्थिकेऽर्थे कृते तिसमन्का-र्याऽर्थसम्बन्धात्सोप्यर्थ आगच्छतीति ।

भाषार्थ

इस वेदमाध्य में शब्द और उनके अर्थद्वारा कर्मकाण्ड का वर्णन करेंगे। परन्तु लोगों के कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमन्त्रों में से जहां जहां जो जो कर्म अग्निहोत्र से लेंके अश्वमेध के अन्तपर्थ्यन्त करने चाहियें उनका वर्णन यहां नहीं किया जायगा, क्योंकि उनके अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रीत और गृह्मसूत्रादिकों में कहा हुआ है। उसी को फिर कहने से पिसे को पीसने के समतुल्य अल्पन्न पुरुषों के लेख के समान दोष इस भाष्य में भी आ जा सकता है। इसलिये जो जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्तिप्रमाणसिद्ध है उसी को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं। ऐसे ही उपासनाकाण्डविपयक मन्त्रों के विषय में भी पातञ्जल, सांख्य, वेदान्तशास्त्र और उपनिपदों की रीति से ईश्वर की उपासना जान लेना। परन्तु केवल मूलमन्त्रों ही के अर्थानुकूल का अनुष्ठान और प्रतिकूल का परित्याग करना चाहिये। क्योंकि जो जो मन्त्रार्थ वेदोक्त हैं सो सब स्वतःप्रमाणक्ष्य और ईश्वर के कहे हुए हैं और जो जो प्रन्थ वेदों से भिन्न हैं वे केवल वेदार्थ के अनुकूल होने से ही

प्रामाणिक हैं, ऐसे न हों तो नहीं। ऐसे ही ज्याकरणादि शास्त्रों के बोध से उदास. अनुदात्त, स्वरित, एक श्रुति आदि स्वरों का ज्ञान और उचारण तथा पिङ्गल सूत्र से खंदों श्रीर षड्जादि स्वरों का ज्ञान श्रवश्य करना चाहिये । जैसे "श्रामिनमीडे॰" यहां श्रकार के नीचे श्रनुदात्त का चिह्न, (गिन) उदात्त है इसितये उस पर चिह्न नहीं लगाया गया है, (मी) के ऊपर स्वरित का चिह्न है, (हे) में प्रचय श्रीर एक-श्रुति स्वर है, यह बात ध्यान में रखना । इसी प्रकार जो जो व्याकरणादि के विषय लिखने के योग्य होंगे वे सब संचेप से आगे लिखे जायंगे, क्योंकि मनुष्यों को उनके सममने में कठिनता होती है इसलिये उनके साथ में श्रन्य प्रामाणिक प्रन्थों के भी विषय लिखे जायंगे कि जिनके सहाय से वेदों का अर्थ अच्छी प्रकार विदित हो सके। इस भाष्य में पद पद का श्रर्थ पृथक २ कम से लिखा जायगा कि जिससे नवीन टीकाकारों के लेख से जो वेदों में श्रानेक दोषों की कल्पना की गई है उन सव की निवृत्ति होकर उनके सत्य श्रर्थों का प्रकाश हो जायगा। तथा जो जो सायगा. माधव, महीधर श्रौर श्रङ्गरेजी वा श्रन्य भाषा में उल्लेथ वा भाष्य किये जाते वा गये हैं तथा जो जो देशान्तरभाषात्रों में टीका हैं उन श्रनर्थव्याख्यानों का निवारण हो-कर मनुष्यों के वेदों के सत्य श्रर्थों के देखने से श्रत्यन्त सुखलाभ पहुंचेगा । क्योंकि विना सत्यार्थप्रकाश के देखे मनुष्यों की भ्रमनिवृत्ति कभी नहीं हो सकती। जैसे प्रामाएयाप्रामाएय विषय में सत्य और श्रासत्य कथात्रों के देखने से भ्रम की निवृत्ति हो सकती है ऐसे ही यहां भी समभ लेना चाहिये। इत्यादि प्रयोजनों के लिये इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है।

इति प्रतिज्ञाविषयः संदेपतः

अथ प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः

(प्रश्नः) द्र्यथ किमर्था वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति १ । (उत्तरम्) भिन्नभिन्नविद्याज्ञापनाय । (प्र०) कास्ताः १ । (उ०) त्रिधा गानविद्या भवति, गानोश्वारणविद्याया द्वतमध्यमविलम्बितभेदयुक्तत्वात् । यावता कालेन द्रस्वस्वरो-श्वारणं कियते ततो दिधोंचारणे द्विगुणः प्लुतोचारणे त्रिगुणश्चकालो गच्छतीति। अत एवैकस्यापि मन्त्रस्य चतमृषु संक्षितासु पाटः कृतोस्ति । तद्यथा । ऋन्भि-स्स्तुवन्ति, यज्ञुभिर्यजन्ति, सामभिर्गायन्ति । ऋग्वेदे सर्वेपां पदार्थानां गुणप्रकाशः कृतोस्ति । तथा यज्ज्वेंदे विदितगुणानां पदार्थानां सकाशात् क्रिययाऽनेकविद्योप-कारग्रहणाय विधानं कृतमन्ति । तथा सामवेदे ज्ञानिकयाविद्ययोदींर्घविचारेण फलावधिपर्यन्तं विद्याविचारः । एवमथर्ववेदेऽपि त्रयाणां वेदानां मध्ये यो विद्या-फलविचारो विहितोस्ति तस्य पूर्तिकरणेन रच्यां अती विहिते स्तः । एतदाय्थं वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति । (प्रश्नः) वेदानां चतुःसंहिताकरणे किं प्रयो-जनमस्तीति ? । (उत्तरम्) यतो विद्याविधायकानां मन्त्राणां प्रकरणशः पूर्वा-परसन्धानेन सगमतया तत्रस्था विद्या विदिता भवेयुरेतदर्थं संहिताकरणम् । (प्र॰)वेदेष्वष्टकमण्डलाध्यायस्कपर्ककाण्डवर्गदशतित्रिकप्रपाठकानुवाकविधानं किमर्थं कृतमस्तीत्यत्र ब्रुमः । (उ॰) अत्राष्टकादीनां विधानमेतद्र्थमस्ति यथा सुगमतया पठनपाठनमन्त्रपरिगण्नं, प्रतिविद्यं विद्याप्रकरण्वोधश्च भवदेतद्र्थमत-द्विधानं क्रतमस्तीति । (प्र ०) किमथी ऋग्यज्ञःसामाथर्वाणः प्रथमद्वितीयत्तीय-चतुर्थसंख्याऋषेण परिगणिताः सन्तित्यत्रोच्यते । (उ०) न यावद्गुणगुणिनोः सान्ताज्ञ्ञानं भवति नैव तावत्संस्कारः प्रीतिश्च । नचाभ्यां विना प्रवृत्तिर्भवति, तया विना सुम्बाभावश्चेति । एतिबद्याविधायकत्वादम्वेदः प्रथमं परिगणितुं योग्योस्ति । एवं च यथापदार्थगुणज्ञानानन्तरं क्रिययोपकारेण सर्वजगद्धितसम्पा-दनं कार्य्य भवति । यजुर्वेद एतिबचाप्रातिपादकत्वाद्वितीयः परिगणितोस्तीति बोध्यम् । तथा ज्ञानकर्मकाण्डयोरुपासनायाश्च कियत्युत्रतिर्भवितुमर्रति, किन्चै-तेषां फलं भवति सामवेद एति धायकत्वानृतीयो गएयत इति । एवमेवाथर्ववेद-स्रय्यन्तर्गतिविद्यानां परिशेषरचणविधायकत्वाचतुर्थः परिगएयत इति । अतो गुणज्ञानिकयाविज्ञानोस्रतिशेपविद्यारच्यानां पूर्वापरसद्दभावे संयुक्तत्वात्क्रमेणर्ग्यज्ज-स्सामाथर्वाण इति चतस्रः संहिताः परिगणिताः संज्ञाश्च कृताः सन्ति । ऋच स्तुर्तो । यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु । साम सान्त्वने, पो श्रन्तकर्माण । थर्व-तिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिपेधः ॥ निरु० अ० ११ । खं० १६ ॥ चर संशये । अने-नाथर्वशब्दः संशयनिवारणार्थो गृह्यते । एवं धान्वर्थोक्रप्रमाणेम्यः ऋमेण वेदाः परिगएयन्ते चेति वेदितव्यम् ।

भाषार्थ

(प्र०) वेदों के चार विभाग क्यों किये हैं ? । (उ०) भिन्न भिन्न विद्या

जनाने के लिये त्रर्थात् जो तीन प्रकार की गानविद्या है, एक तो यह कि उदात्त स्पौर षड्जादि स्वरों का उच्चारण ऐसी शीघ्रता से करना जैसा कि ऋग्वेद के स्वरों का बच्चारण द्रुत द्यर्थात् शीघ्रवृत्ति में हेाता है, दूसरी मध्यमवृत्ति जैसे कि यर्जुर्वेद के स्वरों का उच्चारण ऋग्वेद के मन्त्रों से दृने काल में होता है, तीसरी विलम्बित वृत्ति है जिसमें प्रथमवृत्ति से निगुना काल लगता है जैसा कि सामवेद के स्वरों के उच्चारण वा गान में, फिर उन्हीं तिनों वृत्तियों के मिलाने से अथर्ववेद का भी उच्चारण होता है परन्तु इसका द्रुतवृत्ति में उच्चारण श्रिधिक होता है इसिलये वेदों के चार विभाग हुए हैं। तथा कहीं कहीं एक मन्त्र का चार वेदों में पाठ करने का यही प्रयोजन है कि वह पूर्वीक चारों प्रकार की गानविद्या में गाया जावे, तथा प्रकरणभेद से कुछ कुछ अर्थभेद भी होता है इसिलये कितने ही मन्त्रों का पाठ चारों वेदों में किया जाता है। ऐसे ही (ऋग्भिरस्तु०) ऋग्वेद में सब पदार्थी के गुणों का प्रकाश किया है जिससे उनमें प्रीति बढ़कर उपकार लेने का ज्ञान प्राप्त होसके, क्योंकि विना प्रत्यच्च ज्ञान के संस्कार श्रौर प्रवृत्ति का श्रारम्भ नहीं हो सकता श्रौर श्रारम्भ के विना यह मनुष्यजनम व्यर्थ ही चला जाता है। इसलिये ऋग्वेद की गणना प्रथम ही की है। तथा यजुर्वेद में क्रियाकाएड का विधान लिखा है सो ज्ञान के पश्चात् ही कर्त्ता की प्रवृत्ति यथावन् हो सकती है। क्योंकि जैसा ऋग्वेद में गुणों का कथन किया है वैसा ही यजुर्वेद में अनेक विद्याश्रों के ठीक ठीक विचार करने से संसार में व्यवहारी पदार्थों से उपयोग सिद्ध करना होता है, जिन से लोगों को नाना प्रकार का सुख मिले । क्योंकि जबतक कोई किया विधिपूर्वक न कीजाय तबतक उसका अच्छी प्रकार भेद नहीं खुल सकता। इसिलये जैसा कुछ जानना वा कहना वैसा ही करना भी चाहिये, तभी ज्ञान का फल श्रौर ज्ञानी की शोभा होती है। तथा यह भी जानना श्रवश्य है कि जगत का उपकार मुख्य करके दो ही प्रकार का होता है एक श्रात्मा और दूसरा शरीर का। अर्थात् विद्यादान से आत्मा और श्रेष्ठ नियमों से उत्तम पदार्थों की प्राप्ति करके शरीर का उपकार होता है। इसिलये ईश्वर ने ऋग्वेदादि का उपदेश किया है कि जिन से मनुष्य लोग ज्ञान श्रीर कियाकाण्ड को पूर्ण रीति सं जान लेवें। तथा सामवेद से ज्ञान श्रौर श्रानन्द की उन्नति श्रौर श्रथवंवेद से सर्व संशयों की निवृत्ति होती है। इसिलिये इनके चार विभाग किये हैं। (प्र०) प्रथम ऋग्, दृसरा यजुः, तीसरा साम श्रौर चौथा श्रथवेवेद इस कम से चार वेद क्यों गिने हैं ?। (उ०) जबतक गुएा और गुएी का ज्ञान मनुष्यों को नहीं होता तब

पर्य्यन्त उन में प्रीति से प्रष्टुत्ति नहीं हो सकती श्रीर इस के विना शुद्ध कियादि के श्रभाव से मनुष्यों को सुख भी नहीं हो सकता था, इसलिये वेदों के चार विभाग किये हैं कि जिससे प्रवृत्ति होसके । क्योंकि जैसे इस गुंगागान विद्या को जनाने से पहिले ऋग्वेद की गणना योग्य है वैसे ही पदार्थों के गुणज्ञान के अनन्तर क्रियारूप उपकार करके सब जगत का श्राच्छी प्रकार से हित भी सिद्ध हो सके इस विद्या के जनाने के लिये यजुर्वेद की गिनती दूसरी वार की है। ऐसे ही ज्ञान, कर्म श्रौर उपासनाकाएड की वृद्धि वा फल कितना श्रीर कहांतक होना चाहिये इसका विधान सामवेद में लिखा है इसलिये उस को तीसरा गिना है। ऐसे ही तीन वेदों में जो जो विद्या हैं उन सब के शेष भाग की पूर्ति, विधान, सब विद्याद्यों की रक्ता और संशयनियत्ति के लिये ऋथवेवेद को चौथा गिना है। सो गुणज्ञान, क्रियाविज्ञान इनकी उन्नति तथा रचा को पूर्वापर क्रम से जानलेना । श्रर्थात् ज्ञानकाएड के लिये ऋग्वेद, क्रियाकाएड के लिये यजुर्वेद, इनकी उन्नति के लिये सामवेद श्रीर शेष श्रन्य रचाओं के प्रकाश करने के लिये अथर्ववेद की प्रथम, दूसरी, तीसरी श्रीर चौथी करके संख्या वांधी है। क्योंकि (ऋच स्तुतौ) (यज देवपूजासङ्गतिकरण्दानेषु) (षोन्तकर्माणि) और (साम सान्त्वत्रयांगे) (थर्वतिश्वरतिकर्मा) इन ऋर्थों के विद्यमान होने से चार वेदों श्रर्थात् ऋग्, यजुः, साम श्रौर श्रथर्व की ये चार संज्ञा रक्खी हैं। तथा श्रथवेवेद का प्रकाश ईश्वर ने इसलिये किया है कि जिससे तीनों वेदों की श्रनेक विद्यात्रों के सब विन्नों का निवारण श्रोर उनकी गणना श्रक्त्री प्रकार से होसके। (प्र०) वेदों की चार संहिता करने का क्या प्रयोजन है ?।(उ०) विद्या के जानने वाले मन्त्रों के प्रकरण से जो पूर्वापर का ज्ञान होना है उससे वेदों में कही हुई सब विद्या सुगमता से जानली जाय, इत्यादि प्रयोजन संहितात्रों के करने में हैं। (प्र०) त्राच्छा अब त्राप यह तो किहये कि वेदों में जो त्राष्ट्रक, ऋध्याय, मंडल, सुक्त, पट्क, कांड, बर्ग, दशति, त्रिक श्रीर श्रनुवाक रक्खे हैं ये किसलिये हैं ?।(उ०) इनका विधान इसलिये हैं कि जिससे पठन पाठन त्र्यौर मन्त्रों की गिनती विना कठिनता से जानली जाय तथा सब विद्यात्रों के पृथक २ प्रकरण निर्भमता के साथ विदित होकर सब विद्यान्यवहारों में गुए श्रौर गुणों के ज्ञानद्वारा मनन श्रीर पूर्वापर स्मरण होने से अनुवृत्तिपूर्वक श्राकांत्रा, योग्यता, श्रासत्ति श्रीर तात्पर्य सबको विदित हो सके, इत्यादि प्रयोजन के लिये श्रष्टकादि किये हैं।

भाष्यम्

(प्रः नः) प्रत्येकमन्त्रस्योपरि ऋषिदेवता अन्दःस्वराः किमर्था लिख्यन्ते ?। (उत्तरम्) यतो वेदनामी खरोक्षचनन्तरं येन येनिर्पणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थी यथावद्विदितस्तस्मात्तस्य तस्योपरि तत्तद्येनीमोल्लेखनं कृतमस्ति । कृतः । यैरी-श्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशितत्वात्, तत्क्रुतमहोपकार-स्मरणार्थं तन्नामलेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्त्तुं योग्यमस्त्यतः । श्रत्र प्रमाणम् । यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्यफलाऽस्मा श्रपुष्पा वाग्भवतीति वा, किञ्चित्पुष्पकलोति वा । ऋर्थं वाचः पुष्पफलमाह । याज्ञदैवने पुष्पफले देवताध्या-त्मे वा । साचात्कृतधर्माण ऋषयो वभृतुस्तेऽवरेभ्योऽसाचात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे विल्मग्रह्णायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च । बिल्मं भिल्मं भासनिम्ति वैतावन्तः समानकर्माणो धातवो, धातु-र्देघातेरेतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानं, नैघराडुकमिदं देवतानामप्राधान्येनेदमिति, तद्यदन्यदैवतं मन्त्रे निपतति नैघएडुकं तत् ॥ निरु० अ०१। खं०२०॥ (यो वाचं) यो मनुष्योऽर्थविज्ञानेन विना अवणाध्ययने करोति तदफलं भवति । (प्रश्नः) वाचो वाएयाः किं फलं भवतीत्यत्राह । (उत्तरम्) विज्ञानं तथा तज्ज्ञानानुसारेण कर्मानुष्ठानम् । य एवं ज्ञात्वा कुर्वनित त ऋषयो भवन्ति । कीदशास्ते साज्ञात्कृतधर्माणः ?। यैः सर्वा विद्या यथावद्विदि-तास्त ऋषयां बभूबुस्तेऽवरभ्योऽसाचात्कृतवदेभ्यां मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रा-न्सम्प्रादुः, मन्त्रार्थाश्च प्रकाशितवन्तः । कस्मै प्रयाजनाय १ । उत्तरोत्तरं वेदार्थ-प्रचाराय । ये चावरेऽध्ययनायोपदेशाय च ग्लायन्ति तान् वेदार्थविज्ञापनायेमं नैघएटुकं निरुक्नारूयं ग्रन्थं त ऋषयः समाम्नासिषुः, सम्यगभ्यासं कारितवन्तः । येन वेदं वेदाङ्गानि यथार्थविज्ञानतया सर्वे मनुष्या जानीयुः । ये समानार्थाः समानकर्माणो धातवो भवन्ति तदर्थप्रकाशो यत्र क्रियत, अस्यार्थस्यैतावन्ति नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमामिधानार्थमेकं नाम, श्रर्थादेकस्यार्थस्यानेकानि नामान्यनंकेषामेकं नामेति तर्ज्ञघएटुकं व्याख्यानं विद्वेयम् । यत्रार्थानां द्योत्यानां पदार्थीनां प्राधान्येन स्तुतिः क्रियते तत्र सैवेयं मन्त्रमयी देवता विश्लेया। यच मन्त्राद्धिनार्थस्यैव सङ्केतः प्रकाश्यते तदपि नैघएटुकं व्याख्यानमिति । अतो नैव कश्चिन्मतुष्यो मन्त्रानिमीतेति विज्ञेयम्। एवं येन येनर्पिणा यस्य यस्य मन्त्रस्या-र्थः प्रकाशितोस्ति तस्य तस्य ऋषेरेकैकमन्त्रस्य सम्बन्धे नामोल्लेखः कृतोस्ति । तथा यस्य प्रस्य प्रान्त्रस्य यो योऽथोंस्ति सः सोर्थस्तस्य तस्य देवताश्रब्देनाभि-प्रायार्थविज्ञापनार्थ प्रकाश्यते । एतद्र्थं देवताशब्दलेखनं कृतम् । एवं च यस्य यस्य मन्त्रस्य गायत्र्यादि छन्दोस्ति तत्तद्विज्ञानार्थं छन्दोलेखनम् । तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य येन येन स्वरेण वादित्रवादनपूर्वकं गानं कर्तुं योग्यमस्ति तत्तद्र्थं षड्जादिस्वरोद्वेखनं कृतमस्तीति सर्वमेतद्विज्ञेयम् ।

भाषार्थ

(प्र०) प्रति मन्त्र के साथ ऋषि, देवता, छंद और स्वर किसलिये लिखते हैं ?। (उ॰) ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेदमन्त्रों के त्रार्थों का विचार करने लगे, फिर उनमें से जिस २ मन्त्र का ऋर्थ जिस २ ऋषि ने प्रकाशित किया उस उसका नाम उसी उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिये लिखा गया है। इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुप्रह से बड़े बड़े प्रयत्न के साथ वेदमन्त्रों के ऋथीं को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिये पूर्ण उपकार किया है इसलिये विद्वान लोग वेदमन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं। इस विषय में श्चर्यसिंहत प्रमाण लिखते हैं (यो वाचं०)। जो मनुष्य श्चर्य का सममे विना भ्राध्ययन वा अवरा करते हैं उनका सब परिश्रम निष्फल होता है । (प्र०) वासी का फल क्या है ?। (उ०) अर्थ का ठीक ठीक जान के उसी के अनुसार व्यवहारों में प्रवृत्त होना वाणी का फल हैं। श्रौर जो लोग इस नियम पर चलते हैं वे साचात धर्मात्मा श्रर्थात ऋषि कहलाते हैं। इसलिये जिन्होंने सब विद्याश्रों को यथावत जाना था वे ही ऋषि हुए थे, जिन्होंने अपने उपदेश से अवर अर्थात् अल्पबुद्धि मनुष्यों को वेदमन्त्रों के श्रार्थों का प्रकाश कर दिया है। (प्र०) किस प्रयोजन के लिये ?। (उ०) वेदप्रचार की परंपरा स्थिर रहने के लिये। तथा जो लोग वेदशास्त्रादि पढ़ने को कम समर्थ हैं वे जिससे सुगमता से वेदार्थ जान लेवें इसलिये निवएद और निरुक्त श्रादि प्रनथ भी बना दिये हैं कि जिन के सहाय से सब मनुष्य वेद श्रीर वेदाङ्गों को ज्ञानपूर्वक पढ़कर उन के सत्य त्रार्थों का प्रकाश करें। निघएट उस को कहते हैं कि जिसमें तुल्य अर्थ और तुल्य कर्म वाले धातुओं की व्याख्या, एक पदार्थ को अनेकार्य तथा श्रानेक श्रार्थों का एक नाम से प्रकाश श्रीर मन्त्रों से भिन्न ऋथीं का संकत है। श्रौर निरुक्त उसका नाम है कि जिस में वेदमन्त्रों की व्याख्या है। श्रौर जिन २ मन्त्रों में जिन २ पदार्थों की प्रधानता से स्तुति की है उनके मन्त्रमय देवता जानने चाहियें, श्रार्थात् जिस २ मन्त्र का जो जो श्रार्थ होता है वही उसका देवता कहाता है। सो यह इसिलये है कि जिससे मन्त्रों को देख के उनके श्राभिप्रायार्थ का यथार्थज्ञान हो जाय, इत्यादि प्रयोजन के लिये देवताशब्द मन्त्र के साथ में लिखा जाता है। ऐसे ही जिस २ मन्त्र का जो २ छन्द है सो भी उसके साथ इसिलये लिख दिया गया है कि उनसे मनुख्यों को छन्दों का ज्ञान भी यथावत् होता रहे। तथा कौन कौन सा छन्द किस किस स्वर में गाना चाहिये इस बात को जनाने के लिये उनके साथ में पड्जादि स्वर लिखे जाते हैं, जैसे गायत्री छन्दवाले मन्त्रों को पड्ज स्वर में गाना चाहिये। ऐसे ही श्रीर श्रीर भी बता दिये हैं कि जिससे मनुख्य लोग गानविद्या में भी प्रवीण हों। इसीलिये वेद में प्रत्येक मन्त्रों के साथ उनके पड्ज श्रादि स्वर लिखे जाते हैं।

भाष्यम्

(प्र०) वेदेष्वग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां क्रमेण पाटः किमर्थः कृतोस्ति १। (उ०) पूर्वापरविद्याविज्ञापनार्थं विद्यासंग्यनुपङ्गिप्रतिविद्यानुपङ्गिबो-धार्थं चेति । तद्यथा । ऋग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोग्रेहणं भवति । यथाऽनेनेश्वरस्य ज्ञानच्यापकत्वादयो गुणा विज्ञातच्या भवन्ति । यथेश्वरराचितस्य भौतिकस्याग्नेः शिल्पविद्याया मुख्यहेत्तत्वात्प्रथमं यृह्यते । तथेश्वरस्य सर्वाधारकत्वानन्तवलव-च्वादिगुणा वायुशब्देन प्रकाश्यन्ते । यथा शिल्पाविद्यायां भौतिकाग्नेः सहायका-रित्वान्मूर्त्तद्रव्याधारकत्वात्तद्नुपङ्गित्त्वाच भौतिकस्य वायोर्प्रहणं कृतमस्ति तथैव वाय्वादीनामाधारकत्वादीश्वरस्यापीति । यथेश्वरस्येन्द्रशब्देन परमैश्वर्य्यवश्वादि-गुणा विदिता भवन्ति । तथा भौतिकेन वायुनाष्युत्तमैश्वर्यप्राप्तिर्मनुष्यैः क्रियते । एतदर्थमिन्द्रशब्दस्य ग्रहणं कृतमस्ति । ऋश्विशब्देन शिल्पविद्यायां यानचलना-दिवि याच्यवहारे ज ताजिनपृथिवीप्रकाशाद्यो हेतवः प्रतिहेतवश्च सन्त्येतद्रथमिन-वासुग्रहणानन्तरमश्विराब्दप्रयोगो वेदेषु कृतोस्ति । एवं च सरस्वतीशब्देनेश्वर-स्यानन्तविद्यावस्यशब्दार्थे नम्बन्यरूपवेदोपदेषृत्त्वादिगुणा वेदेषु प्रकाशिता भवन्ति वाग्व्यवहाराश्च । इत्यादिप्रयोजनायाग्निव। व्विन्द्राश्चिसरस्वत्यादि शब्दानां ग्रहणं कृतमस्ति । एवमेव सर्वत्रैव वैदिकशब्दार्थव्यवहारज्ञानं सर्वेमेनुष्यैर्वोध्यमस्तीति विज्ञाप्यते ।

भाषार्थ

(प्र०) वेदों में अनेक वार अग्नि, वाय, इन्द्र, सरस्वती आदि शब्दों का प्रयोग किसलिये किया है ?। (उ०) पूर्वापर विद्यास्त्रों के जनाने के लिये श्रर्थात् जिस जिस विद्या में जो जो मुख्य श्रीर गौए। हेतु हैं उनके प्रकाश के लिये ईश्वर ने श्राग्नि श्रादि शब्दों का प्रयोग पूर्वापर सम्बन्ध से किया है। क्योंकि श्राग्न शब्द से ईश्वर श्रीर भौतिक श्रादि कितने ही श्रर्थों का प्रहण होता है, इस प्रयोजन से कि उसका अनन्त ज्ञान अर्थात उसकी व्यापकता आदि गुणों का बोध मनुष्यों को यथावत् हो सके, फिर इसी अग्निशब्द से पृथिव्यादि मूर्तों के बीचमें जो प्रत्यच्च श्राग्नि तत्त्व है वह शिल्पविद्या का मुख्य हेत् होने के कारण उसका प्रहण प्रथम ही किया है। तथा ईश्वर के सब को धारण करने और उसके अनन्त बल आदि गुणों का प्रकाश जनाने के लिये वायुशब्द का प्रहण किया गया है, तथा शिल्पविद्या में श्राग्नि का सहायकारी श्रीर मूर्त्तद्रव्य का धारण करने वाला मुख्य वायु ही है इसलिये प्रथम सूक्त में त्राग्नि का ऋार दूसरे में वायु का ग्रहण किया है। तथा ईश्वर के अनन्त गुण विदित होने श्रौर भौतिक वायु से योगाभ्यास करके विज्ञान तथा शिल्पविद्या से उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति करने के लिये इन्द्र शब्द का प्रहण तीसरे स्थान में किया है, क्योंकि श्राग्नि श्रीर वायु की विद्या से मनुष्यों को श्रद्धत श्रद्धत कलाकौशलादि बनाने की युक्ति ठीक ठीक जान पड़ती हैं। तथा श्राश्वशब्द का प्रहण तीसरे सुक्त श्रीर चौथे स्थान में इसलिये किया है कि उससे ईश्वर की अनन्त क्रियाशिक विदित हो, क्योंकि शिल्पविद्या में विमान आदि यान चलाने के लिये जल अग्नि पृथिवी और प्रकाश आदि पदार्थ ही मुख्य हाते हैं, अर्थात् जितने कलायन्त्र विमान नौका और रथ श्रादि यान होते हैं वे सब पूर्वोक्त प्रकार से पृथिव्यादि पदार्थों से ही बनते हैं, इसिलये अश्विशब्द का पाठ तीमरे सुक्त और चौथे स्थान में किया है। तथा सरस्वती नाम परमेश्वर की श्रनन्त वाणी का है कि जिससे उसकी श्रनन्तविद्या जानी जाती है, तथा जिस करके उसने सब मनुष्यों के हित के लिये अपनी अनन्तविद्यायुक्त वेदों का उपदेश भी किया है, इसलिये तीसरे सुक्त श्रीर पांचवें स्थान में सरस्वती शब्द का पाठ वेदों में किया है। इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना।

(प्र०) वेदानामारम्भेऽग्निव। य्वादिशब्दप्रयोगैः प्रसिद्धिर्जायते वेदेषु भौतिक-पदार्थानामेव तत्तच्छब्दैप्रेह्णं भवति । यत आरम्भे खल्वीश्वरशब्दप्रयोगो नैव कृतोस्ति १। (उ०) व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिनीह सन्देहादलवाग्रमिति महा-भाष्यकारेगा पतञ्जालिमहाम्रानिना (लण्) इति सूत्रव्याख्यानोक्नन्यायेन सर्वसन्दे-हनिवृत्तिर्भवतीति । कुतः 🕕 वेदवेदाङ्गोपाङ्गब्राह्मणुप्रन्थेष्वाग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थ-योर्व्याख्यानस्य विद्यमानत्वात् । तथेश्वरशब्दप्रयोगेणापि व्याख्यानेन विना सर्वशा सन्देहनिवृत्तिर्न भवति । ईश्वरशब्देन परमात्मा गृह्यते तथा सामर्थ्यवतो राज्ञः कस्यचिन्मनुष्यस्यापीश्वर इति नामास्ति । तयोर्भध्यात्कस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति शङ्कायां व्याख्यानत एव सन्देइनिवृत्तिर्भवत्यत्रेश्वरनाम्ना परमात्मनो प्रहणमत्र राजादिमनुष्यस्येति । एवमत्राप्यग्निनाम्नोभयार्थग्रहणे नैव कश्चिद्दोषो भवतीति । अन्यथा कोटिशः श्लोकैस्सइस्त्रैप्रेन्थैरपि विद्यालेखपूर्तिरत्यन्तासम्भवास्ति । अतः कारणादग्न्यादिशब्दैर्व्यावहारिकपारमार्थिकयोविद्ययोष्रहणं स्वल्पान्नरैः स्वल्पग्रन्थेश्र भवतीति मत्वेश्वरेखाग्न्यादिशब्दप्रयोगाः कृताः । यतोऽल्पकालेन पठनपाठनच्य-वहारेगाल्पपरिश्रमेणेत्र मजुष्याणां सर्वा विद्या विदिता भवेषुरिति । परमकारुगिकः परमेश्वरः सुगमशब्देस्सर्वविद्यादेशानुपदिष्टवानिति विज्ञेयम् । तथा च येऽग्न्यादयः शब्दार्थाः संसारे प्रसिद्धाः सन्त्येतैः सर्वेरीश्वरप्रकाशः क्रियते । क्रुतः । ईश्वरो-स्तीति सर्वे दृष्टान्ता ज्ञापयन्तीति बोध्यम् । एवं चतुर्वेदस्थविद्यानां मध्यात्काश्चि-द्विद्या अत्र भूमिकायां संचेपतो लिखिता इतोऽग्रे मन्त्रभाष्यं विधास्यते । तत्र यस्मिन् यस्मिन् मन्त्रे या या विद्योपदिष्टाऽस्ति सा सा तस्य तस्य मन्त्रस्य व्या-ख्यानावसरे यथावत प्रकाशयिष्यते ।

भाषार्थ

(प्र०) वेद के आरम्भ में आग्नि वायु आदि शब्दों के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि जगत् में जिन पदार्थों का नाम आग्नि आदि प्रसिद्ध है उन्हीं का प्रह्ण करना चाहिये और इसीलिये लोगों ने उन शब्दों से संसार के आग्नि आदि पदार्थों को मान भी लिया है, नहीं तो उचित था कि जो जो शब्द जहां जहां होना चाहिये था वहां वहां उसी का प्रहण करते कि जिससे कभी किसी को भ्रम न होता, अथवा आरम्भ में उन शब्दों की जगह ईश्वर परमेश्वरादि शब्दों ही का प्रहण करना था ?। (उ०) यूं तो ऐसा करने से भी भ्रम हो सकता है, परन्तु जब कि व्याख्यानों के द्वारा मन्त्रों के पद पद का अर्थ खोल दिया गया है तब उनके देखने से सब संदेह आप से आप ही निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि शिचा आदि आक्ष बेद-

मन्त्रों के पद पद का अर्थ ऐसी रीति से खोलते हैं कि जिससे बैदिक शब्दार्थों में किसी प्रकार का संदेह शेष नहीं रह सकता, श्रौर जो कदाचित् ईश्वर शब्द का प्रयोग करते तो भी विना व्याख्यान के संदेह की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर नाम उत्तम सामर्थ्य वाले राजादि मनुष्यों का भी हो सकता है, श्रीर किसी २ की ईश्वरसंज्ञा ही होती है। तथा जो सब ठिकाने एकार्थवाची शब्दों का ही प्रयोग करते तो भी अनेक कोटि श्लोक और हजारह प्रन्थ वेट्रों के बन जाने का संभव था, परन्तु विद्या का पारावार फिर भी नहीं आता, और न उनको मनुष्य लोग कभी पढ़पढ़ा सकते, इस प्रयोजन ऋर्थात् सुगमता के लिये ईश्वर ने ऋग्न्यादि शब्दों का प्रयोग करके त्थावहार श्रीर परमार्थ इन दोनों बातें सिद्ध करने वाली विद्यार्श्यों का प्रकाश किया है कि जिससे मनुष्य लोग थोड़े ही काल में मूल विद्यात्रों को जान लें। इसी मुख्य हेतु से सब के सुखार्थ परमकरुणामय परमेश्वर ने श्राग्न्यादि सुगम शब्दों के द्वारा वेदों का उपदेश किया है। इसलिये अग्न्यादि शब्दों के अर्थ जो संसार में प्रसिद्ध हैं उनसे भी ईश्वर का प्रह्ण होता है, क्योंकि ये सब दृष्टान्त परमेश्वर ही के जानने और जनाने के लिये हैं। इस प्रकार चारों वेदों में जो २ विद्या हैं उनमें से कोई २ विद्या तो इस वेदभाष्य की भूमिका में संद्वेप से लिख दी है, शेष सब इसके श्रागे जब मन्त्रभाष्य में जिस जिस मन्त्र में जिस जिस विद्या का उपदेश है सो २ उसी २ मन्त्र के व्याख्यान में यथावत प्रकाशित कर देंगे ।

भाष्यम्

अथ निरुक्तकारः संचेपतो वैदिकशब्दानां विशेषनियमानाह

तास्तिविधा ऋचः परोच्चकृताः प्रत्यच्चकृता, आध्यात्मिक्यश्च । तत्र परोच्चकृताः सर्वाभिनीमविमिक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषेश्वाख्यातस्य । अथ प्रत्यच्चकृताः मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना । अथापि प्रत्यच्चकृताः स्तोतारो भवन्ति परोच्चकृतानि । स्तोतव्यानि । अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना ॥ निरु० अ० ७ । खं० १ । २ ॥ अयं नियमः वेदेषु सर्वत्र सङ्गव्छते । तद्यथा । सर्वे मन्त्रास्त्रिविधानामर्थानां वाचका भवन्ति । केचित्परोच्चाणां, केचित्प्रत्यचाणां, केचित्प्रत्यचाणां, केचित्पर्यात्मं वक्नुमर्द्याः । तत्राद्येषु प्रथमपुरुषस्य प्रयोगा भवन्ति, अपरेषु मध्यमस्य, वृतीयेषुत्तमपुरुषस्य च । तत्र मध्यमपुरुषप्रयोगार्थां

द्वौ भेदौ स्तः । यत्रार्थाः प्रत्यचाः सन्ति तत्र मध्यमपुरुषयोगा भवन्ति । यत्र च स्तोतन्या अर्थाः परोच्चाः स्तोतारश्च खलु प्रत्यचास्तत्रापि मध्यमपुरुषप्रयोगो भवतिति । अस्यायमभिप्रायः । न्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति । तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च । अयं लौकि-कवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः । परन्तु वैदिकन्यवद्दारे जडेपि प्रत्यचे मध्य-मपुरुषप्रयोगाः सन्ति । तत्रेदं बोध्यं जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यचकरण-मात्रमेव प्रयोजनमिति । इमं नियममबुद्धा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्य्यादिभिस्त-द्वसारत्या स्वदेशभाषयाऽनुवादकारकपूर्वेष्रेरोपाख्यदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैवेदेषु ज-इपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः ।

भाषार्थ

श्रव इसके श्रागे वेदस्थ प्रयोगों के विशेष नियम संदोप से कहते हैं । जो जो नियम निरुक्तकारादि ने कहे हैं वे बराबर वेदों के सब प्रयोगों में लगते हैं (तास्त्रि-विधा ऋचः), वेदों के सब मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं। कोई परोज्ञ श्रार्थात श्राटश्य श्रार्थों को, कोई प्रत्यत्त श्रार्थात् दृश्य श्रार्थों को श्रीर कोई श्राष्यात्म श्रार्थात ज्ञानगोचर श्रात्मा श्रीर परमात्मा को । उनमें से परोच्च श्रर्थ के कहने वाले मन्त्रों में प्रथम-पुरुष श्रर्थात् श्रपने श्रौर दूसरे के कहने वाले जो सो श्रीर वह श्रादि शब्द हैं, तथा उनकी क्रियात्रों के श्रास्ति, भवति, करोति, पचतीत्यादि प्रयोग हैं। एवं प्रत्यत्त अर्थ के कहने वालों में मध्यमपुरुष अर्थात् तू तुम आदि शब्द और उनकी किया के ऋसि, भवसि, करोषि, पचसीत्यादि प्रयोग हैं। तथा ऋध्यात्म ऋर्थ के कहने वाले मन्त्रों में उत्तमपुरूप अर्थात् में हम आदि शब्द और उनकी श्रास्मि, भवामि, करोमि, पचामीत्यादि क्रिया छाती हैं। तथा जहां स्तुति करने के योग्य परोच्च श्रीर स्तृति करने वाले प्रत्यच्च हों वहां भी मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है । यहां यह श्राभित्राय समभना चाहियं कि व्याकरण की रीति से प्रथम, मध्यम श्रीर उत्तम अपनी अपनी जगह होते हैं । श्रर्थात जड़ पदार्थों में प्रथम, चेतन में मध्यम वा उत्तम होते हैं। सो यह तो लोक छौर वेद के शब्दों में साधारण नियम है। परन्तु वेद के प्रयोगों में इतनी विशेषता होती है कि जड़ पदार्थ भी प्रत्यत्त हों तो वहां निरुक्तकार के उक्त नियम से मध्यम पुरुप का प्रयोग होता है श्रीर इससे यह भी जानना श्रवश्य है कि ईश्वर ने संसारी जड़ पदार्थों को प्रत्यत्त कराके केवल उनसे स्रनेक उपकार लेना

जनाया है, दूसरा प्रयोजन नहीं है। परन्तु इस नियम को नहीं जानकर सायणाचार्य श्रादि वेदों के भाष्यकारों तथा उन्हींके बनाये हुए भाष्यों के श्रवलम्ब से यूरोपदेशवासी विद्वानों ने भी जो वेदों के श्रयों को श्रन्यथा कर दिया है सो यह उनकी भूल है श्रोर इसीसे वे ऐसा लिखते हैं कि वेदों में जड़ पदार्थों की पूजा पाई जाती है जिसका कि कहीं चिह्न भी नहीं है।

भाष्यम्

अय वेदार्थीपयोगितया संज्ञेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते । ते स्वरा द्विधा, उदात्तपर्जादिभेदात्सप्त सप्तैव सन्ति । तत्रोदात्तादीनां लच्चणानि व्याकरणमहा-भाष्यकारपतज्ञालिप्रदर्शितानि लिख्यन्ते । स्वयं राजन्त इति स्वराः । त्र्रायामो दारुएयमणुता स्वस्येत्युचैः कराणि शब्दस्य । त्रायामो गात्राणां निग्रहः, दारुएयं स्वरस्य दारुणता रूचता, त्र्रणुता कषठस्य, कषठस्य संवृतता, उचैःकराणि * शब्दस्य । अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता, खस्येति नीचैः । कराणि शब्दस्य । अन्य-वसर्गो गात्राणां शिथिलता, मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता, उरुता खस्य महत्ता कएठस्येति नीचै कराणि शब्दस्य । त्रैस्वर्य्यणाधीमहे, त्रिप्रकारैरि जिभरधीमहे, कैश्रिदुदात्तगुर्णोः, केश्रिदनुदात्तगुर्णैः, केश्रिदुभयगुर्णैः । तद्यथा । शुक्रगुर्णः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः, य इदानीम्भयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते, कल्माप इति वा,सारङ्ग इति वा । एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः, य इदानीम्रभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वारित इति । ते एते तन्त्रे तरनिर्देशे 🙏 सप्त स्वरा भवन्ति । उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्व-रिते यः उदार्त्तः सोअन्येन विशिष्टः, एकश्चितिः सप्तमः ॥ अ०१। पा० २॥ उचैरुदात्त इत्याद्यपरि ॥ तथा पद्जादयः सप्त । पद्जऋपभगान्धारमध्यमपञ्चम-र्धेवतिनपादाः ॥ १ ॥ पिंगलसूत्रे ऋ० ३ । सू० ६४ ॥ एषां लत्तराज्यवस्था गान्धर्ववेदप्रसिद्धा प्राह्या । अत्र तु प्रन्थभूयस्त्वभिया लेखितुमशक्या ।

भाषार्थ

श्रव वेदार्थ के उपयोगहेतु से कुछ स्वरों की व्यवस्था कहते हैं, जो कि उदात्त श्रोर पड्ज श्रादि भेद से चौदह (१४) प्रकार के हैं, श्रर्थात् स्नात उदात्तादि श्रोर

अनुदात्तविधायकानीति यावत् । † अनुदात्तविधायकानीति यावत् ॥

[‡] अतिशयार्थधोतके तरपप्रत्ययस्य निर्देशे ॥

सात षड्जादि । उनमें से उदात्तादिकों के लच्चा जो कि महाभाष्यकार पत्रक्जाल महामुनिजी ने दिखलाए हैं उनको कहते हैं। (स्वयं राजन्त०) स्राप ही स्रधीत् जो कि विना सहाय दूसरे के प्रकाशमान हैं वे स्वर कहाते हैं। (श्रायाम: ०) श्रङ्गों का रोकना, (दारुएयं०) वाणी को रूखा करना ऋषीत ऊंचे स्वर से बोलना ऋौर (ऋगुपुता०) कण्ठ को भी कुछ रोक देना, ये सत्र यत्न शब्द के उदात्त विधान करनेवाले होते हैं ऋथीत् उदात्त स्वर इन्हीं नियमों के ऋनुकूल बोला जाता है। तथा (श्रन्वव) गात्रों का ढीलापन, (मार्दव) म्वर की कोमलता, (उरुता) কংচ को फैला देना, ये सब यत्न शब्द के श्रानुदात्त करनेवाले हैं। (त्रैस्वर्ध्येणा०), हम सब लोग तीन प्रकार के स्वरों से बोलते हैं, ऋथान कहीं उदात्त, कहीं ऋनुदात्त ऋौर कहीं उदात्तानुदात्त श्रथीत् स्वरित गुणवाले स्वरों से यथायोग्य नियमानुसार श्रद्धारों का उच्चारण करते हैं। जैसे श्वेत और काला रङ्ग अलग अलग हैं, परन्तु इन दोनों को मिला कर जो रङ्ग उत्पन्न हो उसका नाम तीसरा होता है अर्थात खाखी वा आ-समानी, इसी प्रकार यहां भी उदात्त श्रौर श्रनुदात्त गुण श्रलग श्रलग हैं, परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो उसको स्वारित कहते हैं। विशेष ऋर्थ के दिखाने वाले (तरप्) प्रत्यय के संयोग से वे उदात्त श्रादि सात स्वर होते हैं, श्रयीत् उदात्त, उदात्ततर, श्रनुदात्त, श्रनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितोदात्त श्रीर एकश्रुति। उक्त रीति से इन सातों स्वरों को ठीक ठीक समभ लेना चाहिये। अब पडजादि स्वरों को लिखते हैं जो कि गानविद्या के भेद हैं। (स्वराः पड्जऋपभ०) ऋर्थात् षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत श्रीर निपार । इनके लच्चाए व्यवस्था-सहित जो कि गन्धवेबेद अर्थात् गानविद्या के प्रन्थों में प्रसिद्ध हैं उनको देख लेना चाहिये। यहां प्रनथ बढ़जाने के कारण नहीं लिखते।

भाष्यम्

श्रथात्र चतुर्षु वेदेषु व्याकरणस्य ये सामान्यतो नियमाः सन्तित इदानीं प्रदर्श्यन्ते । तद्यथा । वृद्धिराँदैच् ॥ १ ॥ अ० १ । १ ॥ उभय संज्ञान्यपि अन्दांसि दृश्यन्ते, तद्यथा, ससुष्टुभा स ऋकता गणेन, पदत्वात्कुत्वं भत्वाज्ञश्त्वं न भवति, इति भाष्यवचनम् । अनेनैकस्मिन् शब्दे भपदसंज्ञाकार्य्यद्वयं वेदेष्वेव भवति, नान्यत्र ॥ स्थानिवदादेशोऽनिवधौ ॥ २ ॥ अ० १ । १ ॥ ५६ ॥ प्रातिपदिकानिर्देशाश्रार्थतन्त्रा भवन्ति, न काश्चित्प्रधान्येन विभक्तिमाश्रयीन्त, यां यां विभक्तिमाश्रयीतुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या, इति भाष्यम् । अनेना-

र्थप्राधान्यं भवति न विभक्नेरिति बोध्यम् ॥ न वेति विभाषा ॥ ३ ॥ अ० १ । १ । ४४ ॥ अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः, इति भाष्यस्त्रम् । लोकिकवैदिकेषु शब्देषु सार्वत्रिकः समानोऽयं नियमः ॥ अर्थवद्धातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ॥ ४ ॥
अ० १ । २ । ४५ ॥ बह्वो हि शब्दा एकार्था भवन्ति । तद्यथा । इन्द्रः, शकः, पुरुहृतः, पुरन्दरः, कन्दुः, कोष्ठः, कुसल इति । एकश्र शब्दो बह्वर्थः । तद्यथा । अत्राः, पादाः, माषाः, सार्वत्रिकोयमपि नियमः । यथाग्न्यादयः शब्दा वेदेषु बह्वर्थवाचकास्त एव बहव एकार्थाश्र । ते प्राग्धातोः ॥ ५ ॥ अ० १ । ४ । ८० ॥
अन्दासे पर्व्यवहितवचनं च । आयातस्रुपनिष्कृतम् । उपप्रयोभिरागतम् । अनेन
वाक्तिकेन गत्युपसर्गसंज्ञकाः शब्दाः कियायाः परे पूर्वे दूरे व्यवहिताश्र भवन्ति ।

भाषार्थ

श्रव चारों वेद में व्याकरण के जो जो सामान्य नियम हैं उन को यहां लिखते हैं। (उभ०) वेदों में एक शब्द के वीच में (भ) तथा (पद्) ये दोनों संज्ञा होती हैं। जैसे (ऋकता) इस शब्द में पदसंज्ञा के होने से चकार के स्थान में ककार हुआ है ऋौर भ संज्ञा के होने से ककार के स्थान में गकार नहीं हुआ। (प्रातिपदिक०) वेदादि शास्त्रों में जो जो शब्द पढ़े जाते हैं उन सब के बीच में यह नियम है कि जिस विभक्ति के साथ वे शब्द पढ़े हों उसी विभक्ति से ऋर्थ कर लेना यह बात नहीं है, किन्तु जिस विभक्ति से शास्त्र मूल युक्ति ऋौर प्रमाण के ऋनुकूल ऋर्थ वनता हो उस विभाक्ति का त्राश्रय करके त्र्यर्थ करना चाहिये, क्योंकि (त्र्यर्थग०) वेदादि शास्त्रं में शब्दों के प्रयोग इसलिये होते हैं कि उनके ऋथों को ठीक ठीक जानके उनसे लाभ उठावें, जब उनसे भी श्रनर्थ प्रासिद्ध हो तो वे शास्त्र किसलिये माने जावें, इसलिये यह नियम लोकवेद में सर्वत्र घटता है। (बहवो हि०) तीसरा नियम यह है कि वेद तथा लोक में बहुत शब्द एक अर्थ के वाची होते और एक शब्द भी बहुत अर्थी का वाची होता है। जैसे श्रामि, वायु, इन्द्र श्रादि बहुत शब्द एक परमेश्वर श्रार्थ के वाची ऋौर इसी प्रकार वे ही शब्द संसारी पदार्थों के नाम होने से अनेकार्थ हैं, अ-र्थात् इस प्रकार के एक एक शब्द कई कई श्रर्थों के वाची हैं। (छन्दासि०) व्याक-रण में जो जो गति श्रीर उपसर्गसंज्ञक शब्द हैं वे वेद में किया के श्रागे पीछे दर श्रार्थात् व्यवधान में भी होते हैं। जैसे (उपप्रयोभिरागतं) यहां श्रागतं क्रिया के साथ उप लगता तथा (त्रायातमुप०) यहां उप आयात क्रिया के पूर्व लगता है, इत्यादि । इसमें विशेष यह है कि लोक में पूर्वीक शब्द किया के पूर्व ही सर्वत्र लगाये जाते हैं ।

चतुर्थ्यथें बहुलं छन्दासे ॥ ६ ॥ ऋ० २ । ३ । ६२ ॥ पष्टचर्थे चतुर्थी वक्षच्या । या खर्वेण पिवति तस्यै खर्वी जायते तिस्रो रात्रीरिति । तस्या इति प्राप्ते । एवमन्यत्रापि । ऋनेन चतुर्थ्यथें पृष्ठी पष्टचर्थे चतुर्थी द्वे एव भवतः । महाभाष्यकारेण छन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणानाम्रुदाहरणानि प्रयुक्तानि । ऋन्यथा ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वाच्छन्दोग्रहणमनर्थकं स्यात् । बहुलं छन्दासे ॥ ७ ॥ ऋ० २ । ४ । ३६ । ऋनेन अद्धातोः स्थाने घस्त्व ऋतिशो बहुलं भवति । घस्ता-कूनम् । साधिश्च मे । ऋजामद्य मध्यतो मेद उङ्गतम् । इत्याद्यदाहरणं क्रेयम् ॥ बहुलं छन्दासे ॥ ६ ॥ ऋ० २ । ४ । ७३ । वेदिविषये शपो बहुलं छन्दासे ॥ वृत्रं हनति । ऋहिः शबते । ऋन्यम्यश्च भवति । त्राध्वं नो देवाः । बहुलं छन्दासे ॥ ६ ॥ ऋ० २ । ४ । ७३ । वेदिविषये शपो बहुलं छन्दासे ॥ ६ ॥ ऋ० २ । ४ । ७६ । वेदिषु शपः स्थाने रुखुर्वहुलं भवति । दाति प्रियाणि धाति प्रियाणि । ऋन्येभ्यश्च भवति । पूर्णा विवष्टि । जानिमा विविक्ति । इत्यादीन्युदाहर-णानि सन्तीति बोध्यम् ।

माषार्ध

(या खर्वेण०) इत्यादि पाठ से यही प्रयोजन है कि वेदों में पष्ठीविभक्ति के स्थान में चतुर्थी हो जाती है, लोकिक प्रन्थों में नहीं। इस में ब्राह्मणों के उदाहरण इसिलये दिये हैं कि महाभाष्यकार ने ब्राह्मणों को वेदों के तुल्य मानके अर्थात् इन में जो व्याकरण के कार्थ्य होते हैं वे ब्राह्मणों में भी हो जाते हैं और जो ऐसा न मानें तो (द्वितीया ब्राह्मणें) इस मूत्र में से ब्राह्मण शब्द की अनुवृत्ति हो जाती किर (चतुर्थ्यर्थे०) इस सूत्र में (छन्दः) शब्द का प्रहण व्यर्थ हो जाय। (बहुलं०) इस सूत्र में (छन्दः) शब्द का प्रहण व्यर्थ हो जाय। (बहुलं०) इस सूत्र से (खद्र) धातु के स्थान में घस्तु आदेश बहुल अर्थात् बहुधा होता है। (बहुलं०) वेदों में शप् प्रत्यय का लुक् बहुल करके होता है और कहीं नहीं भी होता जैसे (वृत्रं हनति) यहां शप् का लुक् प्राप्त था सो भी न हुआ तथा (त्राध्वं०) यहां त्रेड् धातु से प्राप्त नहीं था परन्तु हो गया। महाभाष्यकार के नियम से शप् के लुक् करने में श्यनादि का लुक् होता है, क्योंकि शप् के स्थान में श्यनादि का आदेश किया जाता है। शप् सामान्य होने से सब धातुओं से होता है, जब शप् का लुक् हो गया तो श्यनादि

प्राप्त ही नहीं होते । ऐसे ही श्लु के विषय में भी समम लेना (बहुलं) वेदों में शप् प्रत्यय के स्थान में श्लु आदेश बहुल करके होता है अर्थात् उक से भी नहीं होता और अनुक्त से भी हो जाता है । जैसे (दाति०) यहां शप् के स्थान में श्लु प्राप्त था परन्तु न हुआ और (विवष्टि) यहां प्राप्त नहीं फिर हो गया।

भाष्यम्

सिव् बहुलं लेटि ॥ १० ॥ अ०३ । १ । ३४ ॥ सिब्बहुलं छन्दासि गिद्धक्रव्यः । सविता धर्म साविषत् । प्र गा त्रायंषि तारिपत् । त्रयं लेटि विशिष्टो नियमः ॥ छन्दास शायजपि ॥ ११ ॥ ऋ० ३ । १ । ८४ ॥ शायच्छन्दास सर्वत्रेति वक्तव्यम् । क । सर्वत्र, हो चाहो च । कि प्रयोजनम् । महीः श्रस्कभायत्। यो अस्कभायत् । उद्गभायत् । उन्मथायतत्येवमर्थम् । श्रयं लोटि मध्यमपुरुष-स्यैकवचने परस्मैपदे विशिष्टो नियमः ॥ व्यत्ययो बहुलम् ॥ १२ ॥ ऋ० ३ । १ । ८५ ।। सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्नृयङां च । व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥१॥ व्यत्ययो भवति स्यादीनामिति । श्रनेन विकरणव्यत्ययः । सुपां व्यत्ययः । तिङां व्यत्ययः । वर्णव्यत्ययः । लिङ्गव्य-त्ययः । पुरुपच्यत्ययः कालच्यत्ययः । त्र्यात्मनेपद्च्यत्ययः । परस्मैपद्च्यत्ययः । स्वरव्यत्ययः। कर्त्तृव्यत्ययः । यङ्व्यत्ययश्च । एषां क्रमेणोदाहरणानि । युक्ता मा-तासीद्भिर दाचिणायाः । दचिणायामिति प्राप्ते । चपालं ये अश्वयूपाय तचाति । तचन्तीति प्राप्ते । त्रिष्टुभौजः शुभितमुत्रवीरम् । शुाधितामिति प्राप्ते । मधोस्तुमा इवासते । मधुन इति प्राप्ते । ऋघा स वीरैंदिशभिर्वियुयाः । वियुयादिति प्राप्ते श्वोऽग्रीनाधास्यमानेन अः सोमेन यच्यमाखेन । श्राधाता यष्टेति प्राप्ते । ब्रह्मचा-रिगामिच्छते । इच्छतीति प्राप्ते । प्रतीपमन्य ऊर्मियुध्यति । युध्यत इति । त्र्याघाता यष्टेति लुद्प्रथमपुरुषस्यैकवचने प्रयोगी, व्यत्ययो भवति । स्यादीना-मित्यस्योदाइरणं, तासि प्राप्ते स्यो विहितः ॥ बहुलं छन्दासि ॥ १३ ॥ श्र॰ ३ । २ । ८८ ।। श्रनेन किप्पत्ययो वेदेषु बहुलं विधीयते । मातृहा । मातृघातः । इत्यादीनि 🔢 अन्दासे लिट् 🕫 १४ ॥ अ०३। २ । १०५ ॥ वेदेषु सामान्यभूते लिड् विधीयते । ऋहं द्यावापृथिवी आततान ॥ लिटः कानज्वा स १५ ।। अ० ३ । २ । १०६ ॥ वेदविषये लिटः स्थाने कान-जादेशो वा मवति । अग्नि चिक्यानः । अहं सूर्यग्रभयतो ददर्श । प्रकृतेपि लिटि पुनर्प्रहिणात्परोत्तार्थस्यापि ग्रहणं भवति । क्रसुश्च ॥ १६ ॥ अ० ३ । २ । १०७ ॥ वेदे लिटः स्थाने क्रसुरादेशो वा भवति । पिपवान् । जिम्मवान् । नच भवति । अइं सूर्य्यसभयतो ददर्श । क्याच्छन्दिस ॥ १७ ॥ ३ । २ । १७० ॥ क्यप्रत्ययान्ताद्धातोश्छन्दिस विषये तच्छीलादिषु कर्नृषु उकारप्रत्ययो भवति । मित्रयुः । संस्वेदयुः । सुम्नयुः । निर्जुबन्धकप्रहेणे साजुबन्धकस्यापि ग्रहणं भव-तीत्यनया परिभाषया क्यच्वयङ्कयणं सामान्येन ग्रहणं भवति ।

भाषार्थ

(सिब्बहुलं०) लेट् लकार में जो सिप् प्रत्यय होता है वह वेदों में बहुल कर के िएत्संज्ञक होता है कि जिससे वृद्धि श्रादि कार्य होसकें । जैसे (साविषत्) यहां सिप् को गित् मान के वृद्धि हुई है, यह लेट् में वंदिवषयक विशेष नियम है। शाय-च्छन्दासि०) वेद में (हि) प्रत्यय के परे आ प्रत्यय के स्थान में जो शायच् श्रादेश विधान किया है वह (हि) से अन्यत्र भी होता है। (व्यत्ययो०) वेदों में जो व्यत्यय त्र्रार्थात विपरीतभाव बहुधा होता है वह भाष्यकार पतञ्जित्तिजी ने नव प्रकार से माना है। वे सुप् श्रादि ये हैं सुप्, तिङ्, वर्ण, (लिङ्ग) पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग श्रौर नपुंसकलिङ्ग, (पुरुष) प्रथम, मध्यम श्रीर उत्तम, (काल) भूत, भविष्यत् श्रीर वर्त्तमान, आत्मनेपद और परस्मैपद, (वर्ण) वेदों में अचों के स्थान में हल् और हलों के स्थान में अनु के आदेश हो जाते हैं, स्वर उदात्तादि का व्यत्यय, कर्त्ता का व्यत्यय श्रीर यङ्का व्यत्यय होते हैं। इन सब के उदाहरण संस्कृत में लिखे हैं वहां देख लेना। (बहुलम् •) इस से क्विप् प्रत्यय वेदों में बहुल करके होता है। (छन्दासि०) इस सूत्र से लिट् लकार वेदों में सामान्य भूतकाल में भी होता है। (लिट: का०) इस सूत्र से वेदों में लिट् लकार के स्थान में कानच् आदेश विकल्प कर के होता है, इस के (श्राततान) इत्यादि उदाहरण बनते हैं। (छन्दासि०) इस सूत्र में से लिट् की अनुवृत्ति हो जाती फिर लिट्यहण इसलिये है कि (परोच्चे लिट) इस लिट के स्थान में भी कानच् श्रादेश हो जावे। (क्वसुश्र) इस सूत्र से वेदों में लिट के स्थान में क्वस श्रादेश हो जाता है। (क्या) इस सूत्र से वेदों में क्यप्रत्ययानत धातु से (उ) प्रत्यय हो जाता है।

भाष्यम्

कृत्यल्युटो बहुलम् ॥ १८ ॥ अ० ३ । ३ । ११३ ॥ कुल्ल्युट इति वक्कव्यम् ।

कृतो बहुलामिति वा । पादहारकाद्यर्थम् । पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः । अनेन धातोविंहिताः कृत्संज्ञकाः प्रत्ययाः कारकमात्रे वेदादिषु द्रष्टव्याः । अयं लौकिकवैदिकशब्दानां सार्वत्रिको नियमोऽस्तीति वेद्यम् ॥ छन्दसि गत्यर्थेभ्यः ॥ १६ ॥ घ्रा० ३ । ३ । १२६ ॥ ईषदादिषु क्रुच्ल्राकु-छ्रार्थेषूपपदेषु सत्सु गत्यर्थे-म्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये युच्प्रत्ययो भवति । उ० स्एसदेनांऽग्निः ॥ अन्ये-म्योपि दृश्यते ॥ २० ॥ अ०३ । ३ । १३० ॥ अन्येम्यश्र धातुम्यो युच्-प्रत्ययो दश्यते । उ० सुदोइनमाकृणोद्गृक्षणे गाम् ।। छन्दासे लुङ्लङ्लिटः ।। २१ ॥ ३ । ४ । ६ ॥ वेदविषये धातुसम्बन्धे सर्वेषु कालेषु लुङ्लङ्लिटः प्रत्यया विकल्पेन भवन्ति । उ० लुङ्-ब्राइं तेभ्योऽकरं नमः । लङ् , त्र्राग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः । लिट्-श्रद्य ममार ।। लिङ्थें लेट् ॥ २१ ॥ श्र० ३ । ४ । ७ ।। यत्र विध्यादिषु हेतुहेतुमतोः शकीच्छार्थेषूर्ध्वमीहूर्तिकेष्वर्थेषु लिङ् विधीयते । तत्र वेदेष्वेव लेदलकारो वा भवति । उ० जीवाति शरदः शतमि-त्यादीनि । उपसंवादाशंकयोश्र ॥ २३ ॥ ऋ०३ । ४ । 🗠 ॥ उपसंवादे ऋाशं-कार्यां च गम्यमानायां वेदेषु लेट्प्रत्ययो भवति । उ० (उपसंवादे) ऋहमेव पश्नामीशै । आशंकायाम् । नेजिह्मायन्तो नरकं पताम । मिथ्याचरणेन नरक-पात आशंक्यते ।। लेटो डाटौ ।। २४ ।। श्र० ३ । ४ । ६४ ।। लेटः पर्यायेण अर्आर् आगमी भवतः । आतऐ ॥ २४ ॥ अ०३ । ४ । ६५ ॥ अन्दस्यनेना-त्मनेपदे विहितस्य लेडादेशस्य द्विवचनस्थस्याकारस्य स्थाने ऐकारादेशो भवति । उ० मन्त्रयैते । मन्त्रयैथे । वैतोऽन्यत्र ः २६ ।। द्य० ३ । ४ । ६६ ।। द्यात ऐ इत्येतस्य विषयं वर्जियत्वा लेट एकारस्य स्थाने ऐकारादेशो वा भवति । उ० अहमेव पशूनामीशै ईशे वा ॥ इतश्र लोपः परस्मैपदेषु ॥ २७ ॥ अ० ३ । ४ । ६७ ॥ लेटः स्थाने त्रादिष्टस्य तिवादिस्थस्य परस्मैपदविषयस्येकारस्य विकल्पेन लोपो भवति । उ० तरति, तराति, तरत्, तरात्, तरिषति, तरिषाति, तरिषत्, तरिषात्, तारिषति, तारिषाति, तारिषत्, तारिषात्, तरासि, तरासि, तराः, तरिषासि, तरिषासि, तरिषाः, तरिषाः, तारिषासि, तारिषासि, तारिषाः, तारिषाः, तरामि, तराम्, तरिषामि, तरिषाम्, तारिषामि, तारिषाम्, एवमेव सर्वेषां धातूनां प्रयोगेषु लेड्विषये बोध्यम् ॥ स उत्तमस्य ॥ २८ ॥ ऋ० ३ । ४ । ६८ ॥ लेट उत्तमपुरुषस्य सकारस्य लोपो वा भवति । करवाव, करवावः, करवामः ।

भाषार्थ

(छन्द्रसि०) इस सूत्र से ईषत्, दुर्, सु ये पूर्वपद लगे हों तो गत्यर्थक धातुचों से वेदों में युच् प्रत्यय होता है। (श्रन्येभ्यो०) श्रौर धातुष्ठों से भी वेदों में गुच प्रत्यय देखने में त्राता है, जैसे (सुदोहनं) यहां सुपूर्वक दृह धातु से युच् प्रत्यय हुआ है। (छन्दासि०) जो तीन लकार लोक में भिन्न भिन्न कालों में होते हैं वे वेदों में लुङ्, लङ् श्रौर लिट् लकार ये सव कालों में विकल्प करके होते हैं। (लिड्डर्थे॰) श्रव लेट् लकार के विषय के जो सामान्यसूत्र हैं उन को यहां लिखते हैं। यह लेट लकार वेदों में ही होता है। सो षह लिख लकार के जितने ऋर्थ हैं उन में तथा उपसंवाद त्रीर त्राशङ्का इन त्रार्थी में लेट् लकार होता है। (लेटो०) लेट् को कम से अट् और अट् आगम होते हैं अर्थात जहां अट् होता है वहां आट् नहीं होता जहां ऋाट् होता है वहां ऋट् नहीं होता। (ऋात ऐ) लेट् लकार में प्रथम श्रीर मध्यम पुरुष के (श्रातां) के श्राकार को ऐकार श्रादेश हो जाता है, जैसे (मन्त्रयते) यहां आ के स्थान में ऐ होगया है । (बैतोन्यत्र) यहां लेट् लकार के स्थान में जो एकार होता है उसके स्थान में ऐकार छादेश हो जाता है। (इत अव०) यहां लेट् के तिप्, सिप् श्रौर मिप् के इकार का लोप विकल्प से हो जाता है। (स उत्त०) इस भूत्र से लेट् लकार के उत्तम पुरुप के वस्मस् के सकार का विकल्प करके लोप हो जाता है। यह लेट का विषय थोड़ासा लिखा, श्रागे किसी को सब जानना हो तो वह श्रष्टाभ्यायी पढ़ के जान सकता है, श्रन्यथा नहीं।

भाष्यम

तुमर्थे सेसेनसे असेन्कसे कसेन ध्ये अध्ये नक्ष्ये कध्ये नश्ये शध्ये नत्वे तिवे ङ्तवेनः ॥
२६ ॥ अ०३ ॥ ४ ॥ ६ ॥ धातुमात्राचुमुन्प्रत्ययस्यार्थे से, सेन, असे, असेन्, कसे, कसेन्, अध्ये, अध्येन् कध्ये कध्येन् शध्ये, शध्येन्, तवे, तवे ङ्, तवेन्, इत्येते पञ्चदश प्रत्यया वेदेष्वेव भवन्ति । क्रुन्मेजन्त इति सर्वेपामन्ययत्वम् । सर्वेषु नकारोऽनुवन्यः स्वरार्थः । ककारो गुणवृद्धिनिपेधार्थः । ङकारोपि । अकारः शिद्धः । (से) वचेएयः, (सेन्) तावामेषे रथानाम्, (असे असेन्) करते दचाय जीवसे, (कसे कसेन्) श्रियसे, (अध्ये अध्येन्) कर्मण्युपाचरध्ये, (कथ्ये) इन्दाग्री आहुवध्ये, (कथ्येन्) श्रियध्ये, (श्रध्ये श्रध्येन्) पिवध्ये, सहमादयध्ये, अत्र शित्वात् पिवादेशः, (तवे) सोमामिन्द्राय पातवे, (तवेङ्)

दशमे मासि स्तवे, (तवेन्) स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ शिक ग्राप्टकपुली ॥ ३० ॥ श्र० ३ । ४ । १२ ॥ शक्रोतौ धातावुषपदे धातुमात्राचमर्थे वेदेषु ग्राप्टकपुली प्रत्ययौ भवतः । णकारो वृद्धचर्थः । ककारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः । लकारः स्वर्थाः । श्रान्त वै देवा विभाजं नाशक्तुवन्, विभक्तुमित्यर्थः ॥ ईश्वरे तोसुन्कसुनौ ॥ ३१ ॥ श्र० ३ । ४ । १३ ॥ ईश्वरशब्द उपपदे वेदे तुमर्थे वर्तमानाद्धातोस्तोसुन्कसुनौ प्रत्ययौ भवतः । ईश्वरोभिचरितोः । कसुन् । ईश्वरो विलिखः ॥ कृत्यार्थे तवै केन्केन्यत्वनः ॥ ३२ ॥ श्र० ३ । ४ । १४ ॥ कृत्यानां सुख्यतया भावकर्मणी द्वावर्थीं स्तोऽर्हाद्यश्व । तत्र वेदिवपये तवै, केन्, केन्य, त्वन्, इत्येते प्रत्यया भवन्ति । (तवै) परिधातवै, (केन्) नावगाहे, (केन्य) दिद्दत्ययः श्रुश्रूषेष्यः, (त्वन्) कर्त्वं हिनः ।

भाषार्थ

(तुमर्थे०) इस सूत्र से वेदों में (से) इत्यादि १५ (पन्द्रह्) प्रत्यय सच धातुत्रों से हो जाते हैं। (शाकि०) सक धातु का प्रत्रोग उपपद हो तो धानुमात्र से (एमुल्) (कमुल्) ये दोनों प्रत्यय वेदों में हो जाते हैं, इस के होने से (विभाजं) इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं। (ईधरे०) वेदों में ईश्वर स्नव्दपूर्वक धातु से (तोसुन्) (कसुन्) ये प्रत्यय होते हैं। (कृत्यार्थे०) इस मूत्र से वेदों में भाव-कर्मवाचक (तवै) (केन्) (केन्य) (त्वन्) ये प्रत्यय होते हैं, इससे (परिधा-तवै) इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं।

भाष्यम्

नित्यं संज्ञाबन्दसोः ॥ ३३ ॥ अ० ४ । १ । २६ ॥ अन्नन्ताइदुन्नीहरूपधा-लोपिनः प्रातिपदिकात्संज्ञायां विषये छन्दिस च नित्यं ख्लियां छीप्पत्ययो भवति । गौः पञ्चदाम्नी, एकदाम्नी ॥ नित्यं छन्दिस ॥ ३४ ॥ अ० ४ । १ । ४६ ॥ बह्वादिम्यो वेदेषु स्त्रियां छीष् प्रत्ययो भवति । वह्वीषु हित्वा प्रिषवन् ॥ भवे छन्दिस ॥ ३५ ॥ अ० ४ । ४ । ११० ॥ सप्तमीसमर्थात्प्रातिपदिकाद्भव इत्वे-तिस्मर्थे छन्दिस विषये यत्प्रत्ययो भवति । अयमणादीनां चादीनां चापवादः । सति दशिने तेपि भवन्ति, मेध्याय च विद्युत्याय च नमः । इतः स्त्रादारम्य यानि प्रकृतिप्रत्ययार्थविशोषाविधायकानि पादपर्यन्तानि वेदविषयकाणि स्त्राणि सन्ति तान्यत्र न लिख्यन्ते, कृतस्तेषाद्युदाइरणानि यत्र यत्र यत्र मन्त्रेष्वागमिष्यन्ति

तत्र तत्र तानि लेखिष्यामः ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ३६ ॥ ऋ० ४ । २ । १२२॥ वेदेषु समर्थानां प्रथमात्प्रातिपदिकमात्राङ्क्मादिश्वर्थेषु विनिः प्रत्ययो बहुलं विधी-यते । तद्यथा । भूमादयः ॥ तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुष् ॥ ३७ ॥ अ० ४ । २ । ६४ ॥ भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययांगेतिशायने, सम्बन्धेस्तिविवत्तायां भव-न्ति मतुबादयः ॥ १ ॥ त्र्यस्य स्त्रस्योपरि महाभाष्यवचनादेतेषु सप्तस्वर्थेषु ते प्रत्यया वेदे लोके चैते मतुबादयो भवन्तीति बोध्यम् । (बहुलं) श्रस्मिन्स्त्रे प्रकृतिप्रत्ययरूपविशेषविधायकानि बहुनि वार्त्तिकानि सन्ति, तानि तत्तिद्विषयेषु प्रकाशिष्यामः ॥ अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि ॥ ३८ .. अ० ५ । ४ । १०३॥ श्चनसन्तामपुंसकाच्छन्दासि वेति वक्तव्यम् । ब्रह्म सामं ब्रह्म साम, देवच्छन्दसं, देवच्छन्दः ।। सन्यङोः ॥ ३६॥ अ०६। १।६॥ बह्वर्थो अपि धातवो भवन्ति । तद्यथा । विषः प्रकरणे दृष्टश्छेदने चापि वर्तते, केशान्वपति । ईािडः स्तुतिचोदनायां चासु दृष्ट ईरणे चापि वर्त्तते, त्राग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे मरुतोऽम्रुत-रच्यावयन्ति । करोतिरयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः निर्मूलीकरणे चापि वर्तते, पृष्ठं कुरु पादौ करु, उन्मदानेति गम्यते । निच्चेपणेपि वर्तते, कटे करु घटे करु । अश्मा-नामितः क्रुरु, स्थापयेति गम्यते । एतन्महाभाष्यवचनेनैतद्विज्ञातच्यम्, धातुपाठे येऽथी निर्दिष्टास्तेभ्योऽन्येपि बह्वोऽथी भवन्ति, त्रयाणाग्रुपलचणमात्रस्य दर्शित-त्वात् ॥ शोश्छन्दिस बहुत्तम् ॥ ४० ॥ त्रा० ६ । १ । ७० ॥ वेदेषु नपुंसके वर्तमानस्य शेर्लोपो बहुलं भवति । यथा विश्वानि भ्रुवनानीति प्राप्ते विश्वाभुवना-नीति भवति ॥ बहुलं छन्दासे ॥ ४१ ॥ अ०६ । १। ३४ ॥ अस्मिन्सूत्रे वेदेषु एषां धातूनामप्राप्तमपि सम्प्रसारणं बहुलं विधीयते । यथा हुमहे इत्यादिषु ॥ इकोऽसवर्षो शाकन्यस्य ह्रस्वश्र ॥ ४२ ॥ भ्र० ६ । १ । १२७ ॥ ईषा भ्रज्ञा-दिषु च छन्दासि प्रकातिभावमात्रं द्रष्टव्यम् ॥ ईषा श्रज्ञा ईमिरे, इत्याद्यप्राप्तः प्रकु-तिभावो विहितः ॥ देवताद्वन्द्वे च ॥ ४३ ॥ अ० ६ । ३ । २६ ॥ देवतयोर्द्ध-न्द्रसमासे पूर्वपदस्य त्रानङ् इत्यादेशो विधीयते । डिन्तवादन्त्यस्य स्थाने भवति । च० स्योचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्, इन्द्राबृहस्पती इत्यादीनि । अस्य स्त्रस्योपरि द्वे वार्तिके स्तः । तद्यथा । देवताद्यन्द्वे उभयत्र वायोः प्रतिषेधः ॥ श्रग्निवायु, वाय्वर्ग्ना ।। ब्रह्मप्रजापत्यादीनां च ॥ ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणी, स्कन्दविशाखौ । स्त्रेण विहित त्र्रानङादेशो वार्तिकद्ययेन प्रतिषिध्यते, सार्वत्रिको

नियमः ॥ बहुलं छन्दास ॥ ४४ ॥ श्र० ७ । १ । ट ॥ श्रनेनात्मनेपदसंग्रस्य भकारप्रत्ययस्य रुडागमो विधीयते । उ०, देवा ऋदुह् ॥ बहुलं छन्दास ॥ ४५ ॥ अ० ७ । १ । १० ॥ अनेन वेदेषु भिसः स्थाने एस् बहुलं विधीयते । यथा देवे-भिर्मानुषे जने ॥ सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः ॥ ४६ ॥ अ०७। १ । ३६ ।। सुपां च सुपो भवन्तीति वक्नव्यम् । तिङां च तिङो भवन्तीति वक्कव्यम् । इयाडियाजीकाराणाम्भपसंख्यानम् । इया, दार्विया परिज्ञमन् । डियाच् सुमित्रिया न त्राप॰, सुत्तेत्रिया, सुगातुया (सुगात्रिया १)। ईकार, दर्ति ज शुष्कं सरसी शयानम् । ब्राङ्याजयारां चोपसंख्यानम् । ब्राङ्, प्रवाहवा । ब्रयाच्, स्वमया वाव सेचनम् । अयार्, स नः सिन्धुमिव नावया । सुर्, लुक्, पूर्वसवर्षा, श्रात्, शे, या, डा, डचा, याच्, श्राल, इया, डियाच्, ई, श्राङ्, श्रयाच्, श्रयार्, वैदिकेषु शब्देषु ह्येव सुपां स्थान सुवाद्ययारान्ताः पोडशादेशा विधीयन्ते । तिङां च तिङिति पृथङ् नियमः । (सुप्) ऋजवः सन्तु पन्था, पन्थान इति प्राप्ते । (जुक्) परमे व्यामन्, व्योमनीति प्राप्ते । (पूर्वसवर्षा) धीती मती, धीत्या मस्या इति प्राप्ते । (भात्) उभा यन्तारा इति उभौ यन्तारौ प्राप्ते । (शे) न युष्मे वाजवन्धवः, युरामिति प्राप्ते । (या) उरुया, उरुखा इति प्राप्ते । (डा) नाभा पृथिन्याः, नाभौ इति प्राप्ते । (डचा) अनुष्टचा, अनुष्टुभा इति प्राप्ते । (याच्) याधुया, साधु इति प्राप्ते । (त्राल्) वसन्ता यजेत, वसन्ते इति प्राप्ते ॥ त्राज्ज-सेरसुक् ॥ ४७ ॥ ७ । १ । ५० ॥ अनेन प्रथमाया बहुवचने जस: पूर्व असुक् इत्ययमागमो विहितः । उ०, विश्वे देवास आगत, विश्वेदेवा इति प्राप्ते । एवं दैव्यासः । तथैवान्यान्यपि ज्ञातव्यानि !

भाषार्थ

(नित्यं संज्ञा०) इस सूत्र से वेदों में अन्नन्त प्रातिपदिक से छीप् प्रत्यय होता है। (नित्यं) इस सूत्र में बह्वादि प्रातिपदिकों से वेदों में छीष् प्रत्यय नित्य होता है। (भवे०) इस सूत्र से भव अर्थ में प्रातिपदिक मात्र से वेदों में यत् प्रत्यय होता है। इस सूत्र से आगे पादपर्थन्त सब सूत्र वेदों ही में लगते हैं, सो यहां इसलिये नहीं लिखे कि वे एक एक बात के विशेष हैं, सो जिस जिस मन्त्र में विषय आवेंगे वहां वहां लिखे जायंगे। (बहुलं०) इस सूत्र से प्रातिपदिकमात्र से विन् प्रत्यय वेदों में मतुष् के अर्थ में बहुल करके होता है। इस सूत्र के उपर वैदिक शब्दों के

लिये वार्त्तिक बहुत हैं, परन्तु विशेष हैं इसलिये नहीं लिखे । (अनसन्ता०) इस सूत्र से वेदों में समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प करके होता है। (बह्वर्था श्रापि०) इस महाभाष्यकार के वचन से यह बात सममनी चाहिये कि धातुपाठ में धातुश्रों के जितने अर्थ लिखे हैं उनसे आधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं । जैसे (ईड) धातु का स्तुति करना तो धातुपाठ में अर्थ पढ़ा है और चोदना आदि भी सममे जाते हैं, इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये। (बहुलं०) इससे धातुत्र्यों को ऋपाप्त संप्रसारण होता है। (शेश्छ०) इस से प्रथमा विभक्ति जो जसू के स्थान में नपुंसक-लिंग में (शि) ऋादेश होता है इसका लोप वेदों में बहुल से हो जाता है। (ईषा०) इस नियम से अप्राप्त भी प्रकृतिभाव वेदों में होता है । (देवताद्व०) इस सूत्र से दो देवतात्र्यों के द्वन्द्वसमास में पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है, जैसे (सूर्याचन्द्रमधौ०) यहां सूर्या शब्द दीर्घ होगया है। श्रीर इस सूत्र से जिस कार्य का विधान है उसका प्रतिषेध महाभाष्यकार दो वार्तिकों से विशेष शब्दों में दिखाते हैं, जैसे (इन्द्रवायू) यहां इन्द्र राज्द को दीर्घ नहीं हुआ। यह नियम लोक और वेद में सर्वत्र घटता है। (बहुलं०) इस सूत्र से प्रथम पुरुप के बहुवचन आत्मनेपद में ऊ प्रत्यय को रुट् का त्रागम होता है । (वहुलं०) इससे भिस् के स्थान में ऐस्भाव वहुल करके होता है । (सुपां ५०) इससे सब विभक्तियों के सब वचनों के स्थान में (सुप्) स्रादि १६ त्रादेश होते हैं। (त्राजसे०) इस सूत्र से वेदों में प्रथमाविभक्ति का बहुवचन जो जस् है उसको श्रमुक् का श्रागम होता है. जैसे (दैव्या:) ऐसा होना चाहिये वहां (दैव्यासः) ऐसा हो जाता है, इत्यादि जान लेना चाहिये ।

भाष्यम्

बहुलं छन्दासि ॥ ४८ ॥ अ० ७ । ३ । ६७ ॥ वेदेषु यन्न काचिदीडागमो दृश्यते तत्रानेनैत्र भवतीति वेद्यम् ॥ बहुलं छन्दासि ॥ ४६ ॥ अ०
७ । ४ । ७८ ॥ अनेनाभ्यासस्य इत् इत्ययमादेशः श्लो वेदेषु बहुलं विधीयते ॥ छन्दसीरः ॥ ॥ ४०॥ अ० ८ । २ । १५ ॥ अनेन मतुपो मकारस्याप्राप्तं वन्त्वं विधीयते । उ० रेवान् इत्यादि । कृपो रो लः ॥ ४१ ॥ अ०
८ । २ । १८ ॥ संज्ञाञ्चन्दसोर्वा किपलकादीनामिति वक्षव्यम् । किपलका ।
कपितका । इत्यादीनि ॥ धिच ॥ ५२ ॥ अ० ८ । २ । २५ ॥ घिसमसोर्न
सिध्येचु तस्मात् सिज्यहणं न तत् । छान्दसो वर्णलोपो वायथेष्कर्त्तारमध्यरे॥ १ ॥

उ० निष्कर्तारमध्वरस्येति प्राप्ते । अनेन वेदेषु वर्णलोपो विकल्प्यतेऽप्राप्तिवि-भाषेयम् ॥ दादेर्घातोर्घः ॥ ५३ ॥ अ० ८ । २ । ३२ ॥ ह्य्रहोरअन्द्रित हस्य भत्वं वक्तव्यम् । उ० गर्दभेन संभरति । मरुद्ग्य ग्रम्पाति ॥ मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्द्रित ॥ ५४ ॥ अ० ८ । ३ । १ ॥ वेद्विषये मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च सम्बुद्धौ गम्यमानायां रुर्भवित । गोमः । हरिवः । मीद्वः ॥ वा शरि ॥ ५५ ॥ अ० ८ । ३ । ३६ ॥ वा शर्प्रकरणे र्वपरे लोपो वक्तव्यः । वृत्ता स्थातारः । वृत्ताः स्थातारः । अनेन वायवस्थ इत्यादीति वेदेष्विप दृश्यन्ते । अतः सामान्ये नायं सार्वित्रिको नियमः ।

भाषार्थ

(बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में ईट्का श्रागम होता है। (बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में धातु के श्रभ्यास को इकागदेश हो जाता है। (छन्दसीरः) इससे वेदों में मतुप् अत्यय के मकार को वकारादंश हो जाता है। (संज्ञा०) इससे वेदों में रेफ को लकार विकल्प करके होता है। (घिस०) इससे वेदों में किसी किसी श्रम्भर का कहीं कहीं लोप हो जाता है। (हमहो०) इससे वेदों में ह श्रौर मह के हकार को भकार हो जाता है। (मतु०) इससे वेदों में मतुप् श्रौर वसु के नकार को क होता है।

भाष्यम्

उणादयो बहुलम् ॥ ५६ ॥ अ० ३ । ३ । १ ॥ बहुलवचनं किमर्थम् १ । "बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः" । तन्वीम्यः प्रकृतिम्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाम्यो दृश्यन्ते । "प्रायसमुचयनादि तेषाम्" । प्रायेण खल्विप ते समुचिता न सर्वे समुचिताः । "कार्य्यसशेषविधेश्र तदुक्रम्"। कार्य्याणि खल्विप सशेपाणि कृतानि न सर्वाणि लच्चणेन परिसमाप्तानि । किं पुनः कारणं तन्वीम्यः प्रकृतिम्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यः । किञ्च कारणं प्रायेण समुचिताः । किञ्च कारणं प्रायेण समुचिताः न सर्वे समुचिताः । किञ्च कारणं कार्याणि सशेषाणि कृतानि न पुनः सर्वाणि लच्चणेन परिसमाप्तानि । "नैगमरूढिभवं हि सुधासु" । नैगमश्र रूढिशब्दाश्रावैदिकास्ते सुष्टु साधवः कशं स्यः । "नाम च धातुजमाह निरुक्ते" । नाम खल्विप धातुजमाह नैरुक्ताः । "व्याकरणो शक्टस्य च तोकम्" । वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति । अथ यस्य विशेषपदार्थे न समुत्थितः कथं तत्र भवितव्यम् । "यक्ष विशेषपदार्थे-

सम्रत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्व तद्श्यम्" । प्रकृतिं दृष्टा प्रत्यय ऊहितच्यः, प्रत्ययं दृष्टा प्रकृतिरूहितव्या । संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्र ततः परे । कार्याद्विद्यादनुबन्ध-मेतच्छास्त्रमुणादिषु ।। ३ ।। (बाहुलकं०) उणादिपाठे श्रन्पाभ्यः प्रकृतिभ्य ज्णादयः प्रत्यया विहितास्तत्र बहुलवचनाद्विहिताभ्योपि भवन्ति । एवं प्रस्यया श्रिप न सर्व एकीकृताः किन्तु प्रायेण सूच्मतया प्रत्ययविधानं कृतं तत्रापि बहु-लवचनादेवाविहिता ऋपि प्रत्यया भवन्ति यथा फिडफिड़ौ भवतः। तथा स्त्रै-विहितानि कार्याणि न भवन्त्यविहितानि च भवन्ति । यथा दण्ड इत्यत्र डप्रत्य-यस्य डकारस्य इत्संज्ञा न भवति । एतद्पि बाह्यलकादेव । (किं पुनः०) अने-नैतच्छंक्यते उषादौ यावत्यः प्रकृतयो यावन्तः प्रत्यया यावन्ति च स्त्रे कार्घ्याणि विहितानि तावन्त्येव कथं न स्युः । श्रत्रोच्यते । (नैगम०) नैगमा वैदिकाः शब्दा रुढयो लोकिकाश्च सुष्ठु साधवो यथा स्युः । एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति । (नाम ०) संज्ञाशब्दान् निरुक्तकारा धातुजानाद्यः, (व्याकरखे०) शकटस्य तोकमपत्यं शाकटायनः, तोकमित्यस्यापत्यनामस्य ॥ निघ० २ । २ ॥ पठितत्वात् । (यन्न०) यत् विशेषात्पदार्थान् सम्यगुत्थितमर्थात्प्रकृतिप्रत्यय-विधानेन न न्युत्पन्नं तत्र प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊद्यः प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिः। एतद्इनं क कथं च कर्तव्यमित्यत्राह । संज्ञाशब्देषु, धातुरूपाणि पूर्वमृद्यानि परे च प्रत्ययाः । (कार्य्याद्वि०) कार्य्यमाश्रित्य धातुप्रत्ययानुबन्धान् जानीयात्, एतत्सर्वं कार्य्यमुगादिषु बोध्यम् ।

भाषार्थ

(उणादयो०) इस सूत्र के ऊपर महाभाष्यकार पता मिन उणादिपाठ की व्यवस्था बांधते हैं कि (बाहुलकं०) उणादिपाठ में थोड़े से धातुत्र्यों से प्रत्ययविधान किया है सो बहुल के होने से वे प्रत्यय श्रन्य धातुन्त्रों से भी होते हैं । इसी प्रकार प्रत्यय भी उस प्रन्थ में थोड़े से नमूना के लिये पढ़े हैं इन से श्रन्य भी नवीन प्रत्यय शब्दों में देखकर समक्त लेना चाहिये । जैसे (ऋफिड:) इस शब्द में ऋ धातु से फिड प्रत्यय समक्ता जाता है, इसी प्रकार श्रन्यत्र भी जानना चाहिये । तथा जितने शब्द उणादिगण से सिद्ध होते हैं उन में जितने कार्य्य सूत्रों करके होने चाहियें वे सब नहीं होते हैं, सो भी बहुल ही का प्रताप है । (किं पुनः) इस में जो कोई ऐसी शंका करे कि उणादिपाठ में जितने धातुन्त्रों से जितने प्रत्यय विधान किये श्रोर जितने

कार्य्य शब्दों की सिद्धि में सूत्रों से हो सकते हैं उनसे श्रिधक क्यों होते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि (नैगम०) वेदों में जितने शब्द हैं तथा संसार में असंख्य संज्ञाशब्द हैं ये सब अब्छी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकते, इसलिये पूर्वोक्त तीन प्रकार के कार्थ्य बहुलवचन से उत्णादि में होते हैं, जिसके होने से अपनेक प्रकार के इजारहा शब्द सिद्ध होते हैं। (नाम०) श्रव इस विषय में निरुक्तकारों का ऐसा मत है कि संज्ञाशब्द जितने हैं वे सब धातु श्रीर प्रत्ययों से बराबर सिद्ध होने चाहियें तथा वैयाकरण जितने ऋषि हैं उन में से शाकटायन ऋषि का मत निरुक्तकारों के समान है श्रौर इन से भिन्न ऋषियों का मत यह है कि संज्ञाशब्द जितने हैं वे रूढ़ी हैं। श्रव इस बात का विचार करते हैं कि जिन शब्दों में धातु प्रत्यय मालूम कुछ भी नहीं होता वहां क्या करना चाहिये। उन शब्दों में इस प्रकार विचार करना चाहिये कि व्याक-रएशास्त्र में जितने धातु श्रीर प्रत्यय हैं इन में से जो धातु मालूम पड़ जाय तो नवीन प्रत्यय की कल्पना कर लेनी श्रौर जो प्रत्यय जाना जाय तो नवीन धातु की कल्पना कर लेनी, इस प्रकार उन शब्दों का ऋर्थ विचार लेना चाहिये। ऋरीर दूसरी कल्पना यह भी है कि उन शब्दों में जिस अनुबन्ध का कार्य्य दीखे वैसा ही धातु वा प्रत्यय अनुबंन्ध के सहित कल्पना करनी । जैसे कोई आद्युदात्त शब्द हो उस में (ज्) अथवा (न्) अनुबन्ध के सिह्त प्रत्यय समभना । यह कल्पना सर्वत्र नहीं करने लगना, किन्तु जो संज्ञाशब्द लोक वेद से प्रसिद्ध हों उनके श्रर्थ जानने के लिये शब्द के आदि के अन्तरों में धात्वर्थ की और अन्त में प्रत्ययार्थ की कल्पना करनी चाहिये। ये सब ऋषियों का प्रबन्ध इसलिये हैं कि शब्दसागर अथाह है, इस की थाह व्याकरण से नहीं मिल सकती। जो कहे कि ऐसा व्याकरण क्यों नहीं बनाया कि जिससे शब्दसागर के पार पहुंच जाते तो यह समभना कि कितने ही पोथा बनाते श्रोर जन्मजन्मान्तरों भर पढ़ते तो भी पार होना दुर्लभ हो जाता। इसिलये यह सब पूर्वोक्त प्रबन्ध ऋषियों ने किया है जिससे शब्दों की व्यवस्था माल्यम हो जाय।

भाष्यम्

श्रथालङ्कारभेदाः संचेपतो लिख्यन्ते । तत्र तावदुपमालङ्कारो व्याख्यायते । पूर्णोपमा चतुर्भिरुपमेयोपमानवाचकसाधारणधर्मैर्भवति ॥ श्रस्योदाहरणम् । स नः पितेव सनवेऽग्ने सूपायनो भव ॥ १ ॥ उक्तानामेकैकशोऽनुपादानेऽष्टधा नुप्तोपमा । तत्र वाचकन्नुप्तोदाहरणम् । भीम इव वन्ती भीमवन्ती । धर्मन्नुप्तोदाहरणम् । कमल-

नेत्रः ॥ २ ॥ धर्मवाचकलुप्तोदाइरणम् । व्याघ इव पुरुषः पुरुषव्याघः ॥ ३ ॥ वाचकोपमेयलुप्तोदाहरणम् । विद्यया पिएडतायन्ते ॥ ३ ॥ उपमानलुप्ता ॥ ४ ॥ वाचकोपमानलुप्ता ।। ६ ।। धर्मोपमानलुप्ता ।। ७ ।। धर्मोपमानवाचकलुप्ता ।। ८ ।। श्रासाम्रदाइरणम् । काकतालीयो गुरुशिष्यसमागमः । एवमष्टविधा ।। १ ।**।** श्रतोऽग्रे रूपकालङ्कारः । स चोपमानस्याभेदतादृष्याम्यामाधिकन्यूनोभयगुणैरुप-मेयस्य प्रकाशनं रूपकालङ्कारः । स च पद्धा । तत्राधिकामेदरूपकोदाहरणम् । श्रयं हि सविता साचाद्येन ध्वान्तं विनाश्यते । पूर्णविद्य इति शेषः ॥ १ ॥ न्यूना-भेदरूपकोदाइरग्रम् । त्र्रयं पतञ्जालेः साज्ञाद्धाष्यस्य कृतिना विना ॥ २ ॥ श्रतुभय।भेदरूपकोदाहरणम् । ईशः प्रजामवत्यद्य स्वीकृत्य ।। ३ ।। ऋधिकताद्रुप्यरूपकोदाहरणम् । विद्यानन्दे हि सम्प्राप्ते राज्या-नन्देन किं तदा ॥ ४ ॥ न्यूनतादूष्यरूपक्षोदाइरणम् । साध्वीयं सुखदा नीतिर-सूर्य्यप्रभवा मता ॥ ५ ॥ अनुभयताद्भृष्यरूपकोदाहरणम् । अयं घनावृतात्सूर्य्या-द्विद्यासूर्य्यो विभज्यते ॥ ६ ॥ अनेकार्थशब्दविन्यासः श्रेषः । स च त्रिविधः । प्रकृतानेकाविषयः । अप्रकृतानेकाविषयः । प्रकृताप्रकृतानेकविषयश्च । तत्र प्रकृतविषयस्योदाइरणम् । यथा नवकम्बलोऽयं मनुष्यः । अत्र नव कम्बला यस्य नवो नृतनो वा कम्बलो यायेति द्वावर्थी भवतः।यथा च श्वेतो धावति। त्र्रलंबुसानां यातेति । तथैव त्र्याग्निमीडे इत्यादि । त्र्यप्रकृतविपयस्योदाहरणम् । हरिणा त्वद्धलं तुर्च्यं कृतिना हितशक्तिना। अथ प्रकृताप्रकृतविषयोदाहरणम् । उच्चरन्भूरियानाट्यः शुशुभे वाहिनीपतिः । एवंविधा अन्येपि बह्वोऽलङ्काराः सन्ति । ते सर्वे नात्र लिख्यन्ते । यत्र यत्र त श्रागमिष्यन्ति तत्र तत्र व्याख्यायिष्यन्ते ।

भाषार्थ

श्रव कुछ श्रलङ्कारों का विषय संचेप से लिखते हैं। उन में से पाहले उपमाल-द्वार के श्राठ (८) भेद हैं—वाचकलुप्ता १, धर्मलुप्ता २, धर्मवाचकलुप्ता ३, वाचको-पमेय लुप्ता ४, उपमानलुप्ता ५ वाचकोपमानलुप्ता ६, धर्मोपमानलुप्ता ७ श्रीर धर्मोप-मान वाचकलुप्ता ८ । इन श्राठों से पूर्णोपमालङ्कार पृथक् है, जिस में ये सब बने रहते हैं। उस का लच्चण यह है कि वह चार पदार्थों से बनता है, एक तो उपमान, दूसरा उपमेय, तीसरा उपमावाचक श्रीर चौथा साधारणधर्म । इनमें से उपमान उसको कहते हैं कि जिस पदार्थ की उपमा दी जाती है। उपमेय वह कहाता है कि जिसको उपमान के तुल्य वर्णन करते हैं। उपमावाचक उस को कहते हैं कि जो तुल्य, समान, सदृश, इव, वत् इत्यादि शब्दों के बीच में त्राने से किसी दूसरे पदार्थ के समान बोध करावे। साधारणधर्म वह होता है कि जो कर्म उपमान श्रौर उपमेय इन दोनों में बराबर वर्तमान रहता है इन चारों के वर्त्तमान होने से पूर्णोपमा श्रौर इन में से एक एक के लोप हो जाने से पूर्वोक आठ भेद हो जाते हैं। पूर्णोपमा का उदाहरण यह है कि (स नः पितेव०) । जैसे पिता ऋपने पुत्र की सब प्रकार से रचा करता है वैसे ही परमेश्वर भी सब का पिता ऋर्थात् पालन करने वाला है। इसके त्रागे दूसरे रूपकालङ्कार के छ: भेद हैं-श्राधिकाभेदरूपक १, न्यूनाभेदरूपक २, अनुभयाभेदरूपक ३, अधिकताद्भृष्यरूपक ४, न्यूनताद्भृष्यरूपक ४ और अनुभ-यतादृष्यरूपक ६ । इसका लच्चण यह है कि उपमेय को उपमान बना देना श्रोर उस में भेद नहीं रखना । जैसे यह मनुष्य साज्ञात् सूर्य्य है, क्योंकि श्रपने विद्यारूप प्रकाश से त्रविद्यारूप अन्धकार का नाश नित्य करता है इत्यादि । तीसरा केपालङ्कार कहाता है। उस के तीन भेद हैं-प्रकृत १, अप्रकृत २ और प्रकृताप्रकृतविषय ३। जिस का लज्ञाए यह है कि किसी एक वाक्य वा शब्द से अनेक अर्थ निकलें वह श्लेष कहाता है। जैसे नवकम्यल इस शब्द से दो ऋर्थ निकलते हैं। एक नव है कम्बल जिसके, दूसरा नवीन है कम्बल जिस का। इसी प्रकार वेदों में अपि आदि शब्दों के कई २ ऋर्थ होते हैं सो श्लेपालंकार का ही विषय है। इस प्रकार के ऋौर भी बहुत ऋलंकार हैं सो जहां जहां वेदभाष्य में ऋार्वेगे वहां वहां लिखे जायंगे।

भाष्यम्

श्रदितिचौरिदितिर्न्तिर्धमिदितिम्नीता स पिता स पुत्रः। विश्वे देवा श्रदितिः पञ्चजना श्रदितिज्ञीतमिदितिजीनित्वम् ॥ १ ऋ० मं०१। सू० ८६। मं०१०॥ श्रस्मिन्मन्त्रे श्रदितिशब्दार्था चौरित्याद्यः सन्ति तेऽपि वेदभाष्येऽदितिशब्देन ग्राहिष्यन्ते। नैवास्य मन्त्रस्य लेखनं सर्वत्र भविष्यतीति मत्वाऽत्र लिखितम्।

भाषार्थ

(श्रादिति०) इस मन्त्र में श्रादिति शब्द के बहुत अर्थ श्रीर बहुतेरे श्रर्थ इस शब्द के हैं। परन्तु इस मन्त्र में जितने हैं वे सब वेदभाष्य में श्रवश्य लिये जायंगे। इस मन्त्र को वारंवार न लिखेंगे, किन्तु वे सब अर्थ तो लिख दिये जायंगे। वे श्रर्थ ये हैं-द्यौः, श्रन्तरित्त, माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेवा, पञ्चजना, जात श्रौर जनित्व। भाष्यम्

श्रथ वेदभाष्ये ये सङ्केताः करिष्यन्ते त इदानीं प्रदर्श्यन्ते । ऋग्वेदादीनां वेदचतुष्टयानां, षट्शास्त्राणां, षडङ्गानां, चतुर्णां ब्राह्मणानां, तैत्तिरीयारययकस्य च यत्र यत्र प्रमाणानि लेखिष्यन्ते तत्र तत्रैते सङ्केता विज्ञेयाः । ऋग्वेदस्य ऋ०, मण्डलस्य प्रथमाङ्को, द्वितीयः स्क्रस्य, तृतीयो मन्त्रस्य विज्ञेयः । तद्यथा---ऋ० १।१।१।। यजुर्वेदस्य य०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य । तद्यथा य० १ । १ ।। सामवेदस्य साम०, पूर्वाचिकस्य पू०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो दशते,स्तृतीयो मन्त्रस्य । तद्यथा—साम० पू० १ । १ । १ ॥ पूर्वार्चिक-स्यायं नियमः । उत्तरार्चिकस्य खलु साम ० उ , प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य । अत्रायं विशेपोस्ति । उत्तरार्चिके दशतयो न सन्तिः परन्त्वद्धप्रपाठके मन्त्रसंख्या पूर्णी भवति । तेन प्रथमः पूर्वीर्द्धप्रपाठको, द्वितीय उत्तरार्द्धप्रपाठकश्रे-त्ययमपि सङ्केत उत्तरार्चिके क्षेयः । तद्यथा-साम० उ०१। पू०१ ॥ साम० उ० १ । उ०१ । अत्र द्वौ सङ्केतो भविष्यतः । उकारेगात्तरार्चिकं ब्रेयं, प्रथमाङ्केन प्रथमः प्रपाठकः, पू० इत्यनेन पूर्वार्द्धः प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन मन्त्रसंख्या क्षेया । पुनर्द्धितीये सङ्केते द्वितीय उकारेण उत्तरार्द्धः, प्रथमः प्रपाटकः,द्वितीयाङ्केन तदेव । अथर्ववेदे । अथर्व ०, प्रथमांकः काएडस्य, द्वितीयो वर्गस्य, तृतीयो मन्त्रस्य । तद्यथा--ग्रथर्व० १ । १ । १ ॥

भाषार्थ

श्रव वेदमाध्य में चारों वेदों के जहां जहां प्रमाण लिखे जावेंगे उन के संकेत दिख-लाते हैं। देखो ऋग्वेद का जहां प्रमाण लिखेंगे वह ऋग्वेद का ऋ० श्रीर मण्डल १ स्क १। मन्त्र १। इन का पहिला दूसरा तीसरा क्रम से संकेत जानना चाहिये, जैसे ऋ० १। १। १। इसी प्रकार यजुर्वेद का य०, पहिला श्रङ्क श्रध्याय का, दूसरा मन्त्र का जान लेना। जैसे य० १। १। सामवेद का नियम यह है कि साम०, पूर्वाचिक का पू०, पहिला प्रपाठक का, दूसरा दशाति का श्रीर तीसरा मन्त्र का जानना चाहिये, जैसे साम० पू० १। १। १। यह नियम पूर्वाचिक में है। उत्तरार्चिक में प्रपाठक के भी पूर्वाई उत्तराई होते हैं, श्रईप्रपाठकपर्यन्त मन्त्रसंख्या चलती है। इसलिये प्रपाठक के श्रङ्क के श्रागे पू० वा उ० धरा जायगा। उस पू० से

पूर्वार्द्ध प्रपाठक और उ० से उत्तरार्द्ध प्रपाठक जान लेना होगा। इस प्रकार उत्तरार्चिक में दो संकेत होंगे। साम० उ० १। पू० १॥ साम० उ० १। उ० १॥ इसी प्रकार श्रयवंदेद में श्रयवं १, पहिला श्रद्ध काएड का, दूसरा वर्ग का, तीसरा मन्त्र का जान लेना, जैसे श्रयवं० १। १। १॥

भाष्यम्

एवं ब्राह्मणस्याद्यस्यैतरयस्य ऐ०, प्रथमांकः पञ्चिकाया, द्वितीयः कारिड-कायाः । तद्यथा-एे० १ । १ ॥ शतपथज्ञाह्मणे श०, प्रथमाङ्कः काएडम्य, द्वितीयः प्रपाठकस्य, तृतीयो ब्राह्मणस्य, चतुर्थः किएडकायाः। तद्यथा--श० १।१।१।१।। एवमेव सामज्ञाह्मणानि बहानि सन्ति, तेषां मध्याद्यस्य यस्य प्रमाणमत्र लोखिष्यते तस्य तस्य सङ्केतस्तत्रैव करिष्यते । तेष्वेवैकं छान्दोग्याख्यं तस्य बां॰, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, बितीयः खण्डस्य, तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा--ळां० १ । १ । १ ।। एवं गोपथब्राह्मणस्य गो०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो ब्राह्मणस्य । यथा-गो० १ । १ ॥ एवं षदशास्त्रेषु प्रथमं मीमांसाशास्त्रम् । तस्य मी०, प्रथमाङ्कोध्यायस्य द्वितीयः पादस्य, तृतीयः स्रत्रस्य । तद्यथा—मी० १ । १ । १ ॥ दितीयं वैशेषिकशास्त्रं बस्य वै०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीय त्र्याह्वि-कस्य, तृतीयः सूत्रस्य । तद्यथा—वै०१।१। १।। तृतीयं न्यायशास्त्रं तस्य न्या ०, त्र्रान्यवैशेषिकवत् । चतुर्थं योगशास्त्रं तस्य यो०, प्रथमाङ्कः पादस्य, ब्रितीयः **द्धत्रस्य । यो० १ । १ ॥ पंचमं सांख्यशास्त्रं तस्य सा०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य,** द्वितीयः सत्रस्य । सां०१।१ ॥ पष्टं वेदान्तशास्त्रम्रत्तरमीमांसार्ख्यं तस्य वे॰, प्रथमाङ्काध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः स्त्रस्य । वे॰ १।१। १ ॥ तथाञ्चेषु प्रथमं व्याकरणं, तत्राष्टाध्यायी तस्या ऋ०, प्रथमाङ्कोऽ-ध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः ध्वत्रस्य । तद्यथा अ०१।१।१। एतेनैव कृतेन सूत्रसङ्केतेन व्याकरणमहाभाष्यस्य सङ्केतो विज्ञेयः । यस्य सूत्रस्योपरि तद्भाष्यमस्ति तद्भचाख्यानं लिखित्वा तत्स्रत्रसङ्केतो धरिष्यते । तथा निघएटुनिरु-क्कयोः प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, ब्रितीयः खण्डस्य । निघण्टौ १ 🕈 १ ॥ निरुक्ते १ । १ ॥ खर्ण्डाध्यायौ द्वयोः समानौ । तथा तैत्तिरीयारएयके तै०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, बितीयोऽनुवाकस्य । तै० १ । १ ॥ इत्थं सर्वेषां प्रमाखानां तेषु तेषु ग्रन्थेषु दर्शनार्थं सङ्केताः कृतास्तेन येषां मनुष्याणां द्रष्टुमिच्छा भवेदेतेरङ्केस्तेषु

ग्रन्थेषु लिखितसङ्केतेन द्रष्टव्यम् । यत्रोक्तभ्यो ग्रन्थेभ्यो भिन्नानां ग्रन्थानां प्रमाखं लोखिष्यते तत्रैकवारं समग्रं दर्शयित्वा पुनरेवमेव सङ्केतेन लेखिष्यत इति ज्ञातव्यम् ।

भाषार्थ

इसी प्रकार ब्राह्मण प्रन्थों में प्रथम ऐतरेयब्राह्मण का ऐ०, पहिला श्रङ्क पञ्चिका का, दूसरा किएडका का। ऐ० १। १।। शतपथ ब्राह्मण का श०, पहिला श्रङ्क काएड का, दूसरा प्रपाठक का, तीसरा ब्राह्मण का, चौथा किएडका का। श० १।१।१। १।। सामब्राह्मण बहुत हैं उन में से जिस जिस का प्रमाण जहां २ लिखेंगे उस उस का ठिकाना वहां धर देंगे। जैसे एक छान्दोग्य कहाता है उसका छां०, पहिला श्रङ्क प्रपाठक का, दूसरा खण्ड का, तीसरा मन्त्र का। जैसे छा० १।१।१।। चौथा गो-पय ब्राह्मण कहाता है उसका गो०, पहिला ऋडू प्रपाठक का, दूसरा ब्राह्मण का । जैसे गो० १। १।। इस प्रकार का संकेत चारों ब्राह्मणों में जानना होगा । ऐसे ही छ: शास्त्रों में प्रथम मीमांसा शास्त्र उसका मी० ऋध्याय पाद ऋाँर सूत्र के तीन श्रङ्क क्रम से जानो । जैसे मी० १ । १ । १ ।। दूसरा वैशेषिक का वै०, पहिला श्रङ्क श्राध्याय का, ृसरा त्राह्मिक का, तीसरा सूत्र का । जैसे वै० १ । १ । १ ।। तीसरे न्यायशास्त्र का न्या० त्र्यौर तीन ऋड्क वैशेपिक के समान जानो । चौथे योगशास्त्र का यो०, प्रथम अङ्क पाद का, दूसरा सूत्र का। यो० १। १ ।। पांचवें सांख्यशास्त्र का सांठ, अध्याय और सूत्र के दो अङ्क क्रम से जानो । जैसे सांठ १ । १ ।। छठे वेदान्त का वे०, अध्याय, पाद और सूत्र के तीन अङ्क कम से वे० १।१।१॥ तथा अङ्कों में अष्टाध्यायी व्याकरण का श्रङ्क अध्याय, पाद, सूत्र के तीन श्रङ्क क्रम से जानो। जैसे अ० १।१।१।। इसी प्रकार जिस सूत्र के ऊपर महाभाष्य हुआ करेगा उस सूत्र का पता लिख के महाभाष्य का वचन लिखा करेंगे उसी से उसका पता जान लेना चाहिये। तथा निघएट श्रीर निरुक्त में दो दो श्रङ्क श्रध्याय श्रीर खरड के लिखेंगे। तथा तैत्तिरीय आरएयक में तै० लिख के प्रपाठक और अनुवाक के दो श्रङ्क लिखेंगे। ये संकेत इसिलये लिखे हैं कि वारंवार ठिकाना न लिखना पड़े, थोड़े से ही काम चला जाय, जिस किसी को देखना पड़े वह उन प्रन्थों में देख ले श्रीर जिन प्रत्थों के संकेत यहां नहीं लिखे उनके प्रमाणों का जहां कहीं काम पड़ेगा तो लिख दिया जायगा । परन्तु इन सब प्रन्थों के संकेतों को याद रखना सब को योग्य है कि जिससे देखने में परिश्रम न पड़े।

वेदार्थाभित्रकाशप्रण्यसुगिमका कामदा मान्यहेतुः। संचेपाद्ग्मिकेयं विमलविधिनिधिः सत्यशास्त्रार्थयुक्ता॥ सम्पूर्णाकार्य्यथेदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयातः। पश्चादीशानभक्तया सुमतिसहितया तत्यते सुप्रमाणम्॥१॥ मन्त्रार्थभूमिका श्चत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च। पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद्वोध्या विचच्चणैः॥२॥

यह भूमिका जो वेदों के प्रयोजन श्रार्थान् वेद किसिलये श्रौर किसने बनाये, उन में क्या क्या विषय है इत्यादि बातों की श्राच्छी प्रकार प्राप्ति कराने वाली है। इस को जो लोग ठीक ठीक परिश्रम से पढ़ें श्रौर विचारेंगे उन का व्यवहार श्रौर परमार्थ का प्रकाश, संसार में मान्य श्रौर कामनासिद्धि श्रवश्य होगी। इस प्रकार जो निर्मल विषयों के विधान का कोष श्रार्थात् खजाना श्रौर सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से युक्त जो भूमिका है इसको मैंने संद्यंप से पूर्ण किया। श्रव इस के श्रागे जो उत्तम बुद्धि देने वाली परमात्मा की भक्ति में श्रपनी बुद्धि को दृद् करके प्रीति के बढ़ाने वाले मन्त्रभाष्य का प्रमाणपूर्वक विस्तार करता हूं॥ १।।

इस मन्त्रभाष्य में इस प्रकार का कम रहेगा कि प्रथम तो मन्त्र में परमेश्वर ने जिस बात का प्रकाश किया है फिर मूल मन्त्र । उसका पदच्छेद । कम से प्रमाण-सिंहत मन्त्र के पदों का अर्थ । अन्वय अर्थात् पदों की सम्बन्धपूर्वक योजना और छठा भावार्थ अर्थात् मन्त्र का जो मुख्य प्रयोजन है इस क्रम से मन्त्रभाष्य बनाया जाता है ।। २ ।।

बिश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्गद्रं तन्न श्रासुव॥१॥ य०३०।३॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्य्येण श्रीयुतद्यानन्दसरस्वतीस्वामिना विर-चिता संस्कृतभाषार्थ्यभाषाभ्यां सुभूषिता सुप्रमाणयुक्तम्बेदादि-चतुर्वेदभाष्यभूमिका समाप्तिमगमत् ॥

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration Library

सम्बरी MUSSUORIE

अवारित सं•					
/ LCC. 140	 		 •	•	•

कृपया इस पुस्तक को निम्न लिखित दिनांक या उससे पहले वापस कर दें।

Please return this book on or before the date last stamped below.

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की सख्या Borrower's No.
	-		·- ·



National Academy of Administration MUSSOORIE

- Accession No. 121563
- Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
 An over-due charge of 25 Reice per day nor
- An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
 Books may be renewed on request, at the
- discretion of the Librarian.

 4. Periodicals, Rare and Reference books may
- not be issued and may be consulted only in the Library.

 5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double

price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving